

श्रीमन्मोहन-यशः-स्मारक ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क : १२

नेत्यमामिधियया गाम्बतररविरुदाष्टकधृत्या नल्पप्रथयनाजितविशदकीर्त्तिश्रीमज्जिनेश्वरसूरिवरविनेयरत्ननवाङ्गवृत्तिविधायक-  
श्रीमदभयदेवसूर्योपसम्पदिकशिष्यचैत्यवासिप्रथिताकर्याणकवादोन्मूलककविचक्रवर्त्तिश्रीमज्जिनवल्लभसूरि  
पुरन्दरनिर्मितं चन्द्रकुलीनाचार्यश्रीमद्यशोदेवसूरिवरसङ्कलितया लघुधृत्या श्रीउदयसिंहसूरि-

सन्दब्धया दीपिकया च समलङ्कृतं

## पिण्डविशुद्धि-प्रकरणम् ।

संशोधकः सम्पादकश्च—

श्रीखतरगच्छविभूषणश्रीमन्मोहनलालजीमुनीश्वरप्रशिष्यरत्न-स्वर्गीयानुयोगाचार्यश्रीकेशरमुनिजीगणिवरविनेयो

बुद्धिसागरो गणिः

प्रथमावृत्तिः ५०० प्रतयः

पण्यं द्रम्मपदकम्

विक्रमाब्दा. २०११

\* \*

गोगन्दाः २४८१

पिण्ड-  
विशुद्धि०  
टीकाद्वयो-  
पेतम्  
॥ १ ॥

प्रकाशक :—

अग्निमपन्ननिर्विष्टाभिघानानामुदाराराशय-  
सज्जनानामार्थिकसाहाय्येन मुम्बापुरी-  
महावीरजिनालयस्थश्रीजिनदत्तसूरि-  
ज्ञानभाण्डागारकार्यवाहको  
झवेरी झवेरभाई केसरीभाई

मुद्रक :—

शाह गुलाबचंद लल्लुभाई  
श्रीमहोदय प्रिन्टींग प्रेस  
दाणापीठ, भावनगर ( सौराष्ट्र )

पुस्तकप्राप्तिस्थाने—

श्रीमहावीरस्वामी जैनमन्दिर  
पायधुनी, मुंबई नं० ३

श्रीजिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार  
शीतलवाडी उपाश्रय  
गोपीपुरा, सुरत ( व. गुजरात )

॥ १ ॥

ग पं पद १९६६ लंगवालयर । स्वर्गवास १९९३ मुंबई

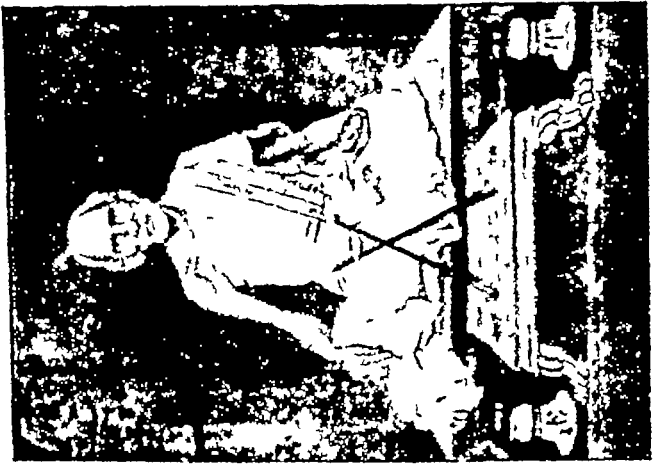
श्री ० अनुयोगाचार्य पंथासजी  
श्रीकेशरमुनिजी महाराज



ज १९३२ चंडी (मरवाड) । (इ।प्र।प्र।) १९५२ चंडी (मरवा)

क्रियोद्धार १९२३ अजमेर । स्वर्गवास १९६४ सुरन

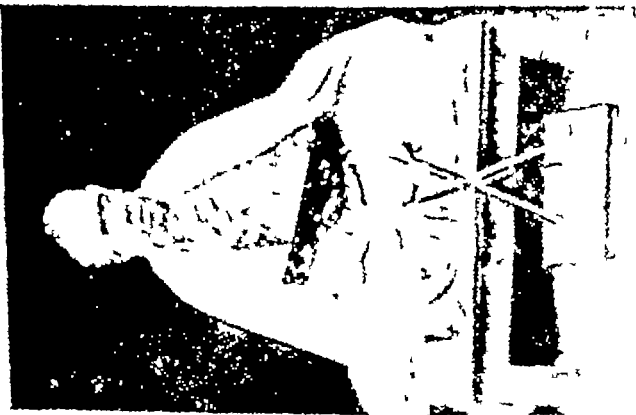
रत्तरगणविभूषण क्रियोद्धारक  
श्रीमोहनलालजी महाराज



जम १८७७ चंडी ( मं प्र ) । चंडी १९०२ मरवाड

ग. पं पद १९५६ अमदावाद । स्वर्गवास १९७० पावापुरी

पंथान गगन मणिमनागत आचार्य  
श्रीनिवासाचार्य महाराज



जम १८७७ चंडी ( मं प्र ) । चंडी १९०२ मरवाड

ग. पं पद १९५६ अमदावाद । स्वर्गवास १९७० पावापुरी



अस्य ग्रन्थस्य मुद्रणे द्रव्यसहायकानां शुभनामानि—

|  |  |
|--|--|
| ४० ३५१ शा० भीष्मचंद्रजी नवाजी चूडा ( मारवाड )          | ४० १०१ शा० अचरतलाल शिवलाल, स्वज्येष्ठ पुत्र  |
| " २७१ शा० चुनीलाल चंद्रगमल नयाजी "                     | सद्गत अश्विनकुमार की स्मृति निमित्त          |
| " २०१ शा० सुमकलाल मल्हणचन्द कच्छ-मांडवी                | राधनपुर ( उ. गुजरात )                        |
| " १५१ शा० माणकचन्द थावरभाई "                           | " १०१ सद्गत शा० कल्लभाई न्यालचंद के          |
| " १५१ शा० सांकलचंद्रजी दानाजी चूडा ( मारवाड )          | वील में से, ह. शा० अचरतलाल शिवलाल            |
| " १५१ श्रीस्वरतरगच्छ संघ                               | तथा शा० दलपतभाई मोहनलाल पारेख                |
| (शेठ जोयता हरसानी पेठी)राधनपुर ( उ. गुजरात )           | राधनपुर ( उ. गुजरात )                        |
| " १५० ज्ञानपूजाके, हस्ते शा० पूनसीभाई मोनजी कच्छ-लायजा | " १०० शा० रूपचंद्रजी छोगमलजी चूडा ( मारवाड ) |
| " १०१ शा० प्रेमचंद कचरामाई छाजेड की धर्मपत्नी अखंड     | " १०० शा० गणेशमलजी कपूरजी "                  |
| सोभाग्यवंती श्राविका मुगावाई कच्छ-मांडवी               | " १०० जोहरी इंद्रचंद्रजी जरगड की धर्मपत्नी   |
| " १०१ शा० शांतिलाल गोकुलभाई                            | श्राविका शिखरुवाइ जयपुर सीटी ( राजस्थान )    |

|   |                     |   |                       |
|---|---------------------|---|-----------------------|
| रु० ७६ शा० जुहारमलजी वनाजी                    | आहोर ( मारवाड )     | रु० ५० शा० जवानमलजी सुजाजी                        | चूंडा ( मारवाड )      |
| " ७७ शा० सांकलचंद भगाजी की दीक्षा             |                     | " ४५ ज्ञानपूजा के, श्री संघ                       | कच्छ लायजा            |
| " समय की खोल भराइ के श्रीसंघ चूंडा ( मारवाड ) |                     | " ४० साध्वीजी मुक्तिश्रीजी-ललितश्रीजी की          |                       |
| " ५१ मूता साहिवचंदजी गेनाजी आहोर ( मारवाड )   |                     | प्रेरणा से श्राविका संघ तरफ से ज्ञान-             |                       |
| " ५१ शा० रिखवचंदजी मूताजी अगवरी ( मारवाड )    |                     | पूजा के अमरेली तथा रु. १० देवगाम ( सौराष्ट्र )    |                       |
| " ५० शा० छगनमलजी वागाजी छाजेड                 |                     | " २५ शा० हीराजी सिरेमलजी गुलेछा मोकलसर ( मारवाड ) |                       |
|   | गढसिवाणा ( मारवाड ) | " २५ शा० जखुभाई पेथड                              | मोटा आसंवीया ( कच्छ ) |



## उपोद्घात

कृत्वा समीपेऽमयदेवसूरे-यैनोपसम्पदग्रहणं प्रमोदात् । पपौ रहस्यामृतमागमानां, स्मरिस्ततः श्रीजिनवल्लभोऽभूत् ॥”

पिण्डविशुद्धि का यह उपोद्घात लिखते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है । इस ग्रन्थ के यशस्वी लेखक के व्यक्तित्व और कृतिव की ओर मैं बहुत विनों से आकृष्ट रहा हूँ । यही कारण है कि मैंने और मेरे विद्यागुरु श्रद्धेय डॉ. श्री फतहसिंहजी एम. ए, डी. लिट्., ने वल्लभभारती के नाम से आचार्य श्रीजिनवल्लभस्वरि की समस्त रचनाओं का एक आलोचनात्मक संग्रह प्रकाशित करने की योजना कई वर्ष पूर्व बनाई थी और यह दर्प की बात है कि वह अब शीघ्र ही पूरी भी होने जा रही है । अतः श्रीचुद्धिमूर्तिजी गणिते जब मुझ से यह अनुरोध किया कि उनके द्वारा सम्पादित इस पुस्तक की भूमिका मैं लिखूँ तो मैंने सहर्ष स्वीकार कर लिया । सच पूछिये तो मैं गणिते का अत्यन्त आभारी हूँ कि उन्होंने सुविहित संघ के पुनरुद्धारक नवाङ्गवृत्तिकार श्रीअमयदेवाचार्य के पट्टघर कविचक्रवर्ति श्रीजिनवल्लभस्वरि के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जली भेंट करने का अवसर प्रदान किया ।

कवि का जीवन-द्वृत

जिनवल्लभस्वरि के जीवन-चरित्र के विषय में अधिक खोज करने की आवश्यकता नहीं, उनके योग्य शिष्य युगप्रधान शयोपनामाकारक श्रीजिनदत्तस्वरिने श्रीगणघरसार्द्धशतक में ६१ पद्यों में अपने गुरु की जो स्तुति की है उसकी टीका करते हुए

उन्हीं के प्रशिष्य श्रीसुमति गणिने आचार्य जिनवल्लभसूरि का विस्तार से जीवन-वृत्त दे दिया है; इसीका आधार लेकर आचार्य का जीवन-चरित परवर्ती कई लेखकों ने लिखा और श्रीसुमतिगणि के गुरुभ्राता श्रीजिनपालोपाध्याय ने 'खरतरंगच्छालङ्कार युग-प्रधानाचार्य गुर्वावली' में जिनवल्लभसूरि का जो जीवन-चरित लिखा है, वह लगभग अक्षरशः सुमतिगणि द्वारा दिए हुए चरित से मिलता है, अन्तर है तो केवल इतना ही है कि सुमतिगणि की भाषा आलङ्कारिक वर्णनों से परिपूर्ण है तो उपाध्यायजी की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। इसलिये इसी वृत्ति को आधार मानकर हम भी उनका संक्षेप में जीवन-चरित दे रहे हैं:—

### बाल्यकाल और दीक्षा

बालक जिनवल्लभ ने अपना पठन-पाठन आसिका ( हांसी ) नामक स्थान में एक चैत्यालय में प्रारंभ किया। कूर्चपुरीय जिनेश्वराचार्य ने इस बालक की प्रतिभा की सब से पहिले परख की। उन्होंने देखा कि बालक जिनवल्लभ अपने सभी सहपाठियों से अधिक मेधासम्पन्न है। इसी बीच में एक चमत्कार हुआ! बालक जिनवल्लभ ने चैत्यालय के बाहर एक पत्र पाया, जिसमें ' सर्पाकर्षिणी ' और ' सर्पमोचिनी ' नाम की दो विद्याएँ लिखी हुई थीं। बालकने दोनों को कण्ठस्थ कर लिया, परन्तु ज्योंही उसने सर्पाकर्षिणी विद्या को पढा लोही, बड़े बड़े भयंकर सर्प उसकी ओर आने लगे; परन्तु वह बालक उस स्थान पर निर्भयता पूर्वक खड़ा रहा और उसने अनुमान किया कि यह इसी विद्या का प्रभाव है। जैसे ही उसने दूसरी विद्या का उच्चारण करना प्रारंभ किया वैसे ही सब सर्प भाग गये। इस घटना को सुनकर जिनेश्वराचार्य बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने समझ लिया कि यह बालक कोई सात्विक गुणसंपन्न होनहार व्यक्ति है। अतः उन्होंने उसको शिष्य बनाने की मन में ठान ली। उन दिनों



नेत्याह्वयों में आचारभ्रष्टता बहुत आगई थी और प्रलोभन आदि देकर भी शिष्यों को फांसना बुरा न समझा जाता था, इसलिये जिनेश्वराचार्यने न केवल उस बालक को द्राक्ष, खजूर आदि देकर वश में किया अपितु उसकी माता को भी द्रव्य देकर और भीठी-मीठी बातें बनाकर जिनवल्लभ को अपने अनुकूल कर लिया और तुरन्त ही उसको वीक्षा दे दी ।

### विद्याभ्यास

जिनेश्वराचार्यने बड़े मनोयोग के साथ जिनवल्लभ को पढाना प्रारंभ किया । उनके शिष्यत्व में शीघ्र ही उन्हेंनि तर्क, अलङ्कार, व्याकरण, कौष आदि अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर लिया । जिनवल्लभ की प्रखरबुद्धि जैसी विद्याध्ययन में सफल होती थी वैसी ही व्यावहारिक क्षेत्र में भी । एक बार जिनेश्वराचार्य किसी काम से आसिका से बाहर गये । जाते समय उन्होंने उस चैत्यालय तथा उससे संबन्धित घाटिका, विहार, कोष्ठागार इत्यादि की व्यवस्था का सारा भार जिनवल्लभ को सौंप दिया । जब वे वापिस आये तो यह जानकर बहुत प्रसन्न हुए कि जिनवल्लभने सारा प्रबन्ध बड़ी कुशलता के साथ किया और उसमें कोई भी कमी नहीं आने दी ।

अपने गुरु के प्रवास काल में बालक जिनवल्लभ को संयोगवश एक वस्तु और मिली, जिसका महत्त्व संभवतः उस समय उनको न मालूम हुआ होगा । परन्तु कौन कह सकता है कि उनके जीवन की दिशा को बदलने में उसने अप्रत्यक्षरूप से बहुत बड़ा काम नहीं किया ! घटना इस प्रकार है—

जब जिनेश्वराचार्य दूसरे ग्राम में चले गये तब बाल-मुलभ कौतुहलवश उन्होंने एक पुस्तकों से भरी हुई पेंटी की छान-बीन प्रारंभ की । उसमें उनको एक सिद्धान्त-पुस्तक मिली । उस पुस्तक में उन्होंने जो पढा उससे उन्हें पता चला कि चैत्यवासियों

का जो आचार-विचार है वह (दशवैकालिकादि) सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत है। उसमें लिखा था “साधु को ४२ दोषों से रहित होकर गृहस्थों के घरों से थोड़ा थोड़ा भोजन उसी प्रकार लाना चाहिए जिस प्रकार मधुकर विभिन्न फूलों से रस को एकत्र करता है-इस वृत्ति के द्वारा साधु की देहधारणा हो जाती है और किसी को कष्ट भी नहीं होता। साधुओं को एक स्थान पर निवास नहीं करना चाहिये और न सचित फूल-फलादि को स्पर्शहा करना चाहिये।” यह पढ़ते ही बालक जिनवल्लभ का मन उद्वेलित हो उठा और उन्होंने सोचा “अहो! अन्य एव स कश्चिद् व्रताचारो, येन मुक्तौ गम्यते, विसदृशस्त्वस्माकमेष समाचारः, स्फुटं दुर्गतिगतीयां निपततां एतेन न कश्चिदाधारः।” अर्थात् “अहो! जिससे मुक्ति प्राप्त होती है वह तो व्रत और आचार कोई दूसरा ही है, हमारा तो यह आचार बिल्कुल विपरीत ही है। हम तो स्पष्टतया ही दुर्गति के गड़े में पड़े हुए हैं और हम बिल्कुल निराधार हैं।”

### अभयदेवसरि से विद्याध्ययन

महापुरुषों के जीवन का यह एक व्यापक रहस्य है कि उनके मन में उठनेवाले महत्त्वपूर्ण संकल्पों की सिद्धि का मार्ग स्वतः ही तैयार हो जाता है। जिनवल्लभ के विषय में भी यही हुआ। उनके मन में साधु के सब व्रताचार के लिये जो उत्कण्ठा थी उसके लिये समुचित साधन स्वतः ही उपस्थित हो गये। जितेश्वराचार्यने स्वयं सोचा कि जिनवल्लभ को सिद्धान्त-ग्रन्थों की शिक्षा दिलवाना आवश्यक है। उस समय सिद्धान्त-ग्रन्थों के ज्ञान में श्रीअभयदेवसरि की बड़ी प्रसिद्धि थी। उन्होंने जिनवल्लभ को उन्हीं आचार्य के पास पाठन में भेज दिया। सिद्धान्त ग्रन्थ पढ़ने के लिये यह आवश्यक है कि पढ़नेवाला

ज्यक्ति उसका अधिकारी हो; यही अधिकार प्रदान करने के लिये उन्हें वाचनाचार्य बनाकर भेजा। जिनवल्लभगणि के साथ उनके गुरुभ्राता जिनयोग्यर भी गये।

उन दिनों चैत्यवासियों और वसतिवासियों में पर्याप्त संघर्ष रहा करता था, अतः एक चैत्यवासी आचार्य के शिष्य को आगम की वाचना देना स्वीकार कर लेना एक वसतिवासी आचार्य के लिये संकट से खाली नहीं था। इसलिये श्रीअभयदेव-सूरि के मन में भी संशय उठा कि वह जिनवल्लभ को वाचना दें या नहीं? परन्तु जब उनको विद्यास हो गया कि जिनवल्लभ के मन में सिद्धान्त-वाचना के लिये उत्कट अभिलाषा है और उसके लिये उपयुक्त पात्रता भी; तो उन्होंने सोचा कि—

“ मरिजा सह विज्ञाए, कालमि आगए विळ । अपचं च न वाइजा, पचं च न विमाणए ॥ ”

अर्थात्—अवमान समय के आने पर विद्वान् मनुष्य अपनी विद्या के साथ भले मर जाय, परन्तु अपात्र को शास्त्रवाचना न कराय और पात्र के आने पर उसका (वाचना न कराके) अपमान न करे। इसलिये उन्होंने गणि जिनवल्लभ को वाचना देना स्वीकार कर लिया। और जैसे जैसे जिनवल्लभगणि अपने विद्याभ्यास से उन्हें सन्तुष्ट करते गये वैसे ही वे विद्यादान में अधिकाधिक उत्साही होते गये। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने थोड़े से समय में ही सारे सिद्धान्त-ग्रन्थों का अध्ययन पूर्ण कर लिया। जिनवल्लभगणि की प्रत्युत्थि और ज्ञान-पिपासा को देखकर आचार्यने उन्हें एक बहुत बड़े ज्योतिषज्ञ के पास भेजा। इस विद्वानने आचार्य से पहिले ही कह रखा था कि आपका कोई योग्य शिष्य हो तो उसे मेरे पास भेजें जिससे मैं

+ यहाँ ये शायबी ख्याति 'जिनवल्लभ गणि' के नाम से हुई।

उसको अपना समग्र ज्योतिष-ज्ञान सिखला दूँ। योग्य शिष्य को पाकर किस गुरु का मत प्रसन्न न होगा ? वह ज्योतिषाचार्य भी जिनवल्लभगणि जैसे छात्र को पाकर बहुत सन्तुष्ट हुआ और उसने उन्हें अपनी सारी विद्या सिखा दी। उन्होंने कौन-कौन से ग्रन्थ पढ़े-इसका तो पता नहीं चलता, परन्तु इस सम्बन्ध में सुमतिगणि और जिनपालोपाध्याय दोनों ने ही यही लिखा है कि उन्होंने 'सर्व ज्योतिषशास्त्र' पढ़े थे।

जिनवल्लभगणि की विद्वत्ता का वर्णन करते हुए एक दोनों लेखकों ने जिन लेखकों का और ग्रन्थों का उल्लेख किया है उनसे पता चलता है कि उन्होंने जैन सिद्धान्त और ज्योतिष शास्त्र के अतिरिक्त और भी बहुत से ग्रन्थ पढ़े थे। इसके अतिरिक्त पत्तन में उन्होंने जो अध्ययन किया उससे जैन-दर्शन और ज्योतिष शास्त्र के अतिरिक्त किन्हीं अन्य ग्रन्थों के अध्ययन करने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः यह मानना पड़ेगा कि इनके अतिरिक्त उन्होंने जो कुछ अध्ययन किया उसके लिये तो अधिकांशतः वे चैत्यवासी जिनेश्वराचार्य के ही ऋणी थे। यही कारण है कि वे अपने प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतक काव्य में जहां अपने 'सद्गुरु अभयदेवाचार्य' का स्मरण करते हैं तो "सद्गुरुवो जिनेश्वरसूर्यः" कह कर उन चैत्यवासी आचार्य को भी नहीं मूलते।

१ पाके धातुरवाचि क ? क भवतो भोरोर्मन प्रीतये ? , सालङ्कारविदग्धया वद कया रज्यन्ति ? विद्वज्जना ।

पाणौ किं मुरजिद् विभर्ति ? भुवि त ध्यायन्ति ? के वा सदा, के वा सद्गुरवोऽत्र चारुचरणश्रीसुथुता विथुता ॥ १५८ ॥ उत्तर-“श्रीमदभयदेवाचार्याः।”

२ क स्पादम्भमि वारिवायसवति ? क द्वीपिन हन्त्यय ? , लोके प्राह ह्यः प्रयोगनिपुणे. कः शब्दधातुः स्मृत ? ।

मूले पालचिताऽत्र दुर्धरतरः क. क्षुभ्यतोऽम्भोनिधे-र्षूहि श्रीजिनवल्लभ ! स्तुतिपदं कीदृग्विधा. के सताम् ? ॥ १५९ ॥ उत्तर-“सद्गुरुवो जिनेश्वरसूर्यः।”

इसमें निश्चय होता है कि जिनेश्वराचार्य भी बड़े प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने जो ग्रन्थ संभवतः जिनवल्लभ को पढाये, उसमें पाणिनीय आदि के आठों व्याकरण, मेघदूतादि काव्य, रुद्रट, उद्भट, दण्डी, वामन और भामह आदि के अलङ्कार ग्रन्थ, ८४ नाटक, नगधेय आदि के छन्दशास्त्र के ग्रन्थ, अनेकान्तजयपताकादि जैन न्यायग्रन्थ तथा तर्करन्दली, किरणावली, न्यायसूत्र तथा कगलशीलादि जैनेतर दर्शनिक ग्रन्थ थे। एक और ग्रन्थ या ग्रन्थकार जिसका उल्लेख उनकी विद्वत्ता के प्रसंग में मिलता है वह है 'शङ्करनन्दन।' यह ठीक नहीं कहा जा सकता कि शङ्करनन्दन से अभिप्राय किससे है? संभवतः यह कोई वेदान्ती आचार्य रहा हो।

### चैत्यवास त्याग और उपमम्पदा ग्रहण

पतन में प्रियाध्ययन समाप्त करने के पश्चात् जन वे अपने गुरु जिनेश्वराचार्य के पास वापिस जाने लगे तो आचार्य अग्रयदेश्वरिने कहा कि "वेदा। मिद्वान्त के अनुसार जो माधुओं का आचार व्रत है वह तुम सब समझ चुके, अतः उसके अनुसार जिस प्रकार आचरण कर सको वैसा ही प्रयत्न करना।" यह वस्तुतः जिनवल्लभगणिके अन्तरात्मा की पुकार थी; उनके मन में चैत्यवास के प्रति अरुचि और वमत्तियाम के प्रति उत्कट प्रेम पहिले से ही उत्पन्न हो चुका था, अतः जिनवल्लभगणिके भी अग्रयदेश्वराचार्य के चरणों पर गिर कर कहा कि "गुरुदेव! आपकी जो आज्ञा है वैसा ही निश्चित रूप से करूंगा।" इस वचन का पालन उन्होंने मार्ग में ही करना प्रारंभ कर दिया। जैसे ही वे मरुकोट(मरोट) में पहुँचे, (जहाँ कि उन्होंने आते गमय चैत्यगृह की स्थापना की थी) तो उन्होंने देवगृह में एक विधिवाक्य के रूप में निम्नलिखित श्लोक लिखा, जिसका

पालन करके अ-विचित्य भी विधिचित्य होकर सुक्ति का साधन बन सके:—

अत्रोत्सृज्जिनक्रमो न च न च स्नात्रं रजन्यां सदा, साधूनां ममताश्रयो न च न च स्त्रीणां प्रवेशो निशि ।  
जातिस्नातिकदाग्रहो न च न च श्रोद्धेषु ताम्बूलमि-त्याज्ञाऽऽत्रेयमनिभिते विधिकृते श्रीजैनचैत्यालये ॥ १ ॥

जब उन्होंने जिनेश्वराचार्य से पृथक् होने का दृढ संकल्प कर लिया था, यह कोई सरल कार्य नहीं था, उस बूढ़े की जिनवल्लभजी पर प्रगाढ ममता थी और इनका भी उनके प्रति अनुराग और भक्तिभाव होना स्वाभाविक था, अतः इस सुदृढ स्नेह-बन्धन को काट कर निकल भागना साधारण कार्य न था । जिनवल्लभगण के मन में भी परिस्थिति की गम्भीरता आई और उन्होंने सोचा कि संभवतः जिनेश्वराचार्य के चैत्य में पहुँच कर पूर्वसृष्टियाँ अत्यधिक वेग से जागृत हो उठेंगी और उस समय अपने संकल्प पर दृढ रहना कठिन हो जायगा । इसीलिये उन्होंने वहाँ न जाकर निकटवर्ती माइयड ग्राम में ही रह कर अपने गुरु को पत्र लिखकर मिलने के लिये बुलाया । पत्र में उन्होंने लिखा था—“ मैं गुरु से विद्याध्ययन करके माइयड ग्राम में आगया हूँ, यदि भगवन् ! यहीं आकर मुझ से मिलें तो अति कृपा होगी ” यह पत्र पढ़कर जिनेश्वराचार्य को बहुत आश्चर्य और दुःख हुआ । परन्तु फिर भी वे बड़े समारोह के साथ शिष्य को लेने माइयड ग्राम गये । यह सुनते ही कि गुरुजी अनुग्रह करके पधारें हैं, जिनवल्लभगण गद्गद हो गये और तत्काल उनके सामने पहुँचे और विधिवत् प्रणाम किया । स्नेह की सरिता उमड़ उठी । गुरुने क्षेमकुशल पूछी, उसका उन्होंने यथोचित उत्तर दिया । इसी समय उनको अपना ज्योतिष का ज्ञान दिखाने का भी अवसर उपस्थित हुआ । एक ब्राह्मण वहाँ आया और उसने ज्योतिष की कई समस्याओं को उपस्थित किया, जिनवल्लभगण द्वारा

उनका समुचित समाधान षेयकर जिनेश्वराचार्य बहुत ही आश्चर्यचकित हुए और उनके हृदय में अपार हर्ष और चलास उत्पन्न हो गया। ऐसी अवस्था में जिनवल्लभगणि के आसिका न जाने से उनके मन में जो शंका उत्पन्न हुई थी वह एक पहेली बनकर उनके मन में फिर उठी और उन्होंने पूछा कि जिनवल्लभ ! यह क्या बात है कि तुम सीधे आसिका के अपने चैत्यवास में न आये और मुझे यहां बुलाया ? यह जिनवल्लभगणि के संकल्प-संयम और धैर्य की परीक्षा का समय था। कोई साधारण जन होता तो ममता और मोह के ऐसे पारावार में डूब गया होता, परन्तु जिनवल्लभगणिते अत्यन्त दृढता के साथ विनीत स्वर में कहा—“ भगवन् ! मद्गुरु के श्रीमुख से जिनवचनामृत का पान करके भी अब उस चैत्यवास का सेवन कैसे करूं ? जो कि मेरे लिये विष-वृक्ष के समान है। ” यह सुनते ही आचार्य जिनेश्वर की आशाओं पर तुयारापात हो गया। उस समय उनकी दशा बड़ी दयनीय थी। वे बोले—जिनवल्लभ ! मैंने यह सोचा था कि मैं अपना सारा उत्तराधिकार देकर और चैत्यालय, गच्छ तथा श्रावक संघ का सारा भार तुम्हें सौंप कर स्वयं मद्गुरु के पास जाकर वसतिवास को स्वीकार करूंगा। उनके यह वचन सुनकर जिनवल्लभगणि का मुख हर्षोल्लास से जगमगा उठा और वे बोले “ भगवन् ! यह तो बहुत ही सुन्दर बात है, हेय वस्तु का परित्याग करके सपादेय वस्तु का ग्रहण करना ही विवेक का काम है, अतः अपने दोनों एक साथ ही मद्गुरु के समीप चलकर सन्मार्ग को स्वीकार करें। ” यह सुनकर जिनेश्वराचार्यने एक दीर्घ निःश्वास ली और करुण स्वर में कहा कि “ वेढा ! मुझ में इतनी निःसुहता कहां ? कि गच्छ, धैत्य आदि को ऐसे ही छोड़ दूं ? हाँ जब तुम तुल गये हो तो अवश्य ही वसतिवास को स्वीकार करो। ”

इस प्रकार गुरु से अनुमति प्राप्त करके वे पुनः पत्तन में गये और अमयधैवसूरि को अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम किया।

आचार्य अभयदेवसूरि भी हृदय में अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने सोचा कि मैंने इसको जैसा योग्य समझा था वैसा ही सिद्ध हुआ। उनके मन में यह दृढ़ विश्वास था कि जिनवल्लभ ही हमारा उत्तराधिकारी (पट्टधर) होने के सर्वथा योग्य हैं। “परन्तु क्या उसको समाज स्वीकार करेगा? वह एक चैत्यवासी आचार्य का शिष्य था, पर इससे क्या? क्या पक्क से पक्कज उत्पन्न नहीं होता?” इस प्रकार सोचते हुए भी अभयदेवसूरि जैसे प्रभावशाली आचार्य-शिरोमणि भी जिस बात को न्याय, धर्म और समाजहित की दृष्टि से सर्वथा उचित समझते थे, उसको अन्धविश्वासी समाज का विरोध सहन करके भी करते। संभवतः वे भी यही सोचकर संतुष्ट हो गए कि “यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं, न करणीयं नाचरणीयम्”। अतः आचार्यश्री के मन की बात मन में ही रह गई और उन्होंने समाज के सामने मत्था टेककर अपनी अन्तरात्मा की पुकार के विरुद्ध अपने दूसरे शिष्य वर्धमान को आचार्य-पद देकर जिनवल्लभगणि को उपसम्पदा प्रदान की और सर्वत्र विचरण करनेकी अनुमति प्रदान की। तत्पश्चात् आचार्य अभयदेवसूरि के कथनानुसार प्रसन्नचन्द्राचार्य की आज्ञासे उनके पश्चात् देवभद्राचार्यने इनको पट्टधर बनाने का प्रयत्न किया, परन्तु जब जिनवल्लभगणि को यह पद प्राप्त हुआ, तो उनके जीवन का सूर्य अस्त होने वाला था।

### चित्रकूट गमन

उपसम्पदा ग्रहण करके वे कुछ दिन गुर्जरप्रदेश में विहार करते रहे, परन्तु यहां उन्हें सुविहित सिद्धान्त-प्रचार में वैसी सफलता नहीं मिली, जैसी कि वे चाहते थे। उस समय गुजरात चैत्यवासियों का सब से बड़ा गढ था; यहां पर जिनवल्लभगणि जैसे क्रान्तिकारी विचारक, कटु आलोचक और निर्भय वक्ता की दाल-गलना सरल न था, यह तो अभयदेवाचार्य जैसे सुलझे



द्र और व्याहार-कृशाल व्यक्ति का ही काम था, जो चैत्यवासियों के प्रधानाचार्य आचार्य द्रोणसूरि तक से समुचित सम्मान प्राप्त कर सके और अपने नवान्नों की टीका पर उनकी छाप लगवा कर चैत्यवासियों द्वारा मान्य भी करा सके। जहाँ श्रीअग्रयणेवाचार्य के इस प्रयत्न को स्थूल कहना पड़ता है वहाँ यह भी मानना पड़ता है कि उन्हें उसके लिये कई बार अपने विद्वानों को बलि देकर आचार-शैथिल्य भी स्वीकार करना पड़ा था। परन्तु जिनबल्लभगणि दूसरे ही प्रकार के व्यष्टि थे, वे जिनका निरोध करते थे उसका बड़े उग्ररूप में; और उन्हें किसी विषय में और किसी समय शिथिलता तनिक भी पमन्य नहीं थी। इनकी असफलता का एक कारण यह भी हो सकता है कि चैत्यवास त्याग करने से चैत्यवासी इनको अपना शत्रुमा समझने लगे होंगे और चैत्यवाम के संसर्ग में रहने के कारण वसतिमार्गियों से उन्हें समुचित आदर और महयोग न मिला होगा। इसी कारण सभवतः उन्होंने गुर्जरप्रदेश को छोड़कर मेदपाट (मेवाड़) में जाना स्वीकार किया। यद्यपि वहाँ भी सर्वत्र चैत्यवासियों का जोर था, परन्तु नये प्रदेश में एक प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिये अपना स्थान बना लेना अधिक मरल होता है। 'घर का जोगी जोगिया, आन गांव का सिद्ध।' यह कहावत प्रसिद्ध ही है। इसीके अनुसार माण्डला गौतम बुद्ध को जो आदर वाहर मिला वह उनकी जन्मभूमि कपिलवस्तु में नहीं; भगवान महावीर को भी लिच्छवी गण में मफलता तब ही मिली जब वे अन्यत्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। यही बात आधुनिक काल में आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी रयानन्द के जीवन में भी हुई। अतः जिनबल्लभगणि को मेदपाट में अधिक सफलता प्राप्त होना स्वाभाविक ही था।

मेदपाटप्रदेश में जाकर उन्होंने पहिले पहल धिन्नकूट (चित्तोड) में कुछ दिन विवाने का निश्चय किया। वहाँ पर उनके

गुरु आचार्य अभयदेवसूरि की कीर्ति और प्रतिष्ठा पर्याप्त थी। अतः वहाँ के लोग उनका कोई विगाड़ तो न कर सके परन्तु फिर भी उन्हें कुछ क्षुद्रजनों का पर्याप्त विरोध सहन करना पड़ा। वहाँ के श्रावकों से उन्होंने रहने के लिये स्थान मांगा तो उत्तर मिला “ यहाँ एक चण्डिकामठ है वहाँ यदि ठहरना चाहें तो ठहर जाय । ” गणिजी उनके दुष्ट अभिप्राय को अच्छी तरह से समझते थे, परन्तु फिर भी वे देवगुरु के प्रसाद पर विश्वास रख के वही पर ठहर गये। चण्डिका देवी भी उनके ज्ञान, ध्यान और अनुष्ठान से प्रसन्न हुई और उनकी सिद्धिदात्री बन गई। उनके पास प्रतिदिन अनेक दार्शनिक ब्राह्मण आने लगे, इनमें से प्रत्येक निज निज शास्त्रों के विषय में उनसे वार्तालाप करता था और उनके उत्तर से सन्तोषलाभ करता था। धीरे धीरे उनकी विद्वत्ता की प्रसिद्धि और उनके पाण्डित्य का प्रभाव व सुयश सर्वत्र फैल गया। जैन श्रावक भी उनकी ओर आकर्षित हुए और उनको विश्वास होने लगा कि यही एक साधु है जो सर्व संशयों को दूर करके हमारे हृदय के अन्धकार को दूर कर सकता है। गणिजी में जो बात सब से अधिक आकर्षण करने वाली थी वह यह थी कि उनकी ‘ कथनी ’ और ‘ करणी ’ एक थी। वे जिन सिद्धांतवचनों की व्याख्या अपने वचनों में करते थे उन्हीं को वे अपने आचरण में भी उतारते थे।

### गणिजी के चमत्कार

चित्रकूट में रहते हुए जिनवल्लभगणिने कई चमत्कारपूर्ण कार्य किये। इनका साधारण नाम का एक भक्त-श्रावक एक बार उनके पास आया। वह चाहता था कि अपने जीवन में परिग्रह की एक सीमा निर्धारित कर लूँ। इसका संकल्प लेने के लिये जब वह उनके पास आया तो उन्होंने पूछा कि तुम अपने सर्व संग्रह की सीमा कितनी रखना चाहते हो? साधारण श्रावक का

वेभ्यः साधारण ही था, अतः उसने सर्व संप्रद की सीमा २० हजार की रखी । परन्तु जिनबल्लभगणि जो अपने ज्योतिष-ज्ञान से  
 उसके गानी ऐश्वर्य को वेग्य सक्रते थे, अतः उन्होंने उस सीमा को और बढ़ाने के लिए कहा, तब साधारण ने तीस सहस्र कहे,  
 परन्तु जिनबल्लभगणि ने कहा कि ' यह पर्याप्त नहीं है और अधिक बढ़ाओ । ' साधारण को इस पर बहुत आश्चर्य हुआ, क्योंकि  
 उसके गृह की समस्त वस्तुओं का मूल्य ५०० भी नहीं होता था, फिर भी गणिजी के वारंवार आप्रह करने पर उसने एक लाख का  
 सर्व परिष्कार निश्चित किया । स्वल्प कालान्तर में ही उसकी संपत्ति इतनी बढी कि वह एक लक्षाधीश कहलाने लगा और वह  
 सम्पूर्ण संघ में अप्रगण्य हो गया । इस तमत्कार से वे सारे सेठ भी उनकी ओर आकर्षित हो गये; जो साधुओं के पास  
 धर्म और चारित्र्य की शिक्षा के लिये नहीं अपितु ऋद्धि-सिद्धि दोहने के लिये जाते हैं ।

एक दूसरा तमत्कार उन्होंने और दिखलाया । उनके ज्योतिष-ज्ञान की कीर्ति सर्वत्र फैल गई थी । एक ज्योतिषी ब्राह्मण  
 उनके यश को सहन न कर सका और वह जिनबल्लभगणि को नीचा दिखाने की दृष्टि से उनके पास आया । आसन देने के  
 पश्चान् निम्निलिखित वार्तालाप प्रारंभ हुआ:—

जि०—भद्र ! आपका निवासस्थान कहां है ? और आपने किस शास्त्र का अभ्यास किया है ? । त्रा०—मेरा निवासस्थान यहां  
 ही है और मैंने अभ्यास-व्याकरण, काव्य, अलङ्कार आवि सब ही शास्त्रों का किया है । जि०—ठीक है, परन्तु विशेष रूप से  
 किस विषय का किया है ? । त्रा०—व्योतिष का । जि०—चन्द्र और आदित्य के लगनों के विषय में आप जानते हैं ? । त्रा०—इसमें  
 क्या है ? बिना गणना किये ही एक दो या तीन लगनों का प्रतिपादन कर सकता है । जि०—बहुत सुन्दर ज्ञान है । त्रा०—लगन

के विषय में क्या आप भी कुछ जानते हैं ? जि०-हां कुछ थोड़ा सा । ब्रा०-अच्छा, तो आप कुछ कहें । जि०-भूवेव ! आप बतलाइये, मैं दस या बीस कितने लगनों का प्रतिपादन करूं ?

यह बात सुनकर ब्राह्मण आश्चर्यचकित हो गया और उसके आश्चर्य का तो ठिकाना ही न रहा, जब उन्होंने शीघ्र गणना करके उन लगनों को बतला दिया । इसके बाद गणिजी आकाश की ओर संकेत करके बोले-“ विप्रवर ! देखो वह आकाश में दो हाथ का जो मेघ-खण्ड दिखाई पड़ता है, क्या आप बता सकते हैं कि उससे कितनी वर्षा होगी ? ” ब्राह्मण बेचारा हतप्रभ हो गया । उसको निरुत्तर देख कर गणिजीने बतलाया-वह मेघखण्ड दो घड़ी के भीतर सम्पूर्ण गगनमण्डल में व्याप्त होकर इतनी जल-वृष्टि करेगा कि दो ' भाजन ' भर जायेंगे । सचमुच ऐसा हुआ भी । इसके परिणाम स्वरूप वह ब्राह्मण जब तक वहां रहा, तब तक उनके चरणों की वन्दना करके ही भोजन करता था ।

### षट्कल्याणक-प्ररूपणा

जिनवल्लभगणि जैन सिद्धान्त के कितने मर्मज्ञ थे और उसका प्रतिपादन वे कितने निर्भय होकर करते थे; इस बात का प्रमाण उनके द्वारा की गई छठे कल्याणक की प्ररूपणा में मिलता है । साधारणतया प्रत्येक तीर्थंकर के निम्नलिखित पांच कल्याणक माने जाते हैं:-

१-वैवलोक से प्युत होकर माता के गर्भ में प्रवेश करना । २-जन्म ग्रहण करना । ३-संसार से विरक्त होकर प्रव्रज्या ( दीक्षा ) ग्रहण करना । ४-तपश्चर्या द्वारा केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करना । ५-निर्वाण( मुक्ति ) प्राप्त करना ।

भगवान महावीर के विषय में यह विशेष माना जाता है कि पहिले उन्होंने देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में प्रवेश किया और  
 वहां से उस गर्भ को इन्द्र-आवेश से हरिणगमेयी देव द्वारा महारानी त्रिशला के गर्भ में लाया गया । सूत्रग्रन्थों में ऐसा कि आगे  
 बतलाया गया है, इस गर्भापहरण को भी उपर्युक्त पांच के समान ही एक कल्याणक माना गया है । जिनवल्लभगणिने कल्पसूत्रादि के  
 पाठ पर सम्यग् विमर्श कर इसको छठा कल्याणक प्रसिद्ध किया । अन्य पांच कल्याणकों के उपलक्ष में तो उस समय धैत्यवासी  
 लोग भी एक उत्सव मनाकर भगवान की पूजा किया करते थे, परन्तु गर्भापहरण नाम का कल्याणक तत्कालीन जनता में विस्तृत  
 हो चुका था । इसलिये जब आश्विन कृष्णा त्रयोदशी के आने पर जिनवल्लभगणिने श्रावकों से कहा कि आज हमें श्रमण भगवान  
 महावीर का छठा कल्याणक मनाना है तो वे बड़े आश्चर्य में पड़ गये । परन्तु जब उनको आगमों के प्रमाण देकर समझाया  
 गया तो वे लोग उस छठे कल्याणक को मनाने के लिये सहर्ष तैयार हुए । वहां के सभी देवालय धैत्यवासियों के थे; अतः  
 प्रश्न यह था कि उसको कहां मनाया जाय ? प्रथम तो जिनवल्लभगणि के नेतृत्व में सभी श्रावक एक धैत्यालय पर गये, परन्तु  
 उनको नेन्वते ही उस धैत्यालय की एक आर्या घरता देकर द्वार पर बैठ गई । उसका कहना था कि ऐसा काम कभी भी नहीं  
 हुआ, इसलिये मैं अपने जीते जी कदापि न होने दूंगी । बहुत समझाने बुझाने पर भी जब उसने अपना हठ नहीं छोड़ा, तो  
 जिनवल्लभगणि सारे श्रावकों को लेकर वापिस अपने स्थान पर लौट आये । अन्त में एक श्रावक के घर पर ही भगवान की  
 मूर्ति की स्थापना कर वह उत्सव सम्पन्न किया गया ।

### विधिचैत्यों की स्थापना

इस घटना से जिनवल्लभगणि के श्रावकों को अपनी उपासना के लिये एक स्वतंत्र देवगृह की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः उन्होंने गणिजी के सामने दो देवालय बनाने की इच्छा प्रकट की। गणिजीने भी उनके इस पुण्य प्रयत्न को श्रावकों का आवश्यक कर्त्तव्य व आचार बतलाया और श्रावकों ने भी निर्माण का कार्य प्रारंभ कर दिया। सत्कार्य में विघ्न होते ही हैं। इस कार्य में भी अकारण ही वसुदेव नामक सेठ विघ्नरूप बन कर उपस्थित हुआ और उसने इन देवगृह-निर्माण करने वाले श्रावकों को कापालिक तक कह डाला। एक दिन बाहर जाते हुए गणिजी को वह मिल गया, तो उन्होंने बड़े प्रेम-पूर्वक उससे कहा कि 'भद्र वसुदेव! गर्व करना ठीक नहीं है। जो श्रावक देवालय बनवा रहे हैं उनमें कोई ऐसा भी होगा जो तुम्हें कभी बन्धन-मुक्त करेगा।' उस समय तो वसुदेव संभवतः इन शब्दों के मर्म को न समझ सका। परन्तु कुछ दिनों बाद जब वह किसी अपराध के कारण राजा का कोपभाजन हुआ और उसे जंठ के साथ बांधकर के लेजाने की आज्ञा हुई तो जिनवल्लभगणि के भक्त-श्रावक साधारण नाम के सेठने ही उसको छुड़ाया। अन्त में उक्त दोनों मन्दिर पूर्ण हो गए और वाचनाचार्य जिनवल्लभ गणि ने पार्श्वनाथ और महावीर विधिचैत्यों की स्थापना कर दी।

### षड्यन्त्र का मण्डाफोड

जिनवल्लभ गणि के बढते हुए प्रभाव को कुछ लोग सहन न कर सके और वे उसको कम करने के लिये तरह तरह के उपाय करने लगे। किन्हीं मुनिवन्द्राचार्य ने अपने दो शिष्यों को जिनवल्लभजी के पास भेजा। प्रत्यक्ष में तो वे गणिजी से

सिद्धान्तानाना के लिये आये थे परन्तु अपत्यक्ष में वे एक पङ्कनत्र का आयोजन कर रहे थे । जिनवल्लभगणि शुद्ध मन से उन दोनों को सिद्धान्तों का अध्ययन कराते थे, परन्तु वे दोनों येन केन प्रकारेण जिनवल्लभगणि के श्रद्धालु श्रावकों में उनके प्रति अमर्याद इत्यक्ष करने में लगे हुए थे, और अपने सब कारनामों का समाचार अपने गुरु मुनिचन्द्राचार्य को लिखते रहते थे । एक बार सयोगवद उनका लिया पत्र जिनवल्लभजी के हाथ आगया और सारा भण्डाफोड हो गया । सारा प्रसंग जानकर उनके मन में ऐद इदपन्न हुआ और उनके मुग से निकल पडा:—

आसीज्जनः कृतघ्नः, क्रियमाणघ्नस्तु साम्प्रतं जातः । इति मे मनसि वितर्को, भवितालोकः कथं भविता ? ॥ १ ॥

जिनपदभगणि चड़े स्पष्टवादी थे और उनकी आलोचना वड़ी कटु होती थी । सभी विद्वान लोग बैठे हुए थे, बहुत से ज्ञातृण विद्वान भी आए हुये थे । इस बार व्याख्यान में निम्नलिखित गाथा आगई:—

धिजार्इण गिहीणं, जार्इणं [ ? जह ] पासर्थाईण वाचि दडूणं । जस्स न मुज्झइ दिड्डी, अमूढदिड्ढि तयं विवि ॥ १ ॥

इम गाथा की व्याख्या उन्होंने चड़े विस्तार के साथ की और इस प्रसंग में चैत्यवासियों के साथ साथ ब्राह्मणों की भी तीव्र आलोचना की । ज्ञातृण लोग इस बात को सहन न कर सके और क्रुद्ध होकर व्याख्यान से उठ गये । उन्होंने एकत्र होकर मोना कि किम्मी प्रकार जिनवल्लभ के साथ विवाद करके इनको निष्प्रभ करना चाहिये । परन्तु जिनवल्लभगणि इससे तनिक भी भयभीत नहीं हुए और उन्होंने निम्नलिखित पद्य भोजपत्र पर लिखकर उनके पास भेजा:—

सर्वादाभदुभीनेरमुतमयतया धैर्यगाम्भीर्ययोगाब्, न शुभ्यन्ते च तावन्नियमितसलिलाः सर्वदैते सयुद्राः ।

आहो ! क्षोभं ब्रजेयुः क्वचिदपि समये दैवयोगात् तदानीं न क्षोणी नाद्रिचक्रं न च रविशशिनौ सर्वमेकार्णवं स्यात् ॥ १ ॥  
यह श्लोक वृद्ध ब्राह्मणने पढा और अन्य कुपित हुए ब्राह्मणों को समझा बुझाकर शांत किया ।

### प्रतिबोध और प्रतिष्ठाएँ

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिनवल्लभगणिते द्रोह, दुर्ष और विरोध के सामने कभी शिर नहीं झुकाया, साथ ही वे यह भी समझते थे कि मनुष्य कितना निरीह प्राणी है जो लोभादि का शिकार सहज ही में हो जाता है । ऐसे लोगों पर वे क्रोध नहीं करते थे, क्योंकि वे दया के पात्र होते हैं । इस प्रकार के लोग भी उनके पास आते थे, तो वे उनको आध्यात्मिक रोगी समझ कर उनकी चिकित्सा-विधान किया करते थे, शर्त इस बात की थी कि उस व्यक्ति में पूर्ण श्रद्धा होनी आवश्यक थी । एक बार गणदेव नाम का एक श्रावक उनके पास आया, उसे स्वर्ण(सोना) सिद्धि की आवश्यकता थी । उसने सुन रखा था कि जिनवल्लभजी के पास स्वर्णसिद्धि है, वह उनके स्थान पर बारंबार आने लगा । गणिजी को उसका यह भाव ज्ञात हो गया, उन्होंने लिप्सा की लपट से दग्ध होते हुये उसके हृदय को परख लिया, अतः उन्होंने ऐसे उपदेशामृत की दृष्टि करना प्रारंभ किया कि वह सेठ स्वर्णार्थी से घर्मार्थी हो गया । तब गणिजीने पूछा ' भद्र ! कहो क्या तुम्हें स्वर्णसिद्धि की आवश्यकता है ? ' तो, उसका यही उत्तर था कि मैं तो श्राद्ध-धर्म का ही व्यवहार करना चाहता हूं । यही सेठ बाद में इनके लिखित ' द्वादशकुलक ' नामक उपदेशों को लेकर वाग्जह( वाग्ज ) प्रवेश में गया और उनका प्रचार करके जिनवल्लभगणिते की कीर्तिपताका फैलाई । इसके



फलस्वरूप वहां की सारी जनता में गणिजी के प्रति अपार श्रद्धा और स्नेह का वातावरण बन गया ।

इसके पश्चात् उनकी कीर्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई और वे अपने ज्ञान और चारित्र के लिये प्रसिद्ध होते गये । दूर-दूर स्थानों से श्रावक लोग उनके आमन्त्रित करने लगे । नागपुर( नागौर ) में जाकर उन्होंने नेमिनाथ विधिचैत्य की प्रतिष्ठा की, और तत्रस्थ संचने आदर-पूर्वक सर्व सम्मति से इनको गुरु-रूप में स्वीकार किया । इधर नरवरपुर के श्रावकों के हृदय में भी यह अभिलाषा उत्पन्न हुई कि जिनवल्लभजी को अपने गुरु-रूप में स्वीकार करके उनके द्वारा देवमन्दिर और देवप्रतिमा की स्थापना करवाँय । उनकी प्रार्थना स्वीकार हुई और जिनवल्लभगणिते नरवरपुर जाकर उनको कृतार्थ किया । जिन जिन मन्दिरों में उन्होंने प्रतिष्ठा करवाई, उनकी विशेषता यह थी कि उनमें यह स्पष्ट आदेश लिखवा दिया गया था कि ' वहां रात्रि के समय पूजा-अर्चन, स्त्री का प्रवेश तथा ऐसे ही अन्य कार्य जो चैत्यवासियों के मन्दिरों में होते थे-नहीं होंगे । ' इस प्रकार अब जिनवल्लभगणिते का सन्देश स्पष्टतया सफल होने लगा था । अब उनको सन्तोष हो बला था कि उन्होंने अपने गुरु अभयदेवाचार्य को जो वचन दिया था, वे उसके अनुसार आचरण करने में पूर्ण सफल हो रहे हैं ।

1 जियुक्ता लाभ स्त्रिजी के पट्टधर अविकाप्रकटित युगप्रधान पद विभूषित दादा श्रीजिनदत्तसूरिजी को प्राप्त हुआ ।

2 इसका उोग तत्कालीन ही देवालय के निर्मापक सेठ धनदेव के पुत्र कवि पद्मानन्द अपने वैराग्यशक्त में भी करते हैं.—

“ सिफः श्रीजिनवल्लभस्य सुगुरो. शान्तोपदेशामूर्ते. । श्रीमन्नागपुरे चकार सदनं श्रीनेमिनाथस्य यः ।

श्रेष्ठी धीघनदेव इत्यभिधया ख्यातश्च तस्याजः, पद्मानन्दश्च व्यधत् शुधियामानन्दसम्पत्तये ॥ १ ॥ ”

प्रवचनशक्ति

जिनवल्लभगणि की व्याख्यानपटुता, प्रवचनशक्ति की भी बहुत प्रसिद्धि हुई। एक बार विक्रमपुर के आसपास विहार कर रहे थे। मरुकोट्टे निवासियोंने उनके प्रवचन की प्रशंसा सुनकर उनको अपने नगर में बुलाना चाहा। बहुमानपूर्वक वीनती करने पर जिनवल्लभगणि विक्रमपुर होते हुए मरुकोट्टे पधारे। वहां पहुँचने पर श्रावकोंने एकत्र होकर बड़े ही विनीतभाव से प्रार्थना की कि ' हे भगवन् ! हम लोग आपके शीमुख से भगवद् वचनों पर प्रवचन सुतना चाहते हैं। ' जिनवल्लभगणिने कहा—श्रावकों की यह इच्छा सर्वथा उचित और श्लाघ्य है।' अतः शुभ दिवस से प्रवचन प्रारंभ हुआ। अपने व्याख्यान के लिये उन्होंने श्रीधर्मदासगणि कृत उपदेशमाला की निम्नलिखित गाथा को चुना:—

“ संवच्छरसुसभजिणो, छम्मासा वद्धमाणजिणचंदो । इय विहरिया निरसणा, जइज्ज एओवमाणेणं ॥ ३ ॥ ”

इसी गाथा को लेकर वाचनाचार्य जिनवल्लभजीने अनेक दृष्टान्त, उदाहरण आदि देते हुए सिद्धान्त-प्ररूपण करते करते छ महीने लगा दिये। इसको देख कर सभी लोग आश्चर्यचकित हुए और कहने लगे ' ये तो स्वयं भगवान तीर्थंकर ही मालूम पड़ते हैं, अन्यथा इस प्रकार की अमृतस्नाविणी वाणी कहां मिल सकती है?'

समस्यापूर्ति

व्याख्यान देने और शास्त्रार्थ करने में जो प्रसिद्धि गणिजीने प्राप्त की, वही समस्या-पूर्ति के क्षेत्र में भी उन्हें सहज सुलभ

१ जैसलमेर राज्यवर्ती वीकमपुर । २ मरोठ ।

दुई । सगस्या-पूर्ति में न केवल उनकी काव्य-प्रतिभा, छन्दयोजना तथा प्रबन्धपटुता का परिचय मिलता है अपितु उनकी प्रत्युत्पन्नगति एवं उक्तिशौघन का भी ज्ञान हमें होता है । एक समय की बात है वे कहीं जा रहे थे, एक विद्वान् उनको मार्ग में मिथ गया । उसने उनके पाण्डित्य की प्रसिद्धि पहिले से ही सुन रखी थी, अतः परीक्षा करने की दृष्टि से उसने निम्नलिखित सगन्यापद उनके सामने रखा:—

“ कुरङ्गः किं भृद्धो मरकतमणिः किं किमशनिः ? । ”

इस पद को सुनते ही गणिलीने इसकी पूर्ति तुरन्त ही इस प्रकार कर डाली:—

“ चिरं चित्तोद्यने चरसि च सुखाब्जं पिवसि च, क्षणादेणाक्षीणां विरहविपमोहं हरसि च ।

त्रुप ! त्वं मानाद्रिं दलयसि च किं कौतुकरं, कुरङ्गः किं भृद्धो मरकतमणिः किं किमशनिः ? ॥ १ ॥ ”

इसको सुनकर वह विद्वान् अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बोला—मैंने आपके विषय में जैसा सुना था वैसा ही आपको पाया । ऐसा कष्टकर वह उनके चरणों पर गिर पड़ा ।

ऐसी ही दूसरी घटना धारानगरी की है । उस समय धारा में श्रीनरवर्मा नामक नृपति राज्य कर रहे थे । एकवार राजसभा में दो पण्डित बाहर से आये । तन्होंने पण्डितों के सामने यह समस्यापद रखा—

“ कण्ठे कुठारः कमठे ठकारः । ”

राजसभाके सभी पण्डितोंने अपनी बुद्धि के अनुसार इस समस्या की पूर्ति की, परन्तु उन दोनों विदेशी पण्डितों का चित्त

प्रसन्न नहीं हुआ। तब किसीने राजा से कहा—हे देव ! पाण्डता क द्वारा का हुई समस्या—पूर्ति इन दोनों को पसन्द नहीं आई। तब राजाने पूछा कि इन दोनों को सन्तुष्ट करने का कोई अन्य उपाय संभव है ? इस पर राजा को उत्तर मिला कि चित्रकूट ( चित्तौड़ ) में जिनवल्लभगणि नाम के श्वेताम्बर साधु हैं जो सब विद्याओं में निपुण माने जाते हैं। तब राजाने साधारण नामके सेठ के पास एक पत्र भेजा, जिसमें उससे अतुरोध किया गया था कि वह अपने गुरु जिनवल्लभगणि के द्वारा इस समस्या की पूर्ति करवाकर शीघ्र ही भेजे। प्रतिक्रमण के बाद जब गणिजी को पत्र सुनाया गया तो उन्होंने तत्काल ही इस प्रकार उस समस्या को पूर्ण किया—

“ रे नृपाः ! श्रीनरवर्मभूप-प्रसादनाय क्रियतां नतार्ङ्गैः । कण्ठे कुठारः कमठे ठकार-श्रृङ्गे यदश्वोप्रखुराप्रघातैः ॥ १ ॥ ”

यह पूर्ति जब राजसभा में पहुँची तो न केवल विदेशी विद्वान् ही सन्तुष्ट हुए अपितु स्वयं राजा भी जिनवल्लभगणि का सहा के लिये सक्त हो गया। यही कारण है कि जब गणिजी कुछ काल उपरान्त धारानगरी पधारे तो राजाने उनको तीन लाख मुद्रा या तीन ग्राम लेने के लिये बहुत कुछ आग्रह किया। परन्तु जब यह आग्रह उस अपरिग्रही और निस्पृह साधुने स्वीकार नहीं किया तो राजाने गणिजी की अनुमति से चित्रकूट में श्रावकों द्वारा निर्मापित दो विधिवैत्यों की पूजा के लिये वह धन दान में दे दिया। इसी बात का उल्लेख उनके गुरुभ्राता जिनशेखराचार्य के प्रशिष्य श्रीअभयदेवसूरिने जयन्तविजय नामक काव्य ( र. सं. १२७८ ) में भी किया है:—

“ तच्छिष्यो जिनवल्लभो प्रभुरभूद् विश्वम्भराभामिनी-भास्वद्भालललामकोमलयशःस्तोमः शमाराभभूः ।

यस्य श्रीनरवर्मभूपतिशिरःकोटीरत्नाङ्कुर-ज्योतिर्जलिजलैरपुष्पत सदा पादारविन्दद्वयी ॥ १ ॥  
 कश्मीरानपहाय सन्ततहिमव्यासङ्गवैरागतः, प्रोन्मीलद्रुणसम्पदा परिचिते यस्यास्यपङ्केरुहे ।  
 सान्द्रामोदतरङ्गिता भगवती वाग्देवता तस्त्रुपी, धारालामलमव्यकाव्यरचनाव्याजादनृत्यच्चिरम् ॥ २ ॥

### आचार्यपद और स्वर्गवास

जिनब्रह्मगणि की प्रसिद्धि और प्रभाव को सुनकर श्रीदेवभद्राचार्य को अपने गुरु प्रसन्नचन्द्राचार्य का अन्तिमवाक्य स्मरण हो आया । उन्होंने सोचा कि मैं अभी तक अपने गुरुश्री के आदेश के अनुसार जिनवल्लभगणि को श्रीअभयदेवाचार्य का पट्टपर नहीं बना सका । ऐसा विचार कर उन्होंने जिनवल्लभगणि को पत्र लिखा । उस पत्र में लिखा था—“तुम शीघ्र ही अपने समुदाय महिन विहार कर चित्रकूट आओ, मैं भी वहीं पर आरहा हूँ ।” जिनवल्लभगणि उस समय नागपुर( नागोर ) में थे । वहाँ से वे विहार करके चित्रकूट( चितोड़ ) पहुँचे । देवभद्राचार्य भी अपने समुदाय सहित वहाँ पधारे । देवभद्राचार्य उस समय के परम प्रतिष्ठित गीतार्थसाधु और विद्वान थे । इनके द्वारा रचित महावीरचरियं, पासनाहचरियं, कहारयणकोस इत्यादि महा-प्रण्य आज भी जैन कथा-साहित्य में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं । उन्होंने उस समय पं. सोमचन्द्र ( जो कि आगे चल कर जिनवज्रमसूरि के पट्टधर युगप्रधान श्रीजिनदत्तसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए ) को भी बुलाया था परन्तु वे किसी कारणवश न आ सके । आचार्य देवभद्रसूरिने विधिवत् श्रीजिनवल्लभगणि को श्रीअभयदेवसूरि के पट्ट पर स्थापित किया और उस समय से वे श्रीजिनवज्रमसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए । परन्तु वे इस पद पर अधिक समय तक न रह सके । उन्होंने ज्योतिष गणना

के अनुसार अपनी आयु छह वर्ष और समशी-थी, परन्तु छह महीने ही बीते थे कि एकाएक उनका शरीर अस्वस्थ हो गया । यह देखकर उनको आश्चर्य हुआ और उन्होंने पुनर्गणना की तो, पता चला कि पहिले कुछ अङ्क छूट गये थे जिसके कारण छ महीने के स्थान पर छ वर्ष आये । ऐसा निश्चय होजाने पर उन महानुभावने अपने शरीरत्याग की तैयारी-धैर्य और सन्तोष के साथ कर दी । संघ एकत्र हुआ; सर्व जीवों के प्रति आपने मैत्रीभाव को प्रकट करते हुए-अपराधों की क्षमा याचना की, अरिहंत, सिद्ध, साधु और केवलीप्रणीत धर्म का शरण अंगीकार किया और तीन दिन का अनशन किया । इस प्रकार तैयार होकर सं. ११६७ कार्तिक कृष्णा अमावास्या-दीपावलि की मध्यरात्रि में पञ्चपरमेष्ठि का स्मरण करते हुए इस असार संसार को त्याग कर श्रीजिनवह्मसूरिने चतुर्थ देवलोक की यात्रा की ।

शास्त्रविरुद्ध आचरणा करनेवाले चैत्यवासियों के विरोध में आचार्य हरिभद्रसूरिने जो प्रचण्ड आवाज उठाई थी वह सफल हुई या नहीं कह नहीं सकते, परन्तु आचार्य जिनेश्वरसूरिने पत्तन में जाकर चैत्यवास, और चैत्यवासियों का समूलोच्छेदन करने के लिये जो चिनगारी छोड़ी थी उसको अपने प्रकाण्डपाण्ड्य और अपूर्व प्रतिभा से विभूषित जिनवह्मगणि जिस प्रबल प्रभञ्जन को लेकर आगे बढे, उसमें चैत्यवास का महादुम निर्मूल होकर धराशायी हो गया और उसके रहेसहे अवशेष आचार्य जिनदत्त-सूरि से लेकर छि. आचार्य जिनेश्वरसूरि तक के आचार्यादिने ( गणिजी के अनुयायियोंने ) सफाया कर दिया । अतएव जिनवह्मगणि का जीवन एक क्रान्तिकारी जीवन था, जिसकी पवित्र और प्रभूत देनों के लिये जैन समाज उनका सदा के लिये ऋणी होगा । वे एक सच्चे सत्यप्रेमी साधु थे । आढम्बर से उन्हें घृणा थी और मिथ्याचरण से था हार्दिक विरोध । उन्होंने जिसको

एक बार मन्व ममसा उसको अपनी ' कथनी ' और ' करणी ' में निर्भीक होकर उतारा । मनसा वाचा कर्मणा जिस सत्य की त्रयामना का आदर्ग उन्होंने जैन-ममाल के सामने रखा वह आज भी एक तब ज्योतिःस्तम्भ की भांति विद्यमान है । परन्तु क्या हम उसकी प्रसर-प्रभा को अपने अन्वकारपूर्ण हृदयों में आज धुमने दे रहे हैं ?

### ग्रन्थरचना

गणितरत्नी १२ वीं शती के सुप्रसिद्ध उद्भट विद्वानों से एक थे । इनका अलङ्कारशास्त्र, छन्दशास्त्र, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, नाट्यशास्त्र, कामतन्त्र और सैद्धान्तिक विषयों पर एकाधिपत्य था । इन्होंने अपने जीवनकाल में विविध विषयों पर श्रेष्ठों प्रन्थों की रचना की थी, जिसका उल्लेख सुमतिगणि गणधरसार्द्धशतक की वृत्ति में इस प्रकार करते हैं:—

“ परमगणपि भगवताभवशतचरितनिधीनां श्रीमरुकौडुससत्रर्षप्रमितकृतनिवासपरिशीलितसमस्तागमानां समप्रगच्छादृतसूक्ष्मार्थ-  
मिद्धान्तविचारसार-षडशीति-सार्द्धशतकाख्यकर्मग्रन्थ-पिण्डविशुद्धि-पौषषविधि-प्रतिक्रमणमामाचारी-सङ्घपट्टक-धर्मशिक्षा-  
द्वादशकुलरूपप्रकरण-प्रश्नोत्तरशतक-शृङ्गारशतक--नानाप्रकारविचित्रचित्रकाव्य--शतसङ्ख्यस्तुतिस्तोत्रादिरूपकीर्तिपताका सकल  
गणमण्डलं गणयन्ती विद्वज्जनमनांसि प्रमोदयति । ”

किन्तु यैरदुर्भिषाक से बहुत से अमूल्य ग्रन्थ नष्ट होगए और इस कारण से इस समय केवल ४१ रचनार्थ ही प्राप्त हैं और ये के केवल नामोद्धेय ही मिलते हैं । उपलब्ध ग्रन्थों की तालिका निम्न है:—

१ सूक्ष्मार्थविचारमारोद्धार (सार्द्धशतक) प्रकरण, २ आगमिकवस्तुविचारसार (षडशीति) प्रकरण, ३ पिण्डविशुद्धि प्रकरण,

४ पौषधिविधि प्रकरण, ५ प्रतिक्रमणसामाचारी, ६ सर्वजीवशरीरावगाहनास्त्व, ७ श्रावकत्रतकुलक, ८ द्वादशकुलक, ९ धर्मशिक्षा, १० सङ्घपट्टक, ११ प्रश्नोत्तरेकषष्टिशतकाव्यम्, १२ शृङ्गारशतक, १३-१७ आदिनाथादि चरित्र पञ्चक, १८ वीरचरित्र ( जय भववण० प्रा. गा. १५ ), १९ चतुर्विंशति जिनस्तोत्र ( आ. सीमभव. गा. १४५ ), २० पञ्चकल्याणकस्तव ( सम्भं नमिऊण. प्रा. गा. २६ ) २१ सर्व जिनपञ्चकल्याणकस्तव ( पणमियसुर. प्रा. गा. ८ ), २२ नन्दीश्वरस्तोत्र ( वंदिय नंदिय. प्रा. गा. २५ ), २३ ऋषभजिनस्तोत्र ( सयलभुवणिक. प्रा. गा. ३३ ), २४ लघु अजितशान्तिस्तव ( उल्लासि० प्रा. गा. १७ ), २५ ऋषभस्तुतिः ( मरुदेवीनाभि० प्रा. गा. ४ ), २६ पार्श्वस्तोत्र ( सिरिभवण० प्रा. गा. ११ ), २७ छुद्रोपद्रवहर पार्श्वस्तोत्र ( नमिरसुरासुर० प्रा. गा. २२ ), २८ महावीरविज्ञप्तििका ( सुरनरवह्कयवंदण. प्रा. गा. १२ ), २९ महाभक्तिगर्भा सर्वविज्ञप्तििका ( लोयालोय० प्रा. गा. २७ ), ३० भावारिवारणस्तोत्र ( समसस्कृतप्राकृत गा. ३० ), ३१ पञ्चकल्याणकस्तोत्र ( प्रीतिद्वात्रिशत् स. प. १३ ), ३२ कल्याणकस्तव ( पुरन्दरपुरस्पद्धि० सं. प. ७ ), ३३ सर्वजिनस्तोत्र ( प्रीतिप्रसन्नमुख० सं. प. २३ ), ३४ वीतरागस्तुतिः ( देवाधीशकृते० सं. प. १० ), ३५ पार्श्वस्तोत्र ( नमस्यद्दीर्वाण. सं. प. ३३, प्रथमकृति' ), ३६ पार्श्वस्तोत्र ( पायात्पार्श्वः सं. प. २९ ) ३७ पार्श्वस्तोत्र ( समुद्यन्तो० सं. प. १८ ) ३८ पार्श्वस्तोत्र ( विनयविनमद्. सं. प. १९ ), ३९ पार्श्वस्तोत्र ( त्वमेव माता त्वं पिता. सं. प. ९ ), ४० सरस्वतीस्तोत्र ( सरभसलसद् सं. प. २५ ), ४१ नवकारस्तव ( किं किं कपतरु० अपभ्रंश प. १३ ), अनुपलब्ध—१ स्वप्राष्टकविचार, २ अष्टसप्तति ।

१ " अज्ञानाद् मणिति स्थितेः प्रथमकाभ्यासात् कवित्वस्य यत्, किञ्चित्सम्प्रमहर्षविस्मयवशाच्चायुक्तमुक्ते मया ॥ ३३ ॥ "



इन ग्रन्थों में मार्कण्डेय, पद्मशीलि और पिण्डविशुद्धि ये तीनों ही सैद्धान्तिक ग्रन्थ बहुत ही महत्व के हैं। इन ग्रन्थों पर आचार्य मलयगिरि, घनेश्वराचार्य, हरिभद्राचार्य, मुनिचन्द्राचार्य, श्रीचन्द्राचार्य, यशोदेवाचार्य आदि ने तत्काल ही अर्थात् १२ वीं शती में ही टीकाएं रचकर इनकी सार्वजनिक उपयोगिता सिद्ध की। और भी इनके प्रायः समग्र ग्रन्थों पर अनेक टीकाएं प्राप्त होती हैं, उन सब का संक्षेप, और गणिजी के काव्यवैशिष्ट्य पर बल्लभभारती की प्रस्तावना में हम प्रकाश डालेंगे। अतः यहां पर कवि की विगदप्राज्ञता और टीकाकारों के व्यक्तित्व आदि पर विचार नहीं कर रहे हैं।

### विरोधियों के असफल प्रयत्न

आचार्य जिनबल्लभसूरि के व्यक्तित्व और असाधारण-प्रतिभा से उत्पीडित परवर्ती कई लेखकोंने असंभाव्य कल्पनाएं उत्पन्न कर उनके व्यक्तित्व को दूषित करने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार के अवांछनीय दुष्प्रयत्न करनेवालों में, ( साहित्य में शोध करने पर ) हमें सर्वप्रथम उपाध्याय धर्मसागरजी के दर्शन होते हैं। धर्मसागरजी जैसे उद्भट विद्वान थे जैसे ही यदि शान्तिप्रिय और गामनेमी होते तो निश्चित ही महापुरुषोंको कोटि में आते। पर शोक !!, उस शताब्दि में उनके जैसा दुराग्रही, कलहप्रेमी, उन्मत्त और निहव दूरसा व्यक्ति नहीं हुआ, जिसको तत्कालीन गणनायकों-विजयहीरसूरि तथा विजयहीरसूरि जैसे को-यार्यार योल ( आदेशपत्र ) निकाल कर गच्छ बहिष्कृत करना पड़ा और उनके उरसूत्र प्ररूपणामय ग्रन्थों को जलशरण करवाना पड़ा। अतः ऐसी आस्था में धर्मसागरजी कल्पित विकल्पों का उत्तर देना तो नहीं चाहिये किन्तु आज भी उन्हीं के वचनों का उद्धरण लेकर समाज में विष फैलानेवाले मानविजयजी आदि कई विद्वेप्रेमी मौजूद हैं। अतः उनका कुछ समाधान होजाय

और साहित्य-जगत् में यथार्थ स्थिति का विग्दर्शन होजाय, इसलिये उनके प्रमुख प्रमुख विकल्पों पर विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है । सागरजीने जिनवल्लभगणि के विषय में जो विभिन्न विवाद उठाये हैं उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं:—

१-आचार्य अभयदेवसूरि के पास इतने उपसम्पदा ग्रहण नहीं की थी, अर्थात् शिष्य नहीं बने थे । २-षट्कल्याणक की प्ररूपणा उनकी उत्सूत्रप्ररूपणा थी । ३-उत्सूत्रप्ररूपणा के कारण वे संघ बहिष्कृत थे । ४-पिण्डविशुद्धि आदि सैद्धान्तिक ग्रन्थों के प्रणेता जिनवल्लभ नाम के कोई दूसरे आचार्य थे । अतः अब इन चारों विकल्पों पर हम क्रमशः विचार करते हैं:—

### उपसम्पदा

वस्तुतः यदि कोई व्यक्ति गच्छ-व्यामोह से प्रमाणों के सद्भाव में भी केवल 'येन केन प्रकारेण प्रसिद्धिमान् पुरुषो भवेत्' नीति को अपनाकर अपने हृदय की कालिमा को महापुरुषों पर लगाने का प्रयत्न करता है तो वह दया का पात्र ही है । आधुनिक समय में ही देखिये, महात्मा गांधी के सत्प्रयत्नों को सहन न कर अपनी दूषित मनोवृत्तियों से उनका वध करनेवाला गोडसे, महात्मा के नाम के साथ ही सर्वदा के लिये अमर हो गया ! उसी प्रकार अपनी निह्वताभरी प्ररूपणाओं से संघर्ष-साहित्य में धर्मसागरजी भी सदा के लिये उल्लेखनीय हो गये ।

आचार्य जिनवल्लभसूरि के वृत्त को हम ऊपर देख आये हैं कि मूल में आप कूर्चपुरीय चैत्यवासी जिनेश्वराचार्य के शिष्य थे और आचार्य अभयदेवसूरि से सैद्धान्तिक वाचना प्राप्तकर, सुविहित साधुओं के आचरण-व्यवहारों को समझकर, चैत्यवास त्यागकर अभयदेवाचार्य के पास उपसम्पदा ( पुनर्दीक्षा ) ग्रहण की । धर्मसागरजी से चार शताब्दि पूर्व ही श्रीसुमतिगणि और

जिनपाञ्चोपाध्याय ( जिनका अरिहत्त्व दीक्षा पर्याय १२२४ से १३१० तक है ) ने अपने ग्रन्थों में यह बात स्वीकार की है ।  
 आचार्य जिनेश्वरसूरि के शिष्य और नवाद्गदीकाकार श्रीअभयदेवसूरि के सतीर्थ-गुरुभ्राता श्रीजिनचन्द्रसूरिने सं. ११२५  
 में संवेगरेगशाला नामक कथा-ग्रन्थ की रचना पूर्ण की । उसकी पुष्पिका में लिखा है—

“ इति श्रीमज्जिमनचन्द्रसूरिकृता तद्धितेयश्रीप्रसन्नचन्द्रसूरिसम्भयितेन गुणचन्द्रगणि( ना ) प्रतिसंस्कृता, जिनवल्लभगणिना च  
 मज्जोयिता, संवेगरेगशालाऽऽगधना समाप्ता । ” अर्थात्—श्रीजिनचन्द्रसूरिप्रणीत उनके विनेय प्रसन्नचन्द्राचार्य की अभ्यर्थना से गुण-  
 चन्द्रगणि ( जो आचार्य बनने पर देवमद्राचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए ) द्वारा प्रतिसंस्कृत और गणि जिनवल्लभ द्वारा सशोधित  
 मवेगरेगशाला पूर्ण हुईं । इससे स्पष्ट है कि यदि जिनवल्लभगणि उपसम्पदा ग्रहण कर आचार्य अभयदेवसूरि के शिष्य न बने  
 होते तो जिनचन्द्रसूरि जैसे, अपने मतीर्थ्य अभयदेवसूरि, एव शिष्य प्रसन्नचन्द्राचार्य, हरिभद्रसूरि, वर्धमानसूरि आदि समर्थ  
 विद्वानों के मदते हुए एक चैत्यवासी गणि से अपनी कृति का सशोधन करवाय-समावना नहीं की जा सकती ।

मनगुण में जिनगणगणि यदि अभयदेवसूरि के शिष्य बने न होते और उत्सूत्रप्ररूपक होते तो अभयदेवसूरि के स्वर्गारोहण  
 के पश्चात् गन्त में अमाचारण प्रतिभाशाली और गीतार्थप्रवर आचार्य देवभद्रसूरि, जिनके सम्बन्ध में सुमतिगणि कहते हैं:—

“ मत्तङ्ग्यायचर्चान्तचतुरगिरः श्रीप्रसन्नेन्दुसूरिः, सूरिः श्रीवर्द्धमानो यतिपतिहरिभद्रो मुनिर्देवभद्रः ।

न इसने यह स्पष्ट हो जाता है कि-५. ११२५ में पूर्व ही जिनगणगणि चैत्यवास का परित्याग कर उपसंपदा ग्रहणपूर्वक नवागदीकाकार  
 भाष्यमवेगरेगसूरि के शिष्य बन चुके थे । मयादक ।

इत्याद्याः सर्वविद्यार्णवसकलभुवः सञ्चरिष्णुरूक्षीर्तिः, स्तम्भायन्तेऽधुनापि श्रुतचरणरमारजिनो यस्य शिष्याः ॥१॥”  
वे अपने हाथों से गणि जिनवल्लभ को आचार्य अभयदेवसूरि के पट्टधर पद पर कदापि स्थापित नहीं करते । स्थापित करना स्पष्ट प्रतिपादन करता है कि गणिजीने आचार्य अभयदेवसूरिजी के पास में उपसम्पदा ग्रहण करली थी, अर्थात् शिष्यत्व स्वीकार कर चुके थे । सं. ११७० में लिखित पट्टावलि में कवि पल्ल जिनवल्लभसूरि को अभयदेवसूरि का पट्टधर स्वीकार करते हैं:—

सुगुरु जिणेसरसूरि नियमि जिणचंदु सुसंजमि । अभयदेउ सवंग नाणी, जिणवल्लहु आगमि ॥ ”

आचार्य जिनवल्लभसूरि के प्रपौत्र पट्टधर और उ. जिनपाल तथा सुमति गणि के गुरु आचार्य जिनपतिसूरि स्वरचित संघपट्टक वृत्ति में लिखते हैं कि—‘चैत्यवास को चतुर्गतिभ्रमणदायक मानकर जिनवल्लभजीने आचार्य अभयदेवसूरि के पास उपसम्पदा ग्रहण की थी’;—

“ सुगृहीतनामधेय; प्रणतप्राणिमन्दोहवितिर्णशुभभागधेय; चैत्यवासदोषभासनसिद्धान्ताकर्णनापासितकृतचतुर्गतिसंसारयास-  
जिनभवतवास; सर्वज्ञशामनोत्तमाङ्गस्थाना[ज्ञो]दिनवाङ्गवृत्तिकच्छ्रीमदभयदेवसूरिपादसरोजमूले गृहीतचारित्रोपसम्पत्ति; करुणा-  
सुघातरदिणीतरङ्गरत्नत्वान्तः सुविधिमार्गावभासनप्रादुःपद्द्विशदकीर्तिकौमुदीनिपूदितदिकृसीमन्तिनीवदनध्वान्तः; स्वस्योपसर्गमभ्युप-  
गम्यापि त्रिदुपा दुरध्वविध्वंमनमेवावेयमिति ’ सत्युरुपपदवीमदीयसी विदधान; समुज्जितसूरिर्भगवान् श्रीजिनवल्लभसूरिः.... । ”

साथ ही इन्हीं जिनवल्लभ गणि रचित सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार ( सार्द्धशतक ) प्रकरण पर बृहत्तच्छीय श्रीधनेश्वराचार्यने सं. ११७१ में टीका रचना पूर्ण की है, ( स्मरण रहे कि जिनवल्लभसूरि का स्वर्गवास ११६७ में हुआ था, उसके चार वर्ष पश्चात्

ही इसकी रचना हुई है। अर्थात् ग्रन्थकार और टीकाकार दोनों समकालीन आचार्य हैं) उसमें १५२ वें पद्य की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं:—

“ निगमल्लभगणि ” त्ति जिनवल्लभगणिनामकेन मतिमता सकलार्थसङ्ग्रहादिस्थानाङ्गाद्यज्ञोपाङ्गपञ्चाशकादिशास्त्रद्व्युत्तिविधाना-  
 ग्गावदानतीर्णिमुगाथयन्त्रित्तवरा मण्डलाना श्रीमदभयदेवसूरीणां शिष्येण ‘ लिखितं ’ कर्मप्रकृत्यादिगम्भीरशास्त्रेभ्यः समुद्धृत्य दृढं-  
 विनयप्रभगणिलिखितम्..... । ” अर्थात्—सार्द्धशतक के प्रणेता स्थानांगसूत्रादि अगोपांग और पंचाशक आदि के व्याख्याकार  
 आचार्य अभयदेवसूरी के ही शिष्य थे। इससे भी यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि अभयदेवसूरी इनको उपसम्पदा प्रदान  
 कर अपना शिष्य तोषित कर चुके थे। केवल ये ही नहीं किन्तु धर्मसागरजी के ही पूर्वज तपगच्छीय श्रीहेमहंससूरी (

) अपने कल्पान्तर्वाच्य में लिखते हैं:—

“ तवाङ्गीगुत्तिकारक श्रीअभयदेवसूरी जिणे थंभणे सेठी नदीनेँ उपकंठी श्रीपार्श्वनाथ तणी स्तुति करी, धरणेन्द्र सहार्थे श्रीपार्श्व-  
 धिम्य प्रत्यक्ष कीभो, शरीरतणौ जोड रोग उपशमाव्यौ, तच्छिष्य जिनवल्लभसूरी हुआ, चारित्रनिर्मल अनेकग्रन्थतणौ निर्माण कीधौ । ”  
 और इसी प्रकार तपगच्छीय आचार्य मुनिसुन्दरसूरी स्वप्रणीत त्रिदशतरङ्गिणी \*गुर्वावली में लिखते हैं:—

“ व्याख्याताऽभयदेवसूरीरमलप्रज्ञो नवाङ्गथा पुन-र्भव्यानां जिनदत्तसूरीरददाद् दीक्षां सहस्रस्य तु ।

प्रौढः श्रीजिनवल्लभो गुरुरभूद् ज्ञानादिलक्ष्म्या पुन-र्ग्रन्थान् श्रीतिलकश्चकार विविधांश्चन्द्रप्रभाचार्यवत् ॥१॥ ”

\* न नगयोगकृत प्रथोत्तर ग्रन्थ देवों, जो स्वरूप काल में ही ‘ प्रथोत्तर-चत्वारिंशत् शतक ’ के नाम से इस संपादक द्वारा प्रकाशित होने वाला है ।

इत्यादि अवतरणों से सिद्ध है कि गणिजी नवाङ्गीवृत्तिकारक आचार्य अभयदेवसूरि के शिष्य थे। उपसम्पदा के विना शिष्यत्व स्वीकृत नहीं हो सकता तो पट्टधर आचार्यत्व की कल्पना-कल्पना मात्र ही रह जाती है। अतः यह मानना ही होगा कि जिन-वल्लभगणिने चैत्यवास त्याग कर अभयदेवसूरि से उपसम्पदा ग्रहण की थी। इसलिये युगप्रधान जिनदत्तसूरि जैसे समर्थ विद्वान् स्थान स्थान पर जिनवल्लभसूरि को अभयदेवसूरि का शिष्य कहते हैं।

केवल यही नहीं किन्तु आचार्य जिनवल्लभसूरि स्वयं स्वप्रणीत श्रावकव्रतकुलक में आचार्य अभयदेवसूरि का शिष्य कहते हैं:—  
“ जुगपवरागमसिरि-अभयदेवमुणिवह्णिसुद्धेण । जिणवल्लहगणिणा गिहि-वयाइ लिहियाइ सुद्धेण ॥ २८ ॥ ”  
गणिजी स्वयं को आचार्य अभयदेवसूरि के शिष्य ही नहीं किन्तु अष्टसप्ततिका में तो जिनेश्वरसूरि का शिष्य और अभय-देवसूरि के पास श्रुताध्ययन और उपसम्पदा ग्रहण करने का उल्लेख भी करते हैं:—

“ लोकार्च्यकूर्चपुरगच्छमहाघनोत्थ-मुक्ताफलोच्चलजिनेश्वरसूरिशिष्यः ।

प्राप्तः प्रथां सुवि गणिजिनवल्लभोऽत्र, तस्योपसम्पदमवाप्य ततः श्रुतं च ॥ ”

साथ ही स्वप्रणीत प्रश्नोत्तरैकवष्टिशतं काव्य में जहां आचार्य अभयदेवसूरि को “ के वा सद्गुरवोऽत्र चारुचरणश्रीसुश्रुता विश्रुताः ? ” इस प्रश्न के उत्तर में “श्रीमदभयदेवाचार्याः” का उल्लेख किया है, उसकी अवचूरि करते हुए तपागच्छनायक श्रीसोम-सुन्दरसूरि के शिष्यने ( स. १४८६ में ) ‘ सद्गुरवः ’ के स्थान पर ‘ मद्गुरवः ’ पाठ स्वीकार किया है:—

“ श्रीपाके ’ इति वचानात् श्रीधातुः । ममाभयं ददातीति मदभयदस्तस्मिन् थो मदभयं ददातीति, तत्र मम मनः प्रीतियुक्तं

मातीत्वभिप्रायः ।.....इत्यादि स्वयं रचित प्रन्थों के प्रमाणों से संदेह का अवकाश ही नहीं रह पाता ।

### पद्कल्याणक

शास्त्रीय मगानुमार प्रत्येक तीर्थंकर के च्यवन\*, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ये पांचकल्याणक अनिवार्य रूप से होते ही हैं । परन्तु श्रमण भगवान् महावीर के ईत पांच कल्याणों के अतिरिक्त एक छठा कल्याणक और हुआ, वह था गर्भापहरण\* । यह गटना इस प्रकार वर्णित मिलती है:—

\* इस प्रथम कल्याणक का नाम एक च्यवन ही नहीं, किंतु अतएव गर्भे, गर्भाधान आदि अनेक नाम शास्त्रकार फरमाते हैं, जैसे कि आचार्य-त्रिनमदरगि क्षमाश्रमणची गृहसप्रहणी हो “अवयरण जम्मनिक्रमणणनिव्वण पचकल्लणे । तित्ययरण नियमा, करति येसेसु खित्तिसु ॥ १ ॥” इस गाथा में अतएव कहते हैं, आचार्य हरिमद्रसुरिजी पचाशक की “गन्धे जम्मे य तहा, गिम्पुणणे वेव णणनिव्वणे । सुवगुरुणं जिणण, कत्ताणा होति पायच्चा ॥ ३१ ॥” इस गाथा में गर्भकल्याणक और इसकी टीका में नवाप्तटीकाकार आ. अमयदेवसुरिजी इसे गर्भाधान कहते हैं ।

इन लिखित प्रमाणों से निश्चित यह हुआ कि-देवलोक में च्यवनमात्र को ही नहीं अपितु च्यवकर माता की कुक्षि में तीर्थंकर गर्भतथा उत्पन्न होना अन्यायक है, इसी कारण शास्त्रकार स्थान स्थान पर लिखते हैं कि—“युए चइत्ता गन्धं वक्कंते” अर्थात् देवलोक से च्यवे और च्यवकर माता की कुक्षि में गर्भमाना उत्पन्न हुए । अथादक ।

“ये च्यवन शब्द चाकर माता की कुक्षि में गर्भतया उत्पन्न होने का योक्तक है, वैसे ही गर्भापहार शब्द हरण मात्र का नहीं, किंतु देवानदा को बुद्धि से अपहरण द्वारा त्रिशला की कुक्षि में स्थापन करने रूप अर्थ का योक्तक है । यही बात तपगच्छीयोग्याय जयविजयजी कल्पदीपिका में लिखते हैं, “गर्भान्-चीरदेगनरूपस्य एरण-त्रिशलाकृशो य्कागण-गर्भहरण” ॥ इस तरह त्रिशला की कुक्षि में गर्भाधानरूप गर्भहरण-गर्भापहार को कल्याणक न माना दिगी प्रकार बुद्धियुक्त नहीं, यदि उपरोक्त व्याख्योपेत गर्भापहार कल्याणक मानने योग्य न हो तो कल्पसूत्रोक्त “एए चउदस महासुम्भिणे

श्रमण भगवान महावीर का जीव दशम देवलोक से च्युत होकर आषाढ शुक्ला षष्ठी के दिवस माहणकुण्डग्राम के निवासी कोडाल गोत्रीय ऋषभदत्त विप्र की पत्नी जालंधरा गोत्रीय देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न हुए । देवानन्दाने चौदह स्वप्न देखे । ८२ दिवस पश्चात् देवलोकस्थ सौधर्मेन्द्र अवधिज्ञान से भगवान को देवानन्दा के गर्भ में स्थित देखकर प्रसन्न होता है और श्रद्धापूर्वक ' नमुत्थुणं ' आदि से स्तुति करता है । पश्चात् विचार करता है कि तीर्थंकर का जीव किसी अशुभ कर्मोदय के कारण श्रेष्ठ क्षत्रियवंशों का त्यागकर विप्रादि नीच कुलों में उत्पन्न हो सकता है, परन्तु उस निम्न कुल की माता की योनि से उनका जन्म कदापि नहीं होता । मैं इन्द्र हूँ, भगवान का भक्त हूँ, अतः मेरा जीताचार ( कर्तव्य ) है कि मैं गर्भसंक्रमण ( अपहरण कर अन्य स्थान पर प्रक्षेप ) करवाऊं ? इत्यादि विचार कर अपना आज्ञाकारी हरिणगमेपी नामक देव के बुलाता है और आदेश देता है कि तुम जाकर देवानन्दा के गर्भ में स्थित भगवान के जीव को लेकर क्षत्रियकुण्ड के अधिपति ज्ञातवंशीय काश्यप गोत्रीय सिद्धार्थनरेश की पत्नी वाशिष्ठ गोत्रीय त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में स्थापित करो और त्रिशला की कुक्षि में स्थित पुत्री के गर्भ को देवानन्दा ब्राह्मणी के उदर में स्थापित करो ! आदेश प्राप्त कर हरिणगमेपी देव आता है और आश्रित्य त्रयोदशी की मध्यरात्रि में यह कार्य पूर्ण करता है । इसी रात्रि में त्रिशला क्षत्रियाणी १४ स्वप्न देखती है, राजा सिद्धार्थ से निवेदन करती है । नृपति सिद्धार्थ भी स्वप्नलक्षण पाठनों को बुलाकर स्वप्न फल पूछता है । तब मात्स्य होता है कि

सत्त्वा पासेह तित्यग्रमाया " इस नियमानुसार, और पचाशकोंक कल्याणक के " कल्याणकला य जीवाण " इस लक्षण से युक्त गर्भाधान कल्याणक सूचक १४ स्वप्न त्रिशलामाता न देखती । संपदक ।



भीषण अथवा यक्षमर्त्या का जीव धियाला की रत्नमयी कुक्षि से जन्म ग्रहण करेगा । उसी दिवस से घनद के आलाकारी देव मय प्रजार के वस्तुओं की मित्रार्थ के घर में वृद्धि करते हैं ।

इसी गर्भोपहरण को मंगलस्वरूप मानकर सब ही शास्त्रकारोंने इसे कल्याणक के रूप में स्वीकार किया है । किन्तु अपनी आधिनियेशिक मान्यता के वशीभूत होकर, शास्त्रीय मान्यता एवं परंपरा का त्याग कर, कई इस कल्याणक को कल्याणक के रूप में स्वीकार नहीं करते । उनकी मान्यता के अनुसार इसमें निम्नलिखित बाधाएँ हैं:—

१. गर्भहरण अतिनिन्द्य कार्य होने से आश्वर्य ( अच्छेरा ) २+ । जो आश्वर्य हो वह मंगलस्वरूप कल्याणक नहीं माना जा सकता । २. शास्त्रों में किसी भी स्थल पर श्रमण भगवान महावीर के छ कल्याणक हुए हैं—स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता । जहाँ कहीं भी उल्लेख है वह कल्याणक शब्द से अभिहित नहीं है किन्तु वस्तु या स्थान शब्द से कथित है । ३. पञ्चाशक शास्त्र में भूतानागत और भविष्यद् रूप त्रिकालभावि चौबीस तीर्थंकरों के कल्याणकों की संख्या—परिमाण सूचन करने में महावीर के पाच ही कल्याणक माने हैं । टीकाकार अभयदेवसूरिने भी पांच ही लिखे हैं । यदि गर्भोपहार छटा होता तो उसकी संख्या क्यों नहीं देते ? । ४. यदि ' पांच हत्युत्तरे होत्था, साहणा परिनिव्वुए ' आदि से गर्भहरण को भी कल्याणक

+ " नीचैर्गोत्रविपाकरूपस्य अतिनिन्द्यस्य आश्वर्यरूपस्य गर्भोपहारस्यापि कल्याणकत्वकथन अनुचित " कल्पसु प ९

इसी पर टिप्पण करते हुए आ० सागरानंद लिखते हैं— ' गर्भोपहारोऽशुभः ' । " अकल्याणकभूतस्य गर्भोपहारस्य " कल्पकिरणवली । " करोपि ? श्रीमहावीरे, कथ कल्याणकानि षट् । यत्तैवेकमकल्याणं, विप्रनीचकुलत्वतः ॥ १ ॥ " गुरुतत्त्वप्रदीप । संपादक ।

स्वीकार करते हो तो जम्बूद्वीपप्रद्वसि के अनुसार 'पंच उत्तरासाठे अभीई छठे होत्था' से ऋषभदेव का राज्याभिषेक नामक कल्याणक भी मानना चाहिए । ५. शास्त्रों में तथा किसी भी आचार्य द्वारा इसका उल्लेख न होने से यह प्रतिपादन अशास्त्रीय है, अतः उत्सूत्रप्ररूपणा है और इसका प्रतिपादन सर्वप्रथम जिनवल्लभ गणिते ही किया है ।

इन विकल्पों का समाधान ( उत्तर ) क्रमशः इस प्रकार है:—

१. यदि हम आश्वर्य को कल्याणक के रूप में स्वीकार न करें तो हमारे सन्मुख कई बाधाएँ उपस्थित होती हैं । शास्त्रों में जहाँ दश आश्वर्यों ( अच्छेरों ) का वर्णन है, उसमें १९ वे तीर्थंकर मल्लिनाथ का स्त्री रूप में होना भी एक आश्वर्य माना गया है । यदि नारी का तीर्थंकर होना आश्वर्य के अंतर्गत आता है तो सहज ही प्रश्न उठते है कि क्या उस नारी का तीर्थंकरत्व मंगल-दायक हो सकता है ? क्या उस नारी के जीवन की अमूल्य घटनाएं कल्याणक के रूप में स्वीकार की जा सकती हैं ? क्या उसकी तीर्थंकर उपाधि कल्याणकारक हो सकती है ? क्या उसका शासन चतुर्विध संघ के लिये कल्याण-कारक हो सकता है ? यदि भगवान् महावीर का गर्भापहरण कल्याणकस्वरूप नहीं हो सकता तो नारी का तीर्थंकरत्व कैसे कल्याणस्वरूप हो सकता है ?

इसी प्रकार दूसरा एक आश्वर्य उत्कृष्ट देहधारी १०८ मुनियों के साथ भगवान् ऋषभदेव का सिद्धिगमन ( निर्वाण प्राप्त करना ) है । ५०० धनुष परिमाण की देह उत्कृष्टदेह मानी जाती है । इस प्रकार के उत्कृष्ट देहधारी जीव एक समय में एक साथ दो ही मुक्ति जा सकते है, यह शास्त्रीय नियम है । दो से अधिक एक समय में मुक्ति नहीं जा सकते, इस शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन होने से इसे आश्वर्य मानते हैं तो, क्या हम इसको आश्वर्य मानकर मंगलदायक कल्याणक स्वीकार नहीं कर सकते ? यदि

हम इसे कल्याणक स्वीकार नहीं करते हैं तो प्रभु ऋषभदेव का निर्वाण प्राप्त करना उनके स्वयं के लिये मंगलस्वरूप, आनन्दधाम-  
 प्राप्तिरूप कदापि नहीं हो सकता तथा उनका निर्वाण कल्याणक, समाज के लिये श्रेयस्कर भी नहीं हो सकता। परन्तु आश्चर्य है  
 कि हम इसे मंगल-स्वरूप कल्याणक अंगीकार करते हैं—करना ही पड़ता है। अतः विचार करना चाहिये कि एक आश्चर्य को तो  
 हम कल्याणक नहीं मानते और दो आश्चर्यों को कल्याणक रूप में स्वीकार करते हैं, क्या यह नीति उचित कही जा सकती है ?  
 यदि गर्भान्धार मंगलमय न होता तो आचार्य हेमचन्द्रस्वरि अपने त्रिपष्टिशलाकापुरुषचरित्र के दशमपर्व, द्वितीय सर्ग में  
 इसे मंगलस्वरूप कदापि स्वीकार नहीं करते, वे कहते हैं:—

“ देवानन्दागर्भगते, प्रभौ तस्य द्विजन्मनः । चभूव महती ऋद्धिः, कल्पद्रुम इवागते ॥ ६ ॥

तस्या गर्भस्थिते नाथे, द्वयशीतिदिवसात्यये । सौर्धर्मकल्पाधिपतेः, सिंहासनमकम्पत ॥ ७ ॥ +

जात्वा चावधिना देवा-नन्दागर्भगतं प्रभुम् । सिंहासनात् समुत्थाय, शक्रो नत्वेत्यचिन्तयत् ॥ ८ ॥

x

x

x

x

+ इस पद्यमें कनिष्कालगर्भेश आचार्य हेमचन्द्रस्वरि स्पष्ट फरमाते हैं कि-देवानन्द्य की कुक्षिमें प्रभु महावीरदेव के अवतरित होनेको क्यासी  
 रिपय थीत जाने पर धौर्धर्मन्द्रका आसन कथित हुआ, अतः शान्तिचन्द्रीय जन्मद्वीपप्रवृत्तिसृष्टि के—“ तदेव हि कल्याणकं यनासनप्रकम्पप्रयुक्तावपयः  
 गच्छन्परापुरेण्य चोभगिति पिपित्थनो गुणपत्ससम्भ्रमा उपतिष्ठन्ते ” इस कथनानुसार जिसमें इन्द्रादि देवताओंका आना प्रसृति न हुआ हो उसे  
 एतन्नाक न माननेवालोंने देवानन्दाकी कुक्षिमें वीरविगुके अवतरणको, जिसे कि इरिभद्रस्वरि न सम्यग्देवस्वरि जैसे प्रामाणिक आचार्योंने पचाशक प्रकरण  
 गुरु प रित्तो स्पष्टतया कल्याणक माना है, उसे कल्याणक नहीं मानना चाहिये । सपादक ।

पिण्ड-  
विशुद्धिं  
दीकाद्रयो-  
भेतम्  
॥ १९ ॥

कृष्णाश्विनत्रयोदश्यां, चन्द्रे हस्तोत्तरास्थिते । स देवस्त्रिशलागर्भे, स्वामिनं निभृतं न्यधात् ॥ २९ ॥  
गजो वृषो हरिः साभि-येकश्रीः सक् शशी रवि । महाध्वजः पूर्णकुम्भः, पद्मसरः सरित्पतिः ॥ ३० ॥  
विमानं रत्नपुञ्जश्च, निर्धूमोऽग्निरिति क्रमात् । ददर्श स्वामिनी स्वमान्, मुखे प्रविशतस्त्वदा ॥ ३१ ॥  
इन्द्रैः पत्या च तज्जैश्च, तीर्थञ्छन्मलक्षणे । उदीरिते स्वमफले, त्रिशलादेव्यमोदत ॥ ३२ ॥  
गर्भस्थेऽथ प्रभो शक्रा-ऽऽज्ञया जृम्भकनाकिनः । भूयो भूयो निघानानि, न्यधुः सिद्धार्थवेऽमनि ॥ ३४ ॥ ”

यदि हम देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न होना कल्याणक मानते हैं और त्रिशला की कुक्षि में संक्रमण होना कल्याणक नहीं मानते हैं तो यह कितना अयुक्त होगा ? जहां हरण को अतिनिन्द्य कार्य स्वीकार करते हैं वहां विप्र कुल में उत्पन्न होना भी नीच गोत्र कर्मविपाक के उदय से मानते हैं-दोनों ही जघन्यता की कोटि में आते हैं । उस अवस्था में एक का अंगीकार और एक का त्याग कदापि युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता ।

दूसरी बात, च्यवन के पश्चात् जो देवोचित कर्तव्य होते हैं वे हरण के पश्चात् ही हुए हैं, ऐसा शास्त्रों में उल्लेख मिलता है, तथा गर्भोपहरण यदि कल्याणक न होता तो आचार्य भद्रबाहुस्वामी जैसे इस अतिनिन्द्य कार्य का शास्त्रों में विस्तार से वर्णन कदापि नहीं करते, उनका यह प्रतिपादन हमें एक नूतन दृष्टिप्रदान करता है कि प्रभु महावीर के कल्याणकों की संख्या हमें ५ ही स्वीकार हो तो देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न होने से न मान कर गर्भहरण के बाद से ही संख्या मानें ।

२. शास्त्रीय उल्लेखों में हम किसी गच्छ के अथवा आचार्यों के उल्लेख न देखकर कतिपय शास्त्रीय उल्लेखों पर ही विचार करते हैं:-

उपोद्घात।  
वीरपट्ट-  
कल्याणक  
सिद्धि ।

जेनागमों में प्रथम अंग भी आचाराङ्गसूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, भावनाहयन में वीरचरित्र का वर्णन करते हुए गणघरदेव लिखते हैं:-  
 “ते णं फाले णं ते णं समये णं समणे भगवं महावीरे पंचहृत्युत्तरे यावि होत्या, तं जहा-१. हृत्युत्तराहिं च्युए चइत्ता गन्भं वक्त्ते, २. हृत्युत्तराहिं गन्भाओ गन्भं साहरिए, ३. हृत्युत्तराहिं जाए, ४. हृत्युत्तराहिं सव्वतो सव्वत्ताए सुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, ५. हृत्युत्तराहिं कसिणे पडिपुण्णे निव्वाथाए निरावरणे अणंते अणुत्तरे केवलवरणाणदंसणे समुप्पजे, ६. साइणा भगवं परिनिव्वुए+।”

इसकी टीका करते हुए व्याख्याकार आचार्य शीलकूसुरिने भी × छ ही कल्याणक स्वीकार किये हैं। इसी प्रकार श्रीकल्पसूत्र के प्रारंभ में भी पाठ आता है:-

+ इस पाठका अर्थ नागपुरीय तपागच्छ के मुख्य प्रतिष्ठापक आचार्य पार्श्वचन्द्रसूरि इस प्रकार लिखते हैं-

“श्रीमहावीर तेहना पच कल्याणिक हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहि हुआ, जिणि उत्तरा नक्षत्र आगलि हस्त छे ते हस्तोत्तरा कहिये, एतळे उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्रमाहि पच कल्याणिक हुआ, ते कल्याणिक केहा? कंह छे-हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहि स्वामी च्या. चवीने गर्भि ऊपना १, हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहि गर्भ यकी वीजे गर्भि साहुर्या २, हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहि स्वामी जन्म पाम्या ३, हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहि × × × अणगारपणे प्रव्रजित हुआ. एतावता संयम आदर्यो ४, हस्तोत्तरा नक्षत्रमाहि × × × स्वामी केवली हुआ ५, साइणा-स्वाति नक्षत्रे भगवत श्रीमहावीर निर्वाण पदिइ पहुंता ६।”

( आचारांग सूत्र. बाबू प्र. पत्र २३९ व २४२ )  
 × पञ्चसु स्थानेषु गर्माधान-संहरण-जन्म-दीक्षा-ज्ञानोत्पत्तिरूपेषु संवृत्ता, अतः पञ्चहस्तोत्तरो भगवानभूदिति ” इस टीका पाठसे गर्माधानादि जिन पांच स्थानों में हस्तोत्तरा नक्षत्र होनेका कहा गया है उन पांच स्थानों में से चार को कल्याणक और एक गर्भसंहरण को-अकल्याणक नहीं बताया, अतः छ. कल्याणक ही मानना टीकाकारके अभिप्राय से युक्तियुक्त है।

“ ते णं काले णं ते णं समये णं समणे भगवं महावीरे पंच हत्युत्तरे होत्था, तं जहा-१. हत्युत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते, २. हत्युत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, ३. हत्युत्तराहिं जाए, ४. हत्युत्तराहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए, ५. हत्युत्तराहिं अणंते अणुत्तरे निव्वाधाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पन्ने, ६. साइणा परिनिव्वुए भयवं । ”  
इसकी भी टीका करते हुए केवल कुछ तपगच्छीय आचार्यों को छोड़कर प्रायः सब ही टीका व टिप्पणियों में ही कल्याणक हुए, ऐसा स्वीकार किया है ।

स्थानाङ्ग सूत्र के पञ्चम स्थानक में पद्मप्रभ, सुविधि, शीतल आदि महावीर पर्यन्त के चौदह तीर्थकरों के एक एक नक्षत्र में पांच कर्याणकों की गणना करते हुए कुल ७० कल्याणक हुए, करके पाठ दिखाया है उसमें वीर के पांच कल्याणक हस्तोत्तरा नक्षत्र में हुए:—

“ समणे भगवं महावीरे पंच हत्युत्तरे होत्था, तं जहा-हत्युत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते, हत्युत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए, हत्युत्तराहिं जाए, हत्युत्तराहिं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए, हत्युत्तराहिं अणंते अणुत्तरे जाव केवलवरणाणदंसणे समुप्पन्ने । ”  
इसकी टीका करते हुए आचार्य अभयदेवसूरि लिखते हैं:—

“ समणे, इत्यादि । हस्तोपलक्षिता उत्तरा हस्तोत्तरा, हस्तो वा उत्तरो यासां हस्तोत्तरा उत्तराफाल्गुन्यः पञ्चसु च्यवनगर्भ-हरणादिषु हस्तोत्तरा यस्य स तथा, गर्भाद्-गर्भस्थानात् ‘ गब्भं ’ति गर्भे-गर्भस्थानान्तरे संहतः-नीतः । निर्वृतिस्तु स्वातिनक्षत्रे कार्तिकामावास्यायाम् । ”

इसमें तेरह तीर्थहरों के पांच पांच कल्याणक एक एक नक्षत्र में होने से कुल मिलाकर ६५ होते हैं और उसमें महावीर के गर्भाणमहित केवलशान प्राप्ति तक ५ कल्याणक हस्तोत्तरा नक्षत्र में हुए, स्वीकार कर ७० की संख्या पूर्ण करते हैं। इसमें निर्माण सम्मिलित नहीं है। क्या यहाँ निर्वाण को कल्याणक न माना जाय ? और उसे यदि मानते हैं तो ६ हो ही जाते हैं इसीलिये आचार्य अभयदेवसूरि को विशिष्ट रूप से लिखना पड़ा कि 'निर्वृतिस्तु स्वातिनक्षत्रे कार्तिकाऽमावस्यायाम्' इति। अतः यह स्पष्ट है कि शास्त्रकारों ने गर्भहरण को कल्याणक के रूप में स्वीकार किया है। यदि गर्भपरिवर्तन अतिनिन्द्य और अशुभ होता तो इसे मद्गलमय कल्याणकों की गणना में ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं थी। इसमें ग्रहण करना सूचित करता है कि गर्भपरिवर्तन भी मद्गलस्वरूप कल्याणक है।

यहां पर यदि यह विचार किया जाय कि इसमें कहीं भी कल्याणक शब्द की गन्ध तक हमें प्राप्त नहीं होती अपितु इसमें केवल इतना ही कहा गया है कि इस नक्षत्र में ये वस्तुएं हुईं, तो इसे कल्याणक के रूप में कैसे स्वीकार किया जाय ? यह केवल मतिविभ्रम है, विद्वत्तापूर्ण विचार नहीं। यहां पर वस्तु ही कल्याणक का पर्यायवाची शब्द है, इसीसे कल्याणक ग्रहण किया जाता है। उस एकार्थक को हम यदि स्वीकार न करें तो हमारे सामने अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तिएं खड़ी हो जायेगी। कुछ स्थलों को छोड़कर ठमें कहीं भी और किसी भी शास्त्र में कल्याणक शब्द पृथक् रूप से प्राप्त नहीं होता, हमें केवल लक्षणा से ही ग्रहण करना होता है। ऐसी अवस्था में क्या हम न्यवन से निर्वाण पदप्राप्ति पर्यन्त की वस्तुओं को कल्याणक स्वीकार नहीं करेंगे ? स्थानाद्गसून में प्रतिपादित १४ तीर्थहरों के ७० कल्याणकों को अंगीकार नहीं करेंगे ? कल्पसूत्र पार्थनाथ, नेमिनाथ

आदि चरित्रानुसार, वहां भी कल्याणक शब्द का उल्लेख न होने से क्या हम उनके भी कल्याणक स्वीकार नहीं करेंगे ? नहीं, हमें स्वीकार करना होगा । अन्यथा कल्याणकों का ही स्पष्टतः अत्यन्तभाव हो जायगा, जो सचमुच में शास्त्रविरुद्ध प्रलापमात्र होगा, कल्याणकों का अभाव अर्थात् मङ्गलदायक वस्तुओं का अभाव होगा । कल्याणकों का अभाव होने से इन्द्रादिक देवताओं की की हुई श्रद्धापूर्वक सम्यग् आराधना केवल ढोंग मात्र ही होगी, भक्ति नहीं । अतः कल्याणक शब्द का उल्लेख न होने पर भी हमें लक्षणा से कल्याणक ग्रहण करना ही होगा ।

यही नहीं, किन्तु तीर्थंकर का जीव पूर्वभवों में जिस भव से वह सम्यक्त्व अर्जन करता है वहां से लेकर तीर्थंकर भव तक उसके सभी भव ' उत्तमभव ' माने जाते हैं । कल्पसूत्रादि शास्त्रों में प्रसु महावीर का भव पोट्टिल राजपुत्र के भव से पंचम भव माना जाता है, परन्तु समवायाङ्गसूत्र में गणधरदेव महावीर का पंचम भव देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न होना और छट्टा भव त्रिशलारानी की कुक्षि में उत्पन्न होना और तीर्थंकर रूप से जन्म लेना मानते हैं—

“ समणे भगवं महावीरे तित्थगरभवगगहणो छट्ठे पोट्टिलभवगगहणे एगं वासकोटिं सामन्नं परियागं पाडणित्ता सहस्सारे कप्पे सब्बट्ठविमाणे देवत्ताए उववन्ने । ”

श्रमण तपस्वी भगवान महावीर के पोट्टिल के भव से पांच ही भव माने गये, यह छट्टा भव कैसा ? इसका भ्रम न हो इसलिये टीकाकार अभयदेवस्वरि स्पष्ट कर देते हैं:—

“ समणे, इत्यादि । किल भगवान् पोट्टिलाभिघातो राजपुत्रो बभूव । तत्र वर्षकोटिं प्रबल्यां पालितवान् इत्येको भवः । ततो



नेनोऽमूर्ति द्वितीयः । ततो नन्दाभिधानो राजसूनुः छत्रानगर्यां जज्ञे इति तृतीयः । तत्र वर्षलक्षं सर्वथा मासक्षपणेन तपस्तप्त्वा वसामोपलोके पुण्योत्तरवरविजयपुण्डरीकाभिधाने विमाने देवोऽभवत् इति चतुर्थः । ततो ब्राह्मणकुण्डामे ऋषभदत्त-ब्राह्मणस्य भार्याया देवानन्दाभिधानायाः कुक्षौ उत्पन्नः इति पञ्चमः । ततो द्वयशीतितमे दिवसे क्षत्रियकुण्डप्रामे नगरे सिद्धार्थमहाराजस्य त्रिशलाभिधानभार्यायाः कुक्षौ इन्द्रवचनकारिणा हरिर्निगमेपिनाम्ना देवेन संहतः-नीतः तीर्थङ्करतया च जातः, इति षष्ठः । उक्त-भवप्रहणं हि विना नान्यद्भवप्रहणं पष्टं श्रूयते भगवतः, इत्येतदेव षष्ठभवप्रहणतया व्याख्यातं, यस्माच्च भवप्रहणादिदं षष्टं तदल्पे-तस्मात् षष्ठमेवेति, सुष्ठूच्यते तीर्थङ्करभवप्रहणात् षष्ठे षोडशभवप्रहणे इति । ”

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि देवानन्दा की कुक्षि से उत्पन्न होना और उससे अपहत होकर त्रिशलाकुक्षि में धारण होना अतिनिन्द्य या आश्चर्य नहीं किन्तु उत्तम भव है । अतः पृथक् भवनिर्देश से उत्तम भव होने के कारण यह स्वतः ही मङ्गलस्वरूप कल्याणक हो जाता है ।

३-पञ्चाशक प्रकरण एवं टीकाकार अभयदेवसूरि द्वारा पञ्चकल्याणक स्वीकार करना अपना निजी महस्त्व रखता है । वहां सामान्य रूप से २४ तीर्थङ्करो के कल्याणकों की गणना का प्रसंग होने से पांच ही कहे गये हैं, इससे ६ कल्याणक की मान्यता में यत्किञ्चित् भी बाधा नहीं आती । देखिये, जिस प्रकार चौबीस तीर्थङ्करो की सामान्य गणना में १९ वें तीर्थंकर मल्लिप्रसु की स्त्रीरूप में गणना नहीं करते हैं किन्तु मलिनाथजी कहकर पुरुष रूप में गिनते हैं । परन्तु विशिष्ट व्याख्या में या प्रसंग में मल्लि स्त्री थी, कहते हैं तो, क्या सामान्य प्रसंग से मल्लिप्रसुका स्त्रीत्व छूट जाता है, और क्या वे पुरुष मान ली जाती है ? नहीं ।

इसी प्रकार प्रत्येक तीर्थकर की माता चौदह स्वप्न देखती है। उसमें ऋषभदेव की जननी वृषभ से, महावीर प्रभु की जननी सिंह से और अवशिष्ट अजितनाथ से पार्श्वनाथ पर्यन्त २२ की माताएं हस्ति से लेकर निर्धूम अग्निशिखा पर्यन्त चौदह स्वप्न देखती हैं। कल्पसूत्र में वीरचरित्र में त्रिशलाद्वारा दृष्ट स्वप्नों के अधिकार में आचार्य भद्रबाहुस्वामी, सामान्य पाठ होने से एवं बहुलता की रक्षा करने के लिये सिंह स्वप्न से वर्णन प्रारंभ न कर हस्ति स्वप्न से ही वर्णन प्रारंभ करते हैं, तो क्या यह मान सकते हैं कि त्रिशला ने चौदह स्वप्नों में सर्वप्रथम सिंह का स्वप्न न देखकर हाथी का स्वप्न देखा था ?

यही क्यों ? आचार्य जिनवल्लभसूरिने स्वयं सर्व जिन पञ्चकल्याणकस्तोत्रों में सामान्य जिनेश्वरों की स्तुति एवं कल्याणकनिर्देश मात्र होने से महावीरप्रभु के पांच ही कहे हैं, तो क्या हमें जिनवल्लभसूरि का ही पृथक् अस्तित्व स्वीकार करना होगा ? या उन्हें वितथवचनी कहना होगा ? कदापि नहीं। वस्तुतः सामान्य प्रसंग से पञ्चाशक में महावीरदेव के पांच ही कल्याणक कहे हैं तो अतिरिक्त कल्याणक का अभाव नहीं हो जाता। अतः सामान्य विशेष व्याख्या को मध्यस्थ दृष्टि से देखें तो छ कल्याणक की मान्यता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

४-जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के 'उसभे णं अरहा कोसलिए पंच उत्तरासाढे अभीई छडे होत्था' इस पाठ के अनुसार यहां यह सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि क्या शास्त्रकार ने राव्याभिवेक को कल्याणक स्वीकार कर 'पंच उत्तरासाढे' कहा है ? परन्तु इसका समाधान इसकी टीका करते हुए टीकाकार तपागच्छीय आचार्य विजयसेनसूरि के शिष्य श्रीशान्तिचन्द्रगणि ( जो धर्मसागरजी के ही समकालीन विद्वान थे ) कहते हैं कि 'वीरस्य गर्भापहार इव नायं कल्याणकः' महावीर के गर्भहरण की तरह यह

कल्याणक नापी है, किन्तु राज्याभियेक इन्द्र कर्तव्य होने से लक्षणा के साधर्म्य से एवं उत्तरापाढा नामक एक नक्षत्र में होने से शास्त्रान्ते 'पंच उत्तरामाढे' कहा है, इसमें कोई दोष नहीं है। इसीलिये आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने कल्पसूत्र में 'उसमें णं अग्रा त्रौषट्पि चउ उत्तरामाढे अभीई पंचमे होत्या' कहा है। अर्थात् चार कल्याणक उत्तरापाढा नक्षत्र में हुए हैं और पांचवां (निर्घोण) अभिलित नक्षत्र में। टीकाकार का पूरा मन्तव्य इस प्रकार है:—

“ननु अस्मान्देव विभागसूत्रवलात् आविदेवस्य पट्कल्याणकं समापद्यमानं दुर्निवारं इति चेत् ? न, तदेव हि कल्याणकं यत्रामनप्ररुम्पप्रयुक्तानघयः सकलसुरासुरेन्द्रा जीतमिति विधितसवो युगपत् संसंभ्रमा उपतिष्ठंते, नह्यं पष्टकल्याणकत्वेन भवता निरूप्यमाणो राज्याभियेकस्तादृशस्तेन वीरस्य गर्भापहार इव नायं कल्याणकः, अनन्तरोकलक्षणायोगात्। न च तर्हि निरर्थकमस्य कल्याणकाधिकारे पठनमिति वाच्यम्, प्रथमतीर्थेश्वराज्याभियेकस्य जीतमिति शक्रेण क्रियमाणस्य देवकार्यत्व-लक्षणसाधर्म्येण समानक्षत्रजाततया प्रमद्वेन तत्पठनस्यापि सार्धकत्वात्, तेन समानक्षत्रजातत्वे सत्यपि कल्याणकत्वाभावेन [अ]नियतवक्तव्यतया, क्वचित् राज्याभियेकस्याकयनेऽपि न दोषः। अतएव दशाश्रुतस्कन्धाष्टमाध्ययने पर्थुपणाकल्पे श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः “ते णं काले णं ते णं समे णं उमगे णं अरहा क्रोमल्लिण चउ उत्तरामाढे अभीइ पंचमे होत्या।” इति पञ्चकल्याणकनक्षत्रप्रतिपादकसूत्रं ववन्धिरे। ननु राज्याभियेकनक्षत्राभिधायकमपीति। न च प्रस्तुतव्याख्यानस्यानागमिकत्वं, आचाराङ्गभावनाध्ययने श्रीवीरकल्याणकसूत्रस्थैव-मेव ज्ञान्यातत्तयात्।”

उम पाठ से राज्याभियेक भी कल्याणक हो; सन्देह का अवकाश ही नहीं रहता। यदि मानलें कि राज्याभियेक भी

कल्याणक हो तो प्रायः प्रत्येक तीर्थंकर का राज्याभिषेक हुआ है उसे भी मानना होगा । यही क्यों ? भगवान ऋषभदेव ने युगलिक धर्म का निवारण कर सुमङ्गला के साथ पाणिग्रहण किया, यह लौकिक व्यवहार से एवं गार्हस्थ्यधर्मरूप्य श्रेष्ठ कार्य होने से इसे भी कल्याणक मानने में क्या आपत्ति है ? यदि इस प्रकार से कल्पनाओं का आश्रय लिया जाय तो पांच ही नहीं अपितु कितने ही कल्याणक प्रत्येक तीर्थंकर के हो सकते हैं, परन्तु शास्त्रविहित न होने से इन्हें कल्याणकों की कोटि में किसी भी शास्त्रकारने नहीं रखा, अतः राज्याभिषेक भी कल्याणक की कोटि में नहीं आ सकता ।

५-कतिपय शास्त्रीय प्रमाणों के उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं । अब खरतरगच्छीय आचार्यों के लिखित प्रमाण छोड़कर केवल अन्यान्यगच्छीय आचार्यों के ही प्रमाण प्रस्तुत करते हैं:—

( क ) श्री पृथ्वीचन्द्रसूरि कल्पटिप्पन में लिखते हैं:—

“ हस्त उत्तरो यासां ताः, बहुवचनं बहुकल्याणकापेक्षम्, इत्यत्र पञ्चसु पञ्च, स्वातौ षष्ठमेव ध्वन्यते । ”

( ख ) आचार्य विनयचन्द्रसूरि कल्पनिरुक्त ( र. १३२५ ) में लिखते हैं:—

“ हस्त उत्तरो यासां ता हस्तोत्तरा-उत्तरफलगुण्यो, बहुवचनं बहुकल्याणापेक्षम् । तस्यां हि विभोऽयवनं १, गर्भाद्गर्भ-सङ्क्रान्तिः २, जन्म ३, व्रतं ४, केवलं ५ चाभवत् । निर्दृतिस्तु स्वातौ ६ । ”

( ग ) तपगच्छीय आचार्य कुलमण्डनसूरि कल्पावचूरिका में मूल पाठ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं:—

“ श्रीवर्द्धमानस्य षण्णां व्यवनादीनां कल्याणकानां हेतुत्वेन कथितौ तौ वा इति ब्रूमः । ”

( ५ ) आचार्ये जयचन्द्रसूरि अपने कल्पान्तर्वाच्य में लिखते हैं:—

“ आपाठे सितपट्टी, त्रयोदशी चाश्विने सिता चैत्रे । मार्गे दशमी सितवै-शाखे सा कार्तिके च क्रूहुः ॥ १ ॥

वीरम्य पट्कल्याणक्रदिनानि इति । ”

( ५ ) तपगच्छीय आ० श्रीसोमसुन्दरसूरि या तशिष्य स्वप्रणीत कल्पान्तर्वाच्य में लिखते हैं:—

“ यत्राऽनौ भगवान् महावीरो देवानन्दायाः कुक्षौ दशमदेवलोकगतप्रधानपुष्पोत्तरविमानादवतीर्णः, पञ्चकल्याणकानि उत्तराफाल्गुनिसंश्लेषे जातानि । तथा—..... स्वातिनक्षत्रे परिनिर्धृतः—निर्वाणं प्राप्तो

भगवान्—सोक्षं गत इत्यर्थः । एतानि भगवतो वर्द्धमानस्य पट्कल्याणकानि कथितानि । ”

( छ ) अश्रद्धगच्छीय धर्मशेखरसूरि शिष्य उदयसागर स्वप्रणीत कल्पसूत्रटीका ( र. १५११ ज्ये. सु. ५ ) लिखते हैं:—

“ हस्त उत्तरोऽप्रेमरो यासां ताः उत्तराफाल्गुन्यः, बहुवचनं पञ्चकल्याणकापेक्षया ‘ होत्या ’ आसीत् । ..... स्मतिना नक्षत्रेण ‘ परिनिर्धृतः ’ निर्वाणं प्राप्तः । ”

( ज ) अश्रद्धगच्छीय वाचनाचार्य श्रीमहावजी गणि शिष्य मुनि माणिकऋषि लिखित सं. १७६६ फी प्रति<sup>१</sup> में लिखा है—

“ पञ्चसु न्यवनादिकल्याणकेषु हस्तोत्तरा—हस्तादुत्तरस्यां दिशि वर्त्तमाना यद्वा हस्त उत्तरो यासां ता उत्तराफाल्गुन्यो यस्य स पञ्च हस्तोत्तरो भगवान् ‘ होत्य ’ त्ति अभूत् । ”

१ वाचिगापार्श्वरस्य अनामच्छ मंगर, कच्छ मीन्वी पत्र १५० ।

( झ ) जोधपुर केसरियानाथ मंडार में सुरक्षित कल्पसूत्र टीका की एक प्राचीन प्रति' में लिखा है—

“ श्रीवर्द्धमानतीर्थाधिपतेः पञ्चकल्याणकानि हस्त-उत्तरो अत्रे यस्मात्, एवम्भूते उत्तराफाल्गुनीलक्षणे नक्षत्रे जातानि ।

मोक्षकल्याणकस्य स्वातौ जातत्वादिति । ”

( ट ) तपागच्छीय पं. शान्तिविजयगणि लिखित ( ले. सं. १६६७ लाहोर ) कल्पसूत्र-अन्तर्वाच्य सस्तबर्क में लिखा है:—

“ अरणतपस्वी भगवंतं ज्ञानवंतं श्रीमहावीरदेव, तेहना पांच कल्याणक उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रे हुआ । ..... ”

स्वातिनक्षत्रे मोक्ष पहुंचता श्रीमहावीरदेव । ”

( ठ ) उपकेश( कंवला )गच्छीय ककुदाचार्य सन्तानीय उपाध्याय रामतिलक शिष्य गणपतिलिखितै ( ले. सं. १७२४ ) कल्प-  
सूत्र बालावबोध में लिखा है—

“ ए श्रीकल्पसूत्र तणइ प्रारंभइ जगन्नाथ श्रीमहावीरतणां छ कल्याणिक बोलियइ, तद्यथा—‘ते णं का० पंचहस्त्युत्तरे होत्था’—  
तिणइं समइं अरण भगवंतं श्रीमहावीररहइं पञ्चकल्याणिक उत्तराफाल्गुनि नक्षत्रि चन्द्रमा तणइ संयोगि प्राप्त हुंतइ  
हुआं । .....ए संक्षिप्त वाचनाइं जगन्नाथ तणां छ कल्याणिक जाणिवा । ”

( ड ) आञ्चलिक मेरुतुङ्गसूरिचित सूरिमन्त्रकल्प के पूर्वलिखित वर्धमानविद्याकल्प में लिखा है:—

“ उपाध्यायादिपदचतुष्टयेन नवपदस्थापनादिनप्रतिपन्नषट्स्वपि महावीरकल्याणकेषु यावज्जीवं विशेषतपः कार्यम् । ”

१ डवढा न० १८ । २ जोधपुर केसरियानाथ मंडार डा. २० प्रत नं० ६ । ३ महिसणा उपाश्रय के मंडार, पत्र ९१ ।

( ८ ) नपागच्छीय श्रीशान्तिचन्द्रगणि जम्बूद्वीपप्रक्षिति की टीका करते हुए भगवान् ऋषभप्रभु का राज्याभियेक कल्याणक माना जा सकता है या नहीं ? प्रसंग पर लिखते हैं:—“वीरस्य गर्भोपहार इव नायं कल्याणकः ।” अर्थात् वीर के गर्भोपहार की तरह यह (गुणभ का राज्याभियेक) कल्याणक नहीं है । इससे स्पष्ट है कि गर्भोपहार कल्याणकों की परिधि में है ।

( त ) आगभिरुगच्छीय आचार्य जयतिलकसूरि स्वप्रणीत सुलसाचरित्र के छठे सर्ग में लिखते हैं:—

“ देवानन्दोदरे श्रीमान्, श्वेतपष्ठ्यां सदा शुचिः । अवतीर्णोऽसि मासस्या-पाढस्य शुचिता ततः ॥ १ ॥

त्रिशला मर्वसिद्वेच्छा, त्रयोदश्यामभूद् यतः । तवावतारात्तैनेपा, मर्वसिद्धा त्रयोदशी ॥ २ ॥

शुकुत्रयोदश्यां यथा-चलमेरुं प्रचालयन् । चित्रं कृतवांस्तद्दयोगा-चैत्रमासोऽपि कथ्यते ॥ ३ ॥

यस्याधदशम्यां दुर्गा-मोक्षमार्गस्य शीर्षकम् । चारित्रमाहृतं युक्ता, मासोऽस्य मार्गशीर्षता ॥ ४ ॥

दशम्यां यस्य शुक्लायां, केवलश्रीरहो ! त्वया । ह्यादत्ता तेन मासोऽस्य, युक्ता माधवता प्रभो ! ॥ ५ ॥

तव निर्वाणकल्याणं, यदिनं पात्रयिष्यति । तन्न वेद्मि यतो नाथ !, मादृशोऽध्वक्षवेदिनः ॥ ६ ॥

सिद्धार्थराजाद्भुज ! देवराज !, कल्याणकैः पड्भिरिति स्तुतस्त्वम् ।

तथाविधेह्यान्तरैरिपदकं, यथा जयाम्याशु तव प्रसादात् ॥ ७ ॥ ”

इत्यादि एक नहीं भेकड़ों प्रमाण लिये जा सकते हैं । अतः यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है कि जिनवल्लभगणि ने ही यह गुण प्रतिपादन किया है । श्रीमान् जिनवल्लभगणि ने तो केवल जो वस्तु चैत्यवासियों के कारण ‘विवर’ में प्रविष्ट होती

जा रही थी उसका पुनः उद्धार कर जनता के सामने रखकर अपनी असीम निर्भीकता का परिचय दिया है । वस्तुतः गणिजी का यह षट्कल्याणकों का प्रतिपादन उत्सूत्र प्रतिपादन नहीं था, किन्तु सैद्धान्तिक वस्तु का ही प्रतिपादन था । यदि यह प्ररूपणा, उत्सूत्रप्ररूपणा होती तो तत्कालीन समग्र गच्छों के आचार्य इसका उग्र विरोध करते; प्रतिशोध में दुर्दम कदम उठाते । पर आश्चर्य है कि तत्कालवर्ति किसी भी आचार्यने इस प्ररूपणा का विरोध किया हो ऐसा प्रमाण प्राप्त नहीं होता है; प्रत्युत प्रतिपादन के प्रमाण अनेकों उपलब्ध होते हैं । अतः यह सिद्ध है कि यह प्ररूपणा तत्कालीन समग्र आचार्यों को मान्य थी । साथ ही यह भी मानना होगा कि खुद तपागच्छीय विद्वानोंने भी षट्कल्याणक लिखे हैं अतः धर्मसागरजी की स्वयं की प्ररूपणा ही निहव-मार्ग की प्ररूपणा है, आचार्य जिनवल्लभसूरि की नहीं ।

इस कल्याणक के विषय में शास्त्रीय दृष्टि से विशेष अध्ययन करना हो तो भेरे शिरच्छत्र पूज्य गुरुदेव श्रीजिनमणि-सागरसूरिजी म. द्वारा लिखित 'षट्कल्याणक निर्णय' \* नामक पुस्तक देखें ।

सङ्घबहिष्कृत ?

जो व्यक्ति पाण्डुरोग से ग्रसित हो जाता है उसे सृष्टि की समस्त वस्तुएं पीतवर्णी ही प्रतीत होती हैं जैसे ही धर्मसागरजी को विद्वत्ता का पीलिया हो गया, तत्फलस्वरूप उनकी दृष्टि में समग्र गच्छवाले निहव, विशुद्ध और कठोर क्रियापात्री खरतर-गच्छ जैसा गण खर-तर, जिनवल्लभसूरि जैसा आचार्य उत्सूत्रप्रतिपादक, माद्धम हुए । जिनवल्लभसूरि को उत्सूत्रप्ररूपक कहने के

\* सुमतिमदन कोटा ( राजस्थान ) द्वारा प्राप्य ।



पञ्चान् एक नटिल समस्या उनके मन्मुग और आई कि ऐसे प्ररूपक तो सघ, गण-वहिष्कृत हुआ करते हैं तो क्यों न इनको मगगिष्कृत मिन करूं ? इसको सिद्ध करने के लिये प्रमाण की आवश्यकता थी, प्रमाण के लिये साहित्य सागर में काफ़ी गोना लगाया पर निष्कल हुए, अन्त में उनको एक प्रमाण मिल ही गया । वह यह था—

“ मधुनाकृतचैत्यकृपतितस्यान्तस्तरां ताम्यत-स्तन्मुद्रादृढपाशुवन्धनवतः शक्तश्च न स्पन्दिदुम् ।

मुज्यै कल्पितदानशीलतपसोऽप्येतत्क्रमस्थायिनः, सङ्ख्यात्रयशस्य जन्तुहरिणत्रातस्य मोक्षः कुतः ? ॥३३॥”

यह आचार्य जिनवल्लभसूरिप्रणीत सद्गपट्टक की ३३ वीं कारिका है । इसका अर्थ समस्त टीकाकारोंने निम्नलिखित किया है:—

“ इन हीन आचारवाले चैत्यवासियों को देने के लिये बनवाये गये चैत्यरूप कूट अर्थात् जाल में जो फंसे हुए हैं, इसी हेतु जो अन्तःकरण से छटपटा रहे है, परन्तु इन चैत्यवासियों की मुद्रा अर्थात् ‘हमारे चैत्य को छोड़कर अन्यत्र मत जावो’ ऐसी राजाशास्त्र टड बन्धन से बन्धे हुए होने के कारण जरा भी हिलडुल नहीं सकते हैं । मुक्ति के लिये जो दान-शील-तप आदि करते हैं, परन्तु इन हीनाचारियों के कुसघ की परम्परा में पड़े हुए हैं । ऐसे जो ये दयनीय भव्य प्राणीरूप हरिणों के झुंड हैं, उनका हीनाचारियों के कुमदुरूप व्याघ्र से छुटकारा कहां ? अर्थात् जैसे हरिण समूह जब व्याघ्रक्रम-व्याघ्र के पंजे में आ जाता है तब उसका छुटकारा असभव होता है उसी प्रकार इन हीनाचारियों के कुसङ्घरूप व्याघ्र के फंदे में पड़े हुए भव्य प्राणीरूप हरिणों का छुटकारा कहां ? अर्थात् उनका मुक्तिगमन कैसे हो सकता है ? ”

इस ग्रन्थ के टीकाकार युगप्रवरागम भीजिनपतिसूरि के कतिचित् अपूर्ण वाक्यों का उल्लेख करके उ. धर्मसागरजी और वर्तमान-

कालीन विजयप्रेमसूरि तथा तन्मतानुयायी जो तोड मरोडकर अर्थ करते हैं वह कितना विचारणीय तथा उपहासास्पद है, देखिये:—  
पद्य में आये हुए “संघव्याघ्रवशस्य” शब्द पर विशेष ऊहापोह है। उनका मन्तव्य है कि संघ को व्याघ्र की उपमा देना पूर्ण रूप से अनुचित है। किन्तु किस संघ को व्याघ्र की उपमा दी है—विचारने का वे परिश्रम नहीं उठाते। आचार्य जिनपति-सूरि इस शब्द की व्याख्या करते हुये लिखते हैं:—

“अथ कथमिह संघस्य क्रूरतया व्याघ्रेण [नि]रूपणं ? तत्त्वे हि तस्य भगवन्नमस्कारो न घटामियुयात्। श्रूयते च तीर्थप्रवर्तना-  
ऽनेहसि ‘नमो तित्यस्से’त्याद्यागमवचनग्रामाण्येन भगवत्सन्नमस्कारविधानं, तत्कथमेतदुपपद्यत इति चेत्, न, सदृग्नामश्रवणाद्  
संघेऽपि प्रकृते भवतः संघभ्रान्तेः। अन्यो हि संघो भगवन्नमस्कारविषयोऽन्यस्त्राधुनिको भवदभिमतः। तथाहि—गुणगुणिनोः कथं-  
चित्तादात्त्येन ज्ञानादिगुणसमुदायरूपः शुद्धपथप्रथनबद्धादरोऽनुलंघितभगवच्छासनः साध्वादिः सिद्धांते सङ्घ इत्यभिधीयते। यदाह—

सद्योवि नाणदंसण-चरणगुणविभूसियाण समणाणं । समुदायो होइ संघो, गुणसंघाओ ति काऊणं ॥ १ ॥  
एवंविधश्च संघो भगवन्नमस्कारविषयः। स हि भगवान्नमस्यदल्पण्डहाण्डलमौलिमालालितक्रमकमलोऽपि तीर्थस्य साक्षात्सङ्घापि  
प्राक्तनजन्मनिर्वृत्तितभावसंघवात्सल्यादाहर्हन्त्यं मयावाप्तमिति कृतज्ञता प्रदिदर्शयिषया सद्बहुमानदर्शनाच्च लोकोऽप्येनं बहुमन्येत इति  
जिज्ञासयिषया च तं नमस्कुरुते ।

गुणसमुदाओ संघो, पवण-तित्थं ति हुंति एगट्ठा । तित्थयोरो वि हु एयं, नमए गुरुभावओ चैव ॥ १ ॥  
तण्णुधिआ (१) अरहया, पूइयपूया य विणयकम्मं च । कयकिच्चोवि जह कंठं, कहेइ नमए तथा तित्थं ॥ २ ॥

इतरया कृतकृत्यत्वेन भगवतो यथाकथंचित्तत्रैव भवे मुक्तिसंभवात्किमनेनेति । साम्प्रतिकस्तु भवद्भिप्रेत उन्मार्गप्रज्ञापकत्वेन, सम्मा-  
 गंप्रयाशकत्वेन, विनाशामरिष्वलुण्डाकत्वेन, यतिघर्मगणिक्यकुट्टाकत्वेन च गुणसमुदायरूपत्वस्य संघलक्षणस्याभावात्तत्र संघः । यदुक्तम्—

केव उम्ममगाट्टियं, उत्तुत्तपरुणयं चहुं लोयं । दहुं भणंति संघं, संघसरुवं अयाणंता ॥ १ ॥

सुहसीलाओ मच्छंदचारिणो वैरिणो सिवपहस्म । आणाभट्टाओ बहु-जणाओ मा मणह संघोति ॥ २ ॥

परं बहुकीक्यसत्त्वरूपत्वात्सोऽपि संघ इत्यभिधया लोकेऽभिधीयत इति सुघ ! नाम्ना विप्रलब्धोऽसि । यदुक्तं—

एको माहू एक्का वि साहुणि मावओ य सट्टो य । आणाजुत्तो संघो, सेसो पुण अट्टिसंवाओ ॥ १ ॥

अतः मगलक्षणभावात्त्रायं बहुमानमर्हति, तद् बहुमानादिकारिणो भगवत्प्रत्यनीकादिभावेनाभिधानात् । यदुक्तं—

आणाए अत्रइंतं, जो उवचुहिज्ज मोहदोसेणं । तित्थयरस्स सुयस्स य, संघस्स य पच्चणीओ सो ॥ १ ॥

तथा—

जो माहिजे चट्टइ, आणाभंगे पयट्टुमाणणं । मणवायाकाएहि, समाणदोसं तयं विवि ॥ १ ॥

अतएव सुरसीलतानुगागद्वैरसघमपि संघ इत्यभिधत्तां प्रायश्चित्तं प्रतिपादितं सिद्धान्ते । यदाह—

अम्मसंघं संघं जे, भणंति रागेण अहव दोसेण । छेओ वा मूलं वा, पच्छित्तं जायए तेसिं ॥ १ ॥

तस्माद् युक्तं नूरतया प्रकृतसघस्य व्याघ्रतया [निरूपणम् । ”

गुणमगुराय, संघ, प्रवचन तथा तीर्थ शब्द एकार्थक द्वे तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र गुणों से परिपूर्ण साधु के समुदाय को

अन्यथा प्रमाणों के अभाव में इन कपोलकल्पित कल्पनाओं का साहित्य या ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व ही क्या ?

उत्सृत्र-प्ररूपक ?

आ. जिनवल्लभसूरिने सूक्ष्मार्थविचारसार प्रकरण की १४ वीं गाथा के उत्तरार्ध में संहनन के अधिकार में लिखा है:—

“ सुत्ते सत्तिविसेसो, संघयणमिहड्डिनिचउ त्ति ॥ १४ ॥ ”

इस पद्य में उल्लिखित “सुत्ते सत्तिविसेसो” पर प्रज्ञापना सूत्र की टीका करते हुए [पृ. ४७०] आचार्य मलयगिरि लिखते हैं:—

“ तेन यः प्राह सूत्रे शक्तिविशेष एव संहननमिति, तथा च तद्वन्थः—“ सुत्ते सत्तिविसेसो संघयणं ” इति स भ्रान्तः । मूलटीकाकारेणापि सूत्रानुयायिना संहननस्यास्थिरचनाविशेषात्मकस्य प्रतिपादितत्वात्, यत्वेकेन्द्रियाणां सेवार्त्तसंहनन-मन्यत्रोक्तं तत् टीकाकारेण समाहितं, औदारिकशरीरत्वादुपचारतः इदमुक्तं द्रष्टव्यं, न तु तत्त्ववृत्त्येति । यदि पुनः शक्तिविशेषः स्यात् ततो देवानां नैरथिकाणां संहननमुच्येत । अथ च ते सूत्रे साक्षादसंहनिन उक्ता, इत्यलं उत्सृत्रप्ररूपकविस्पन्दितेषु । ” श्रीमलयगिरि के ‘ उत्सृत्रप्ररूपकविस्पन्दितेषु ’ शब्द पर श्रीसागरानन्दसूरि ने ३॥ पेज की टिप्पणी लिखकर और श्रीप्रेम-विजयजी ( वर्त्तमान-विजयप्रेमसूरि ) ने सार्द्धशतक की प्रस्तावना में इसी विषय पर २॥ पेज लिखकर जो कलम तोड़ी है, और जिन शब्दों का प्रयोग\* किया है, वह सचमुच में श्लाघ्य है !

यहाँ श्रीजिनवल्लभसूरिने जो स्वरचित प्रकरण में शक्तिविशेष को संहनन कहा है वह शास्त्र-सम्मत है या नहीं ? पूर्व में

\* ‘ अपरिणतभगवत्सिद्धान्तसारो वावद्वृक्क. सिद्धान्तबाहुल्यमात्मन ख्यापयन्नेव प्रललाप । ’ कुमारगण्टगसिंहनादीयं वचन ।

विचार करने के पश्चात् मलयगिरिजी के शब्दों पर हम विचार करेंगे।

श्रीनिन्दयज्ञसूरि और श्रीमलयगिरिजी के पूर्ववर्ती आचार्य, आप्तव्याख्याकार श्रीहरिमद्रसूरिने आवश्यकसूत्र की वृहद्बृत्ति [ आगमोद्देश्य समिति द्वारा प्रकाशित पृ. ३३७. १ ] में लिखा है:—

“ इह च इत्यंभूतास्थिसञ्चयोपमितः शक्तिविशेषः संहननं उच्यते, न तु अस्थिसञ्चय एव, देवानामस्थिरहितानामपि प्रथमसंहननयुक्तात् । ”

अर्थात्—इम प्रकार अस्थिसञ्चय से युक्त शक्तिविशेष को संहनन कहते हैं, केवल अस्थिसञ्चय को ही नहीं। क्योंकि देवताओं को अस्थिरहित होने पर भी प्रथम संहनन ( वज्रपंभनाराच ) युक्त होने का कथन होने से।

इसी प्रकार सर्वगन्धमान्य नानाद्ग टीकाकार श्रीअभयदेवसूरि स्वप्रणीत स्थानानुसूत्र की टीका ( आगमोद्देश्य समिति द्वारा प्रकाशित पृ. ३५७-१ ) में लिखते हैं:—

“ संहननं—अस्थिसञ्चयः, वक्ष्यमाणोपमानोपमेयः शक्तिविशेष इत्यन्ये । ”

जब आचार्य हरिमद्रसूरि केवल अस्थिसञ्चय को ही संहनन स्वीकार नहीं करते और आ० श्रीअभयदेवसूरि ‘ शक्तिविशेष इत्यन्ये ’ कह कर इस वस्तु को स्वीकार करते हैं, ऐसी अवस्था में ‘ भ्रान्त है ’ कहना समीचीन प्रतीत नहीं होता।

तथा जीवाभिगम सूत्र में जब “ सुरनेरइया छण्हं संघयणाणं असंघयणा ” अर्थात्—देव और नारकी छहों<sup>†</sup> संहननों से रहित

† पञ्चापभनाराच, इयगनाराच, नाराच, अर्पनाराच, कील्लिहा, और धेवार्त्त ।

असंहनन है । देवों और नारकियों के छहों संहननों से रहित होने पर संहनन रह ही नहीं सकता; जब कि आवश्यक, स्थानान्तरण आदि आगम ग्रन्थों में देव और नारकी का वज्रऋषभनाराच संहनन स्वीकार किया गया है; अतः यह विप्रतिपत्ति कैसी ?

बस्तुतः अस्थिररहित होने पर भी शक्तिविशेष संहनन स्वीकार करने से ही प्रथम संहनन माना जा सकता है ।  
और देखिये, इसी सार्द्धशतक प्रकरण के टीकाकार चन्द्रकुलीय आ. श्रीधनेश्वरसूरि भी, जिनका सत्ताकाल आचार्य मलयगिरि से पूर्व है, इस पद्य की टीका करते हुए इसी मत को पुष्ट करते हैं:—

“ सूत्रे-आगमे शक्तिविशेषः संहननमुच्यते । कोऽभिप्रायः ? वज्रर्षभनाराचादिशब्दस्य संहननाभिधायकस्य शक्तिविशेषाभिधायकतया व्याख्यातत्वात् शक्तिविशेषः संहननमागमे प्रोच्यते । ईदृशं च संहननं देवनारकयोरपीव्यत एव । तेन देवा वज्रर्षभनाराचसंहनिनो, नारकाः सेवार्तसंहनिन-इत्यागमाभिप्रायतो बोद्धव्यम् ॥ ” [ जैन धर्म प्रसारक सभा द्वारा प्रकाशित पृ. १४. ]

और इसी शक्तिविशेष संहनन परंपरा को मान्य रखते हुए कर्मग्रंथकार प्रसिद्ध आचार्य देवेन्द्रसूरिने भी अपने शतक नामक ग्रन्थ में यही वस्तु श्र्वीकार की है । ऐसी अवस्था में ऊपरि उल्लिखित शास्त्रीय प्रमाणों से यह तो स्पष्ट है कि शक्तिविशेष संहनन सर्वमान्य है, केवल जिनवल्लभसूरि की प्ररूपणा नहीं ।

आचार्य मलयगिरि ने अपने वक्तव्य में ‘मूळटीकाकारेणापि’ शब्द किस टीकाकार को लक्ष्य रखकर रखा है, विचारणीय है ।

x ‘यतु देवेन्द्रनतपादपङ्कजे. श्रीमदेवेन्द्रसूरिपादै स्तोपशशतकवृत्तौ एवमेवोक्त तदप्येतद्ग्रन्थानुसारेणानुमीयते ।’ प्रेमविजयजी लि. सार्द्धशतक प्रस्तावना पृ. ३.

यदि हम मूल टीकाकार शब्द से प्रज्ञापना, जीवाभिगम आदि सूत्रों के टीकाकार आचार्य हरिभद्रसूरि का प्रहण करते हैं तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है; क्या आ. मलयगिरि ने हारिभद्रीय आवश्यक टीका का अवलोकन नहीं किया था ? यदि करते तो वे स्वयं पुरुषश्रीय निदान्न का प्रतिपादन अपने वक्तव्यों में कैसे कर सकते थे ? और यदि हम मूल-टीकाकार शब्द से सार्द्धशतक टीकाकार आ. घनेधर्मसूरि का प्रहण करते हैं तो इन टीका में कहीं पर भी ' एव ' का प्रयोग न होने पर भी आचार्य ने किस आधार से ' एव ' का प्रयोग किया ? चिन्त्य है ।

साय भी मलयगिरि के ये शब्द ' उपचारत इदमुक्तं न तु तद्वदृष्टया ' गलतफहमी के द्योतक मात्र ही है, क्योंकि आचार्य नित्यधर्मसूरि रायं उपचार से ही शक्ति विशेष को संहनन स्वीकार करते हैं, निश्चय से नहीं । यदि वे औपचारिक प्रयोग न करते तो उन्हें ' भक्तिधर्मसौ सधयण ' न कहकर ' सुते सत्तिविसेसधिय संघयणं ' कहना अधिक दृष्ट रहता, किन्तु ऐसा कथन नहीं है । अतः ' एव ' और अनौपचारिक कल्पना व्यर्थ ही है और साथ ही व्यर्थ है उत्सूत्रप्ररूपक की उपाधिप्रदान करना भी ।

दूसरी बात, इस निदान्त को माननेवालों के लिये जो ' उत्सूत्रप्ररूपकविस्पन्दितेषु ' विशेषण दिया गया है, वह तो कदापि युक्त नहीं कहा जा सकता । क्योंकि यदि यह विशेषण युक्त मानें तो सूत्रकार गणधर महाराज एवं, आचार्य हरिभद्रसूरि और आचार्य अभयदेवसूरि जैसे आप्तरूप भी उत्सूत्रप्ररूपकों की कोटि में आँयेंगे ।

और साथ ही यह भी विचारणीय है कि एक तरफ तो आचार्य मलयगिरि स्वप्रणीत जिनवल्लभीय ' आगमिकवस्तुविचारसार

यत्वादाधाकर्मभोजित्वस्य च योगरूपत्वादिति । तथा 'आउच्यं चै'त्यादि, आयुः कर्म, स्यात्-कदाचिद्धन्नाति स्यान्न बध्नाति, यस्मात् त्रिभागाद्यवशेषायुषः परभवायुः प्रकुर्वन्ति, तेन यदा त्रिभागादिस्तदा बध्नाति, अन्यदा न बध्नातीति । तथा 'असाद्ये'त्यादि, असातवेदनीयं च-दुःखवेदनीयं कर्म पुनः 'भूयोभूयः' पुनःपुनः 'उपचिनोति' उपचितं करोति । ननु कर्मसप्तकान्तर्वर्त्तित्वात्सातवेदनीयस्य पूर्वोक्तविशेषणस्य एव तदुपचयप्रतिपत्तेः किं\* तद्ग्रहणेन ? इत्यत्रोच्यते-आधा-कर्मभोजी अत्यन्तं दुःखितो भवतीति प्रतिपादनेन भयजननादाधाकर्मभोजित्वनिरासार्थमिदमित्यदुष्टमिति । 'अणा-इयं'ति अविद्यमानादिकं 'अणवयगं'ति 'अवयगं'ति देशीवचनो अन्तवाचकस्तत्तन्निषेधात् 'अणवयगं' अनन्तमि-त्यर्थः । अतएव 'दीहमद्धं'ति 'दीर्घाद्धं' प्रभूतकालं 'चाउरंतं'ति चतुरन्तं-देवादिगतिभेदाच्चतुर्विभागं, तदेव स्वार्थिकं प्रत्ययोपादानाच्चातुरन्तं 'संसारकान्तरं' भवारण्यं 'अणुपरियदृह'ति पुनःपुनर्भ्रमति । 'आयाए'त्ति आत्मना 'घर्मं' चारित्र्यघर्मं श्रुतघर्मं वा । 'पुहविकायं नावकंखह'ति पृथ्वीकायं नापेक्षते-नानुकम्पत इत्यर्थ इति । एवं चानेन गाथासूत्रेणात्मनः कर्मबन्धाभिधानादात्मकर्मस्यभिहितमिति गाथायः ॥ ७ ॥

एवं तावन्नामान्वर्थप्रतिपादनद्वारेण प्रथमदोषं व्याख्याय साम्प्रतं तमेव विशेषतो व्याचिख्यासुरिमां द्वारागथामाह—  
दी०—अष्टावपि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि 'अधो' नरके बध्नाति X प्रकृति-स्पष्टरूपाभ्यां, प्रकरोति-स्थिति-बद्धरूपाभ्यां,

\* "किमेतद्द्र०" अ. य. । + "इकण्" इति पर्यायो अ. पुस्तके । "स्वार्थेऽण्" भा० ।

X प्रकृत्यादिस्वरूपं मोदकदृष्टान्तेन ज्ञातव्यं, यथा-प्रकृत्या कश्चिन्मोदको वातं हरति कश्चित्पित्तं कश्चिन्न श्लेष्माणं, स्थित्या



चिनोति-अनुभाग-निघत्तरूपाभ्यां, उपचिनोति-प्रदेश-निकाचनारूपाभ्यां, कः ? कार्भिकमोजी सायुः, भोजीति तच्छीलाथ इत् कारणे तन्मोक्त्वुनिरामार्थः । किमिदं स्वमनीषिकयोच्यते ? X इत्याह-यद्गणितं सुधर्मस्वामिना 'मगवत्यां' पञ्चमाङ्गं स्फुटं, आलापकार्थं एवात्रोक्त इति गाथार्थः । एवमात्मनः कर्मबन्धादात्मकर्म ॥ ७ ॥

उक्तो नामचतुष्टयार्थः, साम्प्रतं तदेव नवभिर्द्वाैर्विशेषेणाह—

तं पुण जं जस्सै जहाँ, जारिस्समसणे य तस्स जे दोसा । दाणे य जहा पुच्छौं, छलणां सुंछी य तह वोच्छं ॥ ८ ॥

व्याख्या—तदाधाकर्म, पुनः शब्दो विशेषणार्थः, यत्किञ्चिदशनादिकमुच्यते, तदहं वक्ष्ये इति गाथाऽन्त्यक्रियया योगः, एवमन्यत्रापि, वक्ष्यति च—'असणाइचउब्भेय'मित्यादि १ । तथा यस्य निमित्तं कृतं तत्स्यात् वक्ष्ये, वक्ष्यति च—'साहम्मियस्से'त्यादि २ । तथा 'जह'त्ति यथा-यैः प्रकारैः प्रतिषेवणादिभिस्तत्स्यात्तान्वक्ष्ये, वक्ष्यति च—'पडि-सेवणे'त्यादि ३ । तथा 'याहशं' यस्य वस्तुनस्तुल्यं तत्स्यात्, मणिष्यति च—'वंतुच्चारसुरे'त्यादि ४ । तथा 'अशने' भोजने तस्याधाकर्मदोषवतः पिण्डस्य येऽतिक्रमादयो दोषाः स्युः, वक्ष्यति च—'कम्मग्गहणे'त्यादि ५ । तथा 'दाणे

कश्चिदिनेकं कश्चिद्द्वयं कश्चिन्नयं, अनुभावेन-स्निग्धमधुरत्वलक्षणेन कश्चिदेकगुणानुभावः कश्चिद्द्विगुणानुभावः कश्चिद्विगुणानुभावः; प्रदेशैः—कणिकादिद्रव्यरूपैः कश्चिदेकप्रसृतिप्रमाणः कश्चिद्द्विप्रसृतिप्रमाणः अपरस्त्रिप्रसृतिप्रमाणः, एवं कर्मापि किञ्चिज्ज्ञानमावृणोति किञ्चिदशं किञ्चित्सुखदुःखे जनयतीति । X "स्वमनीषिकया ? इत्याह" क. अ. प. म. ।

य 'त्ति' 'दाने' वितरणे गृह्यस्य ये दोषा यतिसत्कचरणघातादयः स्युस्तान्वक्ष्ये, च शब्दो दोषानुकर्षणार्थः, तथा च वक्ष्यति-  
'जइणो चरणो'त्यादि ६ । तथा 'जहा पुच्छ'त्ति 'यथा' येन प्रकारेण देशाद्यनुचित-भक्तदानादिलक्षणेन 'पृच्छा'  
ग्रन्थः सम्भवति, वक्ष्यति च-'देसाणुचियं बहुदव्व'मित्यादि ७ । तथा 'छलण'त्ति 'छलना' साधोर्भिक्षार्थं प्रविष्टस्य  
तथाविधकारणैरनेषणीयाऽऽशङ्काऽभावादशुद्धभक्तग्रहरूपानुव्यंसना यथा स्यात्, वक्ष्यति च-'थोवंति न पुट्ट'मित्यादि ८ ।  
तथा 'सुद्धी य'त्ति 'शुद्धिः' कथञ्चिदशुद्धपिण्डग्रहणेऽपि निर्दोषता यथा स्यादेतद्विपक्षत्वाच्चाशुद्धिर्यथा स्यात्, च शब्द उक्त-  
समुच्चये । 'तह वोच्छं'त्ति । 'तथा' तेन-शुद्धग्रहणपरिणामादिना प्रकारेण 'वक्ष्ये' अभिधास्ये, वक्ष्यति च-'आहा-  
कम्मपरिणओ' इत्यादि ९ । इति द्वारागाथा समासार्थः ॥ ८ ॥ सम्प्रत्याद्यद्वारं व्याचिख्यासुराह—

दी०—'तत्' आधाकर्म, पुनर्विशेषोक्तौ, यद्भक्तादि १, यस्य कृते कृतं स्यात् २, यथा-यैः प्रकारैः ३, यादृशं-यत्तुल्यं  
४, अज्ञाने च तस्य ये दोषाः ५, दाने दातुश्च ये [दोषाः] ६, यथा पृच्छा-बाह्याचरणदर्शनात्प्रश्नः ७, छलना अनेषणीया-  
शङ्काऽभावादशुद्धग्रहणे ८, शुद्धिश्च-सदोषपिण्डग्रहणेऽपि निर्दोषता ९, तथा वक्ष्ये इति गार्थार्थः ॥ ८ ॥ अथाद्यद्वारमाह—  
असणाइचउब्भेयं, आहाकम्ममिह वेति आहारं । पढमं चिय जइजोगं, कीरंतं निट्टियं च तहिं ॥९॥

व्याख्या—'असणाइचउब्भेयं' ति 'अज्ञानं' भोजनं 'आदिः' प्रथमं येषां पानखादिमस्वादिमानां ते तथा,

+ "०तदानादिभक्तलक्षणेन" अ. य. । "तदानादिलक्षणेन" ह. क. प. ।

ते च 'चत्वारः' चतुःसङ्ख्या 'भेदाः' प्रकारा यस्य स तथा, तं आहारमिति योगः । तत्राशनं-शालितन्दुलक्षुपादि, यानं-सौवीरतन्दुलघावनादि, खादिसं फलपुष्पादि, स्वादिसं-हरीतकीशुण्ठ्यादि । इमं च किमित्याह-'आहाकम्ममिह व्वेनि'नि आधाकम्मं इह-जिनप्रवचने, न तु शाक्यादिशानने, अथवा इहेति पिण्डत्रिशुद्धिप्रक्रमे, अन्यथा यद्गोहादिकं चीयते वस्त्रादिकं +व्यूयते तुम्वरूदेश्च यन्मुखादि क्रियते तदपि, द्रुवते-प्रतिपादयन्ति, गणधरादय इति गम्यते । 'आहार' पिण्डमिति योजितमेव । किमत्रिशोषणैव? नेत्याह-'पढम'मित्यादि, प्रथम-मादौ "चिय-चेव-एवार्थे" इति वचनात् 'चिय'शब्द एवार्थे द्रष्टव्यस्तस्य च प्रयोगं दर्शयिष्यामः । 'यतियोग्यं' साध्वर्थं, उपलक्षणत्वात् गृह्णितमिचं च 'क्रियमाणं' कर्तुमारब्धं तथा 'निष्ठितं' निष्ठां प्राप्तं-मायुगहणयोग्यतां गतमित्यर्थः, चः समुच्चये 'तहिं' ति प्राक्तना-वधारणस्येह सम्यन्धात्तत्र-साध्वर्थमेव यतिनिमित्तमेवेत्यर्थः । अनेन च वक्ष्यमाणे प्रथम-वृतीयभङ्गद्वये आधाकर्म भवति, नान्यत्रेत्यावेदितमिति गाथार्थः ॥ ९ ॥ 'जइजोग्गं कीरंतं, निट्ठियं च तहिं'तीत्युक्तं, अत्र च क्रियमाणं निष्ठितमिति पदद्वयन भङ्गचतुष्कं सूचितमतस्तत्प्रतिपादनार्थमाह-

दी०--अशनं १, आदिगन्दात्पानं २ खादिसं ३ स्वादिसं ४ चेति चतुर्भेदमाहारं 'इह' Xजिनमते पिण्डत्रिशुद्धौ वा तद्विद आधाकर्म द्रुवते, कीदृशं ? प्रथममेव यतियोग्यं मिश्रं वा 'क्रियमाणं' कर्तुमारब्धं 'निष्ठितं' निष्पादितं वा 'तम्मिमन्' यत्यर्थे, इति गाथार्थः ॥ ९ ॥ कृतनिष्ठितयोश्चतुर्भङ्गीमाह-

+ "यूयते" अ० । "धूयते-द्रुयते" इत्यपि प्रत्यन्तरे । X 'जैनमते" प. अ. ।

तस्स कड तस्स निट्ठिय, चउभंगो तत्थ दुचरिमा कप्पा । फासुकडं रद्धं वा, निट्ठियमियंरं कडं सठवं ॥ १० ॥  
 व्याख्या—‘तस्स कड तस्स निट्ठिय’त्ति विभक्तिलोपात्तस्य कृतं तस्य निष्ठितमिति वाक्ये ‘चउभंगो’त्ति चतु-  
 रूपो मङ्गश्चतुर्भङ्गो, जातिनिर्देशाच्चत्वारो भङ्गा भवन्तीत्यर्थः । तत्राद्यः कण्ठीक्त एव १ । तदुपलक्षितास्त्वन्ये त्रय इमे-तस्य कृत-  
 मन्यस्य निष्ठितं २, अन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितं ३, अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमिति ४ । तत्र तस्येति प्रस्तावात्साधो-  
 निमित्तं ‘कृतं’ कर्तुमारब्धं तथा तस्येति साधोरेव निमित्तं निष्ठितमिति सर्वथा प्रासुकीभूतं राद्धं वेति प्रथमः १ । तथा  
 तस्य कृतमिति पूर्ववत्, ततो दातुः साधुगोचरदानपरिणामापगमादन्यस्येति गृहस्थस्य निमित्तं, निष्ठितमिति पूर्ववदिति  
 द्वितीयः २ । तथाऽन्यस्य कृतमिति पूर्ववत्, ततो दातुः साधुविषयदानपरिणामभवनात् क्रियान्तरप्रवर्त्तने तस्य निष्ठित-  
 मिति पूर्ववदिति तृतीयः ३ । तथा अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितमिति पूर्ववदिति चतुर्थः ४ । ‘तत्थ’त्ति तत्र-तेषु चतुर्षु भङ्गेषु  
 मध्ये ‘द्विचरमो’ द्वितीयचतुर्थौ, तौ किमित्याह—‘कप्प’त्ति कल्प्यौ-साधोरासेवायोग्यौ, एतद्वर्त्तिभक्तादेः शुद्धत्वात्, प्रथम-  
 वृतीयौ त्वकल्प्यावेव, तत्सम्भविभक्तादेः पूर्वमाधाकर्मत्वेनाभिहितत्वात् । अथ कृतनिष्ठितस्वरूपमाह—‘फासुकड’मित्यादि,  
 प्रगता ‘असवः’ प्राणा यस्मात्तत्प्रासुकं-निर्जिवं ‘कृतं’ विहितं यत्तन्दुलादि, तथा ‘रद्धं व’त्ति राद्धं-संस्कृतं, वा समुच्चये,  
 तत्किमित्याह—‘निष्ठितं’ निष्ठाङ्गतमभिधीयत इति शेषः । तथा ‘इयंरं’त्ति ‘इतरत्’ अन्यत्-यन्न प्रासुकी कृतं यच्च न राद्धं,  
 तत्किमित्याह—‘कृतं’ कृताख्यं ‘सर्वं’ निरवशेषमिति गार्थार्थः ॥ १० ॥ एनमेवार्थं दृष्टान्तपुरस्सरं विशेषेणाह—

दी०—‘तस्य’ साधोर्योग्यं कृतं तस्य निष्ठितमित्येको भङ्गः १, तदुपलक्षितास्त्रयोऽन्ये, यथा-तस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं

२, अन्यस्य कृतं तस्य निष्ठितं ३, अन्यस्य कृतमन्यस्य निष्ठितं ४ चेति । तत्र तेषु द्वितीयचतुर्थौ भङ्गौ 'कल्प्यौ' शुद्धौ । कृतनिष्ठितयोर्लक्षणमाह—'प्रासुकं' निर्जीवं यत्तन्दुलादि कृतं राद्धं वा तन्निष्ठितं, इतर-द्विपरीतं कृताख्यमिति गार्थार्थः ॥ १० ॥  
अमुमेवायं दृष्टान्तेनाह—

साधुनिमित्तं ववियाद्, ता कडा जाव तंदुला दुच्छडा । तिच्छडा उ निट्टिया पा-णगाइ जहसंभवं नेज्जा ॥ ११ ॥

व्याख्या—'साधुनिमित्तं' यत्पर्य 'ववियाद्' 'ति' 'उप्ता' रोपिता, आदिशब्दाल्लूनपूनादिपरिश्रहः, तन्दुला इति योगः । 'ता' इति तावत्, किमित्याह—'कृताः' कृताख्या, भण्यन्त इति शेषः । इह च सर्वत्र 'क्रियमाणं कृत'मिति वचनात्, 'कृतं' क्रियमाणं व्याख्येयं । 'जाव' 'ति' यावत् 'तन्दुलाः' शाल्यादिकणाः 'दुच्छड' 'ति' द्वौ 'वारौ' छटिताः' कण्डिताः । अत्र च तन्दुलानामुत्पन्नानादिविशेषणानि प्रस्थककारणदारुणि प्रस्थकव्यपदेशवत् कारणे कार्योपचारादवसेयानि । तथा 'तिच्छडा उ' 'ति' त्रीन् वारान् 'छटिताः' कण्डिता इत्यर्थः । तुः पुनरर्थे, ततश्च याव[द्]द्विच्छटितास्तावत्कृताः, त्रिच्छटिताः पुनस्त एव 'निष्ठिता' निष्ठिताख्या, भण्यन्त इति प्रक्रमः । अत्र च विशेषज्ञापनार्थं वृद्धसम्प्रदायः कश्चिदुच्यते, यथा—यदि प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमित्तमात्मनिमित्तं वा करटिं छटित्वा तन्दुलाः कृतास्त्वृतीयां वारां त्वात्मनिमित्तं छटित्वा राद्धा वा, ते साधूनां कल्पन्ते । यदि तु प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमित्तं स्वनिमित्तं वा तृतीयां वारां तु साधुनिमित्तमेव कण्डिताः, राद्धास्त्वात्मनिमित्तं, ते एकेषामादेशेन एकेनान्यस्मै दत्तास्तेनाप्यन्यस्मायित्यादिरूपेण यावत् सहस्रसङ्ख्ये स्थाने गतास्तावन्न कल्पन्ते, ततः परं कल्पन्ते, अन्येषां तु न कदाचिदपि । यदि तु प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधु-

निमित्तं+स्वनिमित्तं वा तृतीयां वारां त्वात्मनिमित्तमेव कण्डिता, राद्धाः पुनः साधुनिमित्तमेव । यदि तु प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमित्तमात्मनिमित्तं वा तृतीयवारां तु साधुनिमित्तमेव कण्डिता राद्धाश्च तदर्थमेव, तेऽपि \*साधुनामकल्प्या एव, निष्ठिततन्दुल × तत्पाकजनितद्विगुणाधाकर्मदोषदुष्टत्वात् । एवमशनाहारमाश्रित्योक्तं, अथ पान-  
काद्याहारमङ्गीकृत्योच्यते-‘पाणगाइ जहसंभवं नेज्ज’ ति । पानकं-द्वितीयाहारमेदस्तदादि-‘प्रथमं यस्य तत्तथा, तत्कर्मतापन्नमादिशब्दात् खादिमस्वादिमऽग्रहः । तत्किमित्याह-‘यथासम्भवं’ कृतनिष्ठितसम्भवानतिक्रमेण ‘नयेत्’  
ग्रज्ञापकः कर्त्ता श्रोतृप्रतीतौ प्रापयेत् । तथाहि-पानकं यतिनिमित्तखातकूपादिगतं तदर्थमेव च तत आनीतं यावत्तथा-  
भूतपरिणामेनैव कर्त्री प्रासुकी क्रियमाणं नाद्यापि सर्वथा प्रासुकी भवति तावत्कृतं, ततस्तथाभूतपरिणामेनैव कर्त्री कथना-  
दिना सर्वथा प्रासुकी कृतं तु निष्ठितं । खादिमं-कर्कटिकादाडिमात्रमातुलिङ्गकुम्भाण्डवृन्ताकादि, तत्साधुनिमित्तमुप्तं याव-  
त्तथाभूतपरिणामेनैव दात्रा तत् खण्डीकृतं, तथाभूतं च क्षणे प्रासुकी भवत्सद्यावत्परिणामस्यैव दातुर्नाद्यापि सर्वथा  
प्रासुकी भवति तावत् कृतं, ततः साधुनिमित्तमेव रन्धनादिना प्रासुकी कृतं तु निष्ठितं । स्वादिमं-शृङ्गवेरादि, तदपि स्वादिम-  
वदवसेयं । ननु स्वादिमं-शृङ्गवेरादीत्ययुक्तमुक्तं, सिद्धान्ते तस्याशनाहारमव्ये अधीतत्वात्, तथाचाहावश्यकचूर्णिकारः-  
“असणे अल्लगमूलग-मंसाइ” ति, न, अराद्धप्रासुकावस्थस्य स्वादिमत्वात्, तस्यैव साधुग्रहणयोग्यत्वेन मुख्यरूप-

+ “०त्तमात्मनिमित्तं वा” भा० । \* “तेऽपि न कल्पन्त एव” य. अ. ह. क. प. । × “०तन्दुलाया (सम्पन्न इति पर्यायः) तत्पाक०” अ० । “०तन्दुलायात तत्पाक०” य. द. क. । § “०दिमपरिग्रहः” अ. । † “यथाहि” अ. प. य. ह. क. ।

नयेह चिन्तयितुमभिप्रेतन्वान्, आह न—

“मनित्तभात्रचिकली-कयस्मि दब्बस्मि मग्गणा होई । का मग्गणा ? उ दब्बे, सचेयणे फासुभोईणं ॥१॥”  
‘माग्गणे’ति आधाकर्मविचारणेत्यर्थः । तथेह सर्वत्र भक्तपानादेस्तदर्थं निष्ठागमने दातुः साध्वर्थं क्रियाविशेषो द्रष्टव्यो, न तु तद्दानपरिणाममात्रमेव, क्रियाशून्यस्य तस्यादुपत्त्वात् । यदाह—

“न नल्ल परिणाममेत्तं, पयाणकाले असक्खियारहियं । गिह्णिणो तणयं तु जहं, दूसइ आणाइ पडिवद्धं ॥ १ ॥”  
तथा विभिन्नदेयमाश्रित्य स्वभोग्याद्यत्र वस्तुनि सङ्कल्पनं क्रियाकाले तद्दुष्टं, विपयोऽनयोः पुण्यार्थं यावदर्थिकयोरित्यर्थः । स्मोचिते तु यदारम्भे तथा सङ्कल्पनं कचिन्न दुष्टं, शुभभावत्वात्, तच्छुद्धापरयोगवत् । अत्र च भक्ताधाकर्मसम्भव-प्रदर्शकमिदमुदाहरणं, यथा—अणेगक्खलमयसंकुलो कोइवरालगक्खुरपररभिव्वो सुलभरमणिज्जवसहीसंजुओ निवाघायसज्जाय-निवाओ एगो गामो अत्थि । तत्थ य (जिणदत्तो नाम) सावओ परिवमइ, साहू य तत्थ एंति, परं आयरियाइपाउग्गो सालिक्करो नत्थि चि सावएण भणमाणावि न चिठ्ठंति । अन्नया खेत्तपडिलेहत्थं केइ साहुणो तत्थ आगया, ठिया कइवि दिणे, तओ गुरुपाउग्गं नत्थि चि अणभिरुइयखेत्ता पट्टिया गुरुसमीवं । तओ सावएणं एगो साहू पुच्छिओ—‘किं तुब्भं खेत्तं रुइयं न व’त्ति । तओ नेण माहुणा उज्जुगत्तेण उ भणियं—‘जुजइ गणस्स खेत्तं, परं गुरुपाउग्गो सालिक्करो नत्थि’त्ति । तओ गएगु तेगु विन्नायपरमत्थेण इमिणा वावियाणि सालिक्कीयाणि, जाया य बहवे सालिमूडया, अन्नया य पओयणवसेण ते अन्ने या माहुणो आगए दट्टण तेण चितियं—‘तहा एएसिं सालिक्कुरं देमि जहा विन्नायपरपाउग्गदवसंभवा गुरुणो आ[णंति]-

णेत्ति(?) आहाकम्मियसंकं च न करेति चि । तओ X विरिञ्चिऊण सयणाईण दिन्नो साली, भणिया य-‘सयं खाएज्जह साहूणंपि दिज्जह’ । तेहिं तहेव रद्धो । इमो य वह्यरो नाओ बालाईहिं, साहुणो य एसणोवउत्ता भिक्खं हिंडंता तेसिं संकहं सुणंति, जहा एगो + भणइ-‘ए ते साहुणो, जेसिं अट्टाए घरे घरे सालिक्करो रद्धो’ । अनो + भणइ-सम घरे एएहिं लद्धो, अवरो + भणइ-अहंपि एएसिं तं दाहामि, अनो \*मायरं भणइ-एयं साहूणं देहि, अनो भणइ-थेके थक्कावडियं संपन्नं, जेण अभत्तए सालिभत्तयं जायं । एत्थ लोइओ दिहंतो नेओ, जहा-काइ महिला भणइ-“मज्झ य पइस्स मरणं, दियरस्स य मे मया भज्जा । तो कालाणुरूवमिमं, संबुत्तं”ति । तथा अनो जणणि भणइ-चाउलोदगं देहि, अनो आयामं, अनो कंजियं, इच्चाइ बालाइज्जणंजपियं सोउं पुच्छंति-किमेयं ?ति । तओ ताणि उज्जुगाणि कहयंति, माइट्टाणियाणि पन्नवियाणि वा परोधरं निरिक्खंति । एवं च नाऊण ताणि घराणि परिहरंता तत्थेव अन्नघरेसु भिक्खं हिंडंति, अणिवाहे पुण पच्चासन्नगामे वयंति चि । एतदनुसारतस्तु पानादीनामपि सम्भवो भावनीय इति गाथार्थः ॥ ११ ॥

प्रतिपादितमाधाकर्मस्वरूपप्रतिपादकं प्रथमद्वारमथ यस्येति द्वितीयद्वारावसरः, तत्र यस्य कृते कृतमाधाकर्मं स्याद्यस्य च कृते कृतं न स्यादित्येतदभिधित्सुराह—

दी०—साधुनिमित्तमुष्ठाः—शाल्यादयो रोपिताः, आदिशद्बालूनादि ज्ञेयं, तावत्कृता यावत्तन्दुला द्वौ वारौ ‘छटिताः’ क(ख)ण्डिताः, त्रीन् वारौ\*छटिताः पुनस्त एव निष्ठिताख्याः स्युः, इदमशनमाश्रित्योक्तं, इतराश्रितमाह—पानकादिशेष-

x “विरिञ्चण [ विमज्ज ]” अ. ह. क. प. । + “पभणइ” अ. । \* “सायरं” सादरमिति पर्यायोऽपि अ. ।



माहारत्रयं यथासम्भवं नयेत्, कोऽर्थः ?, साध्वर्थं कृपादिखनन १ चिर्भटिकादि २ हरीतक्याद्यारोपणादि ३ भावैः कृतनिष्ठिते (प्रतीते), श्रोतृप्रतीती प्रापयेत् । अत्रोदाहरणं—एकस्मिन् ग्रामे कदशनाहारिणि सूरियोग्यभक्तालाभात्साधवः सूरिं नानयन्ति, श्रावकश्चैरुस्तदुत्कण्ठितः । अन्यदा केपाञ्चित्साधूनां वर्षक्षेत्रं विलोकयानिच्छया पश्चाद्गच्छतां तेन साधुरेकः पृष्टः—कृतः क्षेत्रं न रुचितं ?, म च ऋजुको गुरुप्रायोग्यशाल्योदनाद्यभावादित्याह । ततस्तेन वर्षाकाले शालिरुप्तौ बहुकश्च जातो, यतिष्वागतेषु स्वजनगृहेषु शालीन् दत्त्वा भणितं—स्वयं भोक्तव्यः साधूनाञ्च दातव्यः, तैस्तथा कृते 'साध्वर्थं शालि'रिति बालकाद्यालापाद् ब्राह्मलिङ्गैश्चानेपणां ज्ञात्वा ते न जगृहुः । एवं पानकाद्याहारेष्वपि लक्ष्यमिति गाथार्थः ॥ ११ ॥

उक्तं यदिति द्वारं, साम्प्रतं यस्येति द्वितीयमाह—

साहम्मियस्स पवयण—लिंगोहिं कए कयं हवइ कम्मं । पत्तेयबुद्धनिणहय—तित्थयरट्टाए पुण कप्पे ॥१२॥

व्याख्या—'साहम्मियस्स'ति 'समानेन' तुल्येन 'धर्मेण' स्वभावेन चरतीति साधर्भिको, विवक्षितसहशपर्यायवानित्यर्थः, तस्य कथमिह साधर्मिकता ग्राह्येत्याह—'पवयणलिंगोहिं'ति, प्रवचनं च लिङ्गं च प्रवचनलिङ्गं, ताभ्यां । तत्र प्रवचनं—सकलजीवादिपदार्थप्ररूपकं अत्यन्तानवद्यचरणकरणप्रवर्तकं अचिन्त्यशक्तिकलितं अविस्वादाकं भवार्णवतरणपरमबोहित्थकल्पं द्वादशाङ्गं, तस्य च निराधारस्याऽसम्भवात्तदाधारभूतः सङ्गोऽपि प्रवचनं, तथा 'लिङ्गयते' चिह्नयते साधुरनेनेति लिङ्गं-रजोहरणमुखपोतिकागोच्छकपात्रकादीनि । 'कए'ति 'कृते' निमित्तं 'कयं'ति 'कृतं' विहितं, अशनादि इति गम्यते 'भवति' जायते, किमित्याह—'कम्मं' ति सूचकत्वादाधाकम्मर्माभिहितशब्दार्थं, इदमुक्तं भवति—

उक्तप्रवचनलिङ्गाभ्यां सङ्खान्तर्वत्तिसाधूनां सङ्खान्तर्वत्तिसाधु-रेकादशप्रतिमाप्रतिपन्नश्रावकश्च साधर्मिको + भवति, तस्य कृते अशनादि कृतं आधाकर्म भवतीति । अनेन च प्रवचनतः साधर्मिको न लिङ्गतः १, लिङ्गतो न प्रवचनतः २, प्रवचनतो लिङ्गतश्च ३, न प्रवचनतो न लिङ्गतः ४, इति सिद्धान्तप्रसिद्धचतुर्भङ्गीतृतीयभङ्गवत्तिसाधर्मिकार्थं कृतं न कल्पत इति प्रतिपादितं । \* एतद्वर्ज्यशेषभङ्गत्रयसम्भविसाधर्मिकेभ्यस्तु कृतं कल्पत एवेत्याह 'पत्तयबुद्धनिणहये' त्यादिपश्चार्द्ध-तत्रैकं वृषभादिवाह्यनिमित्तं प्रतीत्य बुद्धाः प्रत्येकबुद्धाः-समयप्रसिद्धसाधुविशेषाः, ते च सम्भवे सति जघन्यतो रजोहरणमुखपोतिका X-मात्रोपकरणकलिता उत्कृष्टतस्तु चोलपट्टक-मात्रक-कल्पत्रिक-वर्जितनवविधोपधिधारिणः, तथा नियमतो जघन्यत एकादशश्रुतविद उत्कृष्टतस्तु भिन्नदशपूर्वश्रुतवेदिनः, तथा देवताऽर्पितलिङ्गाः 'रूपं पत्तयबुद्ध' चि वचनाल्लिङ्गवर्जिता वा भवन्तीति । तथा 'निन्दुवते' स्वाग्रहवशात्तीर्थकरवचनं निराकुर्वन्तीति निन्दुवा-जमालि-तिष्यगुप्तप्रभृतयः । तथा येनेह जीवा जन्मजरामरणसलिलं मिथ्यादर्शनाविरतिगम्भीरं महाभीषणकषायपातालं सुदुरुत्तरमहामोहावर्त्तरोद्रं विचित्रदुःखौघदुष्टश्चापद-गणं रागेद्वेषपचनप्रक्षोभितं सन्ततसंयोगविचोगतरङ्गदुर्गमं प्रबलमनोरथवेलाकुलं संसारापारसागरं तरन्ति तत्तीर्थं, तच्च प्रवचनं तदाधारत्वाच्चतुर्वर्णश्रमणसङ्घश्च, तत्कुर्वन्तीति तीर्थकराः-शास्तराः, एतेषामर्थीय-निमित्तं कृतमशनादीति प्रक्रमः । पुनः शब्दो भिन्नवाक्यताप्रतिपादनार्थः । 'कल्पते' गुहीतुं युज्यते । अयमिह भावार्थः-प्रत्येकबुद्धास्तीर्थकराश्च प्रवचनलिङ्गातीतत्वात् 'न प्रवचनतो न लिङ्गत' इति चतुर्थे भङ्गे वर्त्तन्ते, अतस्तदर्थं कृतं कल्पते, आधाकर्मत्वाभावात्, उक्तं च कल्पभाष्ये-

+ " भवतीति " अ. । \* " एतद्वर्जं " प. ह. क. । X " मुखवस्त्रिका " अ. य. ।

“ जीवं उदिसस कडं, कम्मं सोवि य जया उ साहम्मि । सोवि य तइए भंगे, लिंगार्इणं न सेसेसु ॥ १ ॥ ”  
 अस्या अपि न्याख्या—‘ जीवं ’ ग्राणिनं ‘ उदिस्य ’ आश्रित्य ‘ कृतं ’ विहितं यदशनादि, तत्किमित्याह—‘ कम्मं ’ ति  
 तदेवायाकम्मं स्यान्नान्यद्, अनेन च यदि कश्चिद् गृही X मुग्धबुद्धिः स्नेहादिना गृहीतप्रव्रज्यस्य मृतस्य जीवतो वा पित्रादेः  
 प्रतिकृतेः पुरतो ढोकनाय बल्यादिकं निष्पादयति, तदर्थमेव मृतमक्तं वा कुर्यात्, तदाधाकम्मं न भवतीति प्रतिपादितं । सोऽपि  
 च जीवो यदा तु माघर्मिकः, सोऽपि च साघर्मिको यदि तृतीयमङ्गे भवति ‘ लिंगाहणं ’ ति लिङ्गप्रवचनयोरित्यर्थः, न  
 ‘ शोपे ’ प्रथमद्वितीयचतुर्थेष्विति । किञ्च—“ साहम्मिमओ न सत्था +, तस्स कयं तेण कप्पइ जईणं । जं पुण पडि-  
 माण कयं, तत्थ कहा ? को अजीवत्ता ॥ १ ॥ ” इह च कृतमित्यत्र तत्रत्यप्रक्रमवशादशनादीति शेषो दृश्यः । ‘ तत्थ ’ ति  
 तत्र-प्रतिमार्थकृते ‘ कथे ’ ति कल्प्याकल्प्यविचारः, ‘ के ’ ति न काचिदित्यर्थः । अजीवत्वादित्यचेतनत्वात्प्रतिमाया इति ।  
 अन्यत्र—“ संबट्मेहपुप्फा, सत्थु निमित्तं कया जइ जईणं । न हु लब्भा पडिसिद्धुं, किं पुण पडिमट्टमारद्धं ?  
 ॥ १ ॥ अन्यथा—“ जइ समणाण न कप्पइ, एवं एंगाणिघा जिणवरिंदा । गणहरमाईसमणा, अकप्पिए न  
 वि य चिट्ठंति ॥ १ ॥ तम्हा कप्पइ ठाउं, जइ सिद्धाययणंमि होइ अवरुद्धं ” ति । ननु यदि तीर्थकार्यं कृत-

X “ मुग्धः स्नेहादिना ” अ. । + “ शास्ता ” । १ “ का [ कथा. ] वार्त्ता ? ” । २ “ शास्तु-स्तीर्थकरस्य ” । ३ “ यतीनां  
 न प्रतिपेदुं लभ्याः—यतीनां ते आघाकर्मिका न भवन्तीति तत्सुतरां न प्रतिपेदुं लभ्यमिति भावः ” । ४ “ एकाकिनः ” । ५ “ [ सिद्धाय-  
 तने ] प्रासारे—समवसरणे ” इति पर्यायाः अ. ।

माधाकर्म न स्यात्ततो भक्त्या तदर्थं निष्पादिते अनिश्राकृतेऽपि तद्भवने किं न निवासादि क्रियते ? उच्यते—महाशतना-  
दोषप्रसङ्गात्, आह च “जइ वि न आहाकम्मं, भत्तिकयं तह वि वज्जयंतेहिं, भत्ती खलु होइ कया, इहरा  
आसायणा परमा ॥१॥” ननु यथा अहंन् स्वार्थकृतं भक्ताद्याधाकर्मिक्त्वाद्दर्जयति, तथा किन्न वातोदकपुष्पवर्षणादिकां  
सपर्यामपि वर्जयति ? अवर्जयित्वा कथं दोषवान्न भवतीति ? उच्यते—“तिथयरनामगोयस्स, खयट्ठा तह य चेव सा-  
भव्वा । षम्मं कहेइ अरहा, पूयं वा सेवए तं तु ॥१॥ खीणकसाओ अरहा, कयकिचो अविय जीर्यमणुवत्ती ।  
पडिसेवंतो वि तहा, अदोसवं होइ तं पूयं ॥२॥ ‘साभव्व’चि स्वो भावः स्वभात्रस्तस्य भावः स्वभाव्यं, तस्मात् ;  
यथाहि—“आपो द्रवाञ्चलो वायुर्दीहकोऽग्निः” इत्यादयो भावाः स्वं स्र स्वभावं नातिवर्तन्ते, एवं तीर्थकरजीवोऽपि ताम-  
वस्थां प्राप्तस्तथाविधसपर्यानुभवनस्वभावत्वाद्दर्मं कथयति पूजां चासेवते तां देवादिभिः कृतामित्यलं प्रसङ्गेनेति । तथा  
लिङ्गतो न प्रवचनत इति द्वितीयभङ्गे निन्दवाः, सदृशल्लिङ्गत्वान्मिथ्यादृष्टित्वेन प्रवचनवाह्यत्वाच्च, वर्तन्ते, अतस्तदर्थमपि  
कृतं कल्पत एव, केवलं ते कापि निन्दवत्त्वेन ज्ञाताः स्युः काप्यज्ञातास्ततश्च यत्र स्थाने जनेन ज्ञाताः स्युस्तत्र द्वितीयभङ्गे,  
यत्राज्ञातास्तत्र लोकेन साधुबुद्ध्या ग्रहणात्प्रागुक्तवृतीयभङ्गे वर्तन्त इति, तदा न कल्पते । तथा प्रवचनतो न लिङ्गत इति  
प्रथमे भङ्गे एकादशप्रतिमावर्जप्रतिमास्थश्रावका एकप्रवचनान्तर्वर्त्तित्वाद्भ्रजोहरणादिलक्षणसाधुलिङ्गाभावाच्च, वर्तन्त इत्यत्र

१ “साधुनिश्चारहिते विधिवैत्ये जिनभवने कृते” । २ “[जीतं] कल्प [तद्] अनुवर्त्ती” । ३ “केवलावस्थां”

इति पर्यायाः अ. ।

कल्पते, यदाह—X दस ससिद्गा सावग-पवयणसाहम्मिमया न लिंगेण । लिंगेण उ साहम्मी, नो पवयण-  
निन्दगा सन्वे ॥ १ ॥” इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

उक्तं यस्येति द्वारं, माम्प्रतं यथेत्यस्यावसरः, तत्र च येः प्रकारैराधाकर्मपरिभोगजन्यः कर्मबन्धः स्यात्तान्  
गद्यन्तानभिघातुमाह—

दी०-प्रवचनलिङ्गाभ्यां साधर्मिकस्य कृते कृतं भवत्याघाकर्म, तत्र प्रवचनं-द्वादशाङ्गी तदाधारभूतः सङ्घोऽपि, लिङ्गं-  
रजोहरण-मुखमस्त्रिकाद्यं, ताभ्यां सङ्घान्तर्वर्ती यतिजन एकादशप्रतिमास्थः श्रावकश्च साधर्मिको ज्ञेयः । स च चतुर्द्धा,  
यथा-प्रवचनतः साधर्मिको न लिङ्गतः १, लिङ्गतो न प्रवचनतः २, प्रवचनतो लिङ्गतश्च ३, न प्रवचनतो न लिङ्गतः ४ ।  
अत्र तृतीयमङ्गभवं न कल्पते, इतरमङ्गत्रयभवं तु शुद्धमित्याह-प्रत्येकबुद्धा जघन्यत एकादशाङ्गिन उत्कृष्टतस्तु +भिन्न-  
(शुद्धि)दशपूर्विणो देवताऽर्पितलिङ्गा अलिङ्गाश्च, निह्नुवा जमाल्यादयः, तीर्थकरा-जिनास्तदर्थीय कृतं पुनः कल्पते, द्वौ  
प्रवचनलिङ्गातीतत्वाच्चतुर्थमङ्गे त्रेयो निह्नुवास्तु द्वितीये, अर्हद्विम्बत्रयव्याद्यर्थमपि कृतं कल्पते, तृतीयमङ्गोक्तसाधर्मिकजीवार्थं  
तु नैव । ननु यद्यर्हदर्थे कृतं कल्पते तत्कथं न तद्भवने वासः १, सत्यं, महाऽऽज्ञातनादोपादिति गाथार्थः ॥ १२ ॥

उक्तं यस्येति द्वारं, अथ यथेति तृतीयं सद्यन्तमाह—

पाडिसेवर्ण-पाडिसुणर्णा, संवासैऽणुमोर्थणाहिं तं होइ । इह तेणरायसुयैपल्लि-रायहुदुदुहिं दिट्ठता ॥१३॥

X “ दशप्रतिमास्थाः श्रावकाः शशिखाकाः-शिलायुक्ता भवन्ति ” इति पर्यायः अ. । + “अभिन्न० ” क. ।

व्याख्या—प्रतिषेवणं-प्रविषेवणा आसेवना परिभोग इति यावत् १ । तथा प्रतिश्रवणं प्रतिश्रवणा-कर्तुमिच्छतोऽनुज्ञा-दानलक्षणा २ । तथा संवसनं संवासः, आधाकर्मभोजिभिः सहैकत्रावस्थानं ३ । तथाऽनुमोदनं अनुमोदना आधाकर्मभोजिप्रशंसनं ४ । अत्र च प्रतिषेवणा च प्रतिश्रवणा चेत्यादिद्वन्द्वः कार्यः, ततश्चैतामिः प्रतिषेवणादिभिः क्रियमाणाभिः, किमित्याह-‘तं’ति तदाघाकर्म-तद्भोगादिजन्यः कर्मबन्ध इति हृदयं ‘ भवति ’ जायते । एवं प्रतिषेवणादीनां उद्देशमात्रं कृत्वा, अथैतास्वेवोदाहरणान्याह-‘इहे’ति आसु प्रतिषेवणादिषु यथाक्रमं स्तेनाश्च-चौराः, राजसुतश्च-नृपुत्रः, पल्लिश्च-भिच्छप्रायजनसन्निवेशः, राजदुष्टश्च-नृपापराधकारी, स्तेनराजसुतपल्लिराजदुष्टास्तैः करणभूतैः, किमित्याह-‘ दृष्टान्ता ’ उदाहरणानि, भवन्तीति प्रक्रमः । एताश्च प्रतिषेवादिस्वरूपव्याख्यानावसरे अनन्तरमेव वक्ष्याम इति गार्थार्थः ॥ १३ ॥

इदानीं प्रतिषेवणा-प्रतिश्रवणे व्याख्यातुमाह—

दी०—‘ प्रतिसेवना ’ आधाकर्मपरिभोगः १, प्रतिश्रवणा-तद्भोक्तुरनुज्ञा २, संवासस्तद्भोजिभिस्सह ३, अनुमोदना-तद्भोक्तृप्रशंसा ४, आभिल्लादाघाकर्म भवति, तज्जन्यः कर्मबन्धः स्यादिति गाथा[? पूर्वाद्धी]र्थः । आसां यथाक्रमं दृष्टान्तानाह-‘इह’ एषु स्तेना-श्रीराः १, राजसुतो-नृपुत्रः २, पल्लि-भिच्छस्थानं ३, राजदुष्टो-नृपापराधी ४, तेषां दृष्टान्तास्ते च यथास्थानं वक्ष्यामीति गार्थार्थः ॥ १ ॥ अथाद्यद्वयार्थमाह—

सयमन्नेण व दिन्नं, कम्मियमसणाइ खाइ पडिसेवा ।  
दक्खिन्नान्नादुवओगे, भणओ लामो ति पडिसुणणा ॥ १४ ॥

क्याख्या—स्वयमात्मनाऽऽनीतमिति गम्यते । अन्येन वा आत्मव्यतिरिक्तसाधुनाऽऽनीयेति गम्यते । वा शब्दो विकल्पार्थो 'दत्तं' वित्तीर्णं, किमित्याह—'कस्मिन्मयं'ति कर्मणा—साध्वर्थक्रियया निर्धृतं कार्मिकं-आधाकर्ममदोपवत् 'अशनादि'भक्तपानादि, किं करोतीत्याह—'खाह'ति खादति मोहोपहतचित्ततया निःशुक्रत्वाद्भक्षयति, यः साधुरिति गम्यते । न पुनरेवं मात्रयति, यथा—'जस्स कए आहारो, पाणिवहो तस्स होह नियमेणं । पाणिवहे वयभंगो, वयभंगे दुग्गई चैवत्ति ॥ १ ॥" तस्य किं भवतीत्याह—प्रतिषेवा पूर्वोक्तशब्दार्था स्यादिति शेषः, अत्र च पुरा सूचितं चौरोदाहरणं यथा—

एगंमि गामे अणेगे चोरा परिवसंति, ते य अन्नया एगाओ सन्निवेमाओ गावीओ हरिऊण नियगामाभिमुहा चलिया । जाहे सदेसं पविट्टा तओ नियमंडलोत्ति काउं निब्भया भोयणवेलाए तेसिं गोणीणं मज्झाओ किच्चियाओ विणासिऊण भोयणत्थं पइउं लुगा, तम्मि पत्थावे केइ पहिया भिलिया, भोयणकरणत्थं च सबेवि भोत्तुक्कामेहि चोरेहिं निमंतिया । तओ केई भुंजिउं पयट्टा, केहिवि गोमंसमक्खणं बहुपावंति काउं सयं मक्खणं न कयं, किंतु अन्नेसिं परिवेसणाइ× पारद्धं । एत्थंतरे कूविया+ आगया, तओ तेहिं ते सबेवि गहिया, तत्थ जे पहिया आसि 'पहिया अम्हे'त्ति भणंता वि गोमंसमक्खणपरिवेसणाइ×दोसेण तेवि इयरेवि तेहिं वहियत्ति । एवमित्थ वि जे कम्मियं भत्ताइ आणित्ति, तं सयं भुंजंति, अन्ने य तेण निमंतंति, निमंतिया य जे तं भुंजंति अन्नेसिं च जे तं परिवेसंति भायणाणि वा जे संठवंति, ते सबे वि नरगाइफलेणं चिक्कणकम्मणा लिप्पंतित्ति, उक्तं च—  
 " जे वि य परिवेसंती, भायणाणि धरंति य । तेवि वज्झंति तिब्बेणं, कम्मणा किमु भोइणो ? ॥ १ ॥ "

× परिवेसणाए" प. अ. य. । + " वाहरिका " इति पर्यायः अ. मां. ।

अत्र योजना यथा—चोरद्वणीया आहाकम्मभक्खगनिमंतगसाहुणो, मंसभक्खगपहियसरिसा निमंतियाहाकम्मभोह-  
साहुणो, गोमंसपरिवेसगाइपहियतुळा कम्मियपरिवेसगाइसाहुणो, पहतुळं मणुस्सजम्मं, क्खवियसरिसाणि कम्ममाणि,  
मरणाइद्वणीयं नरगाइगमणंति । अत्र च स्वतो निमन्त्रणतो वा आधाकर्मभोक्त्वसाधुषु मुख्यतः प्रतिषेवा प्रसङ्गतः  
प्रतिश्रवणादयश्च भावनीया इति । अथ प्रतिश्रवणं व्याख्यातुमाह—‘दखिन्ने’त्यादिपश्चाद्, तत्र ‘दखिन्नाडुवउगे’त्ति  
दाक्षिण्यं प्रतीतं, तदादिः-प्रथमं यस्य तत्तथा, तेन । त्रिभक्तिलोपश्च सूत्रे प्राकृतत्वादित्युक्तमेव । आदिशब्दात् स्नेह-  
सम्बन्धभयादिपरिग्रहः । उपयोगो यतिजनप्रतीतो भक्तादिग्रहणसमयभाव्यनुष्ठानविशेषः । सचाऽयं लेशतः—यदा हि  
किल साधवो भिक्षाद्यर्थं× जिगमिषवो भवन्ति, तदा कायिकयादिव्यापारं कृत्वा पात्राद्युपकरणं गृहीत्वा सम्यगुप-  
युक्ताः सन्तो गुरोरग्रतः स्थित्वा भणन्ति, यथा—‘संदिस्सह उवओगं करेमो’त्ति, ततः ‘करेह’त्ति वचनोच्चारण-  
तस्तेनाऽनुज्ञाताः सन्तः ‘उवओगकरावणियं करेमि काउस्सग्गं अन्नत्थूससिएण’मित्यादिसूत्रमुच्चार्य कायो-  
त्सर्गेण तिष्ठन्ति चिन्तयन्ति च तत्र नमस्कारमुत्सारितकायोत्सर्गाश्च नमस्कारपाठपुरस्सरमर्द्धीवनतगात्रा+ भणन्ति, यथा-  
‘संदिस्सह’त्ति, अत्र च निमित्तोपयुक्तो ब्रूते गुरुर्थथा—‘लाभो’त्ति । ततः साधवः सविशेषावनता वदन्ति, यथा—‘कहधे-  
त्थासो’त्ति, अत्र च गुरुर्भणति—‘यथा तह’त्ति× यथा गृहीतं पूर्वसाधुभिरित्यर्थः । एवं चाभिहिते गुरुणा साधवो भणन्ति, यथा-  
‘आवस्सियाए जस्सं य जोगो’त्ति, यस्य च भक्तवस्त्रादेः प्रवचनोक्तेन विधिना ‘योगः’ सम्बन्धः प्राप्तिलक्षण इत्यर्थः, इति ।

× “ भिक्षार्थ ” अ. मां. । + “ ंगात्रा भवन्ति भणन्ति च ” य. । × “ यथा तिहि—त्ति ” अ. ।



तस्मिन् क्रियमाणे गति, आधाकर्मभोक्त्वुमायुनेति गम्यते । 'भणतो'ब्रुवाणस्याचायदिरिति गम्यते । किमित्याह—'लाभो'त्ति  
 लाभमिति शब्दं, किं स्यादित्याह प्रतिश्रवणा—चर्णितशब्दार्था, स्यादिति प्रक्रमः । इह च सूत्रकृता "आलोइए सुलद्धं,  
 'भणतु भर्णतस्स पडिसुणणा" इति ग्रन्थान्तरग्रसिद्धप्रतिश्रवणायाः स्वरूपान्तरं प्रशंसारूपत्वादनुमोदनैव विवक्षितेति  
 न न्यूनता सूत्रस्यायद्गतीयेति । उपलक्षणत्वाद्वा तदपीह द्रष्टव्यमिति । अत्रापि प्राक् सूचितं राजसुतोदाहरणं, यथा—

एगो गयपूत्तो रज्जगहणुस्सुओ चित्तेइ, जहा-एस मम पिया थेरोवि न मरह चि नियभडे सहाए काऊण एयं मारिता  
 रजं गिण्हामि'त्ति । तओ नियभडेहि मरु इमं मंतियं, तत्थ केहिचि बुत्तं-अम्हे तुह सहाया होमो'केहिचि बुत्तं-एवं करेहि  
 केहिचि तुयिणीरुया, केहिचि तं सघं रन्नो निवेइयं । तओ रन्ना पढमा तिन्निचि कुमारो य चावाइया, चउत्था पुण पूइयत्ति ।  
 एयं लोगुत्तरेवि जे आहाकम्मं आणेत्ता सयं सुंजति, अन्ने य तेण निमंतंति, जे य निमंतिया 'सुंजह तुब्भे अम्हेवि सुंजामो'त्ति  
 भणंति, जे य आहाकम्मभोइच्चित्तकखणत्थमुवओगे 'लाभो'त्ति जंपति, आलोइए 'सुलद्धं'ति वा भासंति, जे य मोणेण अञ्छंति,  
 ते मन्नेवि नरगाइफलेण दारुणकम्मणा लिप्यंति । जे पुण पडिसेहंति, ते कम्मबंधाओ मुचंतिचि । उवणओ पुण एवं+ कायवो,  
 जहा-रुपारठाणीया आहाकम्मनिमंतगमाहुणो, पिइवहठाणीओ आहाकम्मपरिभोगो, पढममडत्तिगठाणीया सेसनिमंतियाइ-  
 माहुणो, चउत्थपुरिमठाणीया तब्भोगपडिसेहगसाहुणोत्ति । अत्र च आधाकम्मभोक्त्वाणां प्रतिपेवादयश्चत्वारोऽपि भाव-  
 नीयाः, तथाहि—आधाकम्मभोजित्वात्प्रतिपेवणा, निमन्त्रणाद्वारेणान्येषामपि तत्परिभोगं प्रति प्रवर्चकत्वात्प्रतिश्रवणा,

तद्भोजिभिश्च सहैकत्रावस्थानात्संवासस्तद्भोजिबहुमानाच्चानुमोदना तेषां, यदाह—“पडिसेवणा पडिसुणणा, संवास-  
ऽणुमोयणा य चउरोवि । पिइमारगरायसुए, विभासियव्वा जहजणे यX ॥ १ ॥” शेषाणां तूक्तानुसारतो यथा-  
सम्भवं वाच्यमिति । तथेह दृष्टान्ते पदातिभिर्दार्ढान्तिके तु निमन्त्रितादिसाधुभिः प्रकृतमिति प्रतिश्रवणोक्तेति गार्थार्थः ॥१४॥

अथ संवामानुमोदने व्याख्यातुमाह—

दी०—स्वयमानीतं अन्येन वा दत्तं ‘कार्मिकं’ आधाकार्मिकमशनादिपिण्डं यः साधुनिश्चक्रुः खादति, सा प्रतिसेवा ।  
अत्र चौरौदाहरणं कथ्यते—केचिचौराः कुतोऽपि गा अपहृत्य स्वग्रामासन्नमाजग्मुः, तत्र निर्भयानां तेषां स्वयं मारितगोमां-  
साशनकाले केचित्पथिका मिलितास्तद्भोजितुं निमन्त्रिताश्च, ततः कैश्चिद्भुक्तं, कैश्चिद्गोमांसशुक्रया नैव, परं परिवेषणादि-  
साहाय्यं कृतं । अत्रान्तरे वाहरिकैस्ते चौरा ‘मार्गस्था वयमिति वदन्तोऽपि पथिकाश्च हताः । अत्रोपनयः—चौराभा  
आधाकर्मप्रतिसेवकाः, पथिकामास्तन्निमन्त्रणाभोजिनः, परिवेषकामास्तत्सहायाः, पथावस्थानामं नृजन्म, गोमांसाशनक-  
ल्पमाधाकर्मभोजनं, वाहरिकामानि कर्माणि, मरणाभं नरकादिगमनमिति । प्रतिश्रवणामाह—विमक्तिलोपादाश्रिण्यादिना,  
आदिशब्दात्सम्बन्धस्नेहभयादिना, ‘उपयोगो’ यतिप्रतीतं भक्तादिग्रहणकालानुष्ठानं, यथा—भिक्षार्थं व्रजन्तो यतयः  
कृतकार्यिक्यादिव्यापारा गृहीतपात्राद्युपघयो गुरुं वदन्ति—सन्दिशत उपयोगं कुर्मः, ततस्तदादेशेन तदर्थमष्टोऽङ्कासमुत्सर्गं  
विधायान्ते नमस्कारोच्चारपूर्वं ‘संसिंह’त्ति भणन्ति, गुरुराह—‘लासु’त्ति, नम्राङ्गास्तेऽप्याहुः—‘कह गिणहासु’त्ति ?, गुरु-

X “ ०जणेणं ” अ. य. । + “ वाहरिकाभा विषयाः ” इ. ।

र्मगनि-‘जह् गहियं पुञ्चसाहुहिं’ति, तेऽप्याहुः-‘इच्छं आवसिसयाए जस्स य जोगु’त्ति, अ(त)स्मिन् कामिकाशिना  
माधुना क्रियमाणे गुरोर्लासु’त्ति मणतः प्रतिश्रवणा, केऽप्यशुद्धभक्तालोचने ‘सुलद्धं’त्ति मणतस्तामाहुः, अत्रानुमोदनैव  
स्यापितेति न विरोधः । अत्रोदाहरणं यथा- एको राज्ञः सुतो राज्योत्सुकः स्थविरपितृवधोद्यतः स्वाभिप्रायं रहसि भटाना-  
माह, ततः कैश्चिदुक्तं-सहाया वयमिहार्थं, कैश्चित्कुरुवेति, कैश्चिन्मौनं कृतं, कैश्चिद्राज्ञो निवेदितं । अथ राज्ञा प्रथमे त्रयः  
मङ्गमारा मारिताश्चतुर्याश्च पूजिताः । अत्र योजना-कुमाराभाः कामिकनिमन्त्रकाः, पितृवधाभस्तद्भोगः, प्रथमभटत्रया-  
मास्तत्र्यतिश्रवणादिकारकाः, चतुर्थभटाभास्त्वन्निषेधका इति गार्थार्थः ॥ १४ ॥ अथ संवासानुमोदने आह—

संवासो सहवासो, कस्मियभोइहिं तप्पसंसाओ । अणुमोयणत्ति तो ते, तं च चए तिविहतिविहेणं ॥१५॥

व्याख्या—संघसनं संवासो मण्यते, कः ? इत्याह-‘सहवास’ एकत्रावस्थानं । कैरित्याह-कामिकभोजिभिराघाकर्मसे-  
विभिः, माघुभिरिति गम्यते । अत्र च पूर्व(स्वरि)स्रचितः पल्लिष्टान्तो यथा-एगाए विसमगिरिसन्निविट्ठाए पल्लिए बहवे चोरा  
माहणयणियादओ य परिवसंति । ते य चोरा एगस्स राहणो मंडले चोरियं काउं पल्लीए पविसंति । अन्नया अमरिसाऊरियहि-  
ययेण महामामग्गिग काऊण तेण राइणा सा पल्ली गहिया, तीए गहिजमाणीए केवि चोरा हया केवि नट्टा, बंमणवणियाइ-  
एहि चित्तियं, जहा-‘अम्हं अचोरणं राया न किंचिवि करेहि’त्ति न ते पलाणा । तओ राइणा तेवि गिण्हाविया । तओ तेहि  
मणियं, जहा-‘देव ! अम्हे बंमणवणियादओ न पुण चोरा, तओ राइणा उल्लवियं-‘रे पाविट्टा ॥ तुब्भे चोरेहितोवि अहिय-  
यसवरहिणो, जेण अम्हाणं अचराहकारीणं मज्झे वसह’त्ति, एवं भणंतेणं राइणा तेवि निग्गहियत्ति । एवं अम्हवि जे आहा-

कम्मभोईहिं साहृहिं समं वसंति ते तद्दोसाओ चैव कलुसियसुहपरिणामा उवचियजम्मजरामरणनिबंधणकम्ममहाभरा अव-  
स्सं दुग्गईए पवडंति । एत्थोवणओ जहा-रायट्ठाणीयाणि कम्मणि, पल्लिट्ठाणीया वसही, चोरट्ठाणीया आहाकम्मभोइसाहुणो,  
वणियाह्ठाणीया आहाकम्मभोइसहवासिसाहुणो, उवालंभमरणठाणीया दुग्गइत्ति । इह च वणिग्गब्राह्मणादिभिः सहवासदोष-  
दुष्टसाधुभिश्च प्रकृतं, चौराणामाधाकम्मभोक्वत्साधूनां च पूर्ववत् प्रतिषेवादयश्चत्वारोऽपि भावनीया इत्युक्तः संवासो, अथानु-  
मोदनामाह-‘तप्पसंसाओ अणुमोयणत्ति’त्ति । तेषामाधाकम्मभोक्वत्साधूनां तस्य चाधाकर्मिकभक्तस्य ‘प्रशंसा’ सुखपा-  
रणकं भवतां? सुन्दरा यूयं? सुखदैवसिकं युष्माकं? शोभना एते, य एवं मिष्टाहारेण जीवन्तीत्याद्युक्तिस्वरूपा साध्विदं कालो-  
चितमेतदित्यादिवचनसंदर्भरूपा वा श्लाघा, तुः पुनरर्थस्तदर्थश्च स्वयं भावनीयः । किमित्याह-‘अनुमोदना’ पूर्वोक्तशब्दार्था,  
उच्यत इति प्रक्रमः, इति शब्दः प्रतिषेवादीनां व्याख्यानपरिसमाप्तिं द्योतयति । अत्रापि प्रागभिहितो राजदुष्टदृष्टान्तो यथा-

एगो वणियकुमारो अईव इत्थिलोलओ अंतेउरसमीवेण गच्छंतो दिट्ठो रायमहिलाहिं, तेणवि ताओ सरागं पलोइयाओ जाओ  
य परोप्परं दढमणुराओ । तओ दिव्वजोएणं कहवि संपत्तीए सो ताओ पइदिणं सेविउं पयट्ठो । पच्छा रत्ता नाओ । तओ विसि-  
ट्ठवत्थनेवत्थो विचिच्चाभरणविभूसिओ कयकुंमंगरागो तंबूलरंजियाहरो रयणीए अंतेउरे पविट्ठो समाणो वहेऊण नयरमज्जे  
पक्खिच्चाविओ । तत्थ य अच्चत्तवेसधारिणो राइणा चारियपुरिसा वावारिया, भणिया य, जहा-‘जे एयं पसंसंति निंदंति य ते मम  
सगासे आपेयव्व’त्ति । पमाए य सो नागरगाइलोगेणं वेडिओ, तत्थोवल्लदुत्तंतेहिं केहिंवि भणियं, जहा-‘जाएण जीव  
लोगंमि सयलेण वि नरेणावस्सं मरियव्वं, परं जाओ नरवइमहिलाओ अम्हारिसेहिं अकयपुत्तेहिं लोयणेहिंपि दडुं दुछभाओ,

ताओ नि जं माणिरुण मओ, ता एम धन्नो कयपुन्नो सुलद्धं एयस्म माणुसं जम्मं सुजीवियं च एयस्सेव'त्ति । अब्बेहि भणियं-  
 'पापकारी एसो, जो जणमिमाणं नियमामिभज्जाणं चुक्को'त्ति । एयं च सोउं ते चारपुरिसेहिं रन्नो समप्पिया । राइणा  
 पि जेहिं मो पसंसिओ ते वावाइया, इयरे मुक्का पूइया यत्ति । एवं लोगुत्तरेवि एगे साहुणो आहाकम्मं भुंजंति, अवररे जंपति-  
 ' धन्ना एए, सुहं जीवंति ' । अब्बे पुण मणंति- ' धिरत्थु एतेसिं, जे अरिहंतत्तुत्तसिद्धंतनिसिद्धं विबुहजणगरहणिज्जमाहार-  
 माहारंति । एत्थोपणओ इमो-अंतेउरठाणीयं आहाकम्मं, तस्सेवगवणियसुयसरिसा तस्सेवगसाहुणो, ' धन्नो एसो'त्ति  
 जंपगपुरिमठाणीया तस्सेवगपसंमगा, ' अहन्नो एसो'त्ति जंपगपुरिमसरिसा तेस्सेवगनिदगा, रायठाणीयाणि कम्मणि,  
 मरणठाणीयो संमारोत्ति । अत्र च वणिकुपुत्रप्रशंसकरूपैराधाकम्मं भोक्त्वुप्रशंसकसाधुभिश्च प्रकृतं, वणिकुपुत्रस्याधाकम्म-  
 भोक्त्वुमाधूनां पुनः पूर्ववत् प्रतिपेवादयश्चत्वारोऽपि भावनीया इति । उक्ताः प्रतिपेवादयस्तांश्च ज्ञात्वा सुसाधुना यद्विधेयं  
 तद्रूपदिग्ब्रह्म- ' तो ते ' इत्यादि, ततो यतः आधाकम्म-तद्भोक्त्वुसाध्वपरिहारिणां साधूनां उक्तलक्षणाः प्रतिपेवादयो  
 दूर्गतिगमननिवन्धना दोषाः सम्भवन्ति तस्मात्कारणात्तान् निन्द्यजीविकानिरतान् अथवावादकारिणो निःशुक्रशिरोमणीन्  
 श्रुतिताम्बूलपत्रकल्पानाधाकम्मभोजिसाधून् तच्च संयमजीवितसद्योविनाशविषतुल्यमाधाकम्ममदोषद्रुष्टमाहारं, चः समुच्चये,  
 ' चए'त्ति त्यजेत्-परिवर्जयेत् । कथमित्याह- ' तिचिहत्तिविहेणं'त्ति त्रिविधं त्रिविधेन करणकारणानुमतिविशिष्टमनो-  
 नाकार्यैरित्यर्थः । तत्र तद्भोक्त्वुसाधून् प्रतिश्रवणासंवासानुमोदनातो वर्जयेत्, यथा-न तेषां तद्विषयामनुज्ञानलक्षणां  
 प्रतिश्रवणां त्रिविधेन करणेन कुर्यान्नाप्येवमेवान्येन कारयेत् नाप्यन्यं कुर्वन्तमेवं समनुजानीयात् । तथा न तेषु स्ववैरिषु

मध्ये स्वयं वसेत्, नाप्यन्यं साधु वासयेन्नाप्यन्यं वसन्तं मनोवाक्कायैः समनुजानीयात् । एवमनुमोदनामपि तेषां स्वयं न कुर्यात्, न कारयेन्नाप्यन्यं कुर्वाणं त्रिविधेन करणेनानुजानीयात् । आधाकर्मिकं च प्रतिषेवाऽनुमोदनतो विवर्जयेद्यथा-न तत्स्वयं त्रिविधेन भुञ्जीत नान्यं भोजयेन्नाप्यन्यं भुञ्जानं समनुजानीयात् । एवमनुमोदनेऽपि वाच्यमिति गार्थार्थः ॥ १५ ॥

उक्तं यथेति द्वारं, साम्प्रतं यादृशमिति द्वारं, तत्र यानीष दृश्यते यादृशं यैवस्तुभिः समानमाधाकर्मिकमित्येतदभिधातुमाह-  
दी०—‘संवासः’ सहवासः कार्मिकभोजिभिः, अत्रोदाहरणं-एकस्यां पर्वतान्तर्वर्त्तिपल्यां चौराधिष्ठितायां बहवो वणिग्विप्रादयो(ऽपि) वसन्ति । अन्यदा तच्चौरोपप्लवादेकेन राज्ञा पल्लि गृहीत्वा केचिच्चौरा हताः केचिन्नष्टाः, ‘निरपराधा वय-’  
मिति वदन्तोऽपि चोरसंवासाद्दण्डजादयोऽपि निगृहीताः । अत्रोपनयः-नृपाभानि कर्माणि, पल्लितुल्या वसतिः, चौराभाः कार्मिकभोजिनः, वणिगा[द्या]मास्त्वद्भोजिसंवासिनः, निग्रहामा दुर्गतिरिति । अनुमोदनामाह-तेषां कार्मिकभोक्त्रुणां प्रशंसया ‘धन्या सुन्दरभोजिनो यूय’मित्यादिकया ‘तु’ पुनरनुमोदनेति । अत्राख्यानकं-एको वणिकुमारः सुरूपः स्त्रीलोलो नृपान्तःपुरीभिर्दृष्टः, उभयानुरागाद्भव्यवहतिच्छन्नाना ताः शिषेवे, यात्रद्राज्ञा ज्ञातो (हतो), हत्वा च राजमार्गं क्षिप्तः, ततः स कैश्चि-‘द्वन्योऽसौ, योऽन्येषां दृग्भ्यामप्यदृश्यान् राजदारान् संसेव्य अवश्यम्भाविमरणमापे’त्यादिवचनैः प्रशंसितः, अन्यैश्च ‘पापीयानसौ, यो जनन्य इव निजस्वामिभार्याः शिषेवे’ इत्यादिनिन्दितः । ततो नृपेण पूर्वनिश्चुक्तरानीतास्तत्प्रशंसका हताः निन्दकाश्च पूजिता इति । अत्रोपनयः-अन्तःपुराभमाधाकर्म, वणिकसुतामास्त्वद्भोजिनः, प्रशंसकामास्तदनुमोदकाः, निन्दकामास्त्वद्गर्हकाः, नृपाभानि कर्माणि, मरणामः संसारः । एषु दृष्टान्तेषु एकमुख्यत्वे प्रसङ्गादन्येऽपि योज्याः ।

उक्ताः प्रतिपेवणाद्याः, अतस्तद्योगे विधेयमाह-ततः कारणात्तान्-कार्मिकभोजिनो यतीन् तच्चाषाकर्म त्रिविधं त्रिविधेन-मनो-  
वाक्पायैस्त्वजेदिति गायार्यः ॥ १५ ॥ उक्तं यथेति द्वारं, अथ यादृशं तदिति चतुर्थमाह—  
वंतुच्चारसुरागो-मंससममिमंति तेण तज्जुत्तं । पत्तं पि कयतिकप्पं, कप्पइ पुवं करिसघट्टं ॥१६॥

व्याख्या—‘वान्तं च’ भुक्तोद्विलितं ‘उच्चारश्च’ पुरीषं ‘सुरा च’ मद्यविशेषो ‘गोमांसं च’ बहुला+ पिशितं, तानि तथा,  
तैरत्यन्तं गर्बजनजुगुप्सितैः ‘मम’तुल्यं संयमिनां निन्द्यत्वादिदमाघाकर्मिकभक्तादि । इति शब्दो यस्मादर्थस्ततश्च यस्मादिद-  
मेभिरतिकृत्सितैः ममानं, तेन कारणेन ‘तद्युक्तं’ तेनाघाकर्मणा ‘युक्तं’ खरण्टितं, किं तदित्याह—‘पात्रमपि’ भाजनमपि  
‘कयतिकप्पं’ति कृता-विहितास्त्रयस्त्रिसङ्ख्याः ‘कल्पाः’ समयप्रसिद्धा धावनप्रकारा यस्य तत्कृतत्रिकल्पं, तदेव किं? ‘कल्पते’  
यतीनां परिभोक्तुं युज्यते । किंविशिष्टं सदित्याह—‘पूर्वं’ कल्पकरणकालात्प्रथमतः ‘करीषघट्टं’ शुष्कगोमयसंसृष्टं । इदमुक्तं  
भाति-यदि कथञ्चिदनाभोगादिगृहीताघाकर्मभक्तादिना संसृष्टं भाजनं स्यात्तदा गोमयादिसम्मार्जनतो निर्लेपताविधान-  
पुरस्सरं कल्पत्रये कृते सत्येव तत् साधूनां परिभोक्तुं कल्पते, नान्यथा, अतो वान्तोच्चारोदिवत्तदप्यत्यन्तं गहितमेवेति । अत्र  
कश्चिदाह-वान्तोच्चारगोमांसग्रहणमत्र कर्तुंमुचितं, न सुराग्रहणं, तस्या लोकपेयत्वात्, पेयस्य च जुगुप्सितत्वेनानारूढत्वाद्  
अन्यथा पेयत्वायोगात् । नैवं, तस्याः कैश्चिदेव जघन्यचरितैः पाने आचरितत्वात्, न च तदाचरितमपि शिष्टानां प्रमाणं, अन्यथा

+ “एकवारप्रसूता गो बहुला इत्युच्यते” इति पर्यायः अ । “बहुला तु, सुरभ्यां नीलिकैलयोः ॥ १२७३ ॥” इति हेमानेकार्थः ।

वान्तोच्चारानामपि सारमेयादिभिर्मौजने आचरित्वात्तेषामपि भक्ष्यत्वप्रसङ्गात् । एवं च न किञ्चिदपेयमभक्ष्यं वा स्यादिति यत्किञ्चिदेतदिति । अथवा वैदिकमतापेक्षं सुराया जुगुप्सितत्वमिति । उपलक्षणमात्रं चेह वान्तादिग्रहणं, तेन गृहृत्कारिकाकरी-  
क्षीरब्दसुनपल[ण्डु]काकमांसादीन्यपि वेदसमयगर्हितानीह द्रष्टव्यानि, एवं चामक्षणीयमेवेदमित्युक्तं भवति । ततोऽस्यैवा-  
भोज्यत्वसमर्थनार्थं दृष्टान्त उच्यते—एगंमि नगरे एगो सेवगो परिवसइ, तस्सऽन्नया जेडुभाया पाहुणगो आगओ । तओ तेण  
नियमहिलाए मंसमाणिऊण समप्पियं, तं च तीसे घरवावाखावडाए मञ्जारेण भक्खियं । तओ तीए भयसंभंतहिययाए अन्नं  
मंसं अलभमाणाए कप्पडियमड्यमंसं साणेण तक्खणगिलिउगिलियं दिडं, तं च गहेऊण धोविय संधूविय अन्नवण्णं करिय  
भोज्यत्वमुवड्डियाणं ताणं परिवेसियं । तेहि य गंधेण नायं, जहा—‘ वंतमेयं ’ति । तओ भत्तुणा रुट्टेण सा ताडिया अन्नं च  
रंधाविया, तओ भुत्तं ति । केई मणंति—जहा केणह मंसासिणा कप्पडिएणं अईसारोगपीडिएणं मंसखंडाणि वोसिरियाणि,  
मञ्जारेण य मंसे खड्दे भत्तुणो भएण तीए ताणि चैव गिण्हत्ता धोवियाणि, जाव परिवेसियाणि । तओ उवलद्धुबुत्तंतेण दारगेण  
चारिओ जणओ, जहा—अम्माए एयाणि एवं कयाणि, ता ताय ? मा भक्खेहि ति । तओ तेण सा निब्भन्धिया अन्नं च  
रंधाविय भुत्तं ति । एवमाधाकम्मोप्यभोज्यमित्युपनय इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

उक्तं यादृशमिति द्वारं, साम्प्रतमशने च तस्य ये दोषा इति द्वारं व्याचिख्यासुराह—

दी०—वान्तो-च्चार-सुरा-गोमांसानि प्रतीतानि, तत्सममिदं आधाकमेति, इति यस्मादर्थे, यत एमिस्तुल्यं तेन हेतुना ‘ तद्युक्तं ’ आधाकर्मस्वरण्डितं पात्रमपि ‘ कृतत्रिकल्पं ’ त्रीन्वारान् धौतं, ‘ पूर्व ’ प्रथमं ‘ करीषष्टुष्टं ’ शुष्क-



गोमयोन्मृष्टं कल्पते, नान्यथेति । अत्र सुराग्रहणं शिष्टानुसारेण, अन्यथा वान्तादीन्यपि कुकुराद्यशनाद्भक्ष्याणि स्युः, अतो गान्तादिवन्मर्वथेदं साधुभिर्म्याज्यं । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह—कश्चित्सेवको मिलनायातभ्रातृकृते स्वमहिलाया मांसमर्पयत् । तद्व्यापृतायां माजारेण मथितं, मा तद्भावेन भर्तृभीता सृतकमांसं शुना वान्तं दृष्ट्वा तदेव संस्कृत्य तयोर्ददौ, तौ च गन्धादिना तद्वान्तं विज्ञाय तां च निर्भर्त्स्य नवीनमानीय शुकौ । केऽप्याहुः—सा केनाप्यतीसारिणा व्युत्सृष्टं मांसमाप, तच्च बालकेन पितुर्गुर्यातमिति, एवामाधाकर्माप्यभोज्यमिति गाथार्थः ॥ १६ ॥

उक्तं यादृशद्वारं, अथ तदशने ये दोषा इति पञ्चममाह—

कर्ममग्राहणेऽइध्कर्म-वइध्कर्मो तहऽइयारैऽणायारौ । आणाभंगंऽणवर्था, मिच्छत्तै-विराहणौ य भवे ॥१७॥

व्याख्या—‘कर्मण’ आधाकर्मणो ‘ग्रहणं’ उपादानं कर्मग्रहणं । इह च ‘कर्मग्रहणं’मित्युक्तेऽपि “आहा-कर्ममग्राही, अहो अहो नेह अग्पाण”मित्यादाविव भक्षणमित्यपि व्याख्येयं, (भयतः)ग्रहणमात्र एव वक्ष्यमाणदोषा सम्भवात् प्रन्तुतद्वारविरोधाच्च । तस्मिन्सति किमित्याह—‘अइध्कमे’त्यादि, अतिक्रमव्यतिक्रमौ वक्ष्यमाणलक्षणौ, दोषाविति शेषः, वचनव्यत्ययाद्भवेतामिति वक्ष्यमाणक्रियायोगः । तथाऽतीचारानाचारौ वक्ष्यमाणलक्षणावेव । किमियन्त एव तदुग्रहणे दोषा मवेयुक्तान्येऽपि ?, उच्यते—अन्येऽपि, यत आह—‘आणे’त्यादि, ‘आज्ञा’सर्वज्ञवचनं, तस्या ‘भङ्गो’ऽतिक्रमणमाज्ञाभङ्गस्तदुग्रहणे भवेत् । आह च—“आणं सव्वजिणाणं, गिण्हंतो तं अइध्कमह लुद्धो । आणं चऽइध्क-

मंतो, कस्साएसा कुणह सेसं ? ॥१॥” अत्र लुब्ध इति विशेषणं योऽलुब्धो ग्लानादिकारणे यतनया तद्गृह्णाति न स तामतिक्रामतीति ज्ञापयति । तथा आज्ञां चातिक्रामन् कस्य शास्त्रविशेषस्यादेशात्?, न कस्यापीत्यर्थः, करोति शेषं प्रत्युपेक्षणा-  
शिरस्तुण्डमुण्डनावश्यकाद्यनुष्ठानं, तद्भङ्गे तस्यव्यर्थत्वादिति भावः ? । तथाऽनवस्थाऽन्येषां धर्मविषयेऽनास्था तद्ग्रहणे भवेत्,  
आह च—“ एकेण कथमकज्जं, करेह तप्पच्चया पुणो अन्नो । सायाबहुलपरंपर-वोच्छेओ संजमतवाणं ॥१॥ ”  
अस्या भावार्थः—एकेनापि साधुना कृतमकार्यमाधाकर्मसेवादिलक्षणमवलोक्य करोति ‘ तत्प्रत्यया’त्तदालम्बनेन पुनर-  
परोऽपि साधुरकार्यं । ततश्च ‘ सायाबहुल ’ति ‘ साताबहुलत्वात् ’ सुखाभिलाषित्वात् प्राणिनां, परम्परयैकमकार्यं कुर्वन्त-  
दृष्ट्वाऽन्यः, तत् प्रत्ययादपर, एवं यावत्सर्वेषामकार्यं प्रवृत्तौ व्यवच्छेदः संयमतपसोः स्यादिति २ । तथा ‘ मिथ्यात्वं ’ विपर्यस्ता-  
ध्यवसायलक्षणं तदपि तद्ग्रहणे भवेत्, यदाह—“जो जहवायं न कुणह, मिच्छद्धिदी तओ हु को अन्नो ? । वट्टुह य  
मिच्छत्तं, परस्स संकं जणेमाणो ॥ १ ॥ ” अस्या भावार्थः—यः कश्चित्साधु’र्यथावादं ’ यथाप्रतिज्ञातं न करोति,  
साधुना हि प्रव्रज्याग्रहणकाले ‘ सर्वं सावधं योगं प्रत्याख्यामी’ति वदता प्राणिवधहेतुत्वादाधाकर्ममपि प्रत्याख्यातमेव,  
अतस्तद्भुज्जानेन तेन यथावादो न कृतः स्यादिति मिथ्यादृष्टित्तस्तत्सात्सकाशात्, हुर्वक्यालङ्कारे, कोऽन्यो ?, नान्यः  
कोऽपि, किन्तु स एवेत्यर्थः, स्यात्, किञ्च-वर्द्धयति च मिथ्यात्वमात्मना +परस्य गृहस्थादेः ‘शङ्का’ अहो एतेऽन्यथावादिनः  
अन्यथाकारिण इत्यादिलक्षणाभारेकां X जनयन्निति ३ । तथा विराधनाऽऽत्मसंयमोभयप्रवचनविनाशस्तल्लक्षणो दोषस्तद्ग्रहणे,

+ “ ०मात्मनः ” अ. य. । X “ ०माशङ्कां ” अ. ।

वः मधुचये, भवेज्जायेत । यत आह—“खद्धे निद्धे य रुया, सुत्ते हाणी तिगिच्छणे काया । पडिघरगाण य हाणी, ण्णड किल्लेसं च किस्संतो ॥ १ ॥” अस्या अपि भावार्थः—किलाघाकर्म प्रायः प्राघूर्णकस्येव साधोरपि गौरवेण विधीयत इति स्वादृः स्निग्धं च स्यात्, ततश्च ‘खद्धे’ति प्रचुरे स्वादृतया स्निग्धे च तस्मिन् भक्षिते सति ‘रुजा’ ज्वर-मिश्रुनिकादिलक्षणो व्याधिः स्यादनेन चात्मविराधनोक्ता, ततश्च ‘सुत्ते’ति सूत्रार्थपौरुष्यकरणात्सूत्रार्थयोर्हानिः स्यात्तथा निष्क्रिन्मायां क्रियमाणयां ‘कायाः’ पृथिव्यादयो व्यापाद्यन्ते । तथा प्रतिजात्रकसाधूनां च हानिः सूत्रार्थयोरनेन च संयम-विराधनोक्ता । तथा ऋरोति क्लेशं-दीर्घरोगितामित्यर्थः, ‘क्लिश्यमानः’ पीडामनुभवत्सन् । अनेन चोभयविराधनोक्ता । उपलक्षणत्वाच्चाहो नम्मराX अमी सितपटभिक्षव, एतत् शास्त्रकारेण चामीयां सम्यग्भोजनादिविधिनोपदिष्टो, येनैते एवमनु-मयन्तीत्यादिलक्षणा प्रनचनविराधनाऽपि द्रष्टव्या इति गाथार्थः ॥ १७ ॥

अथ प्रागुक्तानतिक्रमादिदोषान् व्याख्यातुमाह—

दी०—आयाकर्मग्रहणे अतिक्रमव्यतिक्रमौ तथा अतीचारा-नाचारौ वक्ष्यमाणार्थौ दोषौ स्यातां । किमन्येऽपीत्याह—  
‘आजाभद्रः’ मर्वज्ञवचनातिक्रमः, तथा ‘अनवस्था’ अन्येषां धर्मेऽनास्था, तथा मिथ्यात्वं, यथोक्ताकरणात्, तथा विराधना आत्मसंयमोभयरूपा, तत्र गौरवादाघाकर्म, तच्च स्निग्धं रोगायेत्याद्यात्मविराधना, तद्योगे संयमस्योभयस्यापि भवेदिति गाथार्थः ॥ १७ ॥ अतिक्रमादीनामर्थमाह—

X “ मक्षणगीळा ” इति पर्यायो भां. पुस्तके ।

आहाकर्मामंतण-पडिसुणमाणे अइक्कमो होइ । पयभेयाइ वइक्कम, गहिए तइएयरो गिलिए ॥१८॥

व्याख्या—‘आहाकर्मामंतण’त्ति विभक्तिलोपादाधाकर्मणा-पूर्वोक्तशब्दार्थेना‘मंत्रणं’ भो यते ! गृहाणेदमिति गृहस्थाभ्यर्थनं, तस्मिन् सति ‘प्रतिश्रुवति’ ग्रहीष्यामीति जल्पति अनियेषधिया मौनावलम्बिनि वा सति साधौ, किमि-  
त्याह-‘अतिक्रमो’ मनाक् चारित्रधर्मोच्छ्वन्नं ‘भवति’ जायते । ततः ‘पयभेयाइ’त्ति विभक्तिलोपा‘त्पदस्य’ चरणस्य भेद-स्त-  
द्रहणार्थं गमनायोत्पाटनं पदभेदः, स आदिर्यस्य तद्गृहगमनादेस्तत्पदभेदादि, तस्मिन् विहिते सति यावत्तन्न गृह्णाति ताव-  
त्किमित्याह-विशेषेणातिक्रमो-व्यतिक्रमः, पूर्वसाद्गुरुश्रवणापराध इत्यर्थः । ततो ‘गृहीते’ पात्रकादौ स्वीकृते सति, आधाकर्म-  
णीति प्रक्रमः, यावन्मुखे न प्रक्षिपति तावद्भसत्यागमनादावपि, किमित्याह-तृतीयो-ऽतिचारोऽतिशयेन चारश्चारित्रलङ्घनमति-  
चारो, द्वितीयापराधाद्गुरुतरचरणापराध इत्यर्थः । तत ‘इतरो’ऽनाचारस्तत्र ‘आचारः’ कल्पो मर्यादेति यावत्तन्निषेधादनाचारः,  
तृतीयदोषाद्गुरुतमचारित्रदोष इत्यर्थः । स भवति, क्व सतीत्याह- ‘गिलिते’ गलरन्ध्रादयः प्रवेशिते, आधाकर्मकवलादाविति  
प्रक्रमाद्भ्यत इति । केचित्तु ग्रहणं कवलोद्धरणमेव यावद्विलनं तु मुखे क्षेप इति व्याख्यान्तीति । अत्राह कश्चित्-नन्वतिक्रमा-  
दयः प्रस्तुतदोषाः “पिंडं असोहयंतो, अचरिन्ती इत्थ संसओ नत्थि । चारित्तंमि अंसंते, सव्वा दिक्खा निर-  
त्थीया ॥१॥” इत्याद्यागमानुसारतः सर्वथा चरणाभावरूपा एव व्याख्यातुं युज्यन्ते, न पुनर्यथा भवद्भिरत्र चरणापराधरूपा  
व्याख्यायन्ते, नैवं, उत्तरगुणगोचराणामतिक्रमादीनां सूत्रे सर्वथा चरणाभावसम्पादकत्वानभिधानात्, यदाह दशाचूणिक्त्वं-

१ “पिण्डविषयाणा” इति पर्यायः अ ।

“शयलयति” विचारणायां मूलगुणेषु आहमेसु तिस्रु भंगेषु सचलो भवइ । चउत्थभंगे सञ्चभंगो, तत्थ अचरिती चैव भवइ । उत्तरगुणेषु चउत्सुं वि ठाणेषु सचलो”ति । अत्र भङ्गकास्तत्रत्यप्रक्रमवशादतिक्रमादय एवावसेयाः । यद्येवं ‘पिण्डं असोत्तयंतो’ इत्यादिग्रन्थः कथं नीयते ? उच्यते-निश्चयनयाभिप्रायतया उत्सर्गदेशनाविषयतया अभीक्ष्णमेवागोचरतया वा नेतव्योऽयमिति । अपरस्त्वाह-ननु मनसा चरणविषयप्रतिषेधायां गच्छवासिनां प्रायश्चित्तं नोक्तमागमे । यदाह-“ जीवो पमायवहुलो, पडिवक्खे दुक्करं ठवेउं जे । कित्तियमेत्तं वहिही, पच्छित्तं दुग्गयरिणी वा ॥ १ ॥ ” अस्य भावार्थः-मनसा सेविते नास्ति प्रायश्चित्तं, यतोऽयं जीवः प्रमादवहुलः, सदा तस्याऽभ्यस्तत्त्वादतः प्रतिपक्षेऽप्रमादलक्षणे ‘ दुक्करं ’ति दुक्करं स्थापयितुं ‘ जे ’ इति पादपूरणे, किञ्च-कियन्मात्रमयं जीवोऽतिचपलचित्तजनितापराधमम्मनं प्रायश्चित्तं वक्ष्यति ? दरिद्राधमर्ण इवेति । न च प्रायश्चित्ताभणनेऽप्यतिचारसद्भावस्तत्सम्भवे तदभणनस्यानुपपन्नत्वात् । तत्किमिहोच्यते ? गृहस्थेनाधाकर्मनिमन्त्रणे Xतदपरिजिहासोमौनावलम्बिनोऽपि साधोरतिक्रमलक्षणश्चरणापराधः । अत्रोचरं-मनसा सेविते प्रायश्चित्तं नास्तीति यदुच्यते तत्र तपःप्रभृतिकं प्रायश्चित्तं नास्तीत्यवगन्तव्यं । प्रतिक्रमणादिकन्तु तत्राप्यस्त्येव, मनोदुष्प्रणिधानादौ प्रतिक्रमणादिप्रायश्चित्तस्य सुप्रसिद्धत्वात् । एवं च सति मनोविराधनायां कथं न प्रायश्चित्तं ? कथं च नापराध ? इत्यलं प्रसङ्गेनेति गार्थार्थः ॥ १८ ॥

अत्र “अत्रल इति” एव भवितुमर्हतीति मम मतिः । १ मूलगुणेषु प्राणातिपातादिषु यथाक्रमं अतिक्रमादयः सयोव्या इति भावः । २

अतिक्रमः इति प्रा. यनी प्रा. अनाजागः एव सन्तर्नीपीः १ । २ “त्रिनाडी” इति एर्णागः ३ । ४ आशस्तर्णागिः ५ । ६

साम्प्रतं तद्भोजनदोषाधिकार एव यः कथञ्चिदेतद्भुक्त्वा सम्यगुरुभ्योऽपुनःकारेणालोच्य प्रायश्चित्तं न प्रतिपद्यते स विराधक एव भवतीत्यावेदयन्नाह—

दी०—‘आधाकर्मात्मन्त्रणं’ तद्वायकाभ्यर्थनं ‘प्रतिशृण्वति’ अनिषेधयति सति साधोरतिक्रमो-मनाक् चारित्र्योल्लङ्घनं भवति, ‘पदभेदादौ’ तद्ग्रहणार्थं चलनादौ व्यतिक्रमः पूर्वस्मादधिकः, ‘गृहीते’ स्वीकृते तस्मिन्स्वतीयोस्तीचाराख्यो द्वितीयादधिकः, इतरश्चतुर्थोऽनाचाराख्यस्वतीयादधिको ‘गिलिते’ तस्मिन् भक्षिते स्यात् । अत्र विभक्तिलोपादिकं प्राकृत-त्वादिति गाथार्थं ॥ १८ ॥ अथ कथञ्चिदेतद्भुक्त्वा यो नालोचयति स किमित्याह—

भुंजइ आहाकम्मं, सम्मं न य जो पडिक्कमति लुद्धो । सब्बजिणाणाविमुह-स्स तस्स आराहणा नत्थि ॥

व्याख्या—यः साधु‘भुङ्क्ते’ अभ्यवहरति, किं तदित्याह—‘आधाकर्म’ पूर्वोक्तस्वरूपं, सम्यग्भावशुद्ध्या ‘न च’ नैव ‘य’ इति योजितमेव, ‘प्रतिक्रामति’ प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या तद्भोजनात् प्रतिनिवर्त्तते । किं विशिष्टः सन्नित्याह—‘लुब्धो’ गृह्यः, अनेन च यः कथञ्चिद्भुक्त्वाऽपि सम्यक्प्रतिक्रामति यश्चालुब्धो ग्लानादिकारणे भुङ्क्ते तस्य व्युदासः कृतो वेदितव्य इति । ‘सर्वजिनाज्ञाविमुखस्य’ समस्ततीर्थकरोपदेशपराङ्मुखस्य तस्य—द्रव्ययतेः, किमित्याह—‘आराधना’ सुगतिनिबन्धन-सदनुष्ठाननिष्पादना ‘नास्ति’ न विद्यत एवेति गाथार्थः ॥ १९ ॥

उक्तमशने तस्य ये दोषा इति पञ्चमद्वारं, साम्प्रतं ‘दाने च तस्य ये दोषा’ इति षष्ठद्वारं व्याचिख्यासुराह—

दी०—भुङ्क्ते आधाकर्म यः साधुः, सम्यग्भावाच्च न प्रतिक्रामेत्-प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या गुरोर्नलोचयेत् ‘लुब्धो’ गृह्य-

साम्य-द्रव्ययतेः सर्वजिनात्राविष्टुखस्य आराधना सुगतिहेतुत्वनुष्ठानरूपा नास्तीति गाथार्थः ॥ १९ ॥

उक्तं तदगने दोषद्वारं, अथ षष्ठं तदग्ने दोषाख्यमाह—

जड़णो चरणविघाड-त्ति दाणमेयस्स नत्थि ओहेण । वीयपए जइ कत्थ वि, पत्तविसेसे व होज जओ । २० ।

व्याख्या—‘यतेः’ माघोः सम्बन्धि ‘चरणं’ चारित्रं विहन्ति विपमिश्रान्नवत्प्राणान् परिशुक्तं सद्विनाशयतीत्येवं शीलं चरण-  
विधाति । उपलक्षणं चैतत्तदायकाशुभाल्पायुर्धन्वनिबन्धनत्वस्य, तथा च प्रज्ञप्तिश्रृं—[श. ५ उ. ६ पत्र २२५] “कहणं भंते !  
जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति ?, गोयमा ! ( तिहिं ठाणेहिं, तंजहा- ) पाणे अइवाइत्ता ?, सुसं वहत्ता  
२, तद्दारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता ३,  
एवं चत्तु जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति । ” अस्यार्थः—‘ कथं ’ केन प्रकारेण, ‘ ण ’मिति वाक्यालङ्कारमात्रे,  
मदन्त ! ‘ जीवाः ’ प्राणिनः “ अप्पाउयत्ताए त्ति-अल्पमायुर्यस्यासावल्पायुष्कस्तस्य भावस्तत्ता, तस्यै-अल्पायुष्कतायै,  
म्यल्पजीवितव्यनिबन्धनमित्यर्थः, अल्पायुष्कतया वा कर्म आयुष्कलक्षणं ‘ प्रकुर्वन्ति ’ बध्नन्ति ? । ( ‘ पाणे अइवाइत्त’  
त्ति ) प्राणान-जीवान् ‘ तिपात्य ’ विनाश्य ‘ सुसं वहत्त ’त्ति सृषावादमुक्त्वा ‘ तद्दारूवं ’ति तथाविधस्वभावं-भक्तिदानो-  
चितपात्रमित्यर्थः ‘ समणं व ’त्ति ‘ श्राम्यति ’ तपस्यतीति श्रमणोऽस्तं ‘ माहणं व ’त्ति मा हनेत्येवं योऽन्यं प्रति  
गत्ति स्वयं हनननिवृत्तः सन्नऽसौ माहनः, अथवा ब्रह्म-ब्रह्मचर्यं कुशलानुष्ठानं वाऽस्यास्तीति ब्राह्मणोऽस्तं, ‘ वा ’ शूद्रो  
ममुंगये, ‘ अफासुएणं ’ति न प्रगता ‘ असवो ’ असुमन्तो यस्मात्तदप्रासुकं-सजीवमित्यर्थः, तेन, ‘ अणेसणिज्जेणं ’ति

एष्यत इत्येषणीयं-कल्प्यं, तन्निषेधादनेषणीयं, तेन अशनादिना प्रसिद्धेन 'पडिलाभेत्त' इति 'प्रतिलम्भ्य' लाभवन्तं कृत्वा । अथ निगमयन्नाह-एवमित्यादि । ' एवं ' उक्तलक्षणेन क्रियात्रयेणेति, शेषं सुबोधं । अयमत्र भावार्थः-अध्यवसाय-विशेषादेतन्नयं जघन्यायुःफलं भवति । अथेहापेक्षिकी अल्पायुष्कृता ग्राह्या, यतः-किल जिनागमाभिसंस्कृतमतयो मुनयः प्रथमवयसं भोगिनं कञ्चन मृतं दृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति-नूनमनेन भवान्तरे किञ्चिदशुभं प्राणिघातादिकमासेवितं अकल्प्यं वा मुनिभ्यो दत्तं येनायं भोग्यऽप्यल्पायुः संवृत्त इति । अन्ये त्वाहुर्यो जीवो जिनसाधुगुणपक्षपातितया तत्पूजार्थं पृथिव्याधारममेण १, स्वमाण्डासत्योत्कर्षणादिना २, आधाकर्मादिकरणेन च ३, प्राणातिपातादिषु वर्त्तते तस्य वधादिविरतिनिरवद्यदाननिमित्तायुष्कापेक्षेयमल्पायुष्कृता समवसेया " । अथेहाप्रासुकादिदानमल्पायुष्कृतायां मुख्यं कारणमितरे तु सहकारिकारणे इति व्याख्येयं, प्राणातिपातन-मृषावादनयोर्दानविशेषणत्वात्, तथाहि-प्राणानतिपात्याधाकर्मादिकरणतो, मृषोक्त्वा यथा-भो यत्ते ! स्वार्थमिदं सिद्धं भक्तादि, कल्पनीयं चेदं भवतामतो नानेषणीयमिदमिति शङ्का कार्येति । ततः प्रतिलम्भ्य साधून् दातुप्राणिनोऽल्पजीवितव्यनिबन्धनमायुर्बध्नन्तीति । एवमस्य गमनिकामात्रमुक्तं, विस्तरार्थस्तु तद्दुत्तरवसेयः । अथ प्रकृतमुच्यते-तत्र ' चरणविधाहृत्ति ' इति शङ्को हेतौ, तत इति हेतोर्दानं' साधुभ्यो वितरणं, एतस्य-आधाकर्माणो भक्तादेर्नास्ति-शास्त्रविहितं विवेकिगृहिणां न विद्यते, केन ? इत्याह-'ओधेन' उत्सर्गेण- कारण-मन्तरेणेत्यर्थः । कारणतस्तु स्यादपीत्यावेदयन्नाह ' वीथपए ' इत्यादि, उत्सर्गपिक्षया द्वितीयपदमपवादस्तस्मिन् यदि चेत् कथमपि कुत्रचिदनिर्वाहादौ तदानं भवेत् । अत्र च यदीति बुवाणः कादाचित्कत्वमस्यावेदयति, यतो न संविग्रमावित-



प्रायकाः आगमाभिन्नत्वात्साधुसंयमबाधापरिहारित्वात्तदुपमकत्वाच्च सुयतिभ्य एतद्यथाकथञ्चित्प्रयच्छन्ति, नापि सुयतयो यथारुथञ्चिदेव गृह्णन्ति । यदाह—“कारणपडिसेवा वि हु, सावज्जानिच्छए अकरणिज्जा” । किं सर्वथा ? नेत्याह—“बहुमो विगारइत्ता”, कर्त्तव्येति शेषः । “अधारणिज्जेसु अत्थेसु ॥१॥” अत्यागाहकारणेष्वित्यर्थः । “जइ वि य समणुत्ताया”, मावद्यप्रतिपेवेति प्रक्रमः । “तहवि य दोसो न वज्जणे दिड्ढो । दढधम्मया हु एवं, नाभिवल्ल निसेवनिद्दया ॥२॥” तथा पात्रविशेषः—समग्रगुणयुक्तपात्रं, तद्विषये, वा शब्दोऽशुद्धदानमम्भवप्रकारान्तरसमृच्चयार्थः । यदि तद्दानमिति प्रक्रमो, भवेत्—स्यात् । ननु किं कारणमपवादमेवाश्रित्वेदं दीयते, नोत्सर्गतोऽपीत्यत आह—‘जओ ’त्ति, यतो—यस्मात्कारणादिदं वक्ष्यमाणं सूत्रमत्र नियामकमस्तीति गार्थार्थः ॥ २० ॥ तदेवाह—

दी०—यतेश्चोरित्रविघातिस्यादिति हेतोरेतस्याधाकर्मणो दानं विवेकिनां नास्ति ‘ओधेन’ उत्सर्गेण—कारणं विना, तदेवाह—द्वितीयपदे अपवादाख्ये यदि काप्यनिर्वाहादौ पात्रविशेषे वा तद्दानं भवेत्, नान्यथा, यत इति वक्ष्यमाणोक्ता-  
विति गार्थार्थः ॥ २० ॥ तामेवाह—

संथरणंसि असुद्धं, दोणह वि गेणहंतदंतयाणऽहियं । आउरदिट्टुतेणं, तं चेत्र हियं असंथरणे ॥ २१ ॥\*

१ ‘०क्षरणविघातीदमिति’ इत्यपि प्र० । \* समुद्धृत्यं गाथा समानामशीत्यधिके सहस्रेऽणहिलपत्तने श्रीमहुर्लभराजराज-  
मयसि धैत्यवासीन्विलिय खरतरथिरुदसम्प्रापक—श्रीमल्लिनेश्वरसुरिवरविनेयावतसैनवाङ्गवृत्तिविधानात्खरतरगच्छप्रतिष्ठाप्रापकैराचार्य-  
योः श्रीपट्टपाण्येयस्मिणीयैः पञ्चपाण्यप्यपणेतेषु ज्ञोः कर्षेण ३३१०—३३१३ पञ्चमोः ।

व्याख्या—‘संस्तरणे’ प्रासुकैषणीयाहारादिप्रास्यैव साधूनां निर्वाहे सति अशुद्धमनेषणीयं गृह्यमाणं दीयमानं, चेति गम्यते । द्वयोरपि, नैकस्य कस्यापीत्यपि शब्दार्थः, गृहीतृदात्रोः—साधुश्रावकयोरित्यर्थः । किमित्याह—‘अहितं’ अनर्थहेतुत्वाद्-पथ्यं स्यादिति शेषः । उत्सर्गतस्तावदेवं, अपवादतस्तु ‘आतुरो’ रोगी, तस्य ‘दृष्टान्त’ उदाहरणं न्याय इति यावदातुरदृष्टान्तस्तेन, यथा हि रोगिणः कामप्यवस्थामाश्रित्य पथ्यमप्यपथ्यं स्यात्काञ्चित् पुनः समाश्रित्यापथ्यमपि पथ्यं, तथा च भिषकशास्त्रम्—“उत्पद्यते हि साऽवस्था, देशकालामयान् प्रति । यस्यां कार्यमकार्यं स्यात्, कर्म-कार्यन्तु वर्जयेत् ॥ १ ॥” कार्य-विधेयं, तदप्यकार्य-न कर्तव्यं स्यात् । कर्मकार्य-कर्तव्यक्रियामित्यर्थः । एवमेव ‘तं चैव’ति तदेवाशुद्धमपि दीयमानं गृह्यमाणं च दातृगृहीत्रोर्हितमवस्थोचितत्वात्पथ्यं स्यात् । क्वेत्याह—‘असंस्तरणे’ अनि-र्वीहे दुर्भिक्षलानाद्यवस्थायामित्यर्थः । अयमभिप्रायो—यद्यपि इदमाधाकर्मज्ञाभङ्गाद्यनेकदोषकारणं वर्णितं, तथापि—“सञ्च-त्य संजमं सं-जमाउ अप्पाणमेव रक्खेज्जा । मुच्चइ अइवायाओ, पुणो विसोही तथा विरई ॥ १ ॥ काहं अञ्छित्तिं अडुवा अहीहं, तवोवहाणेसु य उज्जमिस्सं । गणं च नीई व सारविस्सं, सालंबसेवी समुवेइ मुक्खं ॥ २ ॥ सालंबणो पडंतो, अप्पाणं दुग्गमे वि धारेई । इय सालंबणसेवी, धारेइ जइं असहभावं ॥ ३ ॥ अप्पेण बहुमिच्छेज्जा, एयं पंडियलक्खणं । सन्वासु पडिसेवासु, एयं अट्टपयं विज्ज ॥ ४ ॥ न वि किञ्चि अणुत्तायं, पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं । एसा तेसिं आणा, कल्ले सञ्चेण होयव्वं ॥ ५ ॥ धावंतो

१ “नीई य व सार०” य. क. ह. । “नीईए सार०” प. ।

उन्नाओX, मरगन्नु किं न गच्छह ? कमेण । किं वा मउई किरिया, न कीरए ? असहओ तिव्वं ॥ ६ ॥”  
 इत्याथागमाभिधीर्यथावसरं बहुतरगुणलामाकाक्षया गृह्यमाणं दीयमानं च न दोषायेति गाथार्थः ॥ २१ ॥

अथ यदुक्तं-‘पत्तविसेसे व होज्ज’ति तद्व्याख्यानयन्नाह—

दी०-‘संस्तरणे’ शुद्धान्नादिलामास्त्रिवृद्धि मति अशुद्धं गुणहतो द्वयोरपि गृहीतृदात्रो-र्यतिगृहस्थयोरहितं-अनर्थहेतुत्वाद-  
 पथ्यं, ‘आतुरदृष्टान्तेन’ रोगिणो ज्ञातेन+, तस्य हि अवस्थाविशेषादन्नमेवापथ्यं पथ्यं च स्यात्, तथा तदेव तयोर्हिं-  
 गुणहेतुत्वात्पथ्यं, क ? ‘असंस्तरणे’ दुर्भिक्षलानाद्यवस्थास्त्विति गाथार्थः ॥ २१ ॥ अत्र पात्रविशेषे वेति यदुक्तं तदाह--

भणियं च पंचमंगे, सुपत्तसुद्धसन्नदाणचउभंगे । पढमो सुद्धो वीए, भयणा सेसा अणिट्टफला ॥२२॥

व्याख्या-‘भणितं च’ प्रतिपादितं च, केत्याह-पञ्चमाङ्के प्रज्ञस्यभिधाने, क स्थाने ? इत्याह-सुपत्तसुद्धसन्नदाण-  
 चउभंगे ‘ति, शोभनं’ पात्रं ‘दानस्थानं सुपात्रं, तत्र तस्मै वा शुद्धान्नदानं-एषणीयाहारवितरणं सुपात्रशुद्धान्नदानं, तद्वि-  
 षयशतुमंगो’ विकल्पचतुष्टयं, स तथा, तस्मिन्, किं भणितमित्याह-‘पढमो’ इत्यादि, प्रथमः-सुपात्रे शुद्धान्नदानमित्येवं-  
 लक्षण आद्यमङ्गः, शुद्ध-एकान्तेन निर्जराहेतुत्वान्निर्दोषः । द्वितीये-सुपात्रे अशुद्धान्नदानमित्येवंस्वरूपे द्विसङ्ख्यभङ्गके  
 ‘मज्जना’ बहुतरनिर्जराऽल्पतरपापकर्मचन्धसम्भवाच्छुद्धेर्विकल्पना । शेषौ-कुपात्रे शुद्धान्नदानं कुपात्रेऽशुद्धान्नदानमित्येवं-

X “श्रान्तोऽपि गच्छन्” इति पर्यायः अ. । “उच्चाओ” ह. क. । + “न्यायेन” अ. म. ।

लक्षणौ तृतीयचतुर्थभङ्गकावनिष्टफलावेव-<sup>\*</sup>एकान्तेन पापकर्मबन्धहेतुत्वादनीप्सितकार्यप्रसाधकौ, इति शब्दाध्याहारादित्ये-  
तद्गणितं । तथा च प्रज्ञास्पष्टमशतषष्ठोद्देशकसूत्रम्-

“समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा एसणिज्जेणं फासुएणं असण-पाण-  
खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?, गोयमा ! एगंतसो से निज्जरा कज्जइ, नत्थि य से पावे  
कम्ममे कज्जइ ”ति अस्यार्थः-‘श्रमणोपासकस्य’ श्रावकस्य ‘ण’मिति वाक्यालंकारे ‘भदंत !’ सकलकल्याणनिलय !  
तथारूपं श्रमणं वा ‘माहनं वा’ ब्राह्मणं वा प्रासुकैषणीयेनाशनादिना ‘प्रतिलाभयतो’ लाभवन्तं कुर्वतः । ‘किं कज्जइ’ति  
किं फलं भवतीत्यर्थः ?, गौतम ! ‘एगंतसो’ति एकान्तेन निर्जरा क्रियते, ‘से’ति तस्य श्रमणोपासकस्य ‘नत्थि य  
से’ति नास्ति चैतद्यत्‘से’ तस्य पापं कर्म ‘क्रियते’ भवति, अप्रासुकदान इवेति प्रथममङ्गार्थप्रतिपादकसूत्रार्थः ।

द्वितीयभङ्गसूत्रं पुनरिदं-“समणोवासयस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेस-  
णिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?, गोयमा ! बहुतरिया निज्जरा कज्जइ  
अप्पतराए से पावे कम्ममे कज्जइ ”ति अस्यार्थः प्राग्वन्नवरं-‘बहुतरिय’ति बहुतरा पापकर्मपिक्षया । ‘अप्पत-  
राए’ति अस्पतरं निर्जरापेक्षया । अयमर्थः-गुणवते पात्रायाप्रासुकादिद्रव्यदाने चारित्रसाधनकायोपष्टम्भो ?, जीवघातो  
२, व्यवहारतस्तच्चारित्रबाधा च ३ भवति । ततश्च चारित्रसाधककायोपष्टम्भान्निर्जरा जीवघातादेश्च पापं कर्म स्यात् । तत्र च

<sup>\*</sup> “० फलावेकान्तेन” ह. क. । + “गोयमा ।” अ. ह. क. य. ।

संहतोः सामर्थ्यात् पापापेक्षया बहुतरा निर्जरा, निर्जरापेक्षया चाल्पतरं पापं भवति । इह च विवेचका मन्यन्ते-असंस्तरा-  
 ट्टिकारणत एवात्रामुकादिदाने बहुतरा निर्जरा भवति, नाकारणे, \*यदुक्तं- 'संथरणंमि असुद्ध'मित्यादिX, तथा- " नाया-  
 गयाणं कल्पणिज्जाणं, अन्नपाणार्ईणं दन्वाणं देसकालसद्धासकारसंजुतं पराए भत्तीए आयाणुगगहवुद्धीए  
 संजयाणं दाण "मित्यादि, अन्येत्वाहुरकारणेऽपि गुणवत्पात्रायाप्रासुकादिदाने परिणामवशाद् बहुतरा निर्जरा भवत्यल्पतरं  
 च पापं कर्मति, निर्धिशेषणत्वात्त्रस्य परिणामस्य च प्रमाणत्वात् । आह च- " परमरहस्समिसीणं, +समत्तगणिपिड-  
 गभरियसाराणं । परिणामियं पमाणं, निच्छयमवलंबमाणणं ॥ १ ॥ "ति । नन्वेवं धर्मार्थमप्रासुकादिदानं कर्त्तव्य-  
 मापन्नमित्यत्रोच्यते-आपद्यतां नाम, भूमिकापेक्षया को दोषः, यतो यतिधर्माशक्तस्य गृह्यस्य द्रव्यस्तवे प्राणातिपातादि-  
 कम्पुक्तमेव प्रवचने, यत्रोच्यते- 'संथरणंमि असुद्ध'मित्यादिना अशुद्धं द्वयोरपि दातृगृहीत्रोरहितायेति, तद्ग्राहकस्य व्यव-  
 हारतः संयमधिराघनात् दायकस्य च लुब्धकदृष्टान्तमात्रितत्वेनान्व्युत्पन्नत्वेन वा ददतः शुभाल्पायुष्कृतानिमित्तत्वात् ।

\* "यत उक्तं." अ. य. । X गाथेयं सम्पूर्णाऽथैव प्रन्यस्यैकविंशतितमा । + पठितसमस्तगणिपिटकसाराणां-अधीतद्वादशांगधारीणां ।

१ पात्रापेक्षया । २ पासत्यार्ईहि भाविया ते लुब्धकदृष्टान्तभाविष्या, कहं ? , ते पसत्या एवं कहंति-जहा लुद्धगो हरिणस्स  
 पिट्टओ धावद, हरिणस्स पलायमाणस्स सयं लुद्धगस्स वि जेण तेणप्पगारेण हरिणं अबेजं(?) वा धायत्तस्स सेयं, एवं जहा हरिणो  
 तथा गाह, जहा लुद्धगा तथा नावगा साहू य, अकल्प्यकाण्हप्रहारात्ते पलायन्ति । पासत्या सद्धे भणंति-जेण तेणप्पगारेण सबाहं  
 अकीयाइ भासिऊण तुब्भेहि कल्पियं अकल्पियं वा स [ मल्पियच्चं ] इति पर्यायाः अ. "

शुभमपि चाऽयुरल्पं अहितमिह विवक्षितमिति द्वितीयमङ्गप्रतिबद्धसूत्रसङ्क्षेपार्थः ।

तृतीयचतुर्थमङ्गकक्षत्रं पुनरिदं-“समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं अस्संजयं अविश्यं अप्पडिहयपच्च-  
कवायपावकम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असणपाणखाइमसाइमेण  
पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ? गोयसा ! एगंतसो से पावे कमे कज्जइ, नत्थि से कावि निज्जरा कज्जइ”त्ति,  
प्रतीतार्थं चैतन्नवरं-‘असंयतः’ सप्तदशप्रकारसंयमाद्बहिर्भूतस्तथा चिविधमनेकथा द्वादशविधे तपसि रतो विरतस्तन्निषेधाद्-  
विरतः । तथा प्रतिहत्वानि स्थितिहासतो ग्रन्थिभेदेन, प्रत्याख्यातानि हेत्वभावतः पुनर्वृद्धिनिरोधात्, कर्माणि ज्ञानावरणादीनि  
येन स तथा, तन्निषेधात् अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, तं, एवं च ‘असंजए’त्यादिना निर्गुणः पात्रविशेष उक्तः,  
, फासुएण वा अफासुएण वे’त्यादिना तु प्रासुकाप्रासुकादेर्दानस्य पापकर्मफलता निर्जराया अभावश्रोक्तः, असंयमो-  
पष्टम्भस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । यश्च प्रासुकादौ जीवघाताभावेन अप्रासुकादौ च जीवघातसद्भावेन विशेषः सोऽत्र न विवक्षितः ।  
पापकर्मणो निर्जराया अभावस्यैव चेह विवक्षितत्वादिति तृतीयचतुर्थमङ्गसूत्रार्थः । एवं तावत्-‘सुपत्तसुद्ध’सूत्रदान-  
चउभंगे पढमो सुद्धो’ इत्यादिग्रन्थसुखावबोधार्थं सव्याख्यानं सूत्रत्रयमपि निर्दिशितं । अत्र च द्वितीयसूत्रभावार्थं  
अन्ये पुनराहुरकारणेऽपि गुणवत्पात्रायाप्रासुकादिदाने परिणामवशाद्बहुतरा निर्जरा भवत्यल्पतरं च पापकर्मैत्यादिलक्षण-  
माश्रित्य ‘पत्तविसेसे व होज्ज’त्ति प्राक्तन[विशतितम]गाथाऽवयवार्थो भावनीय इति गार्थार्थः ॥ २२ ॥

उक्तं दाने च तस्य ये दोषा इति षष्ठद्वारं, साम्प्रतं यथापृच्छेति सप्तमं द्वारं, तत्र यथा पृच्छा सम्भवस्तथा दर्शयितुमाह--

श्री०-भणितं चैतत्पञ्चमाङ्गे अष्टमशतपद्योद्देशके सुपात्रशुद्धान्नदानोपलक्षणे तच्चतुर्मङ्गे, यथा-सुपात्रे शुद्धान्नं १, सुपात्रे अशुद्धान्नं २, कुपात्रे शुद्धान्नं ३, कुपात्रे अशुद्धान्नमिति ४ । एषां स्वरूपमाह-प्रथमो मङ्गः शुद्धो, निर्जराहेतुत्वात्, द्वितीये 'भत्रना' शुद्धैर्विकल्पना, बहुतरनिर्जराऽल्पतरपापबन्धात् । शेषौ द्वावनिष्टफलो, एकान्तेन पापबन्धहेतुत्वादिति गाथार्थः ॥२२॥  
उक्तं दानद्वारं, अथ यथापृच्छेति मत्तमं आह--

दंसाणुत्रियं बहुदद्व-सप्पकुलमायरो य तो पुच्छे । कस्स कए केण कयं ? लक्खिज्जइ वज्झल्लिंगेहिं ॥२३॥

व्याख्या-देशस्य-मालवकादिमण्डलस्यानुचितं-तत्रासम्भवादयोग्यं देशानुचितं, तथा 'बहु' प्रचर, किं तदित्याह-  
'द्रव्यं' शाल्योदनादि, तथा 'अल्पं' एकद्व्यादिमानुषं 'कुलं' गृहं, तथा आदरो-दातुर्भक्तिविशेषकृतः सम्प्रमः,  
नः मधुघ्नये, यदि स्यादिति शेषः 'तो'ति ततस्तदनन्तरं तदा वा-तस्मिन्काले, किमित्याह-'पृच्छेत्' प्रश्नं कुर्यात्, केन-  
प्रहारेणेत्याह-'रुस्से'त्यादि, कस्य-किं गृहस्थस्याऽऽहोश्चित्साधोः 'कृते' निमित्तं ? तथा केन पुर्यादिना 'कृतं' निष्पादि-  
नमिदं शाल्योदनादि द्रव्यमिति प्रक्रमः । एवं च प्रश्ने कृते सति यदि दाता प्राञ्जलस्वभावो भवति तदा कथयत्येव यथा-  
भग्नमिचमेतद्विदितं, अथ मायानित्वात्सत्यं न कथयति तथापि तत् ज्ञायत इति दर्शयन्नाह-'लक्खिज्जइ वज्झल्लिंगेहिं'  
ति 'लक्ष्यते' ज्ञायते यदुताशुद्धमिदमिति । कैः कृत्वेत्याह-वाद्यल्लिङ्गैः सखिलशहसितपरस्परत्रलोकनस्वलज्जापितादिभिर्विहि-  
तैर्निचिद्वैः, ततश्च साधुभिस्तत्परिहर्तव्यमिति । अथ कदाचित्पृष्टे सति दाता रोपं कुर्यात् । का तस्मिंशुष्माकमस्मद्गृहवृत्तान्त-  
परिचाने इत्यादिकं, साक्षेपवचनं वा किञ्चित् द्रव्यात्ततस्तद्भावमलीकसत्यकोपादिकं ज्ञात्वा गृहीतव्यमिति गाथार्थः ॥ २३ ॥

उक्तं यथापृच्छेति सप्तमद्वारं, साम्प्रतं छलनेत्यष्टमद्वारं व्याख्यातुमाह—  
दी०—देशस्य मालवाकादेरनुचितं तत्रासम्भावि 'बहुद्रव्यं'शाल्योदनादि 'अल्पकुलं'स्तोकमानुषादिगृहं 'आदरश्च'  
दातुर्भक्तिसम्भ्रमो यदि स्यादत्तस्तदा वा पृच्छेत्-कस्य कृते इदं ? केन हेतुना पुंसा वा कृतं ? भक्तादीति पृष्टे यदि सत्यं  
नाचष्टे तथापि लक्ष्यते बाह्यलिङ्गै-त्रिविधशरीरादिचिह्नैरिति गार्थः ॥ २३ ॥ उक्तं यथापृच्छाद्वारं, अथ छलनेत्यष्टममाह—  
थोवंति न पुष्टं न क-हियं च गूढेहिं नायरो व कओ । इय छलिओ वि न लगइ, सुओवउत्तो असढभावो ॥

व्याख्या—'स्तोकं' स्वल्पं, द्रव्यमिति गम्यते, इति हेतोरुपलक्षणत्वाद्ध्वपि देशोचितमिति कारणाद्वा 'न' नैव 'पुष्टं'  
पूर्वोक्तप्रकारेण प्रश्नितं, साधुनेति गम्यते, तथा 'न' नैव कथितं-मायावित्वाद्गृहिभिः साधुना पृष्टमपि न निवेदितं, यथा  
भवदर्थं कृतमेदिति । 'वा' विकल्पे । तथा 'गूढे'रलक्ष्यस्वभावैः, गृहिभिरिति गम्यते । 'न' नैवादरो-भक्तिविशेषः  
कृतोऽभ्युत्थानवन्दनप्रसन्नवदनत्वादिसम्भ्रमो 'वा' विकल्पे 'कृतो' विहितः । इत्येवमनेन प्रकारेण 'छलितोऽपि' अशु-  
द्धाहारग्रहणतो गृहिभिर्व्यसितोऽपि, साधुरिति प्रक्रमः, किमित्याह-'न' नैव 'लगति' अशुद्धाहारग्रहणादिजनितकर्मणा सह  
श्लिष्यति । किंविशिष्टः सन्नित्याह-'श्रुते'पिण्डैषणाध्ययनादौ 'उपयुक्तो'दत्तावधानः-श्रुतोपयुक्तः, सिद्धान्तोक्तपिण्डदोष-  
परिज्ञानोपायावहितचित्त इत्यर्थः । पुनरपि किंविशिष्ट इत्याह 'अशुठभावो' निम्नार्थचित्तपरिणतिरनेन चैतदाचष्टे-यः  
पिण्डैषणानभिज्ञोऽभिज्ञोऽपि वा प्रमादितयाऽनुपयोगवान् व्यंस्यते, स कर्मणा बध्यत एव, भगवदाज्ञाविराधकत्वात् क्लिष्ट-  
परिणामत्वाच्चेति गार्थः ॥ २४ ॥



उक्तं यथा छलना स्यादित्यष्टमद्वारं, अथ कथञ्चिदशुद्धपिण्डग्रहणेऽपि शुद्धिर्यथा स्यात्तद्विपक्षत्वात्तदग्रहणेऽप्यशुद्धिश्च यथा स्यादित्येवं लक्षणं नवमद्वारमभिधित्सुराह ।

दी०—स्तीकं देयद्रव्यं, उपलक्षणाद्ब्रह्मपि देशोचितमिति न पृष्टं, पृष्टं चेन्न कथितं मायावित्त्वाद् गृहीभिस्तथा 'गूढे' रलङ्घोस्तेर्नमादरो वा-भक्तिमम्भ्रमः कृत, इत्येवं 'छलितोऽपि' अशुद्धं ग्राहितोऽपि मायुर्न 'लगति' तल्लन्यकर्मणा न श्लिष्यति, कथम्भूतः ? 'श्रुतोपपृक्तः' एषणाविधिमात्रवान 'अशठभावो' निर्मायचित्त इति गार्थार्थः ॥ २४ ॥

उक्तं छलनाद्वारं, अधुना शुद्धा(? शुद्ध्या)ख्यं नवममाह—

आहाकम्मपरिणओ, वज्झइ लिंगिष सुद्धभोई वि । सुद्धं गवेसमाणो, सुज्झइ खवगोव कम्ममे वि ॥ २५ ॥

व्याख्या—'आधाकर्मपरिणतो'ऽशुद्धाहारग्रहणभोजनाऽभिलाषी सन्, भिक्षुरिति गम्यते । किमित्याह—'वध्यते' आधा-कर्मभोगप्रभवदारुणकर्मणा श्लिष्यते । क इवेत्याह—'लिङ्गित्' तथाविधद्रव्यसाधुवेपधारकफुरुपवत् । अनेन च संविधानकं सूचयति । किंविशिष्टो भिक्षुरित्याह—'शुद्धभोज्यपि' प्राप्तुकैपणीयाहाराभ्यवहार्यपि, न केवलमशुद्धभोजीत्यपि शब्दार्थः । अनेन च परिणाम एव तत्रतः कर्मवन्धकारणमित्याचष्टे । लिङ्गिसंविधानकं चेदम्—

एगम्मि नगरे एणेण सावएणं संघभोजं दवात्रियं । तं च सोऊणं एगो साहू पच्चासन्नगामाओ तग्गहणत्थं सिग्घ-मागओ । तओ तं भिक्खवड्डुमुवड्डियं दहुं सावएणं भणिया साविया 'देहि एयस्स भिक्खं'ति । तीए भणियं-संबंपि तं दिन्नं । तओ तेण भणियं-मम भत्तमज्झाओ देहि । तओ तीए ओयणमोयगाइयं पड्डिपुन्नं भोयणं दिन्नं, साहुणा य संघभत्तं ति मन्न-

माणेण अहसाउं उक्कोसगं च त्ति सुच्छिण्ण य तं भुचं ति । एवं च सो सुद्धं पि भुंजंतो असु(ह)द्धपरिणामवसेण आहाकम्म-  
परिमोगदोसजणियकम्मुणा बद्धोत्ति ।

अनेन च शुद्धग्रहणेऽपि शुद्धिर्यथा न स्यादित्येतत्प्रतिपादितं, अथाशुद्धग्रहणेऽपि शुद्धिर्यथा स्यात्तथा दर्शयति-‘शुद्ध-  
मित्यादि, ‘शुद्धे’ निर्दोषं, पिण्डमिति गम्यते । ‘गवेषयन्’ आगमनीत्या मार्गयन्, साधुरिति प्रक्रमः, किमित्याह-  
शुद्ध्यति-विशुद्धपरिणामत्वात्कर्ममलक्षपणतो निर्मली भवति, क इवेत्याह-‘क्षपक इव’ विकृष्टतपःकर्तृसाधुवत् । अनेनापि  
संविधानकं सूचयति । क्व सत्यपीत्याह-‘कर्मण्यपि’ आधाकर्मभोगेपीत्यर्थः । न केवलमितरभोग इत्यपि शब्दार्थः । अनेन  
च परिणामशुद्धिरेव तत्त्वतः कर्मक्षयकारणमित्याह । पठ्यते च ‘परमरहस्समिसीण’मित्यादि । क्षपकसंविधानकं चेदं-

एगम्मि सुविहियसाहुगच्छे एगो साहू इहपरलोयनिरासंसो सम्मं अहिगयजिणवयणरहस्सो वोसट्टचत्तनियदेहो विगिट्ठ-  
तवोकम्मनिरओ चिट्ठइ । अन्नया य सो खवगसाहू मासक्खवणपारणगनिमित्तं ‘ मा इहनगरे तवचरणावञ्जियलोगाओ अणे-  
सणा भविस्सइ’त्ति गओ पच्चासन्नगामं । तत्थ य एगाए सावियाए उवलद्धखगतवोकम्मवुत्तंताए मा कयाइ खवगो इह एह  
त्ति संजायदाणसद्धाए धयगुलसंजुत्तं पायसं संसाहियं, तथा ‘ मा आहाकम्मसंकाए खवगो न गिण्हहि’त्ति माइट्ठणोण पत्त-  
पुडयमच्छगाणि पायसखरंटियाणि इओ तओ पक्किन्नाणि डिभरूवाणि य माइट्ठणं गाहियाणि, जहा-जया एरिसो साहू इत्था-  
गच्छइ तथा तुब्भे भणेज्जइ, जहा-अम्मो ! बहुयं पायसं अम्हाणं परिवेसियं, अहं च तुब्भे निब्भच्छिस्सामि । तओ भणिज्जइ  
किं दिणे दिणे पायसं रंधिज्जइ ?, न किंपि कजं अम्हं इमिणा, भग्गाइं अम्हं इमस्स चि । इत्थंतरे सो खवगो भिक्खं हिंउंतो

भविष्यद्यावसेण पढमं तीसे चैव घरमागओ,सा य भक्तिमरपूरियनिरंतरहिययावि संवरियागारा अकयसंभमा मोणेणं चैव ठिया । ताणि य माइट्टाणपन्नवियाणि डिंभरूवाणि तहेव काउमारद्धाणि । तओ तीए ताणि तहेव निब्भच्छिऊण एयाणि ताव मत्तिच्छयाणि न गिण्हंति, जइ तुज्झ रोयइ तो तुमं गिण्ह इमं पायसं ति भणमाणीए तस्स जावणा निमित्तं घयगुलसंजुत्तस्स पायसस्स भायणं भरेऊण आणियं, साहुणा य एसणोवउत्तेणं सुद्धं ति कलिऊण गहियं, तओ पज्जत्तं ति काउं नियत्तो गोयराओ, आगओ य किंचि वि रहएसं । तत्थ य समालोइयपडिक्कंतो कयतकालोचियसज्झायजोगो वित्तिउं पय(त्तो)ट्टो, जहा-जइ एत्थावसरे केइ अद्धाणाइपडिवन्नगा साहुणो एंति, परमन्नगहणेण य मे अणुगहं करंति, तो तारिओ होमि भवन्नवाओ त्ति, इच्चाइ-सुद्धज्झवसाणपरो तंमि य विसिद्धाहारे मासक्खवणपारणगपत्ते वि अमुच्छिओ कड्डिऊण पंचनमोक्कारं विहीए भुंजिउं पयत्तो । तओ सुहज्झवसायस्स भोयणावसाणे निरावरणं पडिपुन्नं केवलवरनाणदंसणं समुप्पन्नं सिद्धो य कालेणं भयवं खवगकेवलत्ति ॥

इह च परिणामशुद्धिरेव तत्त्वतः कर्मक्षयकारणमित्युक्तं, तत्र परिणामशुद्धिरपि सर्वज्ञानाराधनानुगतैव यथोक्त-फलप्रसाधिका, नान्यथेति मन्तव्यं । यथोक्तं-“ भावशुद्धिरपि ज्ञेया, चैषा मागर्गानुसारिणी । प्रज्ञापनाप्रियाऽत्यन्तं, न पुनः स्वाग्रहात्मिका ॥ १ ॥ ” ततश्च स्वच्छन्दभावपरिहारार्थं आज्ञाभङ्गाभङ्गकारिणां महापायस्वकार्यप्रसाध-कत्वप्रतिपादकमुदाहरणमुच्यते-

एगंमि नगरे एगस्स रन्नो पत्तपुप्फफलसमिद्धपायवगणरमणिज्जाणि दोन्नि उज्जाणाणि अहेसि, तं जहा-चंदोदयं च स्ररोदयं च । तत्थ चंदोदयं नगरस्स अवरदिसाए, स्ररोदयं पुवदिसाए । अह वसंतसमए अंतेउरकीलाकोउगत्थिणा पत्थिवेणं संज्झाए

पिण्ड-  
विशुद्धिं  
टीकाद्वयो-  
पेतम्  
॥ २९ ॥

पडहगदावणपुरस्सरं नियपुरिसेहिं नयरे घोसावियं, जहा-भो भो ! सुणंतु तणकडुहाराहणो पुरिसा ! रत्ना समाइंठं-अहं पभाए अंतेउरपरिसाओ स्रोदये उजाणे गमिस्सामि, तं तुब्भेहि चंदोदये चेव गंतवं ति । तओ राया पच्चूसे स्रोदये गमणागम-णेसु संभुहो स्रो ति कलिऊण चंदोदयं गओ । तं च घोसणं सोउं जे तत्थ दुरप्पाणो सिडिगप्पायपुरिसा, ते ' अम्हे दुल्लभ-दंसणाओ नरिंदमहिलाओ पासिस्सामो' ति चित्तिऊण स्रोदयं गया । तत्थ य पत्तलदुमसालासु लिक्किउं ठिया । ते य उजाणा-रक्खियपुरिसेहिं रायाणाभंगकारिणो ति गहेऊणं पहया बद्धा य । जे पुण तणहारगाइणो घोसणं सोऊणं चंदोदयं गया, तेहिं सहसापविट्ठाओ दिट्ठाओ चरवसणभूसणधराओ पव्वणिदुमुहीओ वियसियवरकमलदीहरलोयणाओ निवंगणाओ, तओ तेवि तहेव बद्धा, नयराभिमुहं चलयस्स य अवरण्हे राइणो दंसिया दोवि वग्गा उजाणपालएहिं । तओ राइणा पुच्छिऊण तवइयरं स्रोदयगामिणो अदिट्ठोवरोहा वि ममाणाभंगकारिणो ति वहाविया, इयरे आणाकारिणो ति दिट्ठोवरोहा वि विसज्जिय ति । एवमित्थ वि तित्थयराणाभंगकारिणो अकयाहाकम्मभोगा वि जम्मजरामरणवेयणानिबंधणदारुणकम्मबंधाइयं महाऽणत्थं पार्विति, इयरे कहिंचि तब्भोगकारिणो वि ताओ मुच्चंति सकज्जपसाहगा य भवंति । मणियं च-“ सयलसुरासुरापणमिय-ज्जिणगणहरभणियसमयपरतंता । आराहिऊण सम्मत्त-नाणचरणाइं परमाइं ॥ १ ॥ सत्तट्ठभवग्गहण-उभंतरकालंमि केवलं नाणं । उट्पाडिऊण जंति य, विहुयमला सासयं मोक्खं ॥ २ ॥ तत्थ य जरजम्मण-मरण-रोगतणहाल्लुहाभयविमुक्का । साइअपज्जवसाणं, कालमणंतं लहंति सुहं ॥ ३ ॥” इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

एवं चान्नाभङ्गाद्यनेकदोषनिबन्धने आधाकर्मग्रहणे प्रतिपादिते सत्याह कश्चित्—

दी०-आधाकर्मपरिणतोऽशुद्धपिण्डार्थी 'बद्धयते' तन्नन्यकर्मणा श्लिष्यते शुद्धभोज्यपि, आस्तामितरः । क इव ?  
 इत्याह-'लिङ्गीवत्' वेषधारकसाधुवत्, तत्कथेयं-कश्चित्साधुरेकस्मिन्नगरे कस्यापि श्रावकस्य गृहे सङ्घभोज्यं श्रुत्वा तीर-  
 ग्रामाद्रसलोलतया तत्राजगाम, तद्भिक्षार्थं श्रावकप्रेरिता पत्नी 'सर्वमग्रे दत्त'मित्युवाच, ततो 'मम भक्तादपि देही'त्यु-  
 क्त्वा दापितं सम्पूर्णमिष्टान्नं, सङ्घभक्तधिया विहृत्य बुभुजे, स चैवमशुद्धपरिणामादशुद्धकर्मणा बद्धः । किमशुद्धभोज्यपि  
 शुद्ध्यति ? इत्याह-शुद्धं गवेषयन् 'शुद्ध्यति' कर्ममलक्षयान्निर्मली भवति 'कर्मण्यपि' आधाकर्मभोगेऽपि 'क्षपक इव' उत्कृष्ट-  
 तपःकर्तृसाधुवत् । तत्कथेयं-यथा कस्मिंश्चिद् गच्छे साधुरेको निरीहस्तपस्वी मासक्षपणान्ते पारणार्थमनेषणीयभयाद्  
 ग्रामान्तरं-यावस्तत्रैका श्राविका विज्ञाततत्पारणा दानश्रद्धया झटिति कृतपरमान्ना प्रगुणितघृतगुडा आधाकर्मच्छादनाय  
 बहिः क्षिप्तपायसोपलिप्तपत्रादिपुटका 'नित्यं न रोचत इद'मिति शिक्षितक्षीरान्नमोजिबालका तं क्षपकं गृहमायान्तं वीक्ष्य  
 क्षीरान्नपूर्णभाजनं सघृतगुडमुत्पात्र्य बालपरिवेशनच्छन्ननाऽभ्युत्थिता तेषां शिक्षावशादगृह्णतां क्षपको जल्पितो-'यदि तव  
 रोचते तदा गृहाणे'त्युक्ते शुद्धधिया विहृत्य तदशुद्धमप्यमूर्च्छितो भुञ्जानो विशुद्धाध्यवसायवशात्तदन्ते केवलज्ञानमाप,  
 एवमसावशुद्धभोज्यपि शुद्धान्वेषणाच्छुद्ध इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

अथ त्रिकरणशुद्धस्य साधोराधाकर्मणा को दोषः ? इति पूर्वपक्ष्यत्राह—

+ " ०न्तरं ययौ, तत्रैका " क. ज. म. ।

नणु मुणिणा जं न कथं, न कारियं नाणुमोइयं तं से ।

गिहिणा कडमाइयओ, तिगरणसुद्धस्स को दोसो ? ॥ २६ ॥

व्याख्या-नन्विति प्रश्ने, 'मुनिना' साधुना यदशनादिकं 'न' नैव 'कृतं' स्वयं निष्पादितं तथा 'न' नैव 'कारितं' अन्येन निर्वर्चितं तथा 'न' नैवा 'नुमोदितं' परेण क्रियमाणं कृतं वा श्लाघितं तदशनादिकं 'से'ति तस्य मुनेगृहिणा-अगारिणा 'कृतं' निष्पादितं सत् 'आइयओ'ति आदानस्य-गृह्यतः, किंविशिष्टस्य मुनेरित्याह-'त्रिकरणशुद्धस्य' मनोवाक्कायैर्निर्दीषस्य सतः 'को दोषः' किं दूषणं ?, न कोऽपीत्यर्थः । अयमत्र प्रेरकाभिप्रायः-इह किल तावज्जीवस्य मनोवाक्कायैः सावद्य-योगकरणादिरूपतया व्यापृतेरेव दोषो जायते, न चैतेषां मध्यादेकमपि साधुमत्कं गृहिणा साध्वर्थं पिण्डे क्रियमाणे व्याप्रियते, अतः कथं तद्ग्रहणे तस्य दोषसम्भवः ? इति गाथार्थः ॥ २६ ॥ अत्रोत्तरमाह--

दी०-नन्विति पूर्वपक्षे, मुनिना यन्न कृतं न कारितं नानुमोदितं, तदाधाकर्म 'से' तस्य गृहिणा कृतमा'दानस्य' गृह्यतः त्रिकरणशुद्धस्य को दोषः ? इति गाथार्थः ॥ २६ ॥ अत्रोत्तरमाह--

सच्चं तहवि सुणंतो, गिणहंतो वद्धए पसंगं से । निद्धंयसो य गिद्धो, न सुयइ सजियं पिसो पच्छा ॥ २७ ॥

व्याख्या-' सत्यं ' अविश्रयमेतदनन्तरोक्तमिति गम्यते । ' तथापि ' एवमपि सतीत्यर्थः । ' सुणन् ' साध्वर्थमिदं विहितमित्यवगच्छन्, साधुरिति गम्यते, किं कुर्वाण ? इत्याह-' गृह्यन् ' स्वीकुर्वन् गृहिणा दीयमानं, पिण्डमिति गम्यते ।

किं करोतीत्याह—‘वर्द्धयति’ वृद्धिं नयति । कमित्याह—‘प्रसङ्गं’ पुनःपुनराधाकर्मकरणप्रसक्तिं, कस्येत्याह—‘से’ति तस्य दातृगृहिणः, अपरं च तद्ग्रहणे साधुरपि यत्करोति तदाह—‘निर्द्ध्वसो’ निःशुको-निर्देय इत्यर्थः । च शब्दो दोषान्तर-समृच्चयार्थः । तथा ‘लुब्धो’ गृह्णः किं करोतीत्याह—‘न’ नैव ‘मुञ्चति’ परित्यजति, किं तदित्याह—‘सजियं पि’ति सजीव-मपि-अप्रासुकमपि, न केवलं निर्जीवमित्यपि शब्दार्थः । ‘सो’ऽशुद्धाहारग्राही साधुः ‘पश्चात्’ सकृदपि ग्रहणानन्तरं, अयमत्रा-भिप्रायः—अकुशलाभ्यासतो निर्द्ध्वसत्वसद्भावात्तत्रैव सदा रतिमान् भवति । यदाह—‘करोत्यादौ तावत्सघृणहृदयः किञ्चिदशुभं, द्वितीयं सापेक्षो विमृशति च कार्यं च कुरुते । तृतीयं निःशङ्को विगतघृणमन्यत्प्रकुरुते, ततः पापाभ्यासात्सततमशुभेषु प्ररमते ॥ १ ॥” इति गाथार्थः ॥ २७ ॥

व्याख्यातं शुद्धिरिति नवमद्वारं, तद्व्याख्यानाच्च व्याख्याता ‘तं पुण जं जस्से’त्यादिद्वारगाथा, तद्व्याख्यानाच्च व्याख्यात आधाकर्मर्माख्यः प्रथमपिण्डोद्गमदोषः । अथ मूलद्वारगाथाऽभिहितं द्वितीयदोषमौदेशिकाभिधानं व्याख्यातुमाह—दी०-सत्यमिदं, तथाप्येवं सति ‘मुणंतो’ जानन् मुनिस्तथा गृह्णन् कार्भिकं वर्द्धयति ‘प्रसङ्गं’ नित्यमाधाकर्मकरण-प्रसक्तिं ‘से’ तस्य गृहिणः, स्वयं कथं ? इत्याह—‘निर्द्ध्वसो य’ निश्शूकश्च ‘गृह्णो’ लुब्धः सन्न मुञ्चति ‘सजीवमपि’ अप्रासुकमपि साधुः ‘पश्चात्’ तद्ग्रहणानन्तरमिति गाथार्थः ॥ २७ ॥

उक्तो नवभिद्वारैराधाकर्मर्माख्यः प्रथम उद्गमदोषः, अथ द्वितीयमौदेशिकाख्यमाह—  
उद्देशियमोहविभा-गओ य ओहे सए जमारंभे । भिक्खाउ कइवि कप्पइ, जो एही तस्स दाणट्ठा ॥२८॥

व्याख्या—इहौद्देशिकं द्विविधं भवति, तद्यथा—ओषौद्देशिकं विभागौद्देशिकं चेति, एतदेवाऽऽह—‘औद्देशिकं’ पूर्वोक्त-  
शब्दार्थं, ओष इति विभक्तिलोपाद्‘दोषत’ ओषमाश्रित्य, उद्देशादिवक्ष्यमाणभेदाविवक्षणात्सामान्यत इत्यर्थः । तथा ‘विभा-  
गतो’ विभागमाश्रित्य, उद्देशादिवक्ष्यमाणविशेषविवक्षणाद्विशेषत इत्यर्थः । चः समुच्चये । स्यादिति शेषः । तत्राद्यभेदं  
विवृण्वन्नाह—‘ओहे’त्यादि । ‘ओषे’ ओषविषयं औद्देशिकं तत्स्यात्, यत्किमित्याह—यत् ‘स्वके’ स्वकीये—स्वार्थप्रव-  
र्त्तित इत्यर्थः । यदित्यस्य योगो दर्शित एव । कस्मिन्नित्याह—‘आरम्भे’ अग्निज्वालनस्थाल्यादि[ आ ]\*शेषणादिके पाकादि-  
व्यापारे, किमित्याह—भिक्षामक्तादिविभागान् ‘+कत्यपि’ क्रियतीरपि द्वित्रादिकान्, न पुनः समग्राहारमपीत्यपिशब्दार्थः,  
‘कल्पते’ विवक्षयति, काचिद्वात्रीति गम्यते । किमर्थमित्याह—यः काश्चिदनिद्धीरितस्वरूपः पाषण्डिकादिरेष्यति—आगमि-  
ष्यति, तस्य पाषण्डिकादे‘दीनार्थ’ वितरणानिमित्तं । इदमुक्तं भवति—यत्काचिदगारिणी क्वचिहुर्भिक्षादावनुभूतबुभुक्षादिदुःखा-  
समासादितसुभिक्षभोजनमात्रधना “नादत्तं मुज्यते न चाकृतं फलती”ति भावितमतिः स्वार्थनिष्पाद्यमानाहारमभ्याद्यः  
काश्चिदेष्यति तस्य दानार्थं कतिचिद्भिक्षाः सङ्कल्पयति तदोषौद्देशिकं, एतच्च पिण्डेषणोपयुक्तेन साधुना “दिन्नाओ ताओ  
पंच-चि+रेहाओ करेइ देह व गणंती । देह इओ माय ! इओ, अचणेह य एत्तिया भिक्खा ॥ १ ॥” इत्यादि-  
दादृचेष्टाभिरवगम्य निस्सन्देहेऽनापृच्छय सन्देहे त्वापृच्छय परिहर्त्तव्यं । विवक्षितभिक्षासु ×च दत्तासु अदत्तासु च अन्यो-  
द्धृतासु वा शेषं शुद्धत्वाद् गृहीतव्यमिति गार्थार्थः ॥ २८ ॥ उक्तमोषौद्देशिकं, साम्प्रतं विभागौद्देशिकं व्याचिख्यासुराह—  
\* स्थाल्यारो° क. प. । + कियत्यपि प. क. ह । + पंच ति° ह. । × °चादत्तासु दत्तासु च अन्यत्रो° अः, च दत्तासु अन्यत्रो° प. क. ह ।



दी०-औद्देशिकमोघतो विभागतश्च द्विधा, तत्र 'ओघः' सामान्यतो दातृविकल्पस्तस्मिन्, किमित्याह-यत् 'स्वके' स्वार्थे आरंभे पाकादौ शिक्षाभक्तादिविभागान् 'कल्पयि' कियती अपि कल्पते, काचिद्वात्रीति गम्यं, किमर्थं ? इत्याह-यः कश्चिदनिर्दिष्टः पापंडिकादिरेष्यति तस्य दानार्थमिति स्पष्टं । कल्पितमिक्षादानादूर्द्ध्वं च शुद्धमिति ॥ २८ ॥

उक्तमोघौद्देशिकं, अथ द्वितीयं भेदैराह--

वारसविहं विभागे, चउहुर्दिट्टं कंडं च कर्ममं च । उद्देशसमुद्देशौ-देशसमाप्तसंभेएणं ॥ २९ ॥

व्याख्या--'द्वादशविधं' द्वादशप्रकारं 'विभागे' विभागविषयं औद्देशिकं भवतीति गम्यते । द्वादशविधत्वमेव दर्शयति- 'चउहुर्दिट्ट'मित्यादि, चतुर्भिः प्रकारैश्चतुर्द्धा भवति, किं तदित्याह-उद्दिष्टं वक्ष्यमाणलक्षणं, तथा कृतं च वक्ष्यमाणलक्षणं, चः शब्दश्चतुर्द्धत्यस्यानुकर्षणार्थः, तथा कर्म च वक्ष्यमाणस्वरूपं, चः प्राग्वत् । केन प्रकारेणेत्याह-'उद्देशे'त्यादि, उद्देशं च वक्ष्यमाणलक्षणं, एवं समुद्देशं चादेशं च समादेशं च उद्देशसमुद्देशादेशसमादेशानि, एतल्लक्षणो यो 'भेदः' प्रकारस्तेन । अयमर्थः- विभागौद्देशिकमुद्दिष्ट-कृत-कर्मलक्षणमूलभेदात्रिविधं, तदपि प्रत्येकं उद्देश-समुद्देशा-देश-समादेशलक्षणोत्तरभेदाच्चतुर्विधमित्ये- वमिदं द्वादशविधं भवतीति गाथार्थः ॥ २९ ॥ साम्प्रतं प्रागुद्दिष्टोद्देशादिभेदचतुष्टयं व्याचिख्यासुराह--

दी०-द्वादशविधं तद्विभागे विचार्यमाणे, कथं ? इत्याह-'चतुर्द्धा' उद्दिष्टं १ कृतं २ कर्म ३ चेति त्रिभेदमपि चतु-  
 प्रकारं, कैः ? उद्देश-समुद्देश-आदेश-समादेशभेदैर्द्वादशविधमिति गाथार्थः ॥ २९ ॥ उद्देशादीनां व्याख्यानमाह--

X "शादीनाह" म. । \* "व्याख्यामाह" क. प. ।

जावंतियमुद्देशं, पासंडीणं भवे समुद्देशं । समणाणं आएसं, निगंथाणं समाएसं ॥ ३० ॥

व्याख्या--‘जावंतिय’ चि सूचकत्वा + द्यावदर्थिकानां-समस्तार्थिनां निमित्तं कल्पितं, अशनादीति सर्वत्र गम्यं, भवेत्, किमित्याह-‘उद्देशं’ औद्देशिकाख्यं । तथा ‘पाषण्डं’ व्रतं, तद्विद्यते येषां ते पाषण्डिनश्चरकाऽदयस्तेषां निमित्तं विवक्षितमशनादि ‘भवेत्’ स्यादिति क्रियापदं सर्वत्र सम्बन्धनीयं । किमित्याह-‘समुद्देशं’ समुद्देशसञ्ज्ञं । तथा ‘श्रमणानां’ निर्ग्रन्थ-शाक्य-तापस-गैरिका-जीविकलक्षणानां निमित्तं कल्पितं भवेत्, किमित्याह-‘आदेशं’ आदेशिकनामकं । तथा ‘निर्ग्रन्थानां’ साधूनां कृते कल्पितं भवेत्, किमित्याह-‘समादेशं’ समादेशाभिधमिति गार्थार्थः ॥ ३० ॥

अथ प्रागुद्दिष्टमेवोद्दिष्ट-कृत-कर्मलक्षणं विभागौद्देशिकमूलभेदत्रयं विवृण्वन्नाह-

दी०-‘यावन्तिकानीनां’ समस्तार्थिनां कृते कल्पितं, भक्तादीति गम्यं, किं स्यात् ? उद्देशाख्यं, पाषण्डिनां-चरकादीनां कृते तदेव समुद्देशाख्यं भवेत्, श्रमणानां-निर्ग्रन्थ-शाक्य-तापस-गैरिका-जीविकानां कृते तच्चादेशाख्यं, निर्ग्रन्थानां-साधूनां कृते तत्समादेशाख्यमिति गार्थार्थः ॥ ३० ॥ अथ प्रागुक्तोद्दिष्टादित्रयं विवृण्वन्नाह-

संखडिभुत्तुवरियं, चउणहमुद्दिसइ जं तसुद्दिट्टं । वंजणमीसाइकडं, तमग्गित्तवियाइ पुण कम्मं ॥३१॥

व्याख्या--‘संखडि’ चि विभक्तिलोपात्सङ्खड्यां-विवाहादिप्रकरणे ‘भुत्तुच्चवरियं’ति ‘भुक्ते’ स्वजनादिभिरभ्यवहते

+ त्वात्सूत्रं सद्या० प. । ९ “धादिभिक्षाचराः” इति पर्यायः भ. ।

‘उद्धरितं’ शेषीभूतं भुक्तोद्धरितं यदोदन-तीमन-दधि-मोदकचूर्ण्यादिभक्तं, तत्तदवस्थमेव ‘चतुर्णां’ चतुस्सहस्रानां यावदर्थिक-पाण्डिक-श्रमण-निर्ग्रन्थानामिति प्रक्रमाद्गम्यते, निमित्तमिति शेषः । ‘उद्दिशति’ मनसा संक्लृष्यति वाचा वा निर्दिशति, गृहस्थ इति गम्यते, यथा-समस्तभिक्षुकेभ्य इदं दातव्यं पाण्डिकेभ्यो वेत्यादि, यदित्यस्य योगो दर्शित एव । ‘तं’ ति तद्भक्तं, किमित्याह-‘उद्दिष्टं’ उद्दिष्टौद्देशिकं, ज्ञातव्यमिति शेषः । एतस्य चाकल्पयता यावदर्थिकाद्यर्थं व्यवस्थापिते तत्र जीवघातसम्भवात् । न चेदमित्थं स्थापनान्तर्भावि, ‘सट्टाण-परट्टाणे’त्यादिभिन्नलक्षणत्वात्तस्या + इति । तथा ‘वंज-णमीसाहकडे तं’ति ‘व्यञ्जनेन’ दृष्यादिना ‘मिश्रं’ संयोजितं-व्यञ्जनमिश्रं, तदादिर्यस्य तद्व्यञ्जनमिश्रादि, यदो-दनादीति प्रक्रमः । आदिशब्दश्च स्वगतानेकभेदब्रूचनार्थो व्याख्येयः । ‘कृतं’ कृतौद्देशिकं तदोदनादि विज्ञेयमिति प्रक्रमः । इदमुक्तं भवति-‘संखण्डिसुत्तुव्वरियं, चउण्हसुद्धिसइ जं’ इत्यत्राप्यनुवर्त्तते, ततश्च प्रकरणोपभुक्तावशिष्ट-यदोदनमोदकचूर्ण्यादिकं ‘व्यञ्जनेन’ दधि-तीमन-विकट-फाणित-निर्भञ्जनघृतादिना तदर्थमेव मिश्रं कृत्वा चतुर्णां याव-दर्थिज्ञादीनां अन्यतरनिमित्तमुद्दिशति गृही, यदुत-इदममुकेभ्यो दातव्यमिति, तद्व्यं औद्देशिकमपि सत् करम्बकादिलक्षण-पर्यायान्तरेण कृतत्वात् ‘कृतं’ कृतौद्देशिकमित्यवसेयमिति । तथा ‘अग्गितवियाइ पुण कम्मं’ति ‘अग्नि’र्वह्नि-स्तत्र तेन वा ‘तापितं’ उष्णीकृतं अग्नितापितं, गुडादीति गम्यते, तदादिर्यस्य तदग्नितापितादि, आदिशब्दात्सचित्त-जल-लवण-राजिकासम्मिश्रदृष्यादिपरिग्रहः । पुनः शब्दो भिन्नवाक्योपदर्शनार्थः । ‘कर्म’ कर्मौद्देशिकं ज्ञातव्यं ।

+ परम्परादिस्थापनाया भिन्नस्वरूपत्वादिति भावः ( पर्यायः अ. ) ।

पिण्ड-  
विशुद्धिं  
टीकाद्वयो-  
येतम्  
॥ ३३ ॥

अयमत्र भावार्थः—इहापि 'संखडिसुत्तुव्वरियं' इत्याद्यनुवर्तते, ततश्च विवाहादिप्रकरणोपयुक्तावशेषं यन्मोदकचूर्णं—सुद्ध-  
गौदनादिकं तदर्थमेव अग्नितापितगुडादिना पुनर्मोदकादि विधाय सुद्धगौदीन्वा पुनः संस्कृत्य सचिचजल-लवणप्रभृति-  
द्रव्यसम्मिश्रद्रव्यादिना करम्बकं वा कृत्वा चतुर्णां यावदर्थिकादीनामन्यतरनिमित्तमुद्दिशति, तदौद्देशिकमपि [ एतदेव  
ग्रन्थोक्तेन ] "आहाए विचयेणं, जईण कम्ममसणाइकरणं जं । छक्कायारंभेणं, तं आहाकम्ममाहंसु ॥ ५ ॥"

इत्येतच्छ्रवणेन देशतः कर्मणा युक्तत्वात् 'कर्म' कर्मौद्देशिकं ज्ञातव्यमिति गार्थार्थः ॥ ३१ ॥  
व्याख्यात औद्देशिकाख्यो द्वितीयः पिण्डोद्गमदोषः, अथ तमेव तृतीयं पूतिकर्मख्यं व्यचिख्यासुराह—  
दी०—'सहृब्द्यां' विवाहादौ युक्तादुद्गरितं-शेषीभूतं भक्तादि चतुर्णां पूर्वगाथोक्तानां कृते, यदिति सर्वत्र,  
'उद्दिशति' मनोवाग्भ्यां निर्दिशति तदुद्दिष्टाख्यं, तदेवोद्गरितं 'व्यञ्जनमिश्रादि' दध्यादिना मिश्रितं कुरादि कृताख्यमुच्यते,  
अग्निना तापितं गुडादिस्तदादिर्यस्य, आदिशब्दात्सचिचजललवणादीनां सद्ब्रह्मस्तदेवेत्थम्भूतं पुनः कर्माख्यं भवेदिति

गार्थार्थः ॥ ३१ ॥ उक्तं त्रयोदशधा औद्देशिकं, अथ तृतीयं पूतिकर्मख्यमाह—  
उद्गमकोटिकणेण वि, असुद्धलवेणं व जुत्तमसणाई । सुद्धं पि होइ पूई, तं सुद्धमं वायरं ति दुहा ॥ ३२ ॥  
व्याख्या—उद्गमकोटिरविशुद्धकोटिर्मूलगुणा इत्येकार्थाः, सा चाधाकर्मलक्षणा, यद्वक्ष्यति [अत्रैव]—"इय कम्मं ?  
उद्देसिय-तिय २ मीस ३ ऽज्झोयंरंतिमडुगं च । आहारपूइ ? वायर-पाहुडि ? अविसोहिकोडित्ति  
॥ ५३ ॥" तस्या उद्गमकोटरुपचारादुद्गमकोटिदोषयुक्ताहारस्य 'कणो'ऽवयव उद्गमकोटिकणस्तेनापि, न केवलं बहुने-

त्यपि शब्दार्थः । 'असुहृल्लवेणं व 'त्ति 'वा' शब्दस्येवार्थत्वाद्दशुचिलवेनेव-विष्ठाऽवयवेन यथा 'युक्तं' मिलितं, किं तदित्याह- 'अशनादि' भोजनपानादि । किंविशिष्टमपि सदित्याह- 'शुद्धमपि' पूर्वविस्थायां सर्वथा दोषरहितमपि सत्, आस्तामशुद्धमित्यपि शब्दार्थः । 'भवति' जायते । किमित्याह- 'पूति' अपवित्रं-सदोषमित्यर्थः । एवं सामान्येन पूतिदोषम-भिधायथ भेदतस्तमाह- 'तं सुहृम'मित्यादि, 'तं' इति तत्पूति 'सूक्ष्मं' अल्पदोषत्वाच्छ्लक्ष्णं तथा 'बादरं' बहुदोषत्वेन स्थूलं । इत्यमुना प्रकारेण 'द्विधा' द्विप्रकारं भवतीति प्रक्रम इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ अथ तद्द्विविधमपि व्याख्यातुमाह-

दी०- 'उद्गमकोटि'रुद्गमदोषदशकविभागोऽत्रैवोद्गमदोषान्ते वक्ष्यमाणस्तदोषयुक्ताहारस्य 'कणो'ऽवयवस्तेनापि, आस्तां बहुना, अशुचिलवेनेव, युक्तमशनादि, शुद्धमपि भवति 'पूति' अपवित्रं, एवं सामान्येनोक्त्वा भेदस्तदाह-तत्पूति सूक्ष्मं वादरं च द्विधेति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ अथ द्वैविध्यमाह-

सुहृमं कस्मियगंधऽग्नि-धूमबर्षकेहिं तं पुण न दुष्टं । दुविहं बायस्सुवगरण-भत्तपाणे तहिं पढमं ॥३३॥

व्याख्या- 'सूक्ष्मं' वादरेतरं पूति स्यादिति शेषः, कैरित्याह-कार्मिकगन्धाग्निधूमबाष्पैः । 'कार्मिकं' आधाकार्मिकं 'गन्धश्च' भक्तादिमत्का घ्राणिः, 'अग्निश्च' वह्निः 'धूम'श्चाग्नीन्धनसम्पर्कजो वस्तुविशेषो 'बाष्प'श्चोष्णभक्तादेरूष्मा गन्धाग्निधूमबाष्पाः, कार्मिकस्य गन्धाग्निधूमबाष्पाः कार्मिकगन्धाग्निधूमबाष्पास्तैः । अयमर्थः-शुद्धमप्यशनादिकमाधाकार्मिकभक्तादिगन्धश्चाष्पा-ग्निधूमैः सह मिलितं सूक्ष्मपूति स्यादिति । आह-यद्येवं तहिं नास्त्येव किञ्चिदपूति, एकत्रोत्पन्नैरपि तैर्विशीर्येतश्चेत्तत्र गमनतः सर्वलोकभक्तादिव्याप्तैरित्याशङ्क्याह- 'तं पुण न दुष्टं'ति 'तत्' सूक्ष्मं पूति 'पुन'विशेषणे 'न' नैव 'दुष्टं' दोषकारि, किन्तु

ग्ररूपणामात्रमेवैतन्न पुनः परिहार्यं, आचीर्णत्वादशक्यपरिहारत्वाच्चेति भावना । अथ बादरपूतिविवरणायाह—‘दुविह’ मित्यादि, ‘द्विविधं’ द्विप्रकारं ‘बादरं’ स्थूलं पूति स्यादिति प्रक्रमः । द्विविधमेवाह—‘उवगरणभक्तपाणे’त्ति, गन्ध्यमानस्य दीयमानस्य वा अज्ञानादेर्यदुपकुरुते तदुपकरणं तुल्यादि, तच्च भक्तपाने च उपकरणभक्तपानं, ‘तस्मिन्’तद्विषयं-उपकरणविषयं भक्तपानविषयं चेत्यर्थः । तत्राद्यं भेदं व्याचिख्यासुः ग्रस्तावनामाह—‘तर्हि पढमं’ ति ‘तत्र’ तयोर्मध्ये ‘प्रथमं’ आद्यमुपकरणपूत्यभिधानं एवं स्यादिति शेषः, इति गार्थार्थः ॥ ३३ ॥ यथा स्यात्तथैव दर्शयति—

दी०—सूक्ष्माख्यं पूति स्यात्, कैः ? कार्मिकगन्धाग्निधूमबाष्पैः प्रतीतैः, तत्पुनर्न दुष्टं, अशक्यपरिहारत्वादाचीर्णं । बादराख्यमाह—द्विविधं बादरं पूति—उपकरणविषयं भक्तपानविषयं च, तयोः प्रथममाहेति गार्थार्थः ॥ ३३ ॥

कार्मिमयचुल्लीभायण-डोवठियं पूइ कप्पइ पुढो तं । बीयं कार्मिमयवगधार-हिंगुलोणाइ जत्थ लुहे ॥३४॥

व्याख्या—‘कार्मिका’ आधाकार्मिकाः ‘चुल्ली’ वाधिश्रयणी ‘भाजनं च’ स्थाल्यादि ‘डोवश्च’ चट्टकश्चुल्लिभाजनडोवाः, कार्मिकाश्च ते चुल्लिभाजनडोवाश्च कार्मिकचुल्लिभाजनडोवाः । उपलक्षणं चैते कडुच्छुकोदूखलिकादीनां, तेषु ‘स्थितं’ गतं, शुद्धमप्यज्ञादीति गम्यते । किमित्याह—‘पूति’ पूर्वोक्तशब्दार्थं स्यादिति शेषः । ततश्च साधूनां ग्रहीतुं तन्न कल्पते । किं सर्वथा ? नेत्याह—‘कप्पइ पुढो तं’ति ‘कल्पते’ग्रहीतुं युज्यते ‘पृथग्’ विभिन्नं—स्वयोगेनान्यत्र सङ्क्रान्तमित्यर्थः, तदुपकरण-पूति । अथ भक्तपानपूतिस्वरूपमाह—‘बीयं’मित्यादि, द्वितीयं—भक्तपानविषयं पूति तत्स्यादिति प्रक्रमः । यत्र किमित्याह—‘कार्मिमये’त्यादि, कार्मिका—ण्याधाकार्मिकाणि वाधारहिङ्गुलवणादीनि, अत्र समासः सुकर एवेति न दर्शितः । यत्र शुद्धेऽ-

प्यशनादौ 'छुहे'त्ति 'क्षिपति' संस्कारार्थं मध्ये प्रवेशयति, तत्र वाधारो हिङ्गवादिदहनसमुत्थो धूमः, हिङ्गुलवणे प्रतीते, नवरं-आधाकर्मिकत्वं हिङ्गुद्रव्यस्य स्वार्थनिष्पन्नमुद्गादिभक्तसंस्कारार्थं सच्चित्तोदकेन साधुनिमित्तं द्रवीकृतस्य, लवणस्य तु तदर्थमेव चूर्णितपरिणामितस्येत्यादिगमेन भावनीयं । आदिशब्दाञ्जीरकादिपरिग्रह, इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥ तथा-  
दी०-कार्मिकार्थं चुल्लीभाजने प्रतीते, डोवश्चट्टुकः, उपलक्षणत्वादन्यदपि कार्मिकोपकरणं, तेषु स्थितं-तद्रतं शुद्धमपि भक्तादि उपकरणपूत्याख्यं वर्ज्यं, किं सर्वथा ? नेत्याह-कल्पते तत् 'पृथग्'विभिन्नं-स्वयोगेनान्यत्र सङ्गामितमित्यर्थः । द्वितीय-माह-'द्वितीयं' भक्तापानाख्यं पूति तत्स्यात्-यत्र कार्मिकवधारहिङ्गुलवणादीनि क्षिपेद्वाता संस्कारायेति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

एतदेवाह--

कस्मियवेसण धूमिय-महव कयं कम्मखरडिए भाणे । आहारपूइ तं कम्म-लिच्चहत्थाइ छिक्कं च ॥ ३५ ॥  
व्याख्या-'कार्मिकवेसनेन' तप्तघृतादिक्षिप्तस्तुम्बुरुणा, उपलक्षणत्वाद्राजिकादिना च 'धूमितं' स्फोटितं सन्धूमितमिति यावत्, कार्मिकवेसनधूमितं यत्पेयादीति गम्यते । अथवेति प्रकारान्तरघोतनार्थः । 'कृतं' स्वार्थं निष्पादितं स्थापितं वा यदशनादीति गम्यते । केत्याह-'कम्मखरडिए भाणे'त्ति 'कर्मखरण्डिते' आधाकर्मलिसे 'भाणे'त्ति भाजने स्थाल्यादिके । तत्किमित्याह-'आहारपूति'भक्तपानपूति स्यादिति शेषः, तत्पूर्वोक्तमशनादिकं । न केवलमेतदेव, किन्तु 'कर्मलिप्तहस्ता-दिस्पृष्टं च' आधाकर्मखरण्डितकर-करोटिकादिछुप्तं च । 'च' शब्द उक्तसमुच्चयार्थ, इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

अथ दातृगृहभाजनविषयपूतिविभागं साधुपात्रकल्प्याकल्प्यविधिं चाभिधित्सुराह--

पिण्ड-  
विशुद्धि-  
टीकाद्रयो-  
पेतम्  
॥ ३५ ॥

दी०---‘कार्मिकवेशनेन’ तस्यैतदराजिकादिशेषादिना धूमितं, अथवा कार्मिकखरण्डिते भाजने ‘कृतं’ निष्पादितं स्थापितं वा तद्भक्तादि आहारपूतिरुच्यते, न केवलं तत्, कार्मिकलिप्तहस्तादिस्पृष्टं चेति भाग्यार्थः ॥ ३५ ॥ अत्र विशेषमाह---  
पढमे दिणम्नि कर्मसं, तिपिण उ पूइकयकर्मपायघरं । पूइ तिलेवं पिठरं, कप्पइ पायं कयतिकप्पं॥३६॥

व्याख्याः-‘प्रथमे’ आद्ये-यत्राधाकर्मणः पाको विहित इत्यर्थः । ‘दिने’ दिवसे ‘कर्म’ आधाकर्मिकं । ‘तिपिण उ’ति ‘त्रीणि’ त्रिसह्यानि दिनानि पुनः ‘पूति’ पूत्यभिधानं स्यादिति शेषः । किं तदित्याह-‘कयकर्मपायघरं’ति ‘कृतो’ विहितः ‘कर्मण’ आधाकर्महारस्य ‘पाको’ रन्धनं यत्र तत्कृतकर्मपाकं, तच्च तद्गृहं चेति कृतकर्मपाकगृहं । तथा ‘पूति’ अपवित्रं स्यादिति वर्तते । किं तदित्याह-‘तिलेवं पिठरं’ति ‘त्रय’स्त्रिसह्या ‘लेपा’ भक्तादिदिग्घतारूपा यस्य तत्रिलेपं ‘पिठरं’ स्थालिका । अत्र वृद्धस्वरुद्रायः-जम्मि य भायणे कम्मियं रद्धं तम्मि अकयतिकप्पे जइ गिही अप्पणो अडाए रंधइ तो तं पूइ, पुणो वीयवाराए जं रंधइ तं पि पूइ, पुणो वि तइयवाराए जं रंधइ तं पि पूइ, चउत्थवाराए सुद्धं ति । अह अहाभावेण गिही निरयवे वारतियं कप्पिए रंधइ तो पढमेवेलाए वि सुद्धं चैव ति । इह चाधाकर्मपाकानन्तरं स्वार्थं वारत्रयं भक्तरन्धनेन यत्स्थालिकायाः खरण्डनत्रयं सम्पद्यते तेल्लेपत्रयमभिप्रेतमतस्तदन्विता स्थालीका तदुपसंस्कृतं भक्तं च पूति भवतीति भाग्यार्थः । अतः कार्मिकपाकगृहे दिनचतुष्कं न प्रवेष्टव्यं, परं “Xअतरंताई जोगगा-सईए+गिणहंति

X अनिर्वाहादौ, आदिशब्दाद्वालालानादिग्रहः । + शुद्धाभावे ।

उद्गम-  
पोडशके  
दावृगृह-  
पात्रविषय-  
पूति-  
विभागम् ।

॥ ३५ ॥



तत्प्र पचिसेउं । \*अन्नमहाणसुचक्खड, जं वा सन्नी सयं सुंजे ॥१॥" तथा 'कल्पते' परिभोक्तुं युज्यते, साधूना-  
मिति गम्यते 'पात्रं' स्वभाजनं, पूतिभक्तादिलिप्तमिति द्रष्टव्यं । किंविशिष्टं सदित्याह-'कृता' विहिता अङ्गुलिप्रोञ्छनकरीषो-  
द्वर्तनादूर्ध्वमिति द्रष्टव्यं, 'त्रय'स्त्रिसङ्ख्याः 'कल्पा' जलक्षालनरूपा यस्य तत्कृतत्रिकल्पमिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

व्याख्यातः पूत्याख्यस्तृतीयः पिण्डोद्गमदोषः, अथ तमेव मिश्रजाताख्यं चतुर्थं व्याख्यातुमाह-  
दी०-प्रथमे दिने 'कर्म' कार्मिकं, त्रीणि दिनानि तु पूति स्यात्, किं तदित्याह-कृतकार्मिकपाकं गुहं, तत्र दिन-  
चतुष्टयं न विहर्त्तव्यं, तथा त्रिलेपं पिठं स्थाल्यादि, इह कार्मिकपाकानन्तरं स्वार्थं वारत्रयं भक्तरन्धनेन अकृतत्रिकल्पस्य  
स्थाल्यादेः खण्डनत्रयं त्रिलेपमाहुः, चतुर्थलेपे तु न पूतिरिति भावः । कृतत्रिकल्पे प्रथममेव युज्यति । तथा कल्पते-  
यतीनां 'पात्रं' स्वभाजनं, पूतिभक्तादिलिप्तमिति गम्यं, कृतत्रिकल्पं-अङ्गुलीप्रोञ्छनकरीषोद्गर्तनादूर्ध्वं कृताख्यः कल्पा-

जलक्षालनरूपा यत्र तत्तथेति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ उक्तं पूतिकर्म, अथ चतुर्थं मिश्रजाताख्यमाह-  
जं पढमं जावंतिय-पासंडिजईण अप्पणो य कए । आरभइ तं तिमीसं ति, मीसजायं भवे तिविहं ॥३७॥

व्याख्या-'जं'ति यदोदनादि 'प्रथमं' आदित एव अग्निसन्धुक्षणा-धिश्रयणदानादेः प्रभृतीत्यर्थः, आरभेत X  
तन्मिश्रजातं भवेदिति सम्बन्धः । किमर्थमित्याह-'जावंतिये'त्यादि 'यावदर्थिकाश्च' समस्तभिक्षुकाः 'पाषण्डिनश्च §'  
( पर्यायाः अ. ) ।

\* अन्यमहानसोपस्कृतं, तदभावे तु यत् [ 'सन्नी' ] श्रावकः स्वयं सुक्ले तन्महानसोपस्कृतमपि गृह्णन्ति ( पर्यायाः अ. ) ।  
+ ०णाद्रहणदा० प. क. ह. अ. । X आरभते प. क. ह. अ. । § पाषण्डिकाश्च प. क. ह. ।

पिण्ड-  
विशुद्धिं  
टीकाद्वयो-  
येतम्  
॥ ३६ ॥

सामान्यतो व्रतधारिणो 'यतयश्च' साधवो यावदार्थिकपाषण्डिकयतयस्तेषां, न केवलमेतेषामेव, किन्त्वात्मनश्च-स्वस्य, 'व' उक्तसमुच्चये 'कृते'ऽर्थ-निमित्तमित्यर्थः । 'आरमते' कर्तुमुपक्रमते, गृहस्थ इति गम्यते । 'तत्' प्रागुक्तमोदनादिकं निष्पन्नं सत् 'लिमीसं ति' ति 'त्रिभिः' पूर्वोक्तैर्यवदर्थिकादिभिः, श्रमणानां पाषण्डिषु प्रवेशात्, मिश्रं-साधारणं त्रिमिश्रमिति कृत्वा मिश्रजातं पूर्वोक्तशब्दार्थं 'भवेत्' स्यात् 'त्रिविधं' त्रिप्रकारं-यावदर्थिकमिश्रजातं १, पाषण्डिमिश्रजातं २, साधुमिश्रजातं ३ चेत्यर्थः । स्वगृहमिश्रजातमिति क्वापि तृतीयभेदस्य संज्ञान्तरं दृश्यते, तत्राप्ययमेवार्थ इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

अभिहितो मिश्रजाताख्यश्चतुर्थः पिण्डोद्गमदोषः, साम्प्रतं तस्यैव स्थापनाभिधानस्य पञ्चमस्यावसरः, स्थापना च आधार-द्रव्य-कालोपाधिभेदात्रिधा सम्भवति, पुनरेकैका स्वस्थान-परम्परा-नन्तर-चिरे-त्वरभेदाद्विधेयतस्तान्सम्प्रति-भेदान्दर्शयन्नाह—

दी०-यद्भक्तादि 'प्रथमं' आदित एव 'यावन्तिकाः' समस्तभिक्षार्थिनः १ 'पाषण्डिनः' समान्येन व्रतधारिणो २ 'यतयः' साधवः ३, तेषामात्मनश्च कृत 'आरमते' पाकायोपक्रमते, तत्रिभिरेभिर्मिश्रमिति कृत्वा मिश्रजातं त्रिविधं भवेदिति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ उक्तं मिश्रजातं, अथ पञ्चमं स्थापनाख्यमाह—

सट्टाण परट्टाण-परंपराणंतरं चिरित्तरियं । दुविह तिविहा वि ठवणा-सणाइ जं ठवइ साहुकए ॥३८॥  
व्याख्या-स्वस्थानं च त्रुल्लयुखादि, परस्थानं च X सुस्थितछब्बकादि, स्वस्थान-परस्थानं, तस्मिन्, यदशनादिकर्मता-

X "च बोहियलं छाबडड" इति लिपितं अ. पुस्तके, तदेव वृत्तितयोल्लिखितं प. ह. प्रतिकृतयोः ।

उद्गमधी-  
डशके पूति-  
लिप्तस्याकृ-  
तत्रिकल्प-  
स्य, पात्र-  
स्याप्य-  
कल्पयता ।

॥ ३६ ॥

पत्रं साधुकृते गृहस्थः स्थापयति तत्स्थापनेति योगः । अनेन चाधारोपाधिकं स्वस्थानस्थापना परस्थानस्थापना चेति स्थापनायाः सिद्धान्तप्रसिद्धं भेदद्वयं दर्शितं, यदाह—“सद्भाषणपरद्वारेण, दुविहं ठविहं तु होह नायव्वं ।” । किञ्चिद्विष्टं तदशुनादि स्थापयति ? इत्याह—‘परंपराणंतरं’ति अपरापरद्वयादिपर्यायसन्तानः परम्परः, स यस्य क्षीरादेर्विद्यते तत्परम्परसम्बन्धात्परम्परं । तथा न विद्यते ‘अन्तरं’ पर्यायान्तरलक्षणो विशेषो यस्य तदनन्तरं घृतादि । ततश्च परम्परं चानन्तरं च परम्परानन्तरं—तत्परम्पररूपमनन्तररूपं चेत्यर्थः । अनेन च द्रव्योपाधिकं परम्परस्थापना अनन्तरस्थापना चेति ग्रन्थान्तराभिहितं स्थापनाभेदद्वयमुक्तं । तथा ‘चिरित्तरिचं’ति ‘चिरं च’ प्रभूतकालं ‘इत्वरं च’ स्वल्पकालं चिरित्तरं तत् । अनेन च कालोपाधिकं चिरस्थापना इत्वरस्थापना चेति सिद्धान्तोक्तं स्थापनाया द्वैविध्यं प्रदर्शितं । इत्येवं सा ‘द्विधा’ स्वस्थानादिभेदेन द्विप्रकारा । ‘त्रिधाऽपि’ प्रकारत्रयेणापि, न केवलमेकधा द्विधा वेत्यपि शब्दार्थः । अयमत्र भावार्थः—प्रत्येकं सकलस्थापितभेदसङ्घात् स्वस्थानस्थापना परस्थानस्थापना चेत्येवं, परम्परस्थापना अनन्तरस्थापना चेत्येवं वा चिरस्थापना इत्वरस्थापना चेत्येवं वा द्विविधा स्थापना भवतीति । स्थापनं स्थापना—न्यसनमित्यर्थः, भवतीति शेषः, अशनादि—भोजनपानादि यदनिर्दिष्टस्वरूपं किञ्चित्स्थापयति—न्यस्यति—धारयतीत्यर्थः, गृहस्थ इति गम्यते, साधुकृते—यतिनिमित्तमिति गार्थार्थः ॥ ३८ ॥ अथ स्वस्थानादिस्वरूपं विभणिशु्राह—

दी०—स्वस्थानं भक्तपाकस्य चुल्लयादि, परस्थानं छुब्बकादि, तस्मिन् अशनादि यत्स्थापयति साध्वर्थं सा स्थापना, तच्च कथम्भूतं ? परम्परं क्षीरादि अनन्तरं घृतादि, तच्च तदिति समासः । तथा चिरित्तरं—बहुकालालपकालभेदात्, एवं

स्थापना स्वस्थानादिभेदेन त्रिधाऽपि प्रत्येकं द्विधा भवतीति गार्थार्थः ॥ ३८ ॥ अथ स्वस्थानादिस्वरूपमाह—  
 चुल्लुवस्वाइ सट्टाणं, खीराइ परंपरं घयाइयरं । दवाट्टिई जाव चिरं, अचिरं तिघरंतरं कण्पं ॥३९॥  
 व्याख्या—‘चुल्लि’श्चाधिश्रयणी ‘उखा च’ स्थाली चुल्लयुखे, ते आदी यस्याऽवचुल्लकादेराधारभूतवस्तुनः तच्चु-  
 ल्लयुखादि, किमित्याह—‘स्वस्थानं’ निजाश्रयो, भण्यत इति शेषः । अयमत्र भावार्थः—भक्तपाकस्य स्वस्थानं द्विधा  
 भवति—स्थानस्वस्थानं भाजनस्वस्थानं च । तत्र चुल्लयादिकं तिष्ठत्यस्मिन् स्थानमाधारस्तद्रूपं स्वस्थानं स्थान-  
 स्वस्थानमुच्यते । स्थाल्यादिकं तु भाजनस्वस्थानमिति । सुस्थितादिकं छव्वकवारकादिकं च परस्थानमुच्यत इति स्वयमेव  
 द्रष्टव्यं, सुज्ञानत्वाच्च गाथायां नोक्तमिति । स्थापनायोजना तु प्राग्दर्शितैवेति । तथा ‘खीराइपरंपर’त्ति क्षीरादि-  
 दूग्धेधुरसप्रभृतिद्रव्यं, किमित्याह—दधि-अक्षण-कक्कवादिपर्यायपरम्पराऽन्वितत्वात्परम्परं भण्यत इति शेषः । अयमर्थः—  
 क्षीरादिनिकारद्रव्येषु परम्परास्थापनाऽपि स्यात् । कथमिति चेदुच्यते—किल काचिदगारिणी केनापि साधुना क्षीरं याचिता  
 सती शणान्तरे दास्यामित्यभ्युपगम्य ममथान्तरे तत्तम्प्राप्तौ अन्यत्र लब्धदुग्धं साधुं प्रत्युवाच, यदुत-गृह्णाणेदं, तेन  
 चोक्तं-लब्धं मयाऽन्यत्र प्रयोजनोत्पत्तौ तु सुभदीयमपि गृहीष्ये । एवं चाकर्ण्य सा ऋणभीतिव अद्य तावत्साधुर्न  
 गृह्णाति ( ग्रन्थाग्रं १००० ), दातव्यं चेदं मयाऽस्मादन्यथा साधुऋणं दूर्मोक्षमिह परत्र च भविष्यति, न चेदमित्यभ्येव  
 षर्तुं शक्यते, विनश्चरत्वात्ततो दधि कृत्वेदमागामिनि दिने दास्यामीति विचिन्त्य स्थापनाञ्चकार । ततो द्वितीयदिने दधि

× य. ह. अ. पुस्तकेष्वेवंविधः पाठः, क. प. पुस्तकयोस्तु “ यस्य चुल्लयुखान्नेरा. ” इति पाठः ।

दीयमानं साधुना नेटं, ततो नवनीतदानबुद्ध्या पुनः स्थापनामकार्षीः, एवं मन्थु<sup>x</sup>दानबुद्ध्या, एवं तक्रदानबुद्ध्या इत्येव परम्परस्थापनाऽपि क्षीरे स्यादेवमिक्षुरसादिष्वपि यथासम्भवं वाच्यमिति । तथा 'घयाइयरं'ति 'घृतादि' घृतगुडप्रभृति-कमविकारिद्रव्यं, किमित्याह-'इतरद्' अनन्तरं भण्यते-घृताद्यविकारिद्रव्येष्वनन्तरस्थापनैव स्यादित्यर्थः । तथा 'दब्बवट्टिइ जाव चिरं'ति द्रव्यस्य घृतगुडादेः 'स्थिति'विवक्षितपर्यायिणावस्थानं द्रव्यस्थितिस्तां यावन्मर्यादीकृत्य 'चिरं' चिर-स्थापितमित्यर्थः । भण्यत इति प्रक्रमः । तच्चोत्कृष्टतो देशेनामपि पूर्वकोटिं यावत्सम्भवतीति । तथा 'अचिरं तिघरंतरं कप्पं'ति 'अचिरं' इत्वरस्थापितं भण्यते, किं तदित्याह-'त्रिगृहान्तरं' गृहत्रयान्तरालवर्तिद्रव्यं । इदमुक्तं भवति-पङ्क्ति-स्थितगृहत्रयमध्यादेकस्मिन् गृहे साधुसङ्घाटकस्य भिक्षां जिघृक्षोस्तदपरतृतीयगृहादेकस्यापि साधोर्दृष्टिविषयभूतात्तद्दानार्थं यत्स्वहस्तस्थापितं कश्चिद् भक्ताद्यानयति तदित्वरस्थापितं, एतच्च प्रज्ञापनामात्रेणैवमुच्यते, न पुनः परिहार्यं, अत एवाह-'कप्पं'ति 'कल्प्यं' कल्पनीयं 'भिक्षखग्गाही एगत्य, कुणह बीओ य दोसु उवओगं" इत्याद्यागमाभिज्ञसाधुनां

प्रतिपादितः स्थापनाख्यः पञ्चमः पिण्डोद्गमदोषः, साम्प्रतं तमेव षष्ठं प्राभृतिकाभिधानं प्रतिपादयितुमाह--

दी०-चुल्ली प्रतीता, 'उखा' स्थाली, तदादि स्वस्थानं, तस्माद्बुद्ध्यान्वत्यक्षेपणस्थानं परस्थानं स्वयमत्र ज्ञेयं, क्षीरादिदधिप्रक्षणादिपरम्परारोगात् परम्परं, घृतादि इतरदनन्तरं, अनन्तरपर्यायान्तराभावात् । तथा 'द्रव्यस्थितिपर्या-

<sup>x</sup>वस्त्रे बद्ध्वा निष्काशितजलस्तकभावाद्वर्गभावि वा दधिपरिणामविशेषो मन्थुः ।

येण, द्रव्यस्य-घृतादेरवस्थानं द्रव्यस्थितिस्तां यावत्स्थापितं चिराख्यं, तच्चोत्कृष्टतो देशेनामपि पूर्वकोटिं सम्भवति । इत्व-  
राख्यमाह-त्रिगृहान्तरं साधोः पङ्क्तिस्थितगृहत्रयमभ्यादेकस्मिन् विहरतस्त्वृतीयगृहे साधुदर्शनादानार्थं यद्भस्तादौ स्थापितं  
भक्तादि तदित्तरं, एतच्च कल्प्यं, गृहत्रयादुपरि नैवेति गार्थार्थः ॥ ३९ ॥ उक्ता स्थापना, अथ पष्ठं प्राभृतिकाख्यमाह-

बायरसुहुमुस्सक्कण-मोसक्कणामिओ करणं ॥ ४० ॥

परओ करणमुस्सक्कण-मोसक्कणामारओ करणं ॥ ४० ॥  
व्याख्या—‘बायरसुहुमुस्सक्कणं’ति ‘बादरं च’ स्थूराभ्रमगोचरतया स्थूरं ‘सूक्ष्मं च’ सूक्ष्मारभ्रमगोचरतया अल्पं,  
समाहारत्वाद्बादरसूक्ष्मं, बादरसूक्ष्मं च तदुत्त्वक्कणं च’ उत्सर्पणं, साध्वथयिति गम्यते, बादरसूक्ष्मोत्त्वक्कणं । तथा  
‘ओसक्कणं’ति ‘च’ शब्दाध्याहाराद्बादरसूक्ष्मविशेषणानुवृत्तेश्च बादरसूक्ष्मावत्वक्कणं च—स्थूलाल्पपावसर्पणं, इत्येवं ‘द्विधा’  
द्विप्रकारा ‘इह’ अत्र प्रकरणे, अन्यत्र प्रकारान्तरेणापि ‘तं पागडमियरं वा, करेइ उज्जुअणुज्जुवे’त्येवंविधेन  
द्वैविध्यं समस्तीत्यत इहेत्युक्तं, प्राभृतिका पूर्वोक्तशब्दार्था स्यादिति शेषः । उत्त्वक्कणावत्वक्कणस्वरूपमाह—‘परओ’  
इत्यादि, स्वयोगप्रवृत्तिकालावधेः ‘परतो’ऽग्रतः ‘करणं’ आरम्भस्य प्रवर्तनं, किमित्याह—‘उत्त्वक्कणं’ उत्त्वक्कणशब्दार्थ  
उच्यत इति शेषः । तथा ‘अवत्वक्कणं’ अवत्वक्कणशब्दार्थ उच्यते, किं तदित्याह—स्वयोगप्रवृत्तिकालावधेरारतो—ऽवर्तकरणं-  
साध्वर्थमारम्भस्य प्रवर्तनं । इह च सूक्ष्ममुत्सर्पणमवसर्पणं वा सूक्ष्मप्राभृतिका, यथा काचित्स्त्रं कर्तयन्ती दारकेण भोजनं

याचिता सती ब्रूते-साधौ समागते तवापि दास्यामीत्येवं दारकदानस्योत्सर्पणतस्तथा साध्वर्थीयोत्थिता पुत्र ! तवापि दास्यामीत्येवं दारकदानस्यावसर्पणतः । तथा बादरमुत्सर्पणमवसर्पणं च, बादरा सा यथा साधुसंविभागकरणान्महन्मङ्गलं पुण्यं वा जायत इति भावनया साधुदानार्थं पुत्रविवाहोदिदिनस्योत्सर्पणतोऽवसर्पणतश्चेति गाथार्थः ॥ ४० ॥

इत्युक्तं पिण्डोद्गमदोषेषु षष्ठं प्राभृतिकाद्वारं, अथ तेज्वेव सप्तमं प्रादुष्करणद्वारं व्याख्यातुमाह-  
 दी०-‘बादरसूक्ष्मं’ स्थूलाल्पं ‘उत्स्वष्कणं’ साध्वर्थं भाव्युत्सवादेरारम्भस्यानन्तरतः करणं, ‘अवस्वष्कणं’ च शब्द-  
 लोपात्तस्यैवावर्षकरणमित्येवं स्थूलाल्पमेदाद्द्वयमपि द्विधा इह ग्रंथे प्राभृतिकोच्यते । भेदव्याख्यामाह-परतः करणं उत्स्व-  
 ष्कणं, यथा-काचिन्नारी दारकेण याचितभोजना ब्रूते-साध्वागमेऽतवापि दास्यामीति सूक्ष्मं तत् । बादरं तु साधुदानं  
 पुण्यायेति श्रद्धया भाविविवाहादेः साध्वर्थमग्रतो नयनं । तथा अवस्वष्कणं ‘आरतो’ऽवर्षकरणं तथैव सूक्ष्मबादरभेदाभ्यामिति  
 गाथार्थः ॥ ४० ॥ उक्ता प्राभृतिका, अथ सप्तमं प्रादुष्करणाख्यमाह-

पाओयरणं दुविहं, पागडकरणं पगासकरणं च । सतिमिरधरे पयडणं, समणट्टा जमसणार्इणं ॥४१॥

व्याख्या-प्रादुष्करणं प्रागुक्तशब्दार्थं तदुच्यत इति शेषः । यत्सतिमिरगृहे श्रमणार्थमशनादीनां प्रकटनमिति सम्बन्धः ।  
 तच्च पुनर्द्विविधं द्विभेदं, तद्यथा ‘पागडकरणं पगासकरणं च’चि ‘प्रकटे’ सप्रकाशे-गृहाद्बहिरित्यर्थः ‘करणं’  
 देयद्रव्यादेर्व्यवस्थापनं प्रकटकरणं, तथा ‘प्रकाशस्यो’द्द्योतस्य ‘करणं’ विधानं प्रकाशकरणं, चः समुच्चये, सतिमिर-

+ “ ऋम्भस्य परतः ” ह. । x “ साध्वागमने तवापि दास्यामीति ” म. । “ साध्वागमनेन दास्यामीति ” ह. ।

गृहे-सान्धकारागारे 'प्रकटनं' प्रकाशनं 'श्रमणार्थं' साधुनिमित्तं, साधवो ह्यन्धकारवति गृहे अचक्षुर्विषयत्वाद्भिक्षां न गृह्णन्तीत्यतस्तेषां भिक्षाग्रहणनिमित्तमित्यर्थः, यदशनादीनां-भक्तपानादीनां गृहिणा विधीयत इति X गार्थार्थः ॥ ४१ ॥

अथ प्रकटकरण-प्रकाशकरणे व्याख्यातुमाह-  
दी०-प्रादुष्करणं तदुच्यते- 'यत्सतिमिरगृहे' सान्धकारस्थाने, अचक्षुर्विषयभिक्षाया अग्रहणात्, श्रमणार्थमशनादीनां प्रकटनमिति योगः, तद्विविधं-प्रकटकरणं प्रकाशकरणं चेतिभेदाभ्यामिति गार्थार्थः ॥ ४१ ॥ भेदयोरर्थमाह-

पायडकरणं बहिया-करणं देयस्स अहव चुल्लीए । वीयं मणि-दीव-गवक्ख-कुडुच्छिड्डाइकरणेणं ॥ ४२ ॥

व्याख्या-प्रकटकरणमुक्तशब्दार्थं, मण्यत इति शेषः । किं तदित्याह- 'बहियाकरणं'ति 'बहिस्ता'दन्धकारगृहाद्बहिः 'करणं' विधानं, कस्येत्याह- 'देयस्य' दातव्यवस्तुनः अथवेति प्राकारान्तरप्रदर्शनार्थः 'चुल्ल्या' अधिश्रयण्याः । अत्र यदि सञ्चारिणीमन्यां वा स्वार्थविहितां चुल्लि बहिः करोति तदाऽयमेवैको दोषः स्यादथ साध्वर्थाय नूतनामेव तां करोति तत उपकरणपूतिदोषोऽपीति । तथा 'वीयं' मित्यादि, द्वितीयं-प्रकाशकरणं, स्यादिति शेषः । केनेत्याह- 'मणिदीवे'त्यादि, मणिश्च-रत्नविशेषो 'दीपश्च' प्रदीपो 'गवाक्षश्च' वातायनः 'कुडुच्छिद्रं च' भित्तिविवरं मणिदीपगवाक्षकुडुच्छिद्राणि, एतान्यादिर्यस्यान्यद्वार-पूर्वकृतद्वारवर्द्धनादेस्तत्तथा, तस्थ 'करणं' केनापिरूपेण विधानं,

+ "०पा न प्रभृतीनां" प. ह. क. । X "०ति शेषः, इति गा०." प. ह. क. ।



तेन । इदमुक्तं भवति-यत्क्रश्चिदविवेकि दायको मन्दप्रकाशगृहमध्यस्थितस्यैव

प्रदीपाग्निप्रभया गवाक्षादिकरणेन वा प्रकाशं करोति तत्प्रकाशकरणमुच्यते इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

इत्युक्तं पिण्डोद्गमदोषेषु सप्तमं प्रादुर्करणद्वारं, साम्प्रतं तेष्वेवाष्टमं क्रीतद्वारं व्याचिख्यासुराह—

दी०-प्रकटकरणाख्यं देयस्य वस्तुनः सान्धकारगृहाद्बहिस्तात्करणं अथवा चुल्लया, द्वितीयं प्रकाशकरणाख्यं स्यात्,

केन ? मणिदीपगवाक्षकुड्यच्छिद्रादिकरणेनेति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ उक्तं प्रादुर्करणं, अथाष्टमं क्रीताख्यमाह—

किण्णं कीयं मुल्लेण, चउह तं सपरदवभावेहिं । चुन्नाइ कहाइ धणाइ-भत्तमंखाइ रूवेहिं ॥ ४३ ॥

व्याख्या-‘क्रयणं’ अन्यसकाशात्साध्वर्थं यद्भक्तादेर्ग्रहणं, तत्किमित्याह-‘क्रीतं’ क्रयणक्रीतयोरभेदोपचारात् क्रीताख्यं

तद्भक्ताशुच्यते इति शेषः । केन यत् क्रयणमित्याह-‘मूलेन’ स्वद्रव्यादिना वक्ष्यमाणेन । तच्च पुनर्मूल्यं कतिविधं भवती-

त्याह ‘चउह तं’ति ‘चतुर्धा’ चतुर्भिः प्रकारैस्तन्मूल्यं । कैरित्याह-‘सपरदवभावेहिं’ति स्वश्चात्मा परश्चान्यः स्वपरो,

तथा द्रव्ये च वक्ष्यमाणलक्षणे भावौ च वक्ष्यमाणलक्षणावेव द्रव्यभावाः, ततश्च स्वपरयोर्द्रव्यभावाः स्वपरद्रव्यभावास्तैः, किं-

स्वरूपैरित्याह-‘चूर्णादी’त्यादि ‘चूर्ण’ औषधद्रव्यसङ्करक्षोदः, स आदिर्यस्य स्वद्रव्यगणस्य स चूर्णादिः, स च ‘कथे’ति

धर्मकथा, साऽऽदिर्यस्य स्वभावप्रकारसमूहस्य स कथादिः, स च ‘धनं’ रूपककपर्दकादि, तदादिर्यस्य परद्रव्यसमुदयस्य

स धनादिः, स च भक्तश्चासौ मह्यश्च भक्तमह्यः, स आदिर्यस्य भक्तिमत्तथाविधजनसमाजस्य स भक्तमह्यः, भावप्रक्रमेऽपि

भावभावतोरभेदोपचारान्मह्यादीत्युक्तं । मह्यश्च सुकृतदुष्कृतफलसूचकचित्रफलकोपजीवी भिक्षुविशेषः, स च-चूर्णादिकथादि-

भावभावतोरभेदोपचारान्मह्यादीत्युक्तं । मह्यश्च सुकृतदुष्कृतफलसूचकचित्रफलकोपजीवी भिक्षुविशेषः, स च-चूर्णादिकथादि-

भावभावतोरभेदोपचारान्मह्यादीत्युक्तं । मह्यश्च सुकृतदुष्कृतफलसूचकचित्रफलकोपजीवी भिक्षुविशेषः, स च-चूर्णादिकथादि-

भावभावतोरभेदोपचारान्मह्यादीत्युक्तं । मह्यश्च सुकृतदुष्कृतफलसूचकचित्रफलकोपजीवी भिक्षुविशेषः, स च-चूर्णादिकथादि-

धनादिभक्तमह्लादयस्ते 'रूपं' स्वरूपं येषां स्वपरद्रव्यभावानां ते तथा, तैः । इदमुक्तं भवति-आहारादिलिप्सया चूर्णनिर्माल्य-  
गुटिकागन्धचन्दनवाहुकण्डकवालपोत्तकादिलक्षणेनात्मद्रव्येण गुहिणः प्रदत्तेन यदशनादिकं साधुना लभ्यते तदात्मद्रव्य-  
क्रीतमुच्यते, अत्र च दोषाः-चूर्णादिप्रदानानन्तरं देववशतो नितरां मान्द्ये मरणे वा गृहस्थस्य उद्वाहः स्यादथ कथञ्चिन्नारी-  
गत्यं भवेत्तत्तथाटुकारिता असंयतप्रगुणीकरणेऽधिकरणदोषश्च साधोः स्यादिति । तथा आहारलिप्सयैव धर्मकथा-तर्कोपन्यास-  
विकृष्टमासादितपश्ररण-शीतोष्णाद्यातापनाकरणलक्षणेनात्मभावेन यदवाप्यते तद्भावक्रीतं, अत्र च दोषाः-स्वानुष्ठानफल्युता-  
करणप्रभृतयो वान्याः । तथा सचित्ताचित्तमिश्रभेदेन गृही स्वद्रव्येण साधुनिमित्तं यदशनादि क्रीणाति तत्परद्रव्यक्रीतं, अत्र  
दोषाः प्रतीता एव । तथा साधुभक्तमह्लादिसत्कविज्ञानलक्षणेन परभावेनोपार्जितं यदशनादि साधुना लभ्यते तत्परभाव-  
क्रीतं । अत्र सम्प्रदायो यथा-किलैकदा एकः साधुशय्यातरमह्वो भक्त्या साधून् भक्तपानादिना निमञ्चितवान्, ते च  
शय्यातरपिण्डोऽयमिति न जगृहुः । ततस्तेनाननुगृहीतेन दित्सुना गतप्राथे वर्षाकाले कतरस्यां दिशि यूयं गमिष्यथेति  
पृच्छा चक्रे, तेऽप्युचुरमुक्तस्यां दिशीति । ततश्च स तत्राग्रत एव गत्वा निजविज्ञानेन लोकपरिचयं चकार, दीयमानं च कार्ये  
गृहीप्यामीति वचनपुरस्सरं न स्वीकृतवास्तावद्यावत्साधवः समाययुस्ततश्च घृतक्षीरादिकं महत्तरगृहादाचितश्चेतश्च याचनतो  
मीलितं तेभ्यो दत्तवानिति । अत्र च परभावक्रीताभ्याहृतस्थापनालक्षणं दोषत्रयं स्यादिति गार्थार्थः ॥ ४३ ॥

उक्तं पिण्डोद्गमेष्वष्टमं क्रीतद्वारं, साम्प्रतं तेष्वेव नवमं प्रामित्यद्वारमभिधित्सुराह-

दी०-यतिदेयवस्तुनः क्रयणं क्रीतं स्यात्, केन ? मूल्येन । तच्च स्वपरद्रव्ययोर्भावैर्गार्थोत्तराद्द्वौक्तैश्चतुर्द्वौ । तत्र चूर्णादि,

चूर्ण-औषधद्रव्यसंयोगस्तेन गृहिणोऽर्पितेन साधुर्यञ्छभते तत्स्वद्रव्यक्रीतं १ । कथादीति, भक्ताद्यर्थं + धर्माद्याख्यानं, तथा यदवासं तत्स्वभावक्रीतं २ । धनादीति, धनं-सचिचाचित्तमिश्रभेदं स्वद्रव्यं, तेन साध्वर्थं गृहीत्वा X यहेयं ददाति तत्परद्रव्यक्रीतं ३ । भक्तमह्नादीति, कश्चित्साधुभक्तः स्वविज्ञानेन रञ्जितजनान् याचयित्वा यद्ददाति तत्परभावक्रीतं ४ । सर्वत्रादिशब्दस्तद्गतानेकभावदर्शनायेति गाथार्थः ॥ ४३ ॥ उक्तं क्रीतं, अथ नवमं प्रामित्यमाह--

समणट्टा उच्छिद्य, जं देयं देइ तमिह पामिच्चं । तं दुट्टं जइभइणी-उद्धारियतेल्लनाएणं ॥ ४४ ॥

व्याख्या-‘श्रमणार्थं’ यतिनिमित्तं ‘उच्छिद्य’ अन्त्य उद्यतकं गृहीत्वा यत्किञ्चिद् ‘देयं’ दातव्यं भक्तादिवस्तु ‘ददाति’ श्रमणेभ्य एव प्रयच्छति, गृहस्थ इति गम्यते ‘तद्’ दातव्यं भक्तादिवस्तु ‘इह’ अत्र प्रकरणे प्रवचने वा ‘पामिच्चं’ति प्रामित्यमपमित्यं वा, उच्यत इति शेषः । इदं चात्र सामान्यभणनेऽपि लौकिकलोकोत्तरापमित्य भेदाद्विविधं विज्ञेयं, आगमे तथा भणनाद्यदाह-“पामिच्चं पि य दुविहं, लोइयलोउत्तरं समासेणं ।” इत्यादि । ‘तं’ति पुनः शब्दार्थस्य गम्यमानत्वात् तत्पुन ‘दुट्टं’ दोषकारि । केन प्रत्ययेनेत्याह-यतिभगिन्युद्धारितैल्लनातेन, यतिभगिन्यासाधुस्वस्त्वा ‘उद्धारितं’ मूल्याभावादुद्धारके गृहीतं यत्तैल्ल-ल्लेहविशेषस्तस्य तल्लक्षणं वा ‘ज्ञातं’ उदाहरणं, तेन । तच्चैदं-- ते णं काले णं ते णं समए णं कोसलाविसए एगो कुलपुत्तओ होत्था । सो य धम्मं सोऊण संजायसंवेगो निक्खंतो ।

+ “ धर्मव्याख्यानतया ” ह. म. । X “ यद्ददाति ” क. ह. म. ।

कमेण समहिगयसुत्तथकिरियाकलावो सयणदंसणत्थं गओ सनायसन्निवेसं । तत्थ य बाहिं ठिएण पुच्छिओ एगो पुरिसो,  
जह-को मम सनायगाणं जीवइ ?त्ति । तेण भणियं-उच्छिन्नं सवं पि ते कुलं, नवरं-एगा तव भगिणी जीवइ त्ति । तओ इमं  
निसामिऊणं पविट्ठो तीसे मंदिरे । सा य तं सहोयराणगारं लोयविरलसिरोरुहं मलाविलं तवोकिससरीरं दट्टण अहहरिसभरा-  
पूरियमाणसा समूससियरोमकूवा भत्तिबहुमाणपुवं पज्जुवासिऊण तन्निमित्तं किंचि आहारपाणं काउं पयट्ठा, निवारिया य  
साहुणा । तओ तीए अहो एस भट्टारओ पागं न गिण्हइ त्ति विंचितंतीए उच्छिदिऊण दिन्नं तेल्लकरिसं, साहुणा य कप्पइ त्ति  
गहियं । तओ य तमणुसासिय विहरिओ अन्नत्थ साह । तेहं पि अपरिमियवुट्ठीए वट्टमाणं जायं अहबहुयं । तओ तं दाउ-  
मचायंतीए से दासत्तं पडिवन्नं । कालंतरेण य पुणो वि आगओ साह, सुणिओ य तीसे दासत्तणवइयरो तेण बाहिं ठिएणेव ।  
तओ अप्पाहियंX-मा रुय, अचिरेणेव तं दासत्तणओ मोएसो त्ति । पविट्ठो य खणंतरे भिक्खट्टाए भगिणिसामिणो गिहंमि ।  
तत्थ य उदगसंघट्टुभिकखापडिसेहे कए पुच्छियं वरवइणा-को एत्थ दोसो ?त्ति । साहुणा वि समयभणियदोसपरिकहणा  
वित्थरेण कया । तओ तेण आउट्टेण भणियं-कहिं मे-वसहि ? त्ति । साहुणा भणियं-अज्जवि नत्थि । तओ दिन्ना तेण से  
वसही, ठिओ य तत्थ धम्मकहाए साह, गाहिओ य सो सम्मत्ताणुवयाणि । बहुवोलीणे य वासारत्ते गंतुकामेण आपुच्छिओ  
गिहवई, कहियं च थावच्चोदाहरणं, जहा-थावच्चो सावओ जाओ, तओ तेणाभिग्गहो गहिओ-जो मम कुलाओ कोइ वि  
पवइ सो मया न वारेयवो । तओ तस्स पुत्तो पवजाए उवट्ठिओ, न य तेण वारिओ, पवइओ । तेण वि इमं सोऊण

X [ आप्याहितं- ]कथापित्त । +त्ते' प. क. ह. ।

एसोच्चिय अभिगगहो गहिओ । इत्थंतरस्मि सा तस्स साहुणो भगिणी पव्जाए उवट्ठिया, मुक्का य तेणं पव्वइया । कित्तिया य एरिमा नाणिणो भविसंस्सति ? तम्हा पामिच्चं न वेत्तं ति, एस लोइय पामिच्चदिट्ठतो ति ।

लोकोत्तरापमित्यं तु यत्साधोः सकाशादपरसाधुर्वस्त्रादिकं कतिपयदिनभोगबुद्ध्या तद्विधान्यदानबुद्ध्या चोद्यतकं गृही-  
त्वाऽन्यस्मै साधवे प्रयच्छति स्वयं वा परिशुद्धं तद्विशेषं । तत्र चामी दोषाः—“ महलिय-फालिय-खोसिय-हियनट्ठे  
वावि अन्नमगंते । अइसुंदरे वि दिन्ने, दुक्करोई कलहमाई ॥ १ ॥ ” तत्र ‘मलिनितं’ शरीरादिमलदिग्धं  
‘पाटितं’ द्विधाकृतं ‘खोसितं’ जीर्णतां नीतं ‘हृतं’ चौरादिना गृहीतं ‘नष्टं’ पतितं, शेषं सुबोधमिति । अत्रापवादो यथा—  
“ उव्वत्ताए दाणं, दुल्लभ-खग्गूड-अलस-पामिच्चे । तं पि य गुरुस्स पासे, ठव्हइ सो देह मा कलहो ॥ १ ॥ ”  
‘उव्वत्ताए दाणं’सि सीदतः साधोशुधिकया वस्त्रादेर्दानं कार्यमित्येष तावदुत्सर्गमार्गः, अपवादस्तु दुर्लभे वस्त्रे ‘खग्गूडे’  
गृहे अलसे वा अपमित्यं स्यात्, खग्गूडो हि वक्रतया अलसस्तु याचनाकष्टभयेन, न मुधिकया तद्ददातीत्यपमित्यं क्रियत  
इति भावः । शेषं प्रतीतमिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

इत्थुक्तं नवमं प्रामित्यद्वारं, साम्प्रतं दशमं परिवर्तितद्वारमभिधातुमाह—

दी०-श्रमणार्थं ‘उच्छिद्य’ उच्छिन्नं गृहीत्वा यद्दयं ददाति तेभ्यस्तमिह प्रामित्यं स्यात्, तत्पुनर्दुष्टं यतिभगिन्दुद्धारित-  
तैलज्ञातेन, तच्चेदं-कोशलविषये एकः कुलपुत्रको निष्क्रान्तः, स च गीतार्थत्वे स्वजनानन्वेष्टुं चलितस्ततः सर्वमपि तत्कुलं  
व्यवच्छिन्नं, भगिन्यैकैव कष्टं जीवतीति कुतोऽपि ज्ञातवृचान्तस्तत्र जगाम । भगिन्यपि तद्दर्शनादतीव हृष्टा यतिना निषिद्ध-

पाक्कादिक्रिया वणिजो गृहाचैलकर्षं वर्द्धमानमुद्धारेणानीय तस्मै ददौ । विहृते साधौ तत्तैलं प्रवर्द्धमानं दातुमक्षमा तद्गृहे दासत्वमापन्ना । कालेन साधुरपि तत्रागतो ज्ञातदासत्ववृत्तान्तस्तस्य वणिजो गृहासन्ने स्थितवर्षाकल्पो वणिजं सकुटुम्बं बोधितवान् । ततो मया व्रतार्थी न कश्चिन्निषेध्य इति गृहीताभिग्रहस्य वणिजः सुतो व्रतं जग्राह । साऽपि वतिमग्निनी व्रतार्थिनी दासत्वान्मुक्ता प्रव्रजितेति श्रावुसाहाय्याद्भ्रतं तैलाच्च दासत्वं प्राप्तेति प्रामित्यं वर्जयेत् । एतच्च लौकिकं, यदा साधुः साधोः पार्श्वदिन्यार्पणबुद्ध्या वस्त्रादिकमुद्धारेण गृह्णाति तदा लोकोत्तरमपि कलहादिदोषकञ्चैयमिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

उक्तं प्रामित्यं, अथ परिवर्तितारुण्यं दशममाह—

पल्लडियं जं दधं, तदन्नदधेहिं देइ साहूणं । तं परिथडियमेत्थं, वणिदुगभगिणीहिं दिठ्ठतो ॥ ४५ ॥

व्याख्या—‘पल्लडियं’ति ‘परिवर्त्य’ साध्वर्थं परावर्त्त कृत्वा यत्किञ्चिद् ‘द्रव्यं’ घृतशाल्योदनादिवस्तु, काम्यामित्याह— ‘तदन्नदधेहिं’ति तच्च—परिवर्त्तनीयद्रव्यापेक्षया समानजातियं, अन्यच्च-तदपेक्षैव विजातीयं, तदन्ये च ते द्रव्ये च घृतादिवस्तुनी तदन्यद्रव्ये, ताभ्यां ‘ददाति’ प्रयच्छति ‘साहूणं’ति ‘साधुभ्यो’ यतिभ्यस्तद्घृतादिद्रव्यं, किमित्याह— ‘परिवर्त्तितं’ परिवर्त्तितसञ्ज्ञं, भण्यत इति शेषः । अयमर्थः—साधुगौरवनिमित्तं आत्मलावणपरिहारार्थं वा स्वकीयदुर्गन्ध-घृतकोद्रवौदनादिद्रव्यसमर्पणेन यत्परकीयसुगन्धघृतशाल्योदनादिद्रव्यं गृहीत्वा साधुभ्यो ददाति, तत्परिवर्त्तितमुच्यत इति । एतदपि लौकिकलोकोत्तरभेदाद्द्विविधमवसेयं, यदाह—‘परियट्टियं पि दुविहं, लोइय लोउत्तरं समासेण’ति । ‘एत्थं’ति अत्र लौकिकपरिवर्त्तिते ‘वणिदुगभगिणीहिं’ति ‘वणिगृहिकस्य’ वाणिजकयुगलस्य ‘भगिन्यो’ स्वसारौ वणिगृहिकभगिन्यो-

ताभ्यां 'दृष्टान्त' उदाहरणं विज्ञेयमिति । तद्यथा-  
 वसन्तपुरे नगरे द्वौ वाणिजकौ-देवदत्तधनदत्तनामानौ बभूवतुः । तत्र देवदत्तभगिनी लक्ष्मीनाम्नी धनदत्तेन  
 परिणीता, धनदत्तभगिनी च बन्धुमती देवदत्तेन । अन्यदा देवदत्तभ्राता समुपजातवैराग्यस्तुणवदपहाय कटुकविपाकान्  
 कामभोगान् प्रव्रजितः । स चैकदा साधुविहारचर्यया विहरन् वसन्तपुरनगरमाजगाम । तत्र च कृतोचितसूत्रार्थपौरुष्यादि-  
 साधुकृत्यो यथोचितभिक्षासमये विहरन्ननुकम्पया भगिनीलक्ष्मीगृहं प्रविष्टः । चिन्तितं च तथा, यथैकं तावदेष मम आता  
 अपरं साधुरन्यच्च प्राघूर्णकस्तदसौ विशिष्टां प्रतिपत्तिमर्हति, केवलं दारिद्र्यभावान्नास्मद्गृहे तथाविधं किञ्चिद्दातव्यमस्ति ।  
 ततश्च कोद्रवौदनेन निजभ्रातुर्देवदत्तस्य गृहाच्छाल्योदनं परिवर्त्य सा तस्मै सादरमदात् । इतश्च देवदत्तो भुञ्जानो बन्धु-  
 मन्या मणितो, यथा-प्रयच्छामि कोद्रवौदनं यदि ते रोचते, नो चेत्तिष्ठत्विति । एतच्च श्रुत्वा अविज्ञाततद्दृष्टान्ततया झटि-  
 त्युल्लसितकोपानलेन ताडिताऽसौ दृढं । तथा चोक्तं-तवैव भगिन्या नीतः शाल्योदनः, किं मामेवमनपराधकारिणीमपि  
 ताडयसि, ततः स्थितोऽसौ । धनदत्तेनापि तं व्यतिकरं विज्ञाय ममानया परगृहादेवं कूरमानीय प्रयच्छन्त्या अतीव लघुत्व-  
 मापादितमिति विचिन्त्य सञ्जातप्रचण्डकोपेन किं पापे ! मामेवं जने लघू करोपीति बुवाणेन स्वजाया लक्ष्मीरपि प्रहतेति ।  
 अमुञ्चार्थं विज्ञाय साधुना धर्मकथनपुरस्सरमुपशमय्य तानि सर्वाण्यपि प्रव्राजितानीति । कियन्तश्चेदृशा आत्मपरोत्तारण-  
 समर्था भविष्यन्ति ? । तस्मात्परिवर्तितं सर्वथा न ग्राह्यमिति भावः ।

लोकोत्तरपरिवर्तितं त्विदं-यच्छ्रमणः श्रमणेन सह वस्त्रादिपरिवर्तनं करोति । तत्र चामी दोषाः--"ऊणऽहियदुब्बलं वा,

खरगुरुच्छिन्नमहलं असीयसहं । दुःखवर्णं वा नाउं, विपरिणमे अन्नभणिओ वा ॥१॥” तत्र ‘न्यूनं’ लघु ‘अधिकं’ अतिबलं ‘दुर्बलं’ जीर्णप्रायं ‘खरं’ कर्कशस्पर्शं ‘गुरु’ भारिकं ‘छिन्नं’ पाशकदशापर्यन्तरहितं ‘मलिनं’ मलाविलं ‘अशीतसहं’ शीतरक्षणाक्षमं ‘दुर्बलं’ विरूपच्छायमित्यादिदोषान्वितं परकीयवस्त्रादिकं विज्ञाय स्वयं परेण वोत्प्रासितो विपरिणमेद्यायक-  
ग्राहकयोर्मध्यादेकतर इत्यतस्तत्परिवर्तनं न कार्यं, कारणे तु विधिना कर्तव्यमपीत्याह च—“ एगस्स माणजुत्तं, न उ  
वीयस्सेवमाइकज्जेसु । गुरुपायमूले ठवणं, सो दलयइ अन्नहा कलहो ॥ १ ॥ ” इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

प्रतिपादितं दशमं परिवर्तितद्वारं, इदानीमभ्याहृतक्षणमेकादशद्वारं प्रतिपादयन्नाह—

दी०—परावर्त्य यद्रव्यं दुर्गन्धघृतादि तदन्यद्रव्यैः सुगन्धघृतादिभिर्देदाति साधुभ्यस्तत्परिवर्तितं स्यात् । इत्थं अत्र  
वणिग्द्विकभगिन्योर्दृष्टान्तः, स चायं—वसन्तपुरे द्वौ वणिजौ देवदत्तघनदत्ताख्यौ, तत्राद्यस्य भगिनी लक्ष्म्याख्या द्वितीयेन  
परिणीता, द्वितीयस्य च भगिनी बन्धुमत्याख्या प्रथमेन । अथ प्रथमस्य× भ्राता विषयविरागाद्गृहीतव्रतो विहरन् लक्ष्मी-  
गृहं प्रविष्टः, सा च चिरयातभ्रातृगौरवार्थं गृहराद्धकोद्रक्क्षरेण बन्धुमतीगृहराद्धं शालिङ्करं परावर्त्तनानीय तस्मै ददौ ।  
इतश्च देवदत्तो भुञ्जानः कोद्रक्क्षरदर्शनात्कुपितः पापे ! किं राद्धमिदमिति बन्धुमतीमताडयत्, यावत्तया कथितं—तवैव  
भगिनी शालिङ्करं गृहीत्वा गतेति । घनदत्तोऽपि विदितवृत्तान्तो लक्ष्मीं प्रति कुपितः, आः पापे ! परगृहराद्धं धान्यमानीय  
सामेवं लघु करोपीति तां ताडितवानिति जनाद्भिज्ञाततत्कलहोत्थानो मुनिस्तान् सम्बोध्य प्रत्रज्यामग्राहयत् । तदेवं परिवर्तितं

× “ ०स्य लघुभ्राता ” अ । ❀ “ अदश्च ” म ।



दोषाय । एतदपि लोकलोकोत्तरभेदात् पूर्वबद्धिधेति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ उक्तं परिवर्तितं, अथैकादशमभ्याहृतमाह—  
गिहिणा सपरगामाह् अभिहण्डं जईणट्टा । तं बहुदोसं नेयं, पायडच्छन्नाइबहुभेयं ॥ ४६ ॥

व्याख्या—‘गृहिणा’ अगारिणा ‘सपरगामाह् आणियं’ति स्वश्च-निवासमात्रापेक्षया साधोरात्मीयः, परश्च-स्वकीयाद-  
न्यः स्वपरौ, तौ च तौ ग्रामौ च-सन्निवेशविशेषौ स्वपरग्रामौ, तावादी यस्य स्वपरदेशपाटकगृहादिस्थानविशेषस्यासौ स्वपर-  
ग्रामादिस्तस्मादानीतं-साधुस्थाने प्रापितं स्वपरग्रामाद्यानीतं, यदशनादीति गम्यते । तत्किमित्याह-‘अभिहण्डं’ति अभ्याहृतं  
पूर्वोक्तशब्दार्थः, तद्गुण्यत इति शेषः । किमर्थमानीतमित्याह-‘यतीनां’ साधूनां ‘अर्थाय’ निमित्तं । ‘तं’ति पुनः शब्दाध्या-  
हारात्तदभ्याहृतं पुनर्बहुदोषं-संयमात्मविराधनालक्षणानेकानर्थकारणं ‘ज्ञेयं’ तत्परिजिहीर्षुणा सत्त्वेन बोद्धव्यं । तत्र स्वपरग्रा-  
मादेर्जलपथेन स्थलपथेन वा पादाभ्यां नावादिना गन्त्यादिवाहनेन वा साध्वर्थे भक्तादि गृहीत्वा समागच्छतो गृहिणः  
पृथिव्यादिसत्त्वोपमर्देन संयमविराधना, जलनिमज्जनमकरकच्छपग्राहकण्टकादिकौरश्वापदादिभ्यस्त्वात्मविराधनेति । तथा  
‘पागडच्छन्नाइबहुभेयं’ति ‘प्रकटं’ च प्रकाशं यदन्यैरपि ज्ञायत इत्यर्थः । ‘छन्नं’ च गुप्तं-यन्नान्येन केनापि लक्ष्यत इत्यर्थः,  
प्रकटछन्ने, ते आदी येषां आचीर्णानाचीर्णप्रभृतिभेदानां ते प्रकटछन्नादयस्ते ‘बहवो’ऽनेके ‘भेदाः’ प्रकारा यस्य तत्प्रकट-  
छन्नादिबहुभेदं । अत्र ‘च’ शब्दाध्याहारो द्रष्टव्य इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

अथाचीर्णस्वरूपं तद्ग्रहणविधिं चाह—

दी०-गृहिणा स्वपरग्रामादेरादिशब्दादेशपाटकगृहादेरप्यानीतं यतीनामर्थाय अभ्याहृतं स्यात्, तद्बहुदोषं ज्ञेयं, मार्गे

जीवोपमर्दादिहेतुत्वात् । तथा 'प्रकटं' अन्येषां ज्ञातं 'छन्नं' अन्यैरलक्ष्यं, आदिशब्दादाचीर्णानाचीर्णादयो बहवो भेदाः

अथाचीर्णमाह—

यस्य तत्तथेति, च शब्दाध्याहार इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥ एगत्थ भिक्खगाही, बीओ दुसु कुणइ उवओगं ४७

आइएणं तुक्कोसं, हत्थसयंतो घरे उ त्तिन्नि तहिं । कियदित्याह—'हस्तशतान्तः

व्याख्या—'आचीर्ण' गीतार्थसाधुभिर्ग्रहणे आचरितं अभ्याहृतं [ 'तु' ] पुनरुत्कृष्टं—सर्वबहु । भवति—महत्यां भोकृजनपङ्क्तौ दूरप्रवेश-

करशतमध्ये । 'गृहाणि' त्वगाराणि पुन'स्त्रीणि' त्रिसहस्रानि यावत् । एतदुक्तं भवति—महत्यां भोकृजनपङ्क्तौ दूरप्रवेश-

तथाविधगृहे पङ्क्तिस्थितगृहत्रये वा साधुसङ्घाटकस्य भिक्षां जिघृक्षोस्तदादानयति, तदुत्कृष्ट-

माचीर्णम्याहृतं, परतस्त्वनचीर्णम्याहृतं, उपयोगासम्भवात् । हस्तपरिवर्तनरूपं तु जघन्याचीर्णम्याहृतं, शेषं तु मध्यममिति ।

'तहिं' ति 'तत्र' तेषु त्रिषु गृहेषु मध्ये 'एकत्र' एकस्मिन् गृहे, यत्र भिक्षार्थं धर्मलाभो विहित इत्यर्थः । 'भिक्षाग्राही' भिक्षा-

प्रतीच्छकः—सङ्घाटकाग्रेतनसाधुरित्यर्थः । 'बीओ' चि 'च' शब्दाव्याहाराद्द्वितीयश्च—भिक्षाग्राहकादपरः 'द्वयो' धर्मलाभित-

गृहादितरयोरगारयोर्विषये, किमित्याह—'करोति' विदधाति 'उपयोगं' अवधानं अनेषणीयावगतये गृहद्वयभिक्षादायकगतं

व्यापारं निमालयतीत्यर्थः । आह—ननुक्तं स्थापनायां "अचिरं तिघरंतरं कप्पं" ति, तदस्याचीर्णम्याहृतस्य इत्वरस्थापि-

गृहे भिक्षार्थमाश्रिते भिक्षाग्राही साधुद्वितीयस्तु द्वयोरितरगृहयोः करोत्युपयोगं-दायिकाश्रितां शुद्धिमन्वेषयतीति । नन्वस्य इत्वरस्थापनायाश्च को भेदः ? सत्यं, तत्र कालस्य विवक्षा इह तु क्षेत्रस्येति गार्थार्थः ॥ ४७ ॥

उक्तमभ्याहृतं, अथ द्वादशशुद्धिन्नाख्यमाह—

जउछगणाइविलिप्तं, उब्भिदिय देइ जं तमुब्भिन्नं । समणटुमपरिभोगं, कवाडमुग्घाडियं वावि ॥४८॥

व्याख्या—‘जउछगणादिना’ लाक्षागोमयप्रभृतिना, आदि शब्दान्मृत्तिकया च ‘विलिप्तं’ उपलिप्तं जउछगणादिविलिप्तं, तत्कर्मतापन्नं कोष्ठिकादीति गम्यते । ‘उब्धिच्च’ उद्घाट्य, श्रमणार्थमित्यत्रापि सम्बध्यते ‘ददाति’ साधुभ्यः प्रयच्छति, गृहस्थ इति गम्यते, यद्भक्तादि ‘तदुब्धिन्नं’ उब्धिन्नाख्यं उच्यत इति शेषः, कोष्ठिकाद्युब्धिन्नभाजनसम्बन्धात् । तथा ‘श्रमणार्थं’ साधुनिमित्तं ‘अपरिभोगं’ अव्यापारं ‘कपाटं’ लोकप्रसिद्धं ‘उद्घाट्य’ उद्घाटं कृत्वा ‘वा’ विकल्पार्थो भिन्नक्रमयोगश्च, ततश्चेदमुक्तं भवति-कपाटं वा उद्घाट्य यद्भक्तादि ददाति तदप्युब्धिन्नमिति । अपि शब्दात्कपाटार्गलाददरकाद्यपनयनग्रहः । अत्र च दोषाः—कोष्ठिकादाद्युब्धिद्यमाने षड्जीवनिकायवधः, उब्धिने च क्रयविक्रयादिविषयमधिकरणं, पुनरुपलिप्यमानेऽप्यग्निपृथिव्युदकादिवधः स्यात् । कपाटेऽप्युद्घाट्यमाने पुनर्दोषमाने च साध्वर्थं गृहकोकिलामूपिकादिवधः स्यात्, अव्यापारदर्दरेकेऽप्यपनीयमाने कुन्थु-पिपील्यादिजीवविराधना स्यादित्युब्धिन्नं वर्जनीयमेवेति, कारणतस्तु यतनया ग्रहणेऽपि न दोषो, यदाह—“घेप्पह अकुञ्चियागम्मि, कवाडे प्हदिणं परिवहंते । अजज्जमुद्धियंगंठी, परिमुज्जइ दहरो जो य ॥ १ ॥ ” ‘अकुञ्चिकाके’ अविद्यमानोह्वालकच्छिद्र इत्यर्थः, यद्वा अक्रेङ्कारव इति गार्थार्थः ॥ ४८ ॥

व्याख्यातं द्वादशमुद्भिन्नद्वारं, साम्प्रतं त्रयोदशं मालापहृतद्वारं व्याचिख्यासुराह-  
दी०--'जतु' लाक्षा 'छगणं' गोमयं, आदिशब्दान्मुचिकादयस्तैलिसं स्थानमुद्भिद्य-साध्वर्थमुद्घाट्य ददाति यद्भक्तादि  
तदुद्भिन्नाख्यं स्यात् । तथा श्रमणार्थं 'अपरिमोगं' अव्यापारं कपाटमुद्घाट्य, वा अपिशब्दात्कपाटागलाद्यपीति गाथार्थः ॥४८॥

उक्तमुद्भिन्नं, अथ त्रयोदशमं मालापहृतमाह--

उद्धअहोभयतिरिएसु, मालभूमिहरकुंभीधरणिठियं । करदुगोज्झं दलयइ, जं तं मालोहडं चउहा ॥४९॥

व्याख्या-ऊर्द्धाधउभयतिर्यंक्ष्विति इतरेतरद्वन्द्वः, ऊर्द्धाधउभयतिर्यग्दिवसमाश्रितेक्ष्वित्यर्थः । केचित्स्याह-मालेत्यादि,  
विभक्तिलोपान्मालभूमिगृहकुम्भिधरणिषु, तत्र 'मालो' मञ्चो गृहोपरिभागो वा, तद्ग्रहणस्य चोपलक्षणार्थत्वात्सीकक-  
नागदन्तकादीनामूर्द्धगतानां परिग्रहः । तथा भूमिगृहं लोकप्रतीतं, तद्ग्रहणाच्चाधोदिगतानां गर्त्तादीनां परिग्रहः । तथा 'कुम्भी'  
उष्ट्रिका, तदुपादानञ्च उभयाश्रितव्यापाराणां कुशलादीनामवरोधः, उच्चकुम्भ्यादिषु हि तन्मध्यगतदेयाकर्षणार्थं पाष्ण्युत्पा-  
दनेनोर्द्धाश्रितव्यापारोऽधोमुखबाह्यादिप्रसारेण चाधोगतव्यापारो दातुरित्युभयाश्रितव्यापारत्वमिति । तथा 'धरणि'मैदिनी,  
तद्ग्रहणञ्च तिर्यगाश्रितानां करेण कष्टप्राप्त्याणां शेषाधारविशेषाणां सद्ग्रहो द्रष्टव्यः । ततश्चैतेषु मालादिषु 'स्थितं'  
गतं-समाश्रितमित्यर्थः । कि्विशिष्टं सदित्याह-'करदुग्रहं' हस्तदुष्प्राप्त्यं सत्, किमित्याह-'दलयइ'चि 'ददाति' साधुभ्यः  
प्रयच्छति गृही यद्भक्ताद्यादाय तन्मालापहृतं, दोषविशेषो भणयत इति शेषः । एतच्च व्याख्यातोपाधिभेदा'च्चतुर्द्धी' चतुष्प्रकारं,  
यथा-ऊर्द्धमालापहृतं अधोमालापहृतमित्यादि । ननु मालान्मञ्चादेरपहृत-मानीतं मालापहृतमुच्यते, तत्कथं भूमिगृहाद्या-

नीतमपि तदभिधेयतया व्याख्यायते ? उच्यते—व्युत्पत्तिनिमित्तमेवेदमस्य, प्रवृत्तिनिमित्तं तु भूमिगृहाधानीतमपि, आगमे तथा रूढत्वादित्यदोषः । अत्र चोदाहरणं यथा—

इहेव जंबुद्वीवे दीवे भारहे वासे जयपुरे नगरे पगइभइओ दाणधम्मरुई जक्खदिन्नो नाम गाहावई होत्था । पगइविणीया य वसुमई से भारिया । अन्नया य गीयरचरियाए विहरंतो समागओ से गिहे गुणरयणागरो नाम एगो साहू । उट्टिया य वसुमई सिक्कगमालोहडभियखं दाउं । तओ अकप्पो चि काऊण पडिसेहेऊण निग्गओ सो भयवं । तयणंतरं च भिक्खइं पचिट्ठो एगो तच्चणिओ, पुच्छिओ य सविम्हएण जक्खदिन्नेण, जहा—भो ! कीस इमिणा साहुणा भिक्खा न गहिय च्ति ? । तओ तेण पावोवहयमइणा भणियं, जहा—अदिन्नदाणा खु इमे वराया, केवलमेएसिं सत्थयारेण गलओ चैव न मोडिउ च्ति । तओ गिहवइणा असंवद्धपलावी एसो च्ति किमणेण संलत्तेणं ति चित्तिऊण दवाविया भिक्खा वसुमईए । सा वि जाहे उच्चसिक्कगठियकुडगाओ हत्थं छोहूण मोयगे गिण्हइ ताहे मोयगसुरमिगंधवसपविट्ठेण कण्हाहिणा करे उक्क च्ति पलवंती पडिया धस च्ति घरणीयले । आउलीहूओ य जक्खदिन्नो, जीवाविया य कहवि गारूडिएहिं । अन्नदियहम्मि पुणो समागओ सो साहू, भणिओ य जक्खदिन्नेणं, जहा—भयवं ! तम्मि दिणे जाणंतेण वि कीस न साहिओ ? शुयंगमो, अहो भे निइयत्तणं ! ति । तओ साहुणा भणियं, जहा—भो ! न मए नाओ शुयंगमो, किंतु अम्हाणं मालोहडभिक्खागहणं सपच्चवायं ति काऊण पडिसिद्धं भयवया जिणेणं ति । धम्मो य साहिओ । तं च सोऊण अहो आरहओ धम्मो अइनिउणो च्ति भावितानि संबुद्धाणि दोवि । गओ साहू सट्ठाणं ति । अथास्य बहुदोषता ख्यापनार्थमन्यदपि कथानकमुच्यते—

पिण्ड-  
विष्टुद्धि०  
दीक्षाद्वयो-  
पेतम्

॥ ४६ ॥

किर एगम्मि नगरे एगया एगो साहू भिक्खट्टाए पविट्ठो, निस्सेणिमालोहडं भिक्खं दलमाणि अगारिं पडिसेहेऊण निगओ । एत्थंतरे पविट्ठो एगो परिघायगो, पुच्छओ य गिहवइणा-कीस अणेण साहुणा भिक्खा न गहिय चि । तओ तेण भणियं-अदिन्नदाणा इमे चि । तओ तस्स भिक्खादाण निमित्तं निस्सेणिमारुहंती घस चि पडिया से भारिया गोहुमजंत-गोवरि, फाडिया य से कुच्छी, निवडिओ य फुरफुरायमाणो गब्भो, मया य सा । अन्नदियहम्मि आगएण साहुणा पुच्छिएण तहेव संबोहेऊण पवाविउ चि । इत्याघनेकापायकारणं मालापहंतं विज्ञाय संयमिना परिहार्यमेवेति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

व्याख्यातं त्रयोदशं मालापहंतं द्वारं, अथ चतुर्दशमाच्छेद्यद्वारं व्याचिख्यासुराह—  
व्याख्यातं त्रयोदशं मालापहंतं द्वारं, अथ चतुर्दशमाच्छेद्यद्वारं व्याचिख्यासुराह वा, उप-  
दी०-ऊर्द्धाधउमयतिर्यक्षु यथासह्यं माल-भूमिगृह-कुम्भी-घरणीषु स्थितं, तत्र 'माले' मञ्चे गृहोपरितनभागे वा, उप-  
लक्षणाच्च सिक्कादि, ऊर्द्धस्थितं १, भूमिगृहादिष्वधःस्थितं २, कुम्भीकोष्ठिकादिषु पाण्युत्पाटनादथोबाहुप्रसाराणाच्च  
उमयस्थितं ३, 'घरणिः' पृथ्वी, तत्रस्थेषु कष्टप्राप्यावारेषु तिर्यक्स्थितं ४, करदुर्गाहं 'दलयति' ददाति यद्भक्तादि तन्माला-

पहंतं व्याख्यातोपाधिभेदाच्चतुर्द्धा स्यादिति गाथार्थः ॥ ४९ ॥ उक्तं मालापहंतं, अथ चतुर्दशमाच्छेद्यमाह—  
अच्छिदिय अन्नेसिं, बलावि जं देति सामिपहुतेणा । तं अच्छेज्जं तिविहं, न कप्पएऽणुमयं तेहिं ॥ ५० ॥  
अच्छिदिय अन्नेसिं, बलावि जं देति सामिपहुतेणा । तं अच्छेज्जं तिविहं, न कप्पएऽणुमयं तेहिं ॥ ५० ॥

व्याख्या- 'आच्छिद्य' अपहृत्य-उदात्येति यावत् । केम्यः सकाशादित्याह- 'अन्नेसिं'ति अन्येभ्यो दातुमनीप्सद्भ्योऽपि  
कौटुम्बिकदासमृतकादिभ्यो 'बलादपि' हठादेव-बलात्कारेणैवेत्यर्थः । यद्भक्तादि, किमित्याह- 'ददति' साधुभ्यः प्रयच्छन्ति ।  
के कर्तारः ? इत्याह- 'सामिपहुतेण' चि, 'स्वामी च' राजा 'प्रभुश्च' गृहादिनायकः 'स्तेनाश्च' चौराः स्वामिप्रभुस्तेनाः ।

॥ ४६ ॥

आघेधुदम-  
दोषेषु च-  
तुर्दशस्या-  
च्छेद्यस्व  
विवरणम् ।

तदाच्छेद्यं-आच्छेद्याख्यो दोषविशेषो मण्यत इति शेषः । एतच्च 'त्रिविधं' स्वामिप्रभुस्तेनलक्षणदायकमेदात्रिप्रकारं विज्ञेयं । इदं च सर्वमपि 'न' नैव 'कल्पते' साधुनां ग्रहीतुं युज्यते । किंविशिष्टं सदित्याह- 'अननुमतं' अननुज्ञातं, अनुज्ञातं तु कल्पत एवेत्यर्थादुक्तं भवति । 'नेहिं' ति 'तैः' कौटुम्बिकादिभिर्नेकदोषसम्भवात् । यदाह- "गोवालए य भयए, खरए पुत्ते य ध्रयसुण्हाय । अवि[अचि]यत्तमसंखडाई, केइ पओसं जहा गोवो ॥ १ ॥" अस्या भावार्थः- गोपालके तथा 'भृतके' कर्मकरे 'द्व्यक्षरे' दासे तथा पुत्रे दुहितरि च 'सुषायां च' वधूटिकायां, चकाराद्भार्यादिपरिग्रहः । एतद्विषये प्रभोराच्छेद्यं स्यात्, ततश्च स यद्येतेभ्यः- स्वामिकौटुम्बिकादिभ्योऽपि, चौरास्तु पथिकादिभ्योऽपि, अनीप्सद्भ्यः सकाशाद्-गृहीत्वा भक्तादिकं प्रयच्छन्ति, साधवस्तूपरोधादिनाऽपि यदि गृह्णन्ति तदैते दोषाः स्युः । 'अप्रीति'र्गोपादीनां मानसं दुःखं स्यात्, तथा 'असंखडं' कलहः, आदिशब्दादन्तराया-दत्तादानै-कानेकद्रव्यव्यच्छेदो-पाश्रयनिष्कासन-गालीप्रदान-प्रभृतिदोषजालपरिग्रहः । तथा केचित् प्रद्वेषं साधोरुपरि गच्छेयुः, यथा-गोपः कश्चिद् ।

किल केनापि प्रभुणा कस्यापि गोपस्य भृतिदिने तदीयदुग्धं कियदप्याच्छिद्य साधवे दत्तं, साधुना तु गृहीतं । ततश्च स पयोभाजनमादाय स्वगृहमागमत् । दृष्टं च न्यूनं पयोभाजनं तद्भार्यया, ततः सा तस्मै आक्रोशान् दातुं प्रवृत्ता, चेटरूपाणि च रोदितुं लग्नानि । ततो गोपोऽप्युल्लासितबहलकोपानलः सञ्जातसाधुवधपरिणाम इत्येतश्च तदन्वेषणं कुर्वीणो ददृशे साधुना, ज्ञाततदभिप्रायेण च तत्परितोषार्थमेवमालापश्चक्रे, यथा-गृहपतिनिर्बन्धान्मया त्वदीयदुग्धं गृहीतं, साम्प्रतं च तवार्पणायोच्चलितोऽहं, न च भवद्गृहं जानामीति गृहाणेदं, ततो गोपेन सञ्जातोपशमेनोक्तं, यथा-तवैव भवत्वेतच्चिरं च त्वया जीवितव्य-

भिति मुक्तोऽसि, द्वितीयवारमेवं माकार्षीरिति । एवमनेकदोषनिबन्धनमिदं ज्ञात्वा शुश्रुभुभिः परिहार्यमेवेति गार्थः ॥५०॥  
व्याख्यातं चतुर्दशमाच्छेद्यद्वारं, साम्प्रतं पञ्चदशमनिसृष्ट्याख्यद्वारं विभणिपुराह—  
दी०—‘आच्छिद्य’ उद्दाल्य ‘अन्येभ्यो’ भृत्यादिभ्यः सकाशाद्बलादपि यद्ददति स्वामिप्रभ्रुस्तेनाः । तत्र ‘स्वामी’ राजा  
‘प्रभ्रु’गृहादीनां पतिः ‘स्तेना’शौराः, तदाच्छेद्यं त्रिविधं स्वामिप्रभ्रुस्तेनभेदेन कल्पते ‘अननुमतं’ अननुज्ञातं तैर्भृत्यादिभि-

‘अणिसिष्टमदिन्नमणु—मयं व बहुतुल्यमेगु जं देजा । तं च तिहा साहारण—चोल्लगजड्डुणिसिष्टं ति ॥५१  
रिति गार्थः ॥ ५० ॥ उक्तमाच्छेद्यं, अथ पञ्चदशमनिसृष्टमाह—  
अणिसिष्टमदिन्नमणु—मयं व बहुतुल्यमेगु जं देजा । तं च तिहा साहारण—चोल्लगजड्डुणिसिष्टं ति ॥५१  
व्याख्या—‘अनिसृष्टं’ अनिसृष्टसञ्ज्ञदोषो, भवेदिति गम्यते । किं तदित्याह—‘अदत्तं’ अवितीर्णं यद्वा ‘अननुमतं’ अमुक्त-  
लितं—अननुज्ञातमित्यर्थः । ‘वा’ विकल्पार्थः । ‘बहूनां’ अनेकेषां स्वामिनां ‘तुल्यं’ साधारणं बहुतुल्यं ‘एको’ऽद्वितीयो दाता  
यन्मोदकादिकं कर्मतापन्नं ‘दद्यात्’ प्रयच्छेदिति । ‘तच्च’ तत्पुनरनिसृष्टं ‘त्रिधा’ उपाधिभेदाद्भिप्रकारं स्यात्, केनोच्छेदने-  
त्याह—‘साहारणचोल्लगजड्डुणिसिष्टं’ति, अनिसृष्टशब्दस्य प्रत्येकमभिसम्बन्धात्साधारणानिसृष्टं चोल्लकानिसृष्टं जड्डुणिसृष्टं ।  
चेत्येवं । तत्र साधारणं—बहूनां मित्रादिस्वामिनां सामान्यं यन्मोदकादि, तदेव तद्विषयं वा अनिसृष्टं साधारणानिसृष्टं ।

तत्रोदाहरणं, यथा—  
खिहपड्डिए नगरे माणिभदपमुहेहिं बत्तीसाए जुवाणमित्तेहिं गोड्डियभत्तं कारियं नीयं च रमणिजुजाणे, ततो ते तत्थेगं

रक्खवालं काऊण गया न्हवणनिमित्तं । एत्थंतरे भिक्ख्वानिमित्तं समागओ एगो साह । तओ रक्खवालजुवाणएण मणियं—



मयवं ! अन्नेसिपि एगतीसाए भित्ताणं सामन्ना एए मोयगा, कहमेगो ते देमि ? । साहुणा भणियं-ते कहि गया ? । तेण भणियं ण्हाइउं ति । साहुणा भणियं-अहो ते विन्नाणं ! ! जं परसंतिएण वि पुण्णं न तरसि काउणं ति, किंच बत्तीसाए वि मोय-नेहि दिन्नेहि तव एगो चेव गच्छिही, ता सामन्नद्वेणं अप्पव्वएणं बहुबुद्धेउणा कुणसु मोयगदाणेण धम्मं ति । एवं पुणरुत्त-भणिएणं तेणं दिन्ना से मोयगा । तओ सो ताओ ठाणाओ नियत्तंती पुच्छिओ सम्भुहावडियमाणिभदाईहिं, जहा-भयवं ! किमित्थ तए लद्धं ? ति, तेण वि समएणं संलत्तं-न किंचिवि ति, तओ तेहिं बला पलोयंतेहिं दिट्ठं से मोयगमरियं भायणं, पुच्छिओ य रक्खवालो, तेण वि मीएण संलत्तं-न मए दिण्णं ति । तओ सलोत्तो चोरो ति भणंतेहिं गहिओ साहु, आयड्डिऊण नीओ ववहारत्थाणं, पुच्छिओ य कारणिएहिं, साहियं च सबं जहावुत्तं तं साहुणा, चितियं च तेहिं-समुज्जुओ एस साहु ति, भणिओ य- सा पुणो एवं काहिसि निविसएण-+ य गंतवं ति, मुक्को ति ।

यस्मादेते दोषास्तस्मान्न ग्रह्यमिदं । तथा स्वामिना पदातिभ्यः प्रसादी क्रियमाणं कौटुम्बिकेन क्षेत्रादिस्थितकर्मकरेभ्यो दीयमानं भक्तं चोह्यको भण्यते, स एव तद्विषयं वा अनिसृष्टं चोह्यकानिसृष्टं । एतच्चाननुज्ञातं अदत्तादानान्तरायादिदोषसम्भवाद् ग्रहीतुं न कल्पत एव । तथा 'जडु' हस्ती, तस्य सम्बन्धि भक्तपिण्डरूपं वस्तु राज्ञा गजेन चानिसृष्टं जडानिसृष्टं, एतदप्यननुज्ञातं साधुभक्तमेण्ठादिना दीयमानमपि न कल्पते, राजपिण्ड-गजान्तराया-दत्तादानान्-त्मोपधातादिदोषसम्भवादिति गार्थार्थः ॥ ५१ ॥

दी०-अनिष्टं तस्यात् यद् 'बहुतुल्यं' बहूनां सत्कं, तैरदत्तमनुमतं वा तयोर्मध्यादेको दद्यात् । तच्च त्रिधा-साधारण-  
चोच्छ्रग-जडानिसृष्टभेदैः । तत्र 'साधारणं' बहुस्वामिकं, तथा 'चोच्छ्रकः' स्वाम्यादिना सेवकादीनामेकत्र प्रसादीकृतं भक्तादि,  
तद्विषयं २ । 'जडो' हस्ती, तद्भक्तपिण्डमध्याहृतं ३, राजपिण्डादत्तादिदोषकृञ्जडानिसृष्टमित्याहुरिति गाथार्थः ॥ ५१ ॥

उक्तमनिष्टं, अथ षोडशमध्यवपूरकाख्यमाह—

जावंतियजइपासं-डियत्थमोयइ तंदुले पच्छा । सऽऽ मूलारंभे, जमेस अज्झोयरो तिविहो ॥५२ ॥  
व्याख्या- 'यावदर्थिकाश्च' समस्तमिक्षाचरा 'यतयश्च' निर्ग्रन्थाः 'पाषण्डिनश्च' सर्वतीर्थिकास्ते तथा, तेषामर्थाय-निमित्तं  
यावदर्थिकयतिपाषण्डिकार्थं । किमित्याह-यद् 'अवतारयति' क्षिपति स्थाल्यां, गृहस्थ इति गम्यते । कानित्याह-'तन्दुलान्'  
धान्यकणान्, उपलक्षणत्वाज्जलादि च । कथमित्याह-'पश्चात्' मूलारम्भोत्तरकालं । क्व सतीत्याह-'सऽऽ मूलारम्भे'ति  
'स्वार्थाय' आत्मनिमित्तं-गृहनिमित्तमित्यर्थः । मूलारम्भे-अग्निज्वालनाद्रहणदानादिलक्षणे व्यापारे प्रवृत्ते सतीत्यर्थः ।  
यदित्यस्य सम्बन्धो दर्शित एव । एषोऽयं 'अध्यवपूरो'ऽध्यवपूरकः पाषण्डिमिश्राध्यवपूरकश्चेति । इह च  
भेदात्रिविध-स्त्रिप्रकारः स्यात्, यथा-यावदर्थिकमिश्राध्यवपूरको यतिमिश्राध्यवपूरकः पाषण्डिमिश्राध्यवपूरकश्चेति सम्भावयामः ।  
श्रमणमिश्राध्यवपूरकोऽपि घटते, केवलं कुतोऽपि कारणान्छ्रमणाः पाषण्डिनां मध्ये विवक्षिता इत्यसौ नोक्त इति सम्भावयामः ।  
अस्य चाद्यभेदे यावत्पश्चात्प्रक्षिप्तं तावत्सृष्टे शेषं स्थालीगतं कल्पत एव, न शेष भेदयोरिति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ व्याख्यातं-  
षोडशमध्यवपूरकाख्यद्वारं, तद्व्याख्यानाच्च समर्थिताः सर्वेऽपि पिण्डोद्गमदोषा, अथ तेष्वेवाविशोधिकोऽपि मभिधातुमाह-

दी०—‘यावदर्थिनः’ सर्वे भिक्षार्थिनो ‘यतयः’ साधवः ‘पापण्डिनः’ सर्वतीर्थिकास्तदर्थं यद्वतारयति—प्रक्षिपति स्थाल्यां, गृहीति गम्यं । तन्दुलानुपलक्षणत्वात्सर्वधान्यादीन्, पञ्चान्मूलारम्भस्य, क्व सति ? स्वार्थाय मूलारम्भे कृतेऽग्निज्वालनाद्रहणादौ, एषोऽध्यवपूरकस्त्रिविध उक्तभेदैरिति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ व्याख्याताः षोडशोद्गमदोषाः अथ तेष्वप्यविशोधिकोऽपिमाह—

इय कम्मं उद्देसिय—तियमीसऽज्झोयंरंतिमदुगं च । आहारपूइबायर—पाहुण्डियविसोहिकोडि ति ॥ ५३ ॥

व्याख्या—इत्येतेषु षोडशसु पिण्डोद्गमदोषेषु मध्ये कर्मत्याघाकर्म, तथा ‘उद्देसिय’ति औद्देशिकं द्वादशविधं, उद्दिष्ट-कृत-कर्मख्याद्देशिकानां प्रत्येकं चतुर्भेदत्वात् । तत्र कर्मौद्देशिकस्य मोदकचूरी पुनर्मोदककरणार्थेत्त्रिकं पापण्डिश्रमणनिर्ग्रन्थ-विषयं समुद्देशिकाद्देशिकसमादेशिकाभिधानं, तदौद्देशिकत्रिकं । तथा ‘मिश्रं च’ मिश्रजातं । अध्यवपूरश्चा-ध्यवपूरकः, तौ तथा, तयोरन्तिमं-चरमं यद्विकं तन्मिश्राध्यवपूरान्तिमद्विकं । ‘चः’ समुच्चये, स च बादरप्राभृतिका चेत्येवं योज्यः । तथा ‘आहारपूति’ भक्तपानपूति तथा बादरप्राभृतिका च उक्तलक्षणा, किमित्याह—अविशोधिकोऽपि, अविद्यमाना ‘शोधिः’ शुद्धता आत्मार्थिकरणेऽपि भक्तादेर्यत्र सा तथा, सा चासौ कोटिश्च—उद्गमदोषविभागोऽविशोधिकोऽपि रित्येवं भण्यत इति शेषः । इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

साम्प्रतमस्या एवातिदुष्टताख्यापनार्थं पात्रविषयविधिमाह—

दी०—इत्येतेषु षोडशोद्गमदोषेषु मध्ये कर्मख्या आद्यदोषः १, तथौद्देशिकत्रिकं—चतुर्विधकर्मौद्देशिकान्त्यभेदत्रयं ३, तथा मिश्राध्यवपूरकयोरन्तिमद्विकं, द्वयोरपि पापण्डियविषयौ द्वौ द्वौ भेदौ, आहारपूति बादरप्राभृतिका चोक्तलक्षणा,

एतद्वेषदशकं अविशोधिकोदिरुद्रमदोषविभागो मण्यत इति गार्थार्थः ॥ ५३ ॥ तद्योगे विधिमाह—  
तीद्वि जुयं पत्तं पि हु, करीसनिच्छोडियं कयतिकल्पं । कप्पइ जं तदवयवो, सहस्सघाई विसलवोव ॥ ५४ ॥  
व्याख्या—‘तया’ अविशोधिकोद्या ‘युते’ खरण्टितं स्पृष्टं वा, किं तदित्याह—‘पात्रमपि’ साधुभाजनमपि ‘हु’र्वाक्या-  
लङ्कारमात्रे, किंविशिष्टमित्याह—‘करीषेण’ शुष्कगोमयचूर्णेन, उपलक्षणत्वाद्भ्रूसादिना च ‘निश्छोडितं’ घृष्टं-उद्धर्तित-  
मित्यर्थः । करीषनिश्छोडितं सत्, पुनरपि किंविशिष्टं सदित्याह—‘कृता’ विहितास्त्रय-स्त्रिसहस्र्याः ‘कल्पा’ जलप्रक्षालनरूपा  
यस्य तत्कृतत्रिकल्पं, उपलक्षणत्वादातपादिशोषितं च, किमित्याह—‘कल्पते’ साधूनां परिभोक्तुं युज्यते । ननु किमिति कृत-  
करीषोद्धर्तन-कल्पत्रिकल्पेव पात्रमपि कल्पते ? नान्यथेत्याह—‘ज’मित्यादि ‘यद्’ यस्मात्कारणात्तस्या-अविशोधिकोदिरवयवो-  
लवस्तदवयवः, अप्यर्थस्य गम्यमानत्वादविशोधिकोदिलेशोऽपि । किमित्याह—सहस्राणि हन्तुं शीलमस्येति सहस्रघाती, क  
इवेत्याह—‘विषलव इव’ प्रधानगरलेशो यथा, इदमुक्तं भवति-यथा अतिप्रधानविषलवोऽपि अन्यान्यवेधेन परम्परया प्राणि-  
सहस्राणि भक्तादिसहस्राणि वा विनाशयति, एवमविशोधिकोदिलवोऽपि शुद्धभक्तसहस्राण्यपि दूषयतीति गार्थार्थः ॥ ५४ ॥

अथ विशोधिकोदिं तद्गतविधिं च प्रतिपादयन्माह—  
दी०-‘तया’ अविशोधिकोद्या युतं पात्रमपि करीषनिश्छोडितं कृतत्रिकल्पं कल्पत इति पूर्ववत् । ‘यद्’ यस्मात् ‘तद-  
वयवो’ऽविशोधिकोदिलेशः सहस्रघातीविषलव इव भक्तादिसहस्राणि विनाशयतीति गार्थार्थः ॥ ५४ ॥  
अथ विशोधिकोदिं तद्विधिं चाह—

सेसा विसोहिकोटी, तदवयवं जं जाहिं जया पडियं । असढो पासइ तं चिय, तओ तथा उद्धरे सम्मं ॥५५॥

व्याख्या—‘शेषा’ अविशोधिकोट्युद्धरितोद्गमदोषा धात्र्यादयश्च, किमित्याह—विशोधिप्रधाना कोटी विशोधिकोटी, अण्यत इति शेषः । तत्र च ‘तस्या’ विशोधिकोठ्या ‘अवयवो’ अंशस्तदवयवस्तं यं कञ्चन कुरादिकं यत्र पात्रैकदेशे शुद्धभक्तमध्ये वा ‘यदा’ यस्मिन्नेव क्षणे ‘पतितं’ गतं—मिलितमित्यर्थः । ‘अशठो’ऽमायावी—मनोज्ञेतरेषु रागद्वेषरहित इत्यर्थः । ‘पश्यति’ अशुद्धमिदमित्यवगच्छति, तदा किं कुर्यादित्याह—‘तं चिये’त्यादि ‘तमेव’ विशोधिकोट्यंशं ‘तत’स्वस्मात्पात्रकाञ्छुद्धभक्त-मध्याद्वा ‘तदा’ तस्मिन्नेव काले ‘उद्धरेत्’ पृथक्कुर्यात्परित्यजेदित्यर्थः, साधुरिति गम्यते । न पुनः कालविलम्बं कुर्याच्चिरा-वस्थाने शुद्धस्याप्यशुद्धतापत्तेः । कथं ? ‘सम्यग्’ निरवयवतयेति गाथार्थः ॥ ५५ ॥

अथ पूर्वोक्तमेवार्थं विषयविभागेनाह—

दी०—‘शेषा’ उद्धरिता उद्गमदोषमवा धात्र्यादिदोषमवा च विशोधिकोटीः स्यात्, तस्या ‘अवयवं’ लेशं यं कञ्चन ‘यस्मिन्’ पात्रैकदेशे शुद्धभक्ते वा यदा पतितं ‘अशठो’ गृद्धिरहितो यतिः पश्येत्तदा ततः पात्राञ्छुद्धभक्ताद्वा तमेव लेशं ‘उद्धरेत्’ विधिना त्यजेत्—सम्यग् निर्लेपयेदिति गाथार्थं ॥ ५५ ॥ अत्र विशेषमाह—

तं चेव असंथरणे, संथरणे सधमवि विगिंचंति । दुल्लभदवे उ असढा, तत्तियमित्तं चिय चयंति ॥५६॥

व्याख्या—‘तं चेव’ति तमेव—निषतितमात्रमेव विशोधिकोट्यंशं ‘विगिंचंती’ति योगः, क्त्याह—‘असंस्तरणे’ अनिर्वहि । ‘संस्तरणे’ पर्याप्तौ पुनः ‘सर्वमपि’ समस्तमेव शुद्धमशुद्धं चेत्यर्थः । ‘विगिंचंति’ति परित्यजन्ति, साधव

इति गम्यते । इदमुक्तं भवति—यदि कथञ्चिदनाभोगादिना शुद्धभक्तमध्ये विशोधिकोटिदोषदूषितं भक्तं गृहीतं स्यात्, पश्चाच्च विज्ञातं, ततो यदि तेन विनाऽपि निर्बहन्ति तदा सर्वमपि विधिना परित्यजन्ति, अथ न निर्बहन्ति तदा प्रत्यभिज्ञाय तदेव परित्यजन्ति, परं यदा शुद्धशुष्कभक्तमध्ये विशोधिकोटिदोषवत्कृतीमनादिद्रव्यं निपतितं भवेत्तदा शुद्धं काञ्चिकादिजलं तन्मध्ये प्रक्षिप्य करं च भाजनमुखे दत्त्वा गालयन्ति यथा तत्सर्वं निस्सरतीति । आर्द्रे तु शुद्धतक्रादिके यद्यशुद्धं शुष्कौदनादि पतितं स्यात्तदा यावच्छक्नुवन्ति तावत्तन्मध्यात्करेणोद्धृत्य परित्यजन्तीति, यदा तु द्रव एव द्रवं निपतितं स्यात्तदा किं विधेयं ? इत्याह ‘दुल्लभै’त्यादि, दुल्लभद्रवे तु—दुष्प्राप्य+घृतादिद्रवरूपे वस्तुनि पुनरशुद्धे ×इतरघृतादिमध्ये निपतिते, सतीति गम्यते । ‘अशठा’ अमायाविनः—सत्यालम्बना इति भावः । ‘तावन्मात्रमेव’ पतितद्रव्यप्रमाणमेव तदाकलयत्य ‘चयन्ति’ति ‘त्यजन्ति’ विधिना परिष्ठापयन्ति साधव इति गार्थार्थः ॥ ५६ ॥

अथोद्गमदोषनिगमनं उत्पादनादोषप्रस्तावनां चाह—  
दी०—तमेव विशोधिकोट्यंशं ‘असंस्तरणे’ अनित्रीति ‘विगिञ्चन्ति’ त्यजन्तीति योगः, संस्तरणे सर्वमपि शुद्धमशुद्धं च त्यजन्ति, दुर्लभद्रव्ये—घृतादौ ऋद्रव्ये द्रवद्रव्ययोगाहुष्प्रापे त्वशठास्तावन्मात्रमेव पतितद्रव्यप्रमाणं त्यजन्ति, निर्लेपः—सलेपे काञ्चिकादिना शोध्यमिति गार्थार्थः ॥ ५६ ॥ अथोद्गमदोषनिगमनं उत्पादनादोषप्रस्तावनां चाह—

+ “दुष्प्राप०” प. क. ह. । × “द्वेतर०” ह. क. । \* “द्रव्ये दुष्प्रापे” ह. । — “निर्लेपे सलेपं” क. “निर्लेपं सलेपं”

ह. । अस्मद्धिया तु “निर्लेपं सलेपेन” इति शुद्धमाभाति ।

भणिया उगमदोसा, संपइ उप्पायणाए ते वोच्छं । जेऽणज्जकज्जसज्जो, करिज्ज पिंडट्टमवि ते य ॥५७॥  
व्याख्या—‘भणिताः’ प्रतिपादिताः, के ? इत्याह—‘उद्गमदोषाः’ \*पिण्डोत्पत्तिदूषणानि । ‘सम्प्रति’ इदानीं ‘उत्पाद-  
नाया’ गृहस्थात्सकाशात्साधुना स्वार्थं भक्ताद्युपार्जनारूपायाः सम्बन्धिनस्तान् दोषान् ‘वक्ष्ये’ अभिधास्ये, यानुत्पादना-  
दोषान् ‘अणज्जकज्जसज्जो’ चि ‘अनार्यकार्येषु’ पापकर्मसु—सावद्यव्यापारेष्वित्यर्थः । ‘सज्जः’ प्रगुणोऽनार्यकार्यसज्जः सन्  
‘कुर्यादि’ विदध्यात्, कश्चिच्छौल्योपहतः साध्वाभास इति गम्यते । ‘पिण्डार्थमपि’ क्षणिकवृत्तिमात्रफलजन्यभक्तादिप्रास-  
निमित्तमपि । ‘ते य’ ते दोषाः पुनरस्मी भवन्तीति गम्यत इति गाथार्थः ॥ ५७ ॥

अथ प्रस्तावितोत्पादनादोषानेव नामतः सङ्ख्यातश्च दर्शयन्नाह—  
दी०—भणिता उद्गमदोषा गृहस्थाश्रिताः, सम्प्रत्युत्पादनाया—गृहस्थात्साधुना भक्तोपार्जनरूपायास्तान् दोषान् वक्ष्ये,  
यान् दोषाननार्यकार्यसज्जः—सावद्यव्यापारप्रगुणः साध्वाभासः पिण्डार्थमपि कुर्यात्, ते चामी—वक्ष्यमाणा इति गाथार्थः ॥५७॥

अथ तान्नामतः सङ्ख्यातश्च गाथाद्वयेनाह—  
थाई-दूई-निमित्ते, आजीव-वणीमंगे तिगिच्छां य । कौहे माणे मार्या, लोभे<sup>०</sup> य हवंति दस एए ॥५८॥  
पुविं पच्छासंथवं, विज्जो-मंते<sup>१३</sup> य चुण्णो-जोगे<sup>१४</sup> य । उप्पायणाए दोसा, सोलसमे मूलकम्ममे य ॥५९॥

\* “ पिण्डोद्गमदू० ” य. ।





कर्म, मवचनस्य वा मूलं कर्म-मूलकर्म । 'चः' शब्दः पुनः शब्दार्थस्तप्रयोगो दर्शित एवेति द्वारागाथाद्वयार्थः ॥५८-५९॥  
 साम्प्रतं प्रथमदोषं धात्रीत्वकरणलक्षणं प्रतिपादयन्नाह—  
 दी०-‘धात्री’ बालानां, तस्याः कर्म धात्रीकर्म १, दूती परस्परसन्दिष्टार्थकथनात् २, निमित्तं-अतीताद्यर्थसूचनम् ३,  
 आजीवो जात्यादि कथनादुपजीवनम् ४, वनीपकं-अभीष्टजनप्रशंसनम् ५, चिकित्सा-रोगप्रतीकारः ६ । क्रोधो ७, मानो ८,  
 माया ९, लोभश्च १०, स्पष्टाः, भवन्ति दशैते ॥ ५८ ॥ तथा पूर्व-पश्चात्संस्तवो-दायकश्लाघनम् ११, विद्या-देव्यधिष्ठिता  
 ससाधना च १२, मन्त्रो-देवाधिष्ठितोऽसाधनश्च १३, चूर्णो-नयनाञ्जनादिरूपः १४, योगश्च-सौभाग्यादिक्रुद्रव्यनिचयः १५,  
 एतेषां प्रयोगादुत्पादनादोषाः, षोडशः पुनर्मूलकर्म-गर्भोत्पादनादि चैति गाथाद्वयार्थः ॥ ५९ ॥ तत्र धात्रीदोषमाह—

वालस्स खीरमज्जन-मंडणकीलावणंकधाइत्तं । करिय काराविय वा, जं लहइ जई धाइपिंडो सो ॥६०॥

व्याख्या-‘बालस्य’ शिशोः ‘खीर-मज्जन-मंडण-कीलावणं-ऽकधाइत्तं’ति ‘क्षीरं च’ दुग्धं ‘मज्जनं च’ स्नानं  
 ‘मण्डनं च’ विभूषा ‘क्रीडापनं च’ रमणं ‘अङ्कथो’त्सङ्गः, ते तथा, तद्विषयं धात्रीत्वं क्षीर-मज्जन-मण्डन-क्रीडापना-ङ्कधात्रीत्वं  
 कर्मतापनं ‘करिय’ ति ‘कृत्वा’ स्वयं विधाय, अथवा ‘काराविय’ ति ‘कारयित्वा’ अन्यसकाशान्निष्पाद्य ‘वा’ विकल्पे,  
 यथा कश्चित्साध्वाभासः परिचितागारीगृहे भिक्षार्थं गतो रुदन्तं बालकं विलोक्य तन्मातरं प्रतीदमाह-रोदित्ययं क्षीराहारो  
 बालकः; अहो तेऽतिप्रमादिता !!, किं सुलभानि पुत्रजन्मानि ?, ततो ह्यगित्येव देहि मे भिक्षां ततः पाययामुं स्तनं,  
 यद्वाऽलं मे भिक्षया, एनमेव तावत्पायय स्तन्यं, भूयोऽप्यहमागमिष्यामि । अथवा ब्रवीति-तिष्ठ त्व निराकुला, अहमेवास्य

क्षीरं दास्यामीति । एवं मञ्जन-मण्डनादिष्वपि घात्रीत्वकरणकारणद्वारेण यत्पिण्डं 'लभते' प्राप्नोति 'यति'स्तथाविधसाधुः ।  
'घार्द्धिपिण्डो'ति घात्रीत्वकरणाच्छब्दः पिण्डो मध्यमपदलोपात् घात्रीपिण्ड इत्युच्यत इति शेषः । 'सो'त्ति सः अनन्तरोक्तः ।  
अत्र च भूयांसो दोषाः, यथा-मद्रकत्वाद्भालकजननी अश्लुचिभिर्क्षां दद्यात्प्रान्तत्वात्प्रद्वेषं वा कुर्यात्, कर्मोदयाद्भालकस्य  
ग्लानत्वे सत्युड्गाहश्च भवेत्, चाडुकारिण इति जनेऽवर्णवादश्च स्यात्, स्वजना अन्ये वा सम्बन्धं वा शङ्करन्नित्यादि ।  
उदाहरणं चात्र—

इहैव जंबुद्वीवे दीवे भारहे वासे कोल्लयरं नाम नयरं होत्था, तत्थ य जंघाबलपरिहीणा संगमथेराभिहाणा गुणरयणनिहिणो  
स्सरिणो परिवसंति । अन्नया य संपत्ते कक्खडे दुब्भक्खकाले संगमथेरायरिएहिं अणुन्नायनियगच्छपरिवुडो सीहाभिहाणसीसो  
पट्टाविओ सुभिक्खदेसंतरं, आयरिया वि महाणुभागा मासकप्पेण विहरिउमसमत्था "जा जयमाणस्स भवे, विराहणा  
सुत्तविहिस्समग्गस्स । सा होइ निज्जरफला, +अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥ १ ॥"त्ति सुत्तमणुसरिज्जं तं खित्तं  
नवविमाणे काऊण चउविहाए दव्वेत्तकालभावरूवाए जयणाए जयमाणा तत्थेव विहरिंसु, तत्थ दव्वओ पीढफलगाइसु,  
खेत्तओ वसहिपाडएसु, कालओ एगत्य पाडए मासं वसिज्जं बीयमासे अन्नत्थ वसहिं गवेसिउं× वसंति, भावओ सबत्थ  
निम्ममत्ता विहरंति । इओ य अन्नया कयाइ आयरियपउत्तिगवेसणानिमित्तं पट्टविओ सीहेण दत्ताभिहाणसीसो । पत्तो य तं  
नयरं । तओ आयरिया ँनीयवासिणो ति काऊण ठिओ तप्पडिस्सयाओ बाहिं, वंदिया य किंपि स्सरिणो, भिक्खासमए

+ "अध्यात्मविशुद्धियुक्तस्य" ( पर्यायः अ० ) × "गवेसिय" य. । \* नित्यवासिन इति कृत्वा ( पर्यायः अ० ) ।

पविट्टो भिक्खवाए तेहिं समं । ✕अभाउंछचिरहिंडणेण य समुप्यन्नो से संकिलेसो, अहो ण कुंढक्कत्तेणेण इमो पंतकुलाणि सं  
 हिंडावेइ, मइकुलेसु पुण अप्पणा गिण्हस्सइ । एवंविहं च से संकिलिडुपरिणामं नाऊण पविट्टो एगम्मि+ईसरकुले तेण समं सूरि ।  
 तत्थ य पूयणागहगहियं चेडरूवं रुयंतं दइण चप्पुडियादाणपुब्बयं भणियं सूरिणा-मा रुय चेडरूव ! ति । तओ से अचित्त-  
 वसामत्थयाए पणट्ठा सत्ति कडपूयणाऽ, ठिओ तुण्हक्को चेडो । तओ पइडुवयणपंक्याए उवणीयं से जणणीए भरियं भोयगाणं-  
 थालं, गुरुणा वि भणिओ दत्तो-मइ ! गिण्हसु इमं ति । तओ धेत्तूण पज्जत्तं ति भणिऊण गओ दत्तो उवस्सयं । गुरु वि अंत-  
 पंतसु कुलेसु ममिऊण पत्तो उवस्सयं, सुत्तं च तेहिं । तओ आवस्सगवेलाए आलोएमाणो भणिओ गुरुणा-मइ ! सम्ममा-  
 लोएहि । तेण भणियं तुम्मेहिं चैव समं विहरिओम्हि, किमित्थासम्मं ? ति । गुरुणा भणियं-सुहुमघाईपिंडो तुमए परिशुत्तो,  
 छोडियाकरणेण पूयणाचिगिच्छापिंडो य । अहो सुहुमे वि एस मे दोसे पलोएइ, अप्पणो पुण महंते वि न पिच्छइ ।  
 अथवा "सर्वः परस्य पश्यति, बालायादपि तन्नूनि छिद्राणि । नात्मगतानि तु पश्यति, हिमगिरिशिखरप्रमा-  
 णानि ॥५॥" इइ चित्तिऊण निग्गओ उवस्सयाओ नाहिं ति । तओ जहासन्निहियदेवयाए गुरुपडिणीओ ति काऊण वेडवियं  
 अन्भवइलयं, कयं महंतंघयारं जणिओ खरफरुसमारुओ, वरिसाविओ घणो । तओ तिमंतेण\* भयविहुरमाणसेण य  
 बाहरिया सूरिणो, तेहिं वि कओ सदो-आगच्छसु ति । तेण भणियं-अंधयारे न पेच्छामि वसहिदुवारं । तओ सूरिणा खेला-

✕ अज्ञातोब्धः, कोऽर्थः ? अज्ञातकृपणगृहादौ । \* मायावित्त्वेन (प. अ.) । - "एगंसि" अ. । § कटपूतनानाम राक्षसी (प.  
 अ.) । \* " भिन्नतेणं " अ. । आद्रीभूतेन (पर्यायस्तत्रैव)

लिङ्गकरंगुलीपईवेण उज्जोत्रिया वसही, चितियं चडणेण-अहो !! दीवयपरिग्गहो वि अत्थि आयरियाणं, समागओ गुरुसमीवं,  
विरइओ अपणेण अप्पणा संथारओ, गुरुणा वि उवसंहरिओ अंगुलिपईवो । जाए य तमंथयारे भणिओ गुरुणा, जहा-  
किमज्जो ! तुब्भे पईवसहियाए वसहिए ठायह ? विहरंत य त्ति, तओ लज्जिओ सीसो । एत्थंतरे समागया देवया, सासिओ  
तीए । तओ दिन्नं तेण चलणनिवडिण्ण गुरुणो मिच्छामि दुक्कडं, पडिवन्नं पायच्छित्तं ति गाथार्थः ॥ ६० ॥

अथ दूतीत्वकरणदोषं व्याख्यातुमाह—  
दी०—‘बालस्य’ शिशोः ‘क्षीरं’ दुग्धं ‘मज्जनं’ स्नानं ‘मण्डनं’ विभूषा ‘क्रीडापनं’ रमणं ‘अङ्क’ उत्सङ्ग, एतद्विषयं

घात्रीत्वं कृत्वा स्वयमन्यस्मात्कारयित्वा वा यद्भक्तादि लभते यतिः स घात्रीपिण्ड इति गाथार्थः ॥ ६० ॥

अथ दूत्याख्यमाह—

कहिय मिहो संदेसं, पयडं छन्नं व सपरगामेसु । जं लहइ लिंगजीवी, स दूइपिंडो अणत्थफलो ॥ ६१ ॥

व्याख्या—‘कथयित्वा’ निवेद्य, कं ? इत्याह—‘मिथस्सन्देशं’ परस्परसन्दिष्टार्थ, किंविशिष्टमित्याह—‘प्रकटं’ प्रकाशं अथवा  
‘छन्नं’ गुप्तं, ‘वा’ विकल्पे, क ? इत्याह—‘सपरगामेसु’ त्ति ‘स्वश्च’ निवासमात्रापेक्षया साधोरात्मीयः ‘परश्च’ अन्यः  
स्वपरौ, तौ च तौ ‘ग्रामौ च’ सन्निवेशविशेषौ स्वपरग्रामौ, तयोः । तत्र च स्वग्रामे परग्रामे वा भिक्षार्थं व्रजन् साधुर्मात्रादेः  
सम्बन्धिनं सन्देशकं गृहीत्वा आहारादिलिप्सया अन्येन वा केनापि दुरध्यवसायेन दुहित्रादेस्तथैव निवेदयति, यथा-सा तत्र  
माता अष्टकं भणतीत्यादि प्रकटसन्देशकः । तथा गृहीतसन्देशकः कश्चिन्मायावी साधुर्द्वितीयसाधुप्रत्यायनार्थं कामप्यगारीणीं

प्रति वक्ति, यथा-अतिमुग्धा ते सुता, या अस्मान् प्रति वदति, यदुत-इदमिदं च मम मात्रे निवेदनीयमिति । साऽपि दक्षतया तदभिप्रायं विज्ञाय प्रतिभणति, यथा-वारयिव्यामि तां पुनरेवं ब्रुवाणामित्यादिकस्तु प्रच्छन्नसन्देहक इति यं पिण्डं 'लमते' प्राप्नोति, कः ? इत्याह-'लिङ्गेन' रजोहरणादिना धर्मचिह्नेन 'जीवितुं' निर्बोद्धुं शीलं यस्येति लिङ्गजीवी-साधुवेषमात्रधारी-त्यर्थः । सोऽनन्तरोक्तः पिण्डः किं ? 'दूहपिंडो' ति दूतीत्वकरणोपायेन लब्धः पिण्डो दूतीपिण्ड इत्युच्यत इति शेषः । स च किंविशिष्टः ? इत्याह-'अणत्थफलो'ति, अनर्थान्-प्रचुरैहिकामुष्मिकापायान् 'फलति' जनयतीत्यनर्थफलो-ऽनेकदोष-जालहेतुरित्यर्थः । सम्प्रदायश्चात्र—

किल कयोरपि ग्रामयोः परस्परं वैरमासीत्, तयोश्चैकस्मिन् साधुशय्यातरी परिवसति द्वितीये च तदुहिता, ततो द्वितीयग्रामे भिक्षार्थं प्रस्थितो निजजनकसाधुर्मणितः शय्यातरी, यथा-मदीयदुहित्रे इदं कथनीयं, यदुतास्मद्ग्रामो भवद्-ग्रामस्योपरि वधपरिणत आस्ते, ततो यत्नेनासितव्यमिति । साधुनापि तत्र गतेन तथैव तस्यै निवेदितं, तयाऽपि स्वभर्त्रे, तेनापि स्वग्रामाय, सोऽपि तदाकर्ण्य सञ्जातभयमत्सरः सबह्य स्थितः । आगतश्चात्रान्तरे सङ्ग्रामसजः प्रतिपथग्रामः, संवृत्तश्च परस्परं समरविद्वरः, जातं च शय्यातरीं जामातृभर्तृपुत्रमरणं । प्रादुर्भूते च केनायं व्यतिकरः कथितः ? इति जनवादे शय्यातरिकैव शोकभरविधुरया लोकाय निवेदित, यथा-जामात्रादिवैरिणा मम पितृसाधुनेति । ततो लोके महा-नुद्वाहः साधोः समजनीति गाथार्थः ॥ ६१ ॥ अथ निमित्तकरणदोषमाह—

दी०—कथयित्वा 'मित्यःसन्देहं' परस्परसन्दिष्टार्थं 'प्रकटं' प्रकाशं 'छन्नं' गुप्तं वा स्वपरग्रामयो-निवासमात्रापेक्षया

आत्मीयान्यस्थानयोर्यच्छमते 'लिङ्गजीवी' साधुवेषधारी, स दूतिपिण्डोऽनर्थफलः, ऐहिकामृष्टिमिकदोषहेतुरिति गाथार्थः ॥६१॥

अथ निमित्ताख्यमाह—

जो पिंडाइनिमित्तं, कहइ निमित्तं तिकालविसयं पि । लाभालाभसुहासुह—जीवियमरणाइ सो पावो ॥६२॥

व्याख्या—यः कश्चिद्रव्ययतिः 'पिण्डादीनां' आहारपानादीनां, 'निमित्तं' अर्थाय-पिण्डादिनिमित्तं, भक्तादिलिप्सयेत्यर्थः । किमित्याह—'कथयति' आचष्टे । किं तदित्याह—निमित्तं ज्ञानविशेषं । किंविशिष्टमित्याह—'त्रिकालविषयमपि' भूतभाववित्त-मानाद्भागोचरमपि । पुनः किंविशिष्टमित्याह—लाभालाभ-सुखासुख-जीवितमरणादि, लाभानिद्वयकमित्यर्थः । तत्र 'लाभो-ऽभिलषितवस्तुप्राप्तिः' 'अलाभो' हानिः 'सुखं' सातं 'असुखं' दुःखं 'जीवितं' प्राणधारणं 'मरणं' प्राणवियोगः, एतेषां द्वन्द्वः, आदिशब्दात्सुमिक्षदुर्भिक्षादिपरिग्रहः । एवंविधनिमित्तकथनं चोत्पादनादोष इति 'सो'ऽनन्तरोक्तः साधुः, किमित्याह—'पापः' पापोपदेशकत्वात्पापीयान् । अत्रेदमुदाहरणं—

एगम्मि सन्निवेशे गामभोइओ होत्था, सो य तओ नरिंदाएसेण देसंतरं गओ, चिरकाले य गए उवाहुलीभूया+ से भोइणी भिक्खानिमित्तमागयं एगं समणं पुञ्छइ-भयवं ! किं निमित्तं वियाणसि न व त्ति ?, तेण भणियं-सुट्टु जाणामि । तीए जंषियं-जइ एवं ता कहेहि कया मे भोइओ एही ?, तेण संलत्तं-कल्लं ति । तीए भणियं-को एत्थ पच्चओ ? त्ति, तओ तेण गुज्जदेसतिलय-सुमिणदंसणाइओ पच्चओ साहिओ । तओ आउट्टाए भोइणीए दवाविया तस्स मोयगाइया

+ य, पुस्तकेऽय पाठः, "लीहया" ह. क. प., "लीया" अ. ।

पउरभिक्त्वा । भीयदियहम्मि य तीए कारिया संमञ्जणो-वलेवण-सोत्थिय-वंदणमालाइया सघरसोहा, पट्टविओ य परियणो भोइयाभिम्भो । तओ नियमंदिरसमायारदंसणत्थमेगागी समागच्छंतो दिट्ठो परियणं । तओ तेण भणियं-कहं ममागमणं वियाणियं ? तुन्मेहि ति । परियण वि जंपियं-भोइणीवयणाउ त्ति । तओ विम्भियचित्तो समागओ गेहं, तओ मक्रोउणेणं पुच्छिआ घरिणी, तीए वि रंजियहियाए सलाहमाणीए साहिओ गुञ्झतिलय-सुमिणाइओ निमित्ताइसओ । तओ मिच्छावियप्पवसरुट्ठेण वाहरिऊण पुच्छिओ समणो, जहा-इमीए वलवाए केरिसो गन्भो ? त्ति, तेण भणियं- +पंचपुंडो क्रिमोरो त्ति । तओ भोइएण फालावियं वलवाए पुहुं, दिट्ठो य जहाऽऽदिट्ठो क्रिमोरो, भणियं Xच तेण-जइ एयं संबं न हुंतं तो ते पुहुं फालियं हुंतं ति गथार्थः ॥ ६२ ॥ अथाजीवनदोपं व्याख्यातुमाह—

दी०—यः साधुः पिण्डादीनां निमित्तं-आहारवस्त्रपात्रादीनां लिप्सया कथयति निमित्तं-ज्ञानविशेषं त्रिकालविषयमपि, तथा लाभालाभ-सुखासुख-जीवितमरणादी[त्ति]नि (?) निमित्तविशेषणं स्पष्टं, स पापः, पापोपदेशकत्वादिति गथार्थः ॥ ६२ ॥

तथा आजीवाख्यमाह—  
जच्चाइधणाण पुरो, तग्गुणमप्पं पि कहिय जं लहइ । सो जाई-कुल-गण-कम्म-सिप्प-आजीवणापिंडो ॥ ६३

व्याख्या—जातिर्वक्ष्यमाणलक्षणा, सा आदिर्घेषां कुलादिवस्तूनां तानि तथा, तान्येव 'धनं' स्वोत्कर्षहेतुतया चित्तं येषां ते जाल्यादिधनास्तेषां, दातृणामिति गम्यते, पुरतो-ऽग्रतस्तद्गुणं-दातृसमानजात्यादिधर्मकं 'आत्मानमपि' स्वमपि

+ पञ्चचन्द्रकः ( पर्यायः अ. ) । X “ चण्णेण ” ह. ।

‘कथयित्वा’ वचनेन प्रकाश्य यं पिण्डं लभते-स्वजात्यादिपक्षपातरञ्जितेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यः सकाशात्प्राप्नोति, साधुरिति गम्यते । सोऽनन्तरोक्तः पिण्डः किमित्याह-‘जाई’त्यादि, जातिश्च वक्ष्यमाणार्था, एवं कुलं च गणश्च कर्म च शिल्पं च, तानि तथा, तेषामाजीवना-उपजीवना सा तथा, तथा लब्धः पिण्डो जाति-कुल-गण-कर्म-शिल्पाजीवनापिण्ड इत्युच्यते इति शेषः । इति गाथार्थः ॥ ६३ ॥ अथ जात्यादीन्येव व्याख्यानयन्नाह—  
दी०—‘जात्यादिघनानां’ वक्ष्यमाणजात्यादिवर्णनोत्कर्षचिचानां ‘पुरो’ऽग्रतः ‘तद्गुणं’ जात्यादिभिस्तुल्यमात्मानमपि-  
स्वं कथयित्वा यल्लभते साधुः स जाति-कुल-गण-कर्म-शिल्पानामाजीवनापिण्डः स्यादिति गाथार्थः ॥ ६३ ॥

जात्यादिस्वरूपमाह—  
माइभवा विष्पाइ व, जाई उग्गाइ पिउभवं च कुलं । मल्लाइगणो किसिमाइ, कम्मं चित्ताइ सिप्यं तु ॥ ६४ ॥

व्याख्या—‘मातृभवा’ जननीसमुत्था अथवा ‘विष्पादि च’त्ति ‘विप्रादिका’ ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यप्रमुखा, वाविकल्पे, जाति-जातिशब्दाभिधेया, भण्यत इति सर्वत्र शेषः । तथा ‘उग्गादि’ उग्रमोगप्रभृतिकं, तत्रोग्रभोगौ-आदिदेवव्यवस्थापितौ वंशविशेषौ, यद्वा ‘पितृभवं’ जनकसमुत्थं, वा विकल्पार्थः ‘कुलं’ कुलसब्द्धं । तथा मल्लादि-मल्ल-सारस्वतप्रभृति-‘गणो’ गण-सब्द्धः । मल्लगण सारस्वतगणस्वरूपं तु लोकरूढितो ज्ञेयं । तथा ‘किसिमाइ’ति मकारस्यागमिकत्वात् ‘कृष्यादि’ कर्षण-चाणिज्यप्रभृति ‘कर्म’ कर्मारूपं । तथा ‘चित्तादि’ चित्रकर्म-सीवनप्रभृति पुनः ‘शिल्पं’ शिल्पनामकं, तुः-पुनरर्थे, तत्प्रयोगश्च दर्शित एवेति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ अथ वनिपकदोषं व्याख्यातुमाह—



दी०—‘मातृभवा’ जननीसमुत्था विप्रश्चत्रियवैश्यादिर्वा जातिः, उग्रभोगादि पितृभवं वा कुलं, महत्सारस्वतादिर्गणो लोकप्रतीतः, कृषिवाणिज्यादि कर्म, चित्रसीवनादि शिल्पं, ‘तु’ पुनरिति गाथार्थः ॥ ६४ ॥ अथ वनीपकमाह—  
**पिंडटा समणातिहि-माहृणकिविणसुणगाइभत्ताणं । अप्पाणं तब्भत्तं, दंसइ जो सो वणीसोत्ति ॥६५**

व्याख्या—‘पिण्डार्थ’ भोजनादिनिमित्तं-भक्तादिलिप्स्येत्यर्थः । आत्मानं तद्भक्तं, दर्शयतीति योगः । केषां ? इत्याह—  
 श्रमणातिथिब्राह्मणकृपणशुनकादिभक्तानां, श्रमणाश्च-निग्रंथ-शाक्य-तापस-गैरिका-जीविकलक्षणाः, तत्र ‘निग्रन्था’ जैन-  
 मुनयः ‘शाक्याः’ सौगतयतयः ‘तापसा’ वनवासिपाषण्डिविशेषाः ‘गैरिकाः’ परिव्राजकाः ‘आजीविका’ गोशालमतवर्ति-  
 मिथुका इति । अतिथयश्च-प्राघूर्णकाः ‘ब्राह्मणाश्च’ धिग्जातीयाः ‘कृपणाश्च’ दरिद्रादयः ‘शुनकाश्च’ सारमेयास्ते तथा, ते  
 आदिर्येषां काकशुकगवादीनां ते तथा । तेषां ‘भक्ता’ भक्तिमन्तो ये दातृलोकास्तेषां पुरत ‘आत्मानं’ स्वं, किं ? इत्याह—  
 तद्भक्तं, तेषां-श्रमणातिथिप्रभृतीनां ‘भक्तं’ प्रशंसादिविधानतो भक्तिमन्तं । तथाहि-आहारादिलिप्सुश्चाटुकारशुद्धया निर्ग्र-  
 न्थानाश्रित्य ब्रूते, यथा-भोः श्रावक ! तवैते गुरवः +श्रुतार्णवपारदर्शिनो निर्मलचरणगुणधारिणः सुविहितयतिव्याततिलका-  
 श्रेत्यादि, शाक्यादीनाश्रित्य वक्ति, यथा-भो भिक्षूप्रासकादय ! एते शुष्मदीयश्रमणा Xनिभृतभोजिनोऽतिसर्वस्वकारु-  
 णिकाः अत्यन्तं दानरुचयोऽतिकष्टतपोविधाननृत्तयश्चेत्यादि, अतिथीनङ्गीकृत्य शेषदानापेक्षया तद्दानस्योत्तमतां वर्णयति,  
 यथा-पाएण देह लोको, उवगारिसु परिचिएसु सुसिए वा । जो पुण अद्धाखिद्धं, अतिहिं पूएह तं दाणं ॥ १ ॥”

+ “श्रुतसुव्रार्णव” अ० । X निश्चिन्त्य भोजिनः ।

‘स्युसि’ति अष्ट्युषिते-आश्रित इत्यर्थः । ब्राह्मणानुद्दिश्य ग्राह, यथा-सम्प्रदानभूततया लोकानुग्रहकारिभ्यो जातमात्र-  
ब्राह्मणेभ्योऽपि दत्तं महाफलं भवति, किम्पुनः षट्कर्मेनिरतेभ्य इति, कृपणानुररीकृत्यैवमाह, यथा-दरिद्रेभ्य इष्टवियोग-  
\*विधुरितेभ्योऽबान्धवेभ्यो दारुणातङ्कनिःपीडितेभ्यश्छिन्नकरचरणघ्नयवेभ्यश्च सत्त्वेभ्यो ददद्दानं पातकमपहरतीति, लता-  
शुनोऽधिकृत्य पुनरेवमाह, यथा-एते कौलेयका गवादिभ्योऽप्यतिदुर्लभतराहाराश्छिन्नकारतिरस्कृतस्वेष्टविहाराः महागताः  
[? लत्ता]लुगुलेष्ट्याभिघातसदाबाधितदेहा गौरीहराश्रयाः कैलासशैलाकल्पितालया यक्षाभिधानदेवजातयो महागताः  
श्चाकृतिचारिणः पूजापूजयोश्च सत्योलोकस्य हिताहितकारिणश्चेत्यतोऽतिदुष्करकारकत्वाद्देवतात्मकत्वाच्च पूजनीया एत इति ।  
दोषाश्चात्र मृषावाद-मिथ्यात्वस्थिरीकरणा-धिकरणप्रवर्तनादयो यथासम्भवं वाच्याः । इत्येवं ‘दर्शयति+’ प्रकटयति यः  
कश्चित्साध्वाभासः, सोऽनन्तरोक्तो ‘वर्णीमो च्छि’ति प्राकृतत्वाद्द्वनीपक इत्युच्यत इति शेषो वनीपकत्वकरणं चोत्पादना-  
दोष इति गार्थार्थः ॥ ६५ ॥ अथ चिकित्सादोषमभिधातुमाह—

दी०—पिण्डार्थ ‘श्रमणा’ निर्ग्रन्थ-बौध-तापस-परिव्राजकादयः ‘अतिथयः’ प्राचूर्णकाः ‘साहणा’ ब्राह्मणाः ‘कृपणा’  
दरिद्रान्धच्छिन्नाङ्गादय ‘शुनकादयः’ कुक्कुरपकाकबकगवादयस्तेषां भक्ता ये दातृजनास्तेषां पुरत आत्मानं ‘तद्भक्तं’ श्रमणा-  
दीनां प्रशंसादिना भक्तिपरं दर्शयति । एतप्रशंसादिना मृषावादमिथ्यात्वाधिकरणादयो दोषा यथाहं ज्ञेयाः । एवं यः साधुः,  
दर्शयति

\* “विधुरेभ्यः” अ० । “विधुरतिभ्यः” प. क. ह. । § “निष्पीडितेभ्यः” अ० । † “शैलशिरः कल्पिता” अ० । ‡ “दर्शयति  
यः कश्चित्” ह. क. । † “कुक्कुरादयः काक०” क. । अस्मद्धिया ‘कुक्कुरादयः [ आदिशब्दान् ] काक०” इति भविमुमर्हतीति ।

स 'वणिमु'त्ति वनीपक इति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ अथ चिकित्साख्यमाह—

भेसज्ज-वेज्जसूयण-सुवसामण-वमणमाइकिरियं वा । आहारकारणेण वि, दुविहतिगिच्छं कुणइ मूढो ॥६६

व्याख्या—इह किल द्विविधा चिकित्सा स्यात्—सूक्ष्मा वादरा च । तत्राद्यां प्रतिपादयन्नाह—'भेसज्ज-वेज्जसूयणं'ति 'भेपज्जं'X' चौपधविशेषो 'वैद्यश्च' भिपक्, तयोः 'सूचनं' अर्थापत्त्या निवेदनं—भेपज्जवैद्यसूचनं, यथा—किल कश्चिद्गृही रोगा-  
घ्राततनुर्भिक्षादिगतं साधुमवलोक्य पृच्छति, यथा—भगवन् ! एतस्य सदीयव्याधेः कमपि प्रतीकारं जानीषे ? , स चाह—  
ममाप्येवंविधव्याधिरमुक्तेन त्रिफलाद्यौषधेन प्रगुणो जातो, यद्वा सासूयं\* वक्ति, यथा—किमहं वैद्यो ? यद्रोगप्रतिक्रियां  
वेद्रीत्येवं पर्यवसितवृत्त्याऽ साधुनाऽधुरोगिगृहिणश्चिकित्सा वैद्यं पृच्छामीति वा ज्ञापितं भवति । अथ बादरचिकित्सामाह—  
'उवसामणवमणमाइकिरियं व'त्ति, मकारस्यागमिकत्वादुपशमनं—चोदीर्णपित्तादेः प्रशमनं, वमनं च प्रतीतं, ते तथा,  
ते आदी यस्याः स्वेदन-विरचन-क्षार +सिरावेधाग्निकर्मादिक्रियायाः सा तथा, सा चासौ 'क्रिया च' कर्म, सा तथा, तां,  
वाशब्दो विकल्पार्थः । इत्येवं द्विविधचिकित्सां करोतीति योगः । 'आहारकारणेनापि' अशनादिहेतोरपि । अपिशब्दस्तुच्छा-  
हारग्रामात्रनिमित्तमपि Xजैनमुनेश्चिकित्साकरणे विस्मयं द्योतयति । 'द्विविधचिकित्सां' दर्शितप्रकारेण द्विभेदरोगप्रतिक्रियां  
'करोति' सूत्राद्वारेण साक्षाद्वा विधत्ते, साधुरिति प्रक्रमः । किंविशिष्ट ? इत्याह—'मूढ'श्चारित्रमोहवोश्चिकित्साकरणं चोत्पादना-

X भेपजमेव भेपज्यम् । \* सरोषम् । § निश्चयनयवृत्त्या (प० अ.) । + "०शिरावेधा०" प० ह० । "धमन्यां तु,  
धमनिर्नाडिनाडको । नाडी शिरा सिरा" इति शब्दरत्नाकरः ३ । १९४ । X तत्त्वज्ञसाधोरपि (पर्यायः अ०) ।

दोष इति । दोषाश्चात्र-क्वाथकथनादौ षड्जीवनिकायोपघातादयः स्युः, तथा तप्तायोगोलककल्पो गृहस्थोऽपि नीरोगः कृतः सन् सर्वत्र सावद्ये प्रवर्तितो भवति । दुर्बलान्धव्याघ्रोदाहरणं चात्र, यथा-किल केनापि मिषजा दुर्बलान्धव्याघ्रः सज्जलोचनो विहितः सन्ननेकसन्धव्यापत्तिं कृतवान्, एवं दुर्बलरोगिचिकित्सितगृहस्थोऽपि सावद्यक्रियां करोति, देवयोगाच्च साधुविहित-क्रियाऽनन्तरं रोगिणो व्याधेरत्युदये सति कुपिततत्पित्रादेः सकाशात् साधोरनर्थः स्यात् प्रवचनोपघातश्चेत्यादि, इति गार्थार्थः ॥ ६६ ॥ अथ क्रोधपिण्डमाह--

दी०--इह चिकित्सा द्विविधा-सूक्ष्मा बादरा च\*, तत्र सूक्ष्मा यथा-भैषज्यमौषधं, वैद्यो-भिषक्, तयोः सूचनं-कथनं-  
बादरा च यथा-उर्षशामनं पिप्पादीनां, वमनं प्रतीतं, आदिशब्दात्स्वेदनविरेचनादिग्रहस्तेषां क्रिया वा-कर्म वा, आहारकारणे-  
नापि द्विविधां चिकित्सां करोति मूढ इति स्पष्टो गार्थार्थः ॥ ६६ ॥ अथ क्रोधमाह--

विज्जातवप्यभावं, निवाइपूर्यं बलं व से नाउं । दद्रूण व कोहफलं, देइ भया कोहपिंडो सो ॥ ६७ ॥  
व्याख्या--विद्या च प्रतीता, उपलक्षणत्वान्मन्त्रयोगादिपरिग्रहः । तपश्च मासक्षपणादि, ते तथा, तयोः 'प्रभाव' उच्चा-  
टनादिसामर्थ्यं, तं । तथा 'नृपादिपूजां' राजाऽमात्यप्रभृतिसन्मानादिसपर्या । तथा 'बलं' शरीरसामर्थ्यं, वा शब्दो विक-  
ल्पार्थः । 'से' तस्याधिकृतसाधोः सम्बन्धिनं । किमित्याह-'ज्ञात्वा'ऽवगम्य, तथा 'दृष्ट्वा'ऽवलोक्य, वाशब्दः पूर्वपिक्षया

\* "०रा च, तद्यथा-भै०"

विकल्पार्थः । किं तदित्याह—‘क्रोधस्य’ कोपस्य ‘फलं’ ज्ञापदानतः कस्यापि मरणादिकं कार्यं क्रोधफलं । किं करोतीत्याह—  
‘ददाति’ प्रयच्छति गृहस्थः साधवे यं पिण्डमिति गम्यते । कस्मात्कारणादित्याह—‘भयात्’ किलायं साधुर्भिक्षाऽदाने कुपितो  
+विद्यामन्त्रयोगादिभ्य उच्चाटनकरणादिना, तपसस्तु ज्ञापदानादिना, राजाऽमात्यादिवलेन निस्सारणदण्डादिना, शरीर-  
बलेन परुषभाषण-यष्टिसुष्टिप्रहारदानादिना मा मेऽनर्थं करिष्यतीत्यादिलक्षणात्त्रासात्, अत्र च सर्वत्र कोप एव पिण्डोत्पादने  
मुख्यं कारणं द्रष्टव्यं, कोपपिण्डाधिकारत्वात्, विद्यादीनि तु तत्सहकारिकारणान्येवेति न विद्यापिण्डादिभिः सहास्य लक्षण-  
साङ्कर्यमिति । स किमित्याह—क्रोधादुत्पादितः पिण्डः क्रोधपिण्डः सोऽनन्तरोक्तः स्यादिति शेषः । इह च पिण्डशब्दस्य प्रधान-  
त्वेऽपि क्रोधः प्रधानोऽवसेयः, उत्पादनादोषाणां प्रस्तुतत्वात्तस्यैव च दोषत्वात्, एवमन्यत्रापि यथासम्भवं वाच्यम् । अत्र चोदा-  
हरणं सूत्रकारो लाघवार्थं “कोहे घेवरखवगो” इत्यग्नेतनगाथांशेन भणियति, +वयं तु स्वस्थानत्वाद्वापि ब्रूमः, यथा—

Xहृत्थकप्पे नयरे एगो साहू मासक्खवणपारणगदिणे भिक्खं हिंडंतो धिज्जातीयगेहे मयगभत्तसंखडीए पविट्ठो, तत्थ य  
धिज्जाइयाणं घयउरा\* दिज्जंति । साहू य तत्थ अणाढाइज्जमाणो चिरं अच्चित्ता सकोवोऽ अन्नहिं दाहित्थ त्ति भणिऊणं निग्ग-  
ओ । तत्थ दिव्वजोगेण वीयं मयं । तत्थ वि तहेव मासियमयगभत्तसंखडीए पविट्ठो, अलभमाणो य अन्नहिं दाहित्थ त्ति  
भणंतो निग्गओ, पुणो वि दिव्वजोएण तइयं माणुसं मयं, तत्थ वि तहेव मयगसंखडीए तइयं वारं पविट्ठो, अलभमाणो य  
अन्नहिं दाहित्थ त्ति भणंतो जाव निग्गओ घराओ ताव एगो थेरवारवालो तइयं पि वारं एरिसं साहुवयणं सोऊण सयलं

+ “मन्त्रविद्यायोगादिभ्यः” अ. । + यशोदेवसूर्यः । X “हृत्थिकल्पे” अ० । \* “घेउरा” अ० । † “सकोहो” यः ।

वह्यरं कहेइ धरवहणो, भणइ य-पसाएह एयं समणं, मा सवे वि मरिस्सह चि । तओ तेण वाहरिण्ण खाभित्ता पडिलाभिओ  
घयणुनेहिं ति । एवं च यो लभ्यते स क्रोधपिण्ड इत्युच्यत इति गार्थः ॥ ६७ ॥ अथ मानपिण्डमाह—  
दी०—विद्योपलक्षणान्मन्त्रयोगाद्यपि, तपो मासक्षपणादि, तयोः प्रभावं-उच्चाटनादिसामर्थ्यं, नृपामात्यादिपूजां, बलं  
वा शारीरिकं, 'से' तस्य ज्ञात्वा, दृष्ट्वा [ वा ] क्रोधफलं शपनादिकं, ददाति गृही भयादुक्तहेतूनां, स क्रोधपिण्डः स्यात् ।

विद्यादीन्यत्र क्रोधोत्पादकानीति गार्थः ॥ ६७ ॥ अथ मानमाह—

लाङ्घिपसंसुत्तुइओ, परेण उच्छाहिओ अवमओ वा । गिहिणोऽभिमाणकारी, जं मग्गइ माणपिंडो सो । ६८

व्याख्या--'लब्धिश्च' लाभः 'प्रशंसा च' श्लाघा, ते तथा, ताभ्यां 'उत्तुइओ'ति गर्वितो-ऽहङ्कारवान्, यद्वा 'परेण'  
अन्येन साध्वादिना 'उत्साहितः' त्वमेवास्य कार्यस्य करणे समर्थो, नान्य, इत्यादिवचनेन प्रेरितः, यद्वा 'अवमतो'ऽपमा-  
नित-स्त्वया न किञ्चित्सिद्धयतीत्यादिवचनेन तिरस्कृतो, वा विकल्पे, परेणेत्यत्रापि योज्यते । 'गृहिणो' गृहस्थस्याभिमान-  
महमने न साधुना याचितस्ततोऽस्मै स्वकीयमदित्सुं कलत्रादिकं तिरस्कृत्यापि मया दातव्यमस्येत्येवंरूपमहङ्कारं 'करोति'  
विधत्ते, इत्येवंशीलोऽभिमानकारी सन्, साधुरिति गम्यते, यं सेवतिकाद्याहारजातं 'मृगयति' गवेषयति, स किमित्याह-  
मानादुत्पादितः पिण्डो मानपिण्डः सो-ऽनन्तरोक्तः स्यादिति शेषः । अत्राप्युदाहरणं 'माणे सेवहयखुडुगो नायं'ति

वक्ष्यमाणगाथाऽवयवेन वक्ष्यति, तदपि स्वस्थानत्वाद्त्रैवोच्यते—  
अतिथ कोसलाविसए गिरिफुल्लियं नाम नयरं, तत्थ य सेवहयाछणे तरुणसमणणं समुल्लावे एणेण भणियं-अज्ज

भिक्षुवावेलाए को किर न लब्भइ ? इडुगाओ, जो पच्चूसे आणेइ सो नाम लद्धिमंतो । तओ भणियमेणेण चेह्लगेण-अहमाणेमि । तेहिं भणियं-किं नाम ताहिं घयगुलरहियाहिं अपज्जत्ताहिं य । तओ जारिसियाओ इच्छह तारिसियाओ आणेमि त्ति भणंतो निग्गओ चेह्लओ, पत्तो इब्भगेहं, दिट्ठाओ तत्थ घयगुलसंजुत्ताओ पभूयाओ सेवइयाओ, ओहासिया तग्घरिणी नहुप्पयारं, पडिसिद्धो य बाढमणाए, तओ संजायाहंकारेण भणियमणेण-अवस्स मए एयाओ घेत्तवाओ, तीए भणियं-जइ एयाणं एंगंपि गिण्हसि ता मे नासाए मुत्तिज्जसु त्ति । तओ घराओ निग्गंतूण पुच्छिओ तेण कस्सइ सगासे घरसाभी, साहिओ य तेण सो परिसागओ । पत्तो य तत्थ खुडुगो । तओ पुच्छिया परिसापुसिसा, जहा-कयरो ? तुम्हाणं देवदत्तो त्ति, तेहिं भणियं-किं तेण ? खुडुएण भणियं-किंचि जाइस्सं । तेहिं भणियं-अलं तेण किवणेण जाइएण, अम्हे मग्गसु त्ति । देवदत्तेण भणियं-जं मग्गसि तमहं देमि त्ति । तओ साहुणा जंपियं-जइ एएसिं छण्हं पुरिसाणं अन्नयरो न भवसि तओ मग्गामि । तेहिं भणियं-के ते छप्पुरिसा ? , चेह्लएण पयंपियं-

“ सेडंगुलि वगुड्ढावे, किंकरे तित्थण्हार्यए । गिद्धावरंरिंखिं हद-न्नएँ य पुरिसाहमा छउ ? ”

तत्थ सेडंगुलि त्ति, जहा-एणेण नियजायानिइसवत्तिणा कुलउत्तेणं छुहालुणा पच्चूसे चैव भणिया नियमहिंला, जहारंथेसु जइ भे रोयइ, जेणाहं भुंजामि त्ति । तीए सयणडियाए चैव समुल्लविओ य-जइ छुहिओ तओ अवणेसु चुल्लिओ छारं, आणेहि इंधणं, पज्जालेसु जलणं, जलाउन्नं काऊणमारोवेसु चुल्लीमत्थए थालिं, कोट्टगाओ आणेऊण पक्खिवसु तंदुले, तओ रधिऊण साहिजसु, जेणाहमुट्टिऊण परिवेसेमि । तेण वि पिया जं आणवेइ त्ति भणिऊण तहेव कयं, जाव तीए परिविट्ठं ।

एवं तस्स पइदिणं चुल्लीओ छारमवणितस्स सेडाओ अंगुलीओ पभाए लोया पिच्छंति चि सेडंगुली भणइ चि १ ।

तहा बगुइवे चि, जहा-एगो कुलपुत्तओ अञ्जुक्कडपेमपरवसो पमणिओ नियपिययमाए, जहा-तलागाओ तुमं पइदिण-  
सुदयमाणंसु चि । तओ सो दिवसे ओलज्जमाणो रयणीए चरमजामे दिणेदिणे कुडवं घेतूण सलिलमाहरंतो बगे उड्ढावेइ चि  
विनायवुत्तेण जणेण बगुइवो चि भणइ २ ।

तहा किंकरे चि, जहा-किर एगो कुलपुत्तओ निययजायाए अञ्चंताणुरत्तो पच्चूसे चेव सयणाओ उट्टिऊण आएसं  
मग्गइ, जहा-पिययमे ! आइससु किं करेमि ? चि, तीए भणियं-उदगमाणेसु । तं संपाडिऊण पुणो वि भणइ-किं करेमि ?  
सा भणइ-खंडेसु तंदुले । तस्समत्तीए पुणो वि भणइ-किं करेमि ?, सा भणइ-देहि मे भोयणं । तं दाऊण भणइ-किं  
करेमि ? सा भणइ-उज्झसु उच्चिड्डमल्लए । तं काऊण भणइ-किं करेमि ? तीए भणइ-धोएसु चलणए चि । एवं च जणेणं  
सो किंकरो चि बुच्चइ चि ३ ।

तहा तित्थणहायए चि, जहा-एगो तरुणरो नियजायं भणइ-जहाडहं पिए ! ग्हाउमिच्छामि, तीए भणिओ-  
जइ एवं ता वेत्तूण तेहामलए परिहिऊण वोत्ति गहेऊण कुडयं वच्चसु सरोवरं । तत्थ जहिच्छं मज्जिऊण देवस्वणं च काऊण  
जलापुण्णकुडयं घेतूण लहुमागच्छसु चि । तेण पिययमा जं आणवेइ चि भणिऊण तहेव कयं, तओ तित्थणहायओ चि लोमे  
पसिद्धिमागओ ४ ।

+ “ भणिय ” अ. ।



तथा गिद्धावरंखि त्ति जहा-एगो जुवाणपुरिसो नियमहिलावयणाणुवत्तणपरो एगया भोयणहुसुवचिट्ठो भणइ-पिए !  
 लुखलमिणंX, देसु वयं त्ति, तीए वि रंधंतीए तहड्डियाए चैव भणियं-इओ सणियं थेंवं सरसु त्ति, तओ सो गिद्धपक्खी विव  
 सरिओ थेंवं, तओ साहिक्खेवं भणियमणाए-पुणो वि सरसु त्ति, एवं पुणो पुणो तीए भणमाणो ताव सरिओ जाव महिला-  
 समीवं त्ति । तओ तवुत्तंतं नाऊण कुसलेण जणेण गिद्धावरंखि त्ति पबुच्चइ त्ति ५ ।

तथा हदन्नओ त्ति, जहा-एगो कुलपुत्तओ नियजायाणुरत्तचित्तो नियडिभरूवाणि उच्छंगाइगयाणि सययं धीलावेइ,  
 तदमुत्तपुरीसोत्रलित्ताणि चीवराणि य पक्खालेइ, तओ हदन्नओ त्ति पसिद्धिं गओ ६ ।

एवं च खुड्डणेण सिट्ठे परिसापुरिसेहिं भणियं सोवहासं-भयवं ! सवेवि+ दोसा एत्थ निवसंति, ता मा एयं मग्गसु ।  
 गिहवइणा भणियं-मा एयाणं वयणाणि निसुणसु, Xनोहमेरिसो, जायसु जं ते रुच्चइ त्ति । चेळएण भणियं-जइ एवं ता देसु  
 वयगुलसणाहाओ सेवईयाओ । तओ देमि त्ति भणंतो गओ चेळयसहिओ घरसमीवं । एत्थंतरम्मि साहिओ तस्स जायाभंड\*  
 णवुत्तंतो खुड्डएण, जइ एवं ता चिट्ठसु ताव इहं ति भणंतो पविट्ठो गेहम्मि गिहवई, भणिया य जाया, जहा-सिद्धं ? भोयणं  
 त्ति, तीए वि तह त्ति पडिवन्ने भणिया-उत्तारेसु मालाओ वयगुलं, जेण दियाइणो थुंजावेमि । तओ निस्सेणीए आरूढा मालं,  
 अवणीया तेण निस्सेणी । तओ वाहरिऊण वयगुलपज्जत्ताहिं पडिलाभिओ चिळओ इट्टगाहिं । तओ तं पेच्छिऊण कओ अणाए

X “°मिणं भोयणं, देसु” य. । + “°वि एए दोसा” अ. । X “नाहमेरिसो” प. क. अ. । ❀ “भिडण” ह. अ. ।

गओ भरिऊण गओ प्रवचनोप-  
गओ प्रवचनोप-  
गओ प्रवचनोप-  
गओ प्रवचनोप-  
गओ प्रवचनोप-  
गओ प्रवचनोप-  
गओ प्रवचनोप-  
गओ प्रवचनोप-  
गओ प्रवचनोप-  
गओ प्रवचनोप-

कलयलो । खुहणवि सनासानिसियंगुलिणा दावियं से नासियाए काइयावोसिरणं ति । तओ पत्तयं भरिऊण गओ प्रवचनोप-  
खुहुओ, ते सवे साहुणो खुंजाविय ति । एवं यो लभ्यते स मानपिण्डः, दोषाश्चात्र-वनितादेः प्रद्वेषात्मवधादयः प्रवचनोप-  
घातादयश्च मन्तव्या इति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ अथ गाथापूर्वद्विच मायापिण्डमाह—  
दी० 'लब्धिप्रशंसाभ्यां' लाभश्लाघाभ्यां 'उत्तुहओ' गर्वितः, यदूवा परेण साध्वादिना उत्साहितस्त्वमेवास्य क्षम  
इत्यादि वचनैस्तथा 'अवमतो' अपमानितस्त्वया न किञ्चित्सिद्ध्यतीत्यादिना साधुगृहिणोऽभिमानकारी सन् यं पिण्डं  
'मृगयते' गवेषयति स मानपिण्ड इति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ अथ मायालोभाख्ये आह—

मायाए विविहरूवं, रूवं आहारकारणे कुणइ ।  
मायाए विविहरूवं, रूवं आहारकारणे कुणइ ।  
मायाए विविहरूवं, रूवं आहारकारणे कुणइ ।  
मायाए विविहरूवं, रूवं आहारकारणे कुणइ ।  
मायाए विविहरूवं, रूवं आहारकारणे कुणइ ।  
मायाए विविहरूवं, रूवं आहारकारणे कुणइ ।  
मायाए विविहरूवं, रूवं आहारकारणे कुणइ ।  
मायाए विविहरूवं, रूवं आहारकारणे कुणइ ।  
मायाए विविहरूवं, रूवं आहारकारणे कुणइ ।  
मायाए विविहरूवं, रूवं आहारकारणे कुणइ ।

व्याख्या—'मायया' शाब्देन-परप्रतारणबुद्धयेति यावत् । 'विविधरूपं' काणकुब्जाद्यनेकस्वभावं । किं तदित्याह-  
'रूपं' निजाकारं 'आहारकारणे' मोदकादिपिण्डनिमित्तं 'करोति' विधत्ते यः साधुस्तस्यैवं लब्धो मायापिण्डो भवति, आषाढ-  
भृतियतेरिव, यद्दक्ष्यति-'मायाए असाढभूइ'ति । तत्कथानकं च स्वस्थानत्वादत्रापि ब्रूमः, तथाहि—  
दीचजलहीण मज्जे, सवाणं सारदवरमणिज्जो । जंबुदीवो दीवो, कुलसेलविभूसिओ अत्थि ॥ १ ॥ तत्थ भरहम्मि वासे,  
दाहिणखंडम्मि अत्थि जयपयडो । देसाण मगहदेसो, जह चक्की सबमणुयाणं ॥ २ ॥ तत्थ य अहरमणिजं, पमुइयजणसंकुलं  
पुरं अत्थि । रायणिहं नामेणं, नहं व कविस्सरमुणिकलियं ॥ ३ ॥ तत्थासि सत्तुमायंग-कुंभनिदलणकेसरिकिसोरो । पणयजण-  
पूरियासो, सीहरहो नामनरनाहो ॥४॥ अह अन्नयाकयाई, विहरंता समणसंपयसमेया । धम्मरुईआयरिया, समागया तत्थ

गुणसिलए ॥ ५ ॥ उज्जाणे तेसि पुणो, बहुविन्नाणो आसाढभूइत्ति । नामेण आसि सीसो, स अन्नया भिक्खकज्जेणं ॥ ६ ॥  
 नीइरियो वसहीओ, पत्तो निवनडगिहं तओ तत्थ । लद्धो रसगंधड्ढो, अइपवरो मोयगो एगो ॥ ७ ॥ तत्तो विणिग्गएणं,  
 विचिंतियं तेण एस ता गुरुणो । होही मग्गामि पुणो, तत्थऽन्नं अप्पणो हेउं ॥ ८ ॥ अञ्छि काणं काउं, पुणो गओ तत्थ सो  
 पुणो लद्धो । एसोवज्जायाणं, भविस्सइ इय मणे काउं ॥ ९ ॥ पुणरवि खुज्जरूवं, करित्तु तत्थेव अइगओ खुड्ढो । लद्धे तहेव  
 चित्तइ, एसो संघाडियजइस्स ॥ १० ॥ होहि चि कुट्टिरूवं, काउं पत्तेण तो पुणो लद्धो । एत्तो चिह्ययचरियं, पासाओवरित्त-  
 लगएणं ॥ ११ ॥ दट्ठूण चित्तियमिं, नडेण अबो !! सुसुंदरो एस । होइ नडो ता एसो, केण पगारेण वेत्तवो ? ॥ १२ ॥  
 एवं चित्तंतेणं, लद्धोवाएण तेण तं ज्ञत्ति । वाहरिय सबहुमाणं, माणं भरियं मोयगाणं ॥ १३ ॥ भणिओ य तेण एसो, भइ !  
 तए भिक्खकज्जसज्जेणं । पइदियहं महगे(हं)हे, आगंतवं असंदिद्धं ॥ १४ ॥ एवं निसामिऊणं, विणिग्गओ खुड्ढुगो गओ  
 वमहि । तयणंतरं च सयलं, तव्युत्तं निवेइत्ता ॥ १५ ॥ भणिया नडेण भज्जा, मोयगदाणाइणा तए भइ ! । उवयरियवो  
 एमो, नियधूयाओ य तह मणसु ॥ १६ ॥ अणुकूलवयारेहि, ताओ जह तं वसम्मि आणंति । तत्तो नडीए भणिया-हि  
 ताहि पइदिवसमितस्स ॥ १७ ॥ सगिहम्मि तस्स सिंगार-हाससवियारत्रयणपमुहेहि । अणुकूलवसग्गेहि, आमयकुंभोव  
 सलिलेणं ॥ १८ ॥ भिन्नं चित्तं वाहं, वीसरिओ सुगुरुवयणवरमंतो । नड्ढो कुलाभिसाणो, लज्जा वि हु दूरमोसरिया ॥ १९ ॥  
 उइयं चरणानरण, कम्मं अइदारुणं तओ लग्गो । परिहासस्विड्डुमाई, काउं भणिओ य तो ताहि ॥ २० ॥ जइ अत्थि तुज्झ  
 कज्जं, अमहेहि चएसु तो णु पव्वजं । वीवाहेसु य अमहे, जेणं पुण्णा रई होइ ॥ २१ ॥ तत्तो तहत्ति पडिव-ज्जिऊण स गओ

गुरुण पासम्मि । कहिओ नियपरिणामो, ततो गुरुणा इमं भणिओ ॥ २२ ॥ उत्तमकुलुभवाणं, विवेयरयणाथरण होऊणं ।  
इह-परलोयविरुद्धं, किं जुत्तं ? एरिसं काउं ॥ २३ ॥ अविद्य-दीहरसीलं परिवा-लिऊण विसएसु वच्छ ! मा रमसु । को  
गोपयम्मि बुड्ढइ ? जलहिं तरिऊण बाहाहिं ॥ २४ ॥ “ वरि विसु सुतु म विसयसुहु, एक्सि विसिण मरंति नर ! ।  
विसयामिसमोहिया, बहुसो नरइ पंडंति ॥ २५ ॥ ” तो खुड्डगेण भणियं, एवं एयं न एत्थ संदेहो । भयवं ! किंतु न तरिसो,  
पव्वजं संपयं काउं ॥ २६ ॥ यतः-अविखत्तं मे चित्तं, ताहिं उत्तड्डहरिणनयणाहिं+ । इय वोत्तुं मोत्तूणं, लिंगं गुरुपाय-  
मूलम्मि ॥ २७ ॥ नीहरिओ वसहीओ, पत्तो गेहं नडस्स ताओ वि । दोन्नि वि परिणीयाओ, पिउणा एवं च भणियाओ  
॥ २८ ॥ धम्माणुरत्तचित्तो, उत्तमपगई य एस सप्पुरिसो । ता तह सुइभूयाहिं, अप्पमत्ताहिं च निच्चंपि ॥ २९ ॥ उवयरियवो  
जह नो, वेरणं तुम्ह गच्छइ कहिंचि । इय भणियाओ ताओ, तं आराहिंति तहचेव ॥ ३० ॥ [ युग्मम् ] एवं वच्चइ  
कालो, विसयसुहं तस्स अणुहवंतस्स । अह अन्नया कयाई, निम्माहिलं नाडयं रन्नो ॥ ३१ ॥ दिवसे दंसेयधं, तओ गया  
राउलं नडा सवे । आसाढभूइपमुहा, ततो य इमम्मि पत्थावे ॥ ३२ ॥ पहरिकं नाऊणं, आसाढभूइनडस्स भज्जाओ ।  
निब्भरमयपाणेणं, पणड्डुचेयन्नमावाओ ॥ ३३ ॥ विगलियनियंसाओ, वमियमयगंधगरहणिजाओ । गंधायड्डियंभिणिहणि-  
भिणितमच्छियदुपेच्छाओ ॥ ३४ ॥ चिद्धंति जाव ता झत्ति, राइणो दूइकज्जवक्खेवे । नाडयस्वसराभावे, समागया नियय-  
ठाणेसु ॥ ३५ ॥ सवे वि नडा ततो, आसाढभूई वि वासभवणम्मि । निययम्मि संपविट्ठो, ततो ताओ पलोएत्ता ॥ ३६ ॥

+ उन्नतहरिणनयनाभिः । x “ भिणिभिणिभणितं ” प. “ भिणिभिणितं ” ह. ।

अचंतकुच्छियाओ, विरत्तचित्तो विचिंतिउं लग्गो । अब्बो !! मे मूढत्तं, अब्बो !! दुब्बिलसियं मज्झ ॥ ३७ ॥ जं एयणं कजे,  
 असुईभूयाण कुगइहेऊणं । तारिसयं सुइभूयं, निवाणसुहाण जणगं च ॥ ३८ ॥ चत्तं चरित्तरयणं, सुयधम्मो नासिओ अमयभूओ ।  
 मुक्को गुरुकुलवासो, आवासो सयलसोक्खाणं ॥ ३९ ॥ भग्गा जिणाणमाणा, वंतसरिच्छा निसेविया विसया । जाओ भट्टपइओ,  
 धिद्धी !! मणुयत्तणं मज्झ ॥ ४० ॥ अविय-वेदुअ [ वैदूर्य ] वज्जपउरे, पत्ते रयणायरे जहा घेतुं । काय [ काच ] मणी नो जुत्ता,  
 अइतुच्छा पंडियजणस्स ॥ ४१ ॥ सग्गापवग्गसुहसंग-साहगे नरभवे तथा लद्धे । कामसुहं नो जुत्तं, असुंदरं सेवि [ उं ] यं ( ? )  
 दूरं ॥ ४२ ॥ ता रोगसोगजरमरण-नासणं चरणधम्ममणवज्जं । संपइ अकालहीणं, करेमि इय चिंतिउं झत्ति ॥ ४३ ॥ तत्तो  
 वासगिहाओ, निग्गच्छंतो नडेण सो दिट्ठो । नाओ य इंगिएहि, जहा विरत्तो इमो नूणं ॥ ४४ ॥ गंतूण य तेण तहिं, बाढं  
 अंभाडिऊण धूयाओ । भणियाओ हा !! पावा !, किं ? एयं विलसियं तुम्ह ॥ ४५ ॥ पिच्छह गच्छइ एसो, विरत्तचित्तो महा-  
 नीही जइ ता । सक्कह आणेऊं जे X, आणह + नो ताव मग्गेह ॥ ४६ ॥ आजीवणं तओ ता, संसंभमाओ गहाय नेवत्थं । पाएसु  
 तस्स लग्गा, एवं बुत्तुं पवत्ताओ ॥ ४७ ॥ सामिय ! अम्हइवराहं, एगं खमिऊण एहि गेहम्मि । अणुरत्ता भत्ताओ, अम्हे  
 मा उज्झइणाहाओ ॥ ४८ ॥ तेणुत्तं मा किंचिवि, जंपह तुब्भं विरत्तचित्तोइहं । जइ एवं ता दाउं, पजीवणं वच्च ता वेत्ति  
 ॥ ४९ ॥ पडिबज्जिऊण एयं, तओ नियत्तेण सत्तरत्तेणं । निम्मवियं भरहेसर-चक्केसरचरियसंबद्धं ॥ ५० ॥ नामेण रट्टवालं,  
 सवालंकारसारसोहिल्लं । दिव्वं नाडयमेगं, तत्तो य नडेहिं सवेहिं ॥ ५१ ॥ विक्कत्तो सीहरहो, जइ देव ! असाढभूइणाऽपुवं ।

X पाइपुरणार्थमव्ययम् । + “नो वा पमग्गेह” प. ह. क । \* “एवं” प. ह. क ।

रइयं नाडयरयणं, तं पुण ददसत्तपुरिसाणं ॥ ५२ ॥ आभरणभूसियाणं, पत्ताण सएहि पंचहि समगं । नच्चैयवं तत्तो,  
ताणि पसाई करेहि त्ति ॥ ५३ ॥ दिन्नाणि तओ रत्ता, नरिंदपुत्ताण पंच वि सयाणि । नट्टविहीकुसलाइं, सवाणि कयाणि  
तेणावि ॥ ५४ ॥ तत्तो नरिंदपुरओ, परिकलिओ तेहिं पंचहिं सएहिं । लग्गो नच्चैउं जे, आसाढभूई नडो बाढं ॥ ५५ ॥  
इक्खागक्कुलनहंगण-विमलमियंकेण भरहराएण । अमरवइविलसिएणं, सडीए वाससहस्सेहिं ॥ ५६ ॥ छुवंडमरहविजओ, कओ  
जहा कओ जह य नव महानिहिणो । चोदस वररयणाणि य, जेण विहाणेण लद्धाणि ॥ ५७ ॥ जह वारस वारिसिओ, कओ  
\*महारज्जरायअहिसेओ । जह पंचविहा भोगा, सुत्ता दिवा अणुव्विग्गा ॥ ५८ ॥ एवं नच्चंतेणं, तह राया तोसिओ सपरिवारो ।  
जह सद्यमलंकारं, दाउं तह साहुकारं च ॥ ५९ ॥ एगवसणं वसाणो, आढत्तो पिच्छिउं दढविक्खत्तो । तत्तो भरहोव इमो, पत्तो  
आयंसगेहम्मि ॥ ६० ॥ तत्थ य सरीरसोहं, पलयमाणस्स निवडियं कहवि । एंगुलीयरयणं, असिरीयं अंगुलिं तत्तो ॥ ६१ ॥  
दट्टूण कयवियक्को, सेसाभरणं पि मेछइ कमेणं । तत्तो य नियसरीरं, उडवियकमलं व कमलसरं ॥ ६२ ॥ अहविच्छायं  
पेच्छिय, परमं संवेगमागओ ताहे । जायं केवलनाणं, पणमुट्ठीओ कओ लोओ ॥ ६३ ॥ गहियं च दवल्लिगं, रत्तो दाज्ज  
धम्ममलामं च । आढत्तो निरगंतुं, नडमरहो रंगमज्झाओ ॥ ६४ ॥ तत्तो सीहरहेणं, हा ॥ किं ? एयं ति जंपमाणेणं ।  
अच्चंतविग्गिहयाहिं, देवीहि य धरिउमाढत्तो ॥ ६५ ॥ नरनाह ! किं नियत्तो ? भरहनरिंदो नियत्तिसो जेणं । अम्हे वि त्ति  
अच्चंतविग्गिहयाहिं, देवीहि य धरिउमाढत्तो ॥ ६५ ॥ नरनाह ! किं नियत्तो ? भरहनरिंदो नियत्तिसो जेणं । अम्हे वि त्ति

अच्चंतविग्गिहयाहिं, देवीहि य धरिउमाढत्तो । X एकं 'वसनं' वखं परिदधानः ।  
§ "णविभूसि" प. । \* "महारायज्जअ" इति भवितुमुचितमाभात्यस्माकम् । X एकं 'वसनं' वखं परिदधानः ।  
+ "उच्चिय" प. ह । "उच्चिय" क । उच्चितकमलसरोवरवत् ।

मणतो, परिकलिओ निवइपुत्तेहिं ॥ ६६ ॥ यंचसयगगमिएहिं, सवेहि वि गहियसाहुल्लिगेहिं । सो निगओ महप्पा, गओ य गुरुपायमूलम्मि ॥ ६७ ॥ कुसुमपुरम्मि वि नयरे, नच्चिअंतं पुणो वितं लो गो । दड्डुणं पवइओ, तं दड्डुं नागरेहिं तओ ॥ ६८ ॥ एसो मायापिंडो, गिलाण-पाहुणग-बुड्डुमईणं । कारणजायं मोत्तुं, न हु धेत्तवो सया कालं ॥ ६९ ॥ ति ।

अथ लोमपिण्डं गाथायथाद्धेनाह—

गिण्हस्समिमं निच्चाइ, तो बहुं अडइ लोभेणं ॥ ६९ ॥

व्याख्या—‘गिण्हस्सं’ति ‘ग्रहीष्ये’ स्वीकरिष्यामि ‘इमं’ ति इदं हृदयकल्पनाप्रत्यक्षं ‘स्निग्धादि’ स्नेहवन्मोदक-प्रमृति, तत स्तेन कारणेन ‘बहु’ प्रभृतं ‘अटति’ भिक्षाकुलेषु भ्रमति । केन ? इत्याह—‘लोभेन’ लम्पटतया यः साधुस्तस्य लोमपिण्डो भवति । सिंहकेसरकयतेरिव, “लोभे केसरयसाहु”ति । तदुदाहरणमपि स्वस्थानत्वादत्रैव द्रूमो, यथा—  
 चंपाए नयरीए, ऊसवदिवसम्मि खवगपारणे । एगो खवगो गिण्हइ, अभिगहं जह मए अज्ज ॥ १ ॥ धेत्तवा सुसु-  
 यंधा, केसरगा मोयग ति तो भिक्खं । हिंडंतो नयरीए, नेच्छइ सेसं तु दिजंतं ॥ २ ॥ अलभंतस्स य तत्तो, संजाओ संकि-  
 लिट्टपरिणामो । तगयचित्तत्तणओ, पणडुचित्तस्स अह तस्स ॥ ३ ॥ किर धम्मलाभभणणे, विभासओ केसर ति पुणरुत्तं ।  
 पत्ताए रयणीए, जामदुगे केसर ति पयं ॥ ४ ॥ भणमाणो संपत्तो, सावयगेहम्मि सावएणावि । अवगयतब्भावेणं, भरिज्जणं  
 भायणं झत्ति ॥ ५ ॥ केसरयमोयगणं, मणियमुवाएण बोहणनिमित्तं । भयवं ! मे पुरिमड्डो, पच्चक्खाओ तओ कहसु ॥ ६ ॥  
 पुण्णो न व ति सुणिणा, कओवओगेण जोइयं गयणं । तारागणपरियरिओ, दिट्ठो तो गयणमज्झम्मि ॥ ७ ॥ मयलंछणो

समग्गो, पच्चागयमाणसो तओ सम्मं । पडिचोइओ मणित्ता, विणिग्गओ नयस्मिज्झाओ ॥ ८ ॥ सुत्तभणिण्ण विहिणा,  
परिड्वंतस्स+ सुद्धज्जाणस्स । तत्तो केवलनाणं, उप्पन्नं तस्स खवगस्स ॥ ९ ॥ इत्ययं लोभपिण्ड इति गाथार्थः ॥ ६९ ॥

अथ पूर्वोक्तस्वरूपान् क्रोधादिपिण्डचतुष्कदृष्टान्तानाह—  
दी०—‘मायया’ वञ्चनेन ‘विविधरूपं’ नानाप्रकारं ‘रूपं’ अङ्गादिसंस्थानं ‘आहारकारणे’ भक्तादिलाभाय करोतीति  
मायापिण्डः । अथ गृहीष्येऽहमिदं स्निग्धादि उत्कृष्टं सिंहकेसरप्रभृति, ततः कारणाद्बहु-प्रचुरं ‘अटति’ तद्दलाभाय असति ‘लोभेन’

रसगृह्येति लोभपिण्ड इति गाथार्थः ॥ ६९ ॥ अथ क्रोधादिचतुष्टये दृष्टान्तानाह—  
कोहे घेवरखवगो, माणे सेवईयखुडुगो नायं । मायाएऽसाढभूई, लोभे केसरयसाहु ति ॥ ७० ॥

व्याख्या—‘क्रोधे’ क्रोधविषयपिण्डे ‘घृतपूरक्षपको’ घृतपूरसंविधानोपलक्षितः श्रमणविशेषः, ज्ञातमिति सर्वत्र योगः ।  
तथा ‘माने’ मानपिण्डे ‘सेवतिकाधुल्लकः’ सेवतिकालामसंविधानकवाच् चेल्लकः । किं ? इत्याह—‘ज्ञातं’ दृष्टान्तो, ज्ञेयमिति  
सर्वत्र शेषः । तथा ‘मायायां’ मायापिण्डे ‘आषाढभृतिः’ आषाढभृत्यभिधानो मुनिः । तथा ‘लोभे’ लोभपिण्डे ‘केसरक-  
साधुः’ X सिंहकेसरकाभिधानमोदकव्यतिकरवान् श्रमणः । इति शब्दः प्रस्तुतज्ञातसमाप्तिं द्योतयति, ज्ञातानि तु पूर्वं  
स्वस्थान एव कथितानीति न पुनः कथ्यन्त इति गाथार्थः ॥ ७० ॥ अथ संस्तवकरणदोषमाह—

+“दृवितस्स” य० क० ह०, “दृवेतस्स” अ० । X ‘धु’ सिंहकेसरकसाधुः सिंहकेसरका° भ० य० अ० ।



दी०—अत्र ज्ञातमिति प्रत्येकं योज्यं, तत्र क्रोधे घृतपूरोपलक्षितः 'क्षपकः' तपस्वी 'ज्ञातं' दृष्टान्तः, स चायं—हस्ति-  
 कल्पे नगरे साधुरेको मासश्चपणान्ते मृतकमक्तोत्सवे धिग्जातीयगृहं गतो विप्रेभ्यो दीयमानेषु घृतपूरेषु चिरेणाप्यलब्ध-  
 भिक्षः कोपादन्यस्मिन् दास्यन्तीत्युक्त्वा निर्गतः, देवशात्त्र द्वितीयो मानुषो मृतः, साधुरपि तथैव तन्मासिके गतः,  
 तथैव दृष्ट्वा तदेवोक्त्वा बलितो यावचृतीयो मृतः, साधुरपि तथैवान्यस्मिन् दास्यन्तीति जल्पेस्वृतीयवारं द्वारपालेन दृष्टः,  
 तेन च गृहाधिपस्यावेदितं, सोऽपि मरणभयात्साधुं क्षमयित्वा यथेच्छं घृतपूरैः प्रतिलाभितवानित्येवं क्रोधपिण्डः १ ।

माने सेवतिकाभिरुपलक्षितः शुल्लको दृष्टान्तो यथा—कोशलादेशे गिरिपुष्पिते नगरे सेवतिकोत्सवे तरुणश्रमणानां  
 संलापे एकेनोक्तं—अद्य बह्व्योऽपि सेवतिका लभ्यन्ते, परं यः कल्येऽप्यानयति स लब्धिमान्, अन्येनोक्तं—किं घृतगुडरहिता-  
 भिस्ताभिः स्तोकाभिश्च ? । तत एकः शुल्लकोऽहमीदृशाः श्व आनेष्यामीति कृतप्रतिज्ञो द्वितीयदिने तदर्थं इभ्यगृहे तादृशास्ताः  
 निरीक्ष्य तद्गृहिणीं विविधोक्तिप्रार्थितामप्यदतीं साहङ्कारमाह—यथातथाप्यहमिमां गृहीष्ये । तयोक्तं—यद्येवं भवति तदा मम  
 नासा धर्षणीया । शुल्लकोऽपि तस्याः पतिं पर्यदासीनं कुतोऽपि ज्ञात्वा 'को भवतां मध्ये देवदत्ताख्य ?' इति पृच्छस्तैरुक्तः—  
 किं तेन ?, स आह—किञ्चित्तं याचिष्ये, तेऽप्युचुः—अहो !! शून्यगृहेषु सुकुमारिका विलोकयसि, तदुपहासामर्षाद्देवदत्तः स्वय-  
 माह—चद सोऽहमस्मि । शुल्लकेनोक्तं—यदि तेषां पणानां न सप्तमस्तदा वच्मि । ते सर्वेऽपि सविस्मयमूचुः—के ते षट् ?, स आह—  
 “ श्वेताहुल्लिर्वकोद्गुाधी, तीर्थस्नातश्च किङ्करः । हृदंनो गृध्ररिंखी च, षडेते गृहिणीवशाः ॥ १ ॥ ”

तत्राद्यः—एकः कुलपुत्रकः प्रियानिदेशकारी प्रगेऽपि शुधालुर्याचितभोजनः शयनस्थया पत्न्या भणितो—यदि भोक्ष्यसि

तदा बुद्धीभस्मापनीय ज्वलनेन्धनाद्यानय, येन शीघ्रं भोजयामीति, नित्यं तथा कुर्वन्बुद्धीभस्मापनयाज्जातश्चेताङ्गुलिलोकन  
सेडा(श्चेता)ङ्गुलिरित्युच्यते १ । बकोड्ढायी यथा-कश्चित्प्रियाभक्तः पत्न्या भणितस्तडागात्प्रत्यहं त्वयैव जलमानेतव्यं । अथ तीर्थ-  
ततः स तत्कुर्वाणो दिने लज्जमानः सान्धकारे तडागं याति, बकाश्चोड्ढीयन्त इति लोकेन बकोड्ढायीत्युच्यते २ । अथ तीर्थ-  
स्नातो यथा-कश्चित्कान्तायत्तदेहो याचितस्नानः पत्न्योचे-गच्छ स्नानसामग्रीं गृहीत्वा तत्रैव सरस्तीरे स्नात्वा शीघ्र-  
मागच्छेरिति । स तत्र स्नानकरणाङ्गोकेन तीर्थस्नात इत्युच्यते ३ । अथ किङ्करो यथा-एकः प्रियानुरागी प्रातरुत्थाय  
प्रिये ! किं करोमीत्याह, तथा च खण्डन-पेषण-जलानयनादिदत्तादेशानां करणान्तेषु किं करोमीति भणाङ्गोकेन किङ्कूर  
इत्युच्यते ४ । हदनो यथा-एकः कुलपुत्रको भायदिशादपत्यानां क्रीडापन-सूत्रोत्सर्गादिविधापन-तत्पोतकक्षालनादिकर्म-  
करणेन दुर्गन्धवत्त्वादिलोकैः हदन इत्युच्यते ५ । गृध्रावरिंखी यथा-कश्चिद्भोजनोपविष्टो व्यञ्जनतक्रादि याचते, निजमहि-  
लया गृहकर्मव्यापृतया साधिक्षेपं गृहाणेत्युक्ते दूराद् गृध्र इव रिङ्खन् २ तदासन्नं यातीति लोके गृध्रावरिंखीत्युच्यते ६ । तद-  
हो !! एते षड् गृहिणीवशा इति शुल्लकवचनान्ते परिषत्पुरुषैरुक्तं-तैः षड्भिरप्येक एवासौ । देवदत्तोऽप्याह-किममीषां वचनै-  
र्याचय मनोऽभीष्टं । शुल्लक ऊचे-यद्येवं तर्हि घृतगुडान्विताः प्रभृताः सेवतिका देहि मे निजाद् गृहात् । अथोत्थाय स कथित-  
पत्नीघृत्तान्तं शुल्लकं द्वारेऽवस्थाप्य गृहिणीं चाकार्यं व्यपदेशेन मालमारोप्य उत्सारितनिःश्रेणिकः शुल्लकं स्वनासाङ्गुलिर्घर्ष-  
दर्शनेन तस्या ज्ञापितनासाघर्षमाकार्यं सेवतिका ददावित्येवं मानपिण्डः २ । तत्रागतघर्मरुच्याचार्यशिष्यो विविधविज्ञानी  
अथ मायायामाषाढभृतिर्यथा-राजगृहे सिंहस्थो राजा, अन्यदा

आपाहभूतिविहरन्नटगृहं गतः । तत्रैकमोदकलाभादेप सूरीणामिति विचिन्त्य पुनः काणीभूय द्वितीयं जग्राह, असावुपाध्याय-  
 स्येति कुञ्जरूपेण वृतीयमादाय सङ्घाटिकसाधोरसाविति कुष्ठिकरूपेण चतुर्थमग्रहीत् । तच्च गवाक्षस्थेन नटेन दृष्ट्वा चिन्तितं-  
 अहो !! मव्योऽसौ नटो भवतीति सङ्ग्रहार्थं तमाकार्यं यथेष्टं मोदकैश्च दत्त्वा नित्यमत्रागन्तव्यमिति भणितवान् । अथ रूप-  
 परावर्त्तादिलङ्घित्वा नसौ तथोपचरणीयो यथा त्वत्पुत्रीरक्तोऽस्मद्गृहमायातीति नटेन शिक्षितया पत्न्या स नित्यं गृह-  
 मागच्छन् तथा स्वपुत्रीभिलोभितो यथा आमघट इवाम्भोभिर्भिन्नो गुरुनवगणय्य मुक्तव्रतस्ताः परिणीतवान् । तथाऽस्य  
 पश्यतो मधादिकं ता नासेविषु । अन्यदा विविधनटावृतो नृपगृहं गत्वा तत्र द्यूतव्याक्षेपाद्वलितो निर्व्यञ्जनत्वात्पीतमद्यवि-  
 संस्थुलाः स्वपत्नीविलोक्य विषयविरक्तो निर्गच्छन्नसौ नटीभिस्ताभिर्याचितानीवनोपायः समाहेन श्रीभरतचक्रिनाटकं नव्य-  
 मकरोत् । (नततश्च राज्ञे निवेद्य लब्धाभरणपात्रादिसमुदायः स्वयं श्रीभरतीभूय चक्रोत्पत्ति-दिग्विजय-राज्याभिषेकादिचरितं  
 नादितवान् ) यावदादर्शगृहं गतस्तत्र चाङ्गुलीयकरत्नपातात्तथैव भरतभावनया लब्धकेवलालोको गृहीतद्रव्यलिङ्गो राजादीन्

३ ।

अथ लोभे केसरकसाधुर्यथा-चम्पायां साधुरेको मासक्षणपारणे उत्सवदिने सिंहकेसरमोदकाभिग्रही विहरंस्तद-  
 लाभात्सञ्जातक्लिष्टाध्यवसायः केसरानेव ध्यायन् रजनीयामद्वयं ब्राम्भ । यावदेकेन श्राद्धेन विशाततद्भावेन प्रदत्तमोदक-  
 पूर्णस्थालेन भगवन् ! पुरिसाद्धौ ममास्तीति पूर्णो न वेति पृष्टः । स च दत्तोपयोगो यावदूर्द्धमीक्षते तावच्चन्द्रदर्शनादूर्द्धरात्रं

+ अयमर्द्धचन्द्राकार चिह्नान्तर्गतः पाठः केवलं अ. पुस्तक एवावलोक्यते ।

विज्ञाय लज्जितः सम्यक् प्रतिबोधितोऽस्मीति श्रावकं जल्पन्नगरान्निष्क्रम्य मोदकान् विधिना परिष्ठापयन् शुद्धाध्यवसाय-

वशात्केवललोकमापेति गाथार्थः ॥ ७० ॥ अथ संस्तवदोषमाह—  
शुणणे संबंधे सं-थवो दुहा सो य पुव पच्छा वा । दायारं दाणाओ, पुवं पच्छा व जं शुणई ॥ ७१ ॥

व्याख्या—‘स्तवने’ गुणस्तुतिरूपे ‘सम्बन्धे’ स्वाजन्यलक्षणे संस्तवनं ‘द्विधा’ द्विभेदः, स्यादिति शेषः—गुणसंस्तवः सम्बन्धिसंस्तवश्चेत्यर्थः । ‘स च’ स पुनरेकैकसंस्तवो द्विधा स्यात् । कथं ? इत्याह—‘पुव्व पच्छा व’ति विभक्तिलोपात् ‘पूर्वं’ पूर्वकाले संस्तव इत्यर्थः, तथा पश्चात्संस्तव इत्यर्थः । वा शब्दो विकल्पार्थः । तत्राद्यभेदद्वयं व्याचिख्यासुराह—  
‘दायार’मित्यादि ‘दातारं’ दायकं ‘दानाद्’ वितरणात् ‘पूर्वं’ पूर्वकाले तथा पश्चाद्दुत्तरकाले, वा विकल्पार्थो, यत् ‘स्तौति’ श्लाघते स पूर्वसंस्तवः पश्चात्संस्तवश्च । तत्राऽदत्ते दाने दातारं यत्संस्तौति साधुर्यथा—“सो एसो जस्स गुणा, वियरंति अवारिया दसदिसासु । पुव्वं कहासु सुणिमो, पच्चक्खं अज्ज विट्ठोऽसि ॥ १ ॥” इत्यादि, स पूर्वगुणसंस्तवः । दत्ते पुनर्दाने यत्संस्तौति, यथा—“विमलीकयऽम्ह चक्खू, जहट्टिया वियरिया गुणा तुज्झ । आसि पुरा मे संका, संपइ निस्संकिं जायं ॥ १ ॥” इत्यादि, स पश्चाद्गुणसंस्तवः । अनयोश्च दोषाः—मायामृषावादासंयतानुमोद-

नादयो द्रष्टव्या इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ अथ सम्बन्धिसंस्तवभेदौ व्याचिख्यासुराह—  
दी०—‘संस्तवे’ गुणस्तुतिरूपे ‘सम्बन्धे’ स्वाजन्यादौ संस्तवो द्विधा, स च पुनरेकैकः पूर्वं पश्चाद्वेति द्विधा स्यात् । तत्राद्यद्वयमाह—‘दातारं’ दायकं दानात्पूर्व-प्रथमं तथा ‘पश्चाद्वा’ दानानन्तरं यत्संस्तौति, तौ यथाक्रमं पूर्व-पश्चात्संस्तवाविति

संस्तवनं संस्तव इति गार्थः ॥ ७१ ॥ सम्बन्धसंस्तवभेदावाह—

जणणिजणगाइ पुवं, पच्छा सासुससुराइ जं च जई । आयपरवयं नाउं, संबंधं कुणइ तदणुगुणं ॥७२॥

व्याख्या—‘जननीजनकौ’ मातापितरौ ‘आदी’ प्रथमौ यस्य भ्रातृभगिन्यादिसम्बन्धस्य स सम्बन्धसम्बन्धिनोऽभेदोप-  
चाराजननीजनकादिः । किमित्याह—‘पूर्वं’ पूर्वसंस्तवो, जनन्यादीनां पूर्वकालभावित्वात्, स्यादित्यत्रोत्तरत्र च शेषः । तथा  
‘पश्चात्’ पश्चात्संस्तवः, क ? इत्याह—‘श्वश्रूश्चशुरौ’ दम्पत्योः पितरौ ‘आदी’ प्रथमौ यस्य कलत्रपुत्रादिसम्बन्धस्य स सम्ब-  
न्धतद्वतोरभेदाध्यवसायाच्छ्वश्रूश्चशुरादिः । एवं सम्बन्धिसंस्तवं सामान्येन भेदतोऽभिधाय प्रकृतोपयोगमाह—‘जं चे’त्यादि यं  
कश्चन सम्बन्धं करोतीति योगः । च शब्दो भिन्नावयताप्रतिपादनार्थः । क ? इत्याह—‘यतिः’ साधुः । किं कृत्वा ?  
इत्याह—‘आयपरवयं नाउं’ति आत्मपरौ अतीतौ, तयोर्वय-स्तारुण्यवृद्धत्वादिलक्षणा देहावस्था, तं ‘ज्ञात्वा’ अवगम्य ।  
किं ? इत्याह—‘सम्बन्धं’ परिचयं-स्वाजन्यमिति यावत् ‘करोति’ भोजनलिप्सया विधत्ते । किंविशिष्टमित्याह—‘तदनुगुणं’  
तयोरात्मपरवयसोरनुगुणं-अनुरूपं, स पूर्वसम्बन्धिसंस्तवः पश्चात्सम्बन्धिसंस्तवश्च, विज्ञेय इति स्वयमायोज्यं । तथाहि—यदि  
साधुः स्वयं तरुणो दात्री तु वृद्धा, तदा सम्बन्धविधानार्थं वक्ति-मम माता श्वश्रूवां तव सदृशी आसीत्, अथ साऽपि तरुणी,  
तदा वक्ति-मम भगिनी भार्या वा त्वत्तुल्या वभूव, अथात्मना वृद्धः सा तु तरुणी बाला वा ततो वक्ति-मम सुता त्वत्समाना  
विद्यते स्मेत्यादिगमेन च भावनीयं । अत्र दृष्टान्तो यथा—

कश्चिन्दिशागतः साधुः काश्चिन्निजमावृत्समानां गृहस्थामवलोक्याहारादिलम्पटतया मावृत्स्थानतोऽधृतिपूर्वकमिव साश्रूणी

पिण्ड-  
विशुद्धिं  
दीकाद्वयो-  
पेतम्

॥ ६६ ॥

लोचने चकार । पृष्टश्च तथा साधुर्यथा-किमेवं भगवानदृष्टिमानवलोकयते ? , तेनाप्युक्तं, यथा-भवत्या सदृशी मे माता अभवदतस्तस्याः सरामीदानीं, ततस्तया मातृत्वप्रकटनार्थं तन्मुखे स्वकीयस्तनमुखप्रवेशो विहितः । ततस्तयोः स्नेहवृद्धिः समजनि । तदनन्तरं चायं मे मृतपुत्रस्थाने भविष्यतीति विचिन्त्य विधवधृदासीव+ दारतया तथा तस्मै प्रदत्तेति । एवं शेषसंस्तेष्वपि दोषभावना कर्तव्या, इति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

अथ विद्यादिदोषचतुष्टयं व्याचिख्यासुराह--

दी०--जननीजनकभ्रातृभगिन्यादिपूर्वसम्बन्धात्पूर्वसंस्तेवः, तथा पश्चात्संस्तेवः श्वश्रूश्चशुरकलत्रपुत्रादि, एवं यतिर्यं कञ्चन आत्मपरयोर्वीच-स्त्वारुण्याद्यवस्थां ज्ञात्वा 'सम्बन्धः' स्वाजन्यं परिचयं भक्ताद्यर्थं करोति, कथम्भूतं ? तयोरात्मपर-

वयसोरनुगुणं-अनुरूपमिति गाथार्थः ॥ ७२ ॥ अथ विद्यादिदोषचतुष्टयं गाथाद्वयेनाह-  
साहणजुत्ता थीदे-वया व विजां विवज्जए मंतो । अंतद्धाणाइफला, चुन्ना नयगंजणाईया ॥ ७३ ॥  
सोहगदोहगकरा, पायपलेवाइणो व इह जोगाँ । पिंडट्टुमिमे टुट्टा, जईण सुयवासियमईणं ॥ ७४ ॥

व्याख्या--'साधनेन' जपहोमाद्युपचारेण 'युक्ता' समन्विता अक्षरपद्धतिः साधनयुक्ता विद्या, स्यादिति योगः । लक्षणान्तरमाह--'थीदेवया व'ति स्त्री प्रहत्यादिका 'देवता'अधिष्ठात्री यस्या अक्षरपङ्क्तेः सा स्त्रीदेवता, वा विकल्पार्थः ।

+ ०र्दासीत्वदार०' अ० । "०र्दाराऽऽसीत्तथा तस्मै" प० ह० क० ।

द्वितीयो-  
त्पादना-  
दोषेषु  
विद्यादि-  
दोष-  
चतुष्क-  
स्वरूपम् ।

॥ ६६ ॥

किमित्याह—'विद्या' विद्येति पदव्यपदेश्या, स्यादिति शेषः । तत्प्रयोगश्च दोषः, यद्वक्ष्यति—“पिंडहृमिमे दुष्ट”ति ।  
 अत्र च दृष्टान्तः—गंधसमिद्धे नयरे, विहरंता केह आगया सखी । बहुजहजणपरियरिया, अहऽन्नया तेसि साहूणं ॥ १ ॥  
 एगत्य पिंडियाणं, परोप्परं एरिसो समुच्छावो । संजाओ जइ इहइं, Xअइपंतो इड्डिमंतो य ॥ २ ॥ तच्चन्नियाण+ सड्डो,  
 ममत्थि न य सो कयावि समणाणं । किंचि पयच्छह ता अत्थि ?, कोइ जो तं दवाविजा ॥ ३ ॥ तत्थेणेणं जइणा, भणियं  
 जह मे पयच्छह अणुन्नं । जेणाहं धयगुलवत्थ-माइयं तं दवावेमि ॥ ४ ॥ अणुनाओ तेहिं गओ, भिक्खुवासयगिहम्मि  
 विजाए । तं अहिमंतइ तो सो, अहिड्डिओ तीए विजाए ॥ ५ ॥ धयगुलवत्थाइयं, पउरं साहूण देइ साहू वि । विजं संह-  
 रिऊणं, सड्डाणं आगओ पच्छा ॥ ६ ॥ पच्चागयचेयनो, आरद्धो विलविउं जहा मज्झ । केण हियं ? धयमाई, मुसिओऽहं ?  
 केण पावेणं ति ॥ ७ ॥

तथा 'विचजए मंतो'ति 'विपर्यये' विद्यालक्षणवैपरीत्ये, किमित्याह—'मन्त्रो' मन्त्राहुः स्यात्, यदाह—“इत्थी  
 विजाऽभिहिया, पुरिसो मंतोत्ति तव्विसेसोऽयं । विजा ससाहाणा वा, साहणरहिओ य मंतोत्ति ॥ १ ॥”

एतद्व्यापारणं च दोषः, अत्राप्युदाहरणं—

नयरम्मि पइड्डाणे, मुंरंडरायस्स एगया जाया । तिवा सिरम्मि वियणा, सा विजामंतमाईहि ॥ १ ॥ बहुएहि वि  
 नोत्रया, पालितयस्सरिणो तओ तत्थ । वाहरिया तेहि लहुं, अणजमाणेहि लोणेणं ॥ २ ॥ मंतं ज्ञायंतेहिं, पएसिणी भामिया

X [ अतिप्रान्तो-ऽतिक्रपण ऋद्धिमांश्च ] + बौद्धानां श्राद्धोऽस्ति ।

तहा सम्मं । जाणुसिरे जह नट्टा, सिरवियणा तस्स नरवह्णो ॥ ३ ॥ तेणावि तओ सूरी, विउलेणऽसणाइणा पहिठ्ठणं ।  
पडिलाभियत्ति एसो, पिंडो मंतऽज्जिओ नेओ ॥ ४ ॥

तथा 'अन्तर्द्धानादिफला'स्तिरोधानवशीकरणप्रभृतिकार्यसाधका'श्रूणी'श्रूर्णनामानः स्युः । किंविधास्ते ? इत्याह—'नयना-  
ज्जनादयो' लोचनाञ्जन-भालतिलकप्रभृतय, एतत्प्रयोजनं च दोषः । तत्र चोदाहरणं—

पाडलिपुत्ते नयरे, आसि निवो सयललक्खणसमेओ । नामेण चंदगुत्तो, चाणको तस्स वरमंती ॥ १ ॥ अह अन्नया कयाई,  
दुब्भक्खे तत्थ दारुणे जाए । संभूयविजयगुरुणो, जंघावलवज्जिया गच्छं ॥ २ ॥ देसंतरं विसज्जिउ-कामा सीसस्स गुरु-  
पयगयस्स । साहिता एगंते, मंतपए तंतजंते य ॥ ३ ॥ खुड्डगदुणेण निसुया, पच्छन्नट्टिएण जाणिओ एगो । अंजणत्तुनो  
एत्तो, चलिओ देसंतरं गच्छो ॥ ४ ॥ गंतूण पंथभागं, विरहुक्कंठं गुरुण तं वलियं । सेसो साहुसमूहो, पत्तो निद्धिट्ठाण-  
म्मि ॥ ५ ॥ गुरुणा वि हु ते भणिया, दुट्ठु कयं जं समागया तुब्भे । चिट्ठह संपह एत्थं, संतोसपरायणा नवरं ॥ ६ ॥ सय-  
मेव गुरुहि हिडइ, भिक्खट्टा सावगाइगेहेसु । फासुयमहेसणिजं, जं भिक्खं परिमियं लहइ ॥ ७ ॥ दाउं पढमं तेसिं, अप्पणा  
जमवसेसयं तस्स । तं भुंजई भोयणहीण-भावओ बुड्डभावाओ ॥ ८ ॥ जाओ अहतणुयतणू, तं दहुं खुड्डगा विचितंति ।  
न कयं सुंदरमम्हे-हिमागया जमिह अस्स कओ ॥ ९ ॥ +अवरहो बाढ×मओ, अन्नं भोयणपहं गवेसेमो । अंतद्धाणकरं जं,  
तमंजणं जोइयं तेहि ॥ १० ॥ गुरुणो अपरिकहिता, भोयणसमयम्मि चंदगुत्तस्स । विहियंजणा पविट्टा, न य दिट्टा केणइ

पिण्ड-  
विशुद्धिं  
टीकाद्वयो-  
पेतम्

॥ ६७ ॥

+ "अवरोहो" अ. । "उवरोहो" पा. ह. क. । × "कओ" प. ह. क. ।



जणेण ॥ ११ ॥ लग्गा सहेव भोचुं, रत्ना पञ्जतिमागया जाव । एवं पइदिवसं चिय, तेसुं भुंजंतएसु निवो ॥ १२ ॥  
 अच्छिन्नच्छुहो तुच्छी-भूओ देहेण पुच्छिओ भणइ । अज्ज ! न नज्जइ कजं, केणइ निजइ ममाहारो ॥ १३ ॥ थेवोच्चिय  
 मे भोगं, समेइ जाया मणम्मि वीमंसा । चाणकस्स न एसो, अईव जं सुंदरो कालो ॥ १४ ॥ ता कोइ अंतरहिओ,  
 थाले एयस्स भुंजए नूणं । तो इडुगाण चुनो, भोयणसालंगणे खित्तो ॥ १५ ॥ बीयदिवसम्मि तेणं, पविसंताणं निभालिया  
 य पया । दिट्ठा पयपंतीओ, दोनि अपुवाओ तो ज्ञत्ति ॥ १६ ॥ दारनिरोहं काउं, धूमो संमोहकारओ विहिओ । जायाहं  
 अंसुसलिला-उलाइं लोयस्स नयणाइं ॥ १७ ॥ तक्खणमुत्तिडणंजण-जोगा ते दोवि खुड्डगा दिट्ठा । चाणकेण सलजो, जाओ  
 वसहीए पेसविया ॥ १८ ॥ अहमेएहिं विट्ठा-लिओ त्ति राया दुग्गंछिउं लग्गो । मणिओडणेणुब्भडभिउ-डिमीमभालेण  
 सुकयत्थो ॥ १९ ॥ अजं चिय तं जाओ, विसुद्धवंसुब्भवो य तुमज्ज ! । जं बालकालपालिय-वएहिं एएहिं सह भुत्तं ॥ २० ॥  
 गंतूणं गुरुपासे, सीसोपालंममाह चाणक्यो । जा ता गुरुणा मणिओ, तइ सासणपालगे संते ॥ २१ ॥ एए छुहाडपरद्धा,  
 निद्धम्मा होउमेरिसायारा । जं जाया सो सबो, तवावराहो न अन्नस्स ॥ २२ ॥ लग्गो पाएसु इमो, खमेह अवराहमेग-  
 मेयम्मे । एत्तो पभिई सवा, चिंता मे साहुविसयत्ति ॥ २३ ॥

तथा 'सौभाग्यदौर्भाग्यकरा' जनप्रियत्वाप्रियत्वजनकाः श्रीचन्दनधूपप्रभृतयो द्रव्यविशेषा योगाः, स्थुरिति योगः ।  
 लक्षणान्तरमाह—'पादप्रलेपादय'श्चरणलेपप्रभृतयः, आदिशब्दादन्येऽपि जलस्तम्भ-नभोगमनादिविधायिनो लोकप्रसिद्धा  
 औषधविशेषा द्रष्टव्याः । वा शब्दो विकल्पार्थः । 'योगा' योगसञ्ज्ञाः स्युः, तद्व्यव्यापारणं दोषोऽतस्तत्राप्युदाहरणमुच्यते—

अथि आमीरविसए, अयलपुरं नाम पुरवरं रम्मं । तस्स य अदूरभागे, कण्हाविण्णाऽभिहाणाओ ॥ १ ॥ दोन्नि नईओ तासिं तु, अंतरे बंभनामगो दीवो । तत्थ य पंचसएहिं, तावससीसाण परियरिओ ॥ २ ॥ कुलवइ निवसइ एगो, सो य सया सवपवदिवसेसु । जोगोवलित्तपाओ, आरूढो पाउयाजुयलं ॥ ३ ॥ उत्तरिऊणं विण्णं, अयलपुरं एइ भोगणनिमित्तं । तो आउड्ढो लोगो, सक्कारं कुणइ तस्स बहं ॥ ४ ॥ वण्णेइ य तस्स गुणे, पच्चक्खो एस एत्थ देवो त्ति । निंदइ सावगलोगं, सो वि तओ चहरसामिस्स ॥ ५ ॥ माउलगअज्जसामियस्स, खरिणो कहइ सयलबुत्तं । तेण वि भणियं थेवं, एयं जं माइठाणेणं ॥ ६ ॥ पायप्पलेवजोगा, नइउत्तरणं ति सावएहिं पि । चिन्नायपओगेहिं, निमित्तं कुलवई नीओ ॥ ७ ॥ नियगेहं भत्तीए, निच्छं- तस्सावि सोइया चलणा । धोयाउ पाउयाओ, दिन्नं से मोयणं पच्छा ॥ ८ ॥ सयलजणपरिबुडेणं, तेण समं आगया नईतीरे । सवेवि सावगा तो, चलिओ सो नीरमज्झम्मि ॥ ९ ॥ लग्गो बुहंउं +जे, जाया ओहावणा घणा तस्स । एत्थंतरम्मि खरी, समागया अज्जसामियति ॥ १० ॥ बहुलोयबोहणत्थं, चप्पुडिंयं× दाउं तेहि तो भणियं । विण्णे ! परं तु पारं, गंतुं इच्छामि तो इत्ति ॥ ११ ॥ मिलिया दोण्ह\*वि कूला, जाओ लोगस्स विम्हओ विउलो । नायरजणपरियरिया, तावसनिलयं गया खरी ॥ १२ ॥ पारद्धा धम्मकहा, लोगो संबोहिओ बहू तत्थ । पद्दाविया य समगं, पंचसया तावसाणं पि ॥ १३ ॥ एवं पवयण- मुग्गा-सिऊण खरी समागया नयरं । जाया य बंभदीवग-साहा मुणियपत्तसुसणाहत्तिऽ ॥ १४ ॥

+ पादपूरणे । × “चप्पुडिं” अ. ह. क. , “चप्पुडिओ” प. । \* “दोन्निवि” अ. । § [ ज्ञाततत्त्वा मुनयस्त एव पत्राणि,

तैः सुष्ठु सनाथा-शुक्ला ] ।

एते च विद्यामन्त्रादयः किमविशेषेण प्रयुज्यमाना दोषाः स्युरुत विशेषेणेत्याशङ्क्याह—‘पिण्डमिमिमे दुष्ट’चि ‘पिण्डार्थ’ मक्तादिनिमित्तं, प्रयुज्यमाना अपि इति गम्यते, न पुनः पुष्टालम्बनेऽपि । यदुक्तं कल्पमाण्ये—‘एयाणि गारवष्टा, कुण-माणो आभियोगियं बंधे । वीयं गारवरहिओ, कुब्वं आराहगुच्चं च ॥ १ ॥’ अस्या भावार्थः—एतानि कौतुक-भृतिकर्म-प्रश्नादीनि ‘गौरवार्थ’ ऋद्धिरससातगौरवनिमित्तं कुर्वाणश्चारित्र्यपि ‘आभियोग्यं’ कुदेवत्ववेद्यं-पारवश्यनिमित्तमित्यर्थः, कर्म बध्नाति, उपलक्षणत्वाच्चरणघर्मविराधकश्च भवतीत्येष तावदुत्सर्गः । द्वितीयं पुनरपवादपदमिदं, यदुत-गौरवरहितः कौतुकादीनि कुर्वन्नपि चारित्राराधकः स्यात् ‘उच्चं च’ उच्चैर्गोत्रं च कर्म निबध्नाति, न पुनर्विराधक आभियोग्यकर्मबन्धकश्च स्यादिति भाव इति । ‘इमे’चि ‘इमे’ एते अनन्तरोक्ता विद्यामन्त्रादयः । किमित्याह—‘दुष्टा’ गर्हिताः, प्रतिविद्यास्तम्भन-बध्वन्धनादीनां, पापाजीवी-मायावी-कर्मणकारी चायं साधुरित्यादिलोकापवादादीनां, चरणविराधन-कुगतिगमनादीनां च दोषाणां कारणत्वात् । केषामेते दुष्टा ? इत्याह—‘यतीनां’ साधूनां, किंविशिष्टानां ? इत्याह—‘श्रुतवासितमतीनां’ सिद्धान्त-माचित्तुद्धीनां, एतच्च स्वरूपविशेषणं, साधूनां श्रुतवासितमतित्वव्यभिचाराभावादिति गाथार्थः ॥ ७४ ॥

अथ मूलकर्मलक्षणं षोडशं दोषमाह—

दी०—‘साधनयुक्ता’ जापहोमादिसाध्या ‘स्त्रीदेवता च’ देव्यधिष्ठिता अक्षरपङ्क्तिर्विद्या, सा पिण्डार्थं दोषाय । तथा ‘विपर्यये’ विद्यालक्षणवैपरीत्येन मन्त्रोऽसाधनो देवाधिष्ठितश्चेति भावः । तथाऽन्तर्द्वानादिफला-स्तिरोघानवशीकरणादिकार्य-साधकाश्चूर्णा ‘नयनाञ्जनादयो’ लोचनाञ्जनभालतिलकादयः ॥ ७३ ॥ तथा सौभाग्यदौर्भाग्यकराः श्रीचन्दनधूपादिद्रव्यविशेषा

योगाः स्युः । 'पादप्रलेपादय' श्रणलेपमुख्या, आदिशब्दादन्येऽपि जलस्तम्भ-नभोगमनादिकरा औषधविशेषा योगा ज्ञेयाः । पिण्डार्थमिमे विधादयः प्रयुज्यमाना दुष्टाः, पुष्टालम्बने कदाचित्प्रयुक्ता अपि न दोषायेति भावः, केषां ? यतीनां 'श्रुतवासितमतीनां' सिद्धान्तमावितबुद्धीनामिति गाथाद्वयार्थः ॥ ७४ ॥ अथ मूलकर्माख्यमाह—

मंगलमूलीणहवणाइ, गब्भवीवाहकरणघायाई । भववणमूलं कम्मं, ति मूलकम्मं महापावं ॥७५॥

व्याख्या—मङ्गलमूलिकाभिलोकप्रसिद्धाभिः 'स्नपनादि' सौभाग्यनिमित्तं मञ्जनादि, आदिशब्दाद्रक्षाबन्धनधूपनादिपरिग्रहः । तथा गर्भविवाहौ प्रतीतौ, तयोः प्रत्येकं 'करण-घातादि' निर्वर्त्तन-विनाशप्रसृति, आदिशब्दाद्गर्भस्तम्भ-कन्यकाभिन्नत्वाभिन्नत्वदोषकरणादिपरिग्रहः । एतच्च, च शब्दार्थस्य सम्यमानत्वाद्भक्ताद्यर्थं साधुना क्रियमाणं कार्यमाणं, चेति गम्यते, मूलकर्मेव्यत इति योगः । अन्वर्थमाह—'भववणमूलं कम्मं'ति 'भवनस्य' संसारकाननस्य 'मूलं' कारणं 'कर्म' क्रियेति हेतोः, किं ? 'मूलकम्मं'ति मूलकर्मेव्यत इति शेषः । किंविधं तदित्याह—'महापावं'ति महापापहेतुत्वान्महापापं—अत्यन्ताशुभं, अत एव भववनमूलमिदमित्युक्तं । तथाहि—एतेषु मूलकर्मरूपेषु स्वपन-गर्भधान-विनाश-परिणयन-विधान-विधातादिषु पिण्डनिमित्तं साधुना क्रियमाणेषु कार्यमाणेषु वा षण्णां जीवनिष्कायानां वधादयो मैथुनप्रसृति-सदाभोगान्तरायादयः प्रद्वेष-श्रवचनोपघातादयश्च दोषाः कृता भवन्ति । तत्र गर्भधानविनाशावधिकृत्येदमुदाहरणम्—

किल केनचिद्गोचरप्रविष्टेन पिण्डलिप्सुना साधुना दानशीला काचिद्राजभार्या पृष्टा, यथा-भद्रे ! किं त्वमेवमधृतिमती दृश्यसे ? सा चावोचन्मे सपत्नी आपन्नसत्त्वा, तस्याश्च पुत्रः समादिष्टो देवज्ञेनेति । एतदाकर्ण्य साधुराह—यद्येवं, मा विषादं

कुरु, तवापि गर्भं करिष्यामि । ततो दत्तं तथाविधमौषधं साधुना, आहूतश्च गर्भः । ततः पुनरपि सैवमवादीव-यद्यपि भगवन् ! त्वदीयौषधप्रभावान्मे सुतो भविष्यति, तथापि सपत्नीसुतात्कनिष्ठ एवेति “तद्दीर्घतैव पलाशानां” । ततः साधुना केनाप्युपायेन तत्सपत्न्या गर्भपरिशातनकार्यौषधं प्रदापितं, गलितस्तद्गर्भः, जातश्चेतरस्याः सुतः युवराजश्च संवृत्त इति ।

विधाहं त्वङ्गीकृत्यायं दृष्टान्तः—किल कश्चित्साधुर्भिक्षार्थं क्वचित्कुले प्रविष्टः कामपि बृहत्कुमारीं दृष्ट्वा पिण्डलोभेन तज्जननीं प्रत्येवमाह, यथा-इयं तव दुहिता वयःप्राप्ता वर्त्तते, ततो वरायाप्रदीयमाना भवत्कुलं दूषयिष्यति, किञ्च-लौकिका अपि वदन्ति—“तावन्तो नरका घोरा, यावन्तो रुधिरबिन्दवः ।” ततः शीघ्रं प्रदीयतामियं वरायेति ।

कन्यकाभिन्नत्वदोषापरहणे एष दृष्टान्तः—किलैकः कश्चित्साधुर्भिक्षार्थं परिभ्रमन् प्राप्तो दान[शील]श्राविकासत्कगृहं, दृष्ट्वा च साऽधृतिं कुर्वाणा पृष्ट्वा च किमधृतिं करोषि ?, तथा चोक्तं—“जो य न दुक्खं पत्तो, जो य न दुक्खस्स निग्गहसमत्थो । जो य न दुहिए दुहियो, कह तस्स कहिज्जे ? कुक्खं ॥ १ ॥” साधुनोक्तं—एवमेतत्, केवलं “अहयं दुक्खं पत्तो, अहयं दुक्खस्स निग्गहसमत्थो । अहयं दुहिए दुहियो, ता मज्झ कहिज्जे दुक्खं ॥ १ ॥” ततस्तथा भणितं—प्रत्यासन्नो मम दुहितुः पाणिग्रहणदिवसः, सा च भिन्नयोनिकेति । ततस्तेनौषधाचमनपानादिप्रदानेनाभिन्नयोनिः सा विहितेत्यलं विस्तरेणेति गाथार्थः ॥ ७५ ॥

अथोक्तदोषनिगमनं उत्तरग्रन्थसम्बन्धं च चिकीर्षुराह—

दी०-मङ्गलमूलिकाभिः प्रतीताभिः ‘स्नपनादि’ सौभाग्यार्थं मञ्जनरक्षाबन्धधूपनादि, तथा गर्भविवाहयोः करणस्तम्भन-

घातनादि च, भवनस्य मूलमिदं कर्म स्यात्, तच्च महापापं, षड्जीववध-मैथुनप्रवृत्त्यन्तरायादिदोषजनकत्वादिति गाथार्थः ॥७५॥  
अथोक्तदोषनिगमनश्रुतग्रन्थसम्बन्धं चाह—

इयं बुक्ता सुत्ताउ, बर्तीस गेवसणेसणादोसा । गहणेसणदोसे दस, लेसेण भणामि ते य इमे ॥७६॥  
व्याख्या—‘इति’ एवं-पूर्वोक्तप्रकारेण ‘बुक्त’चि ‘उक्ताः प्रतिपादिता, मयेति गम्यते । कुतः स्थानादुद्धृत्येत्याह—‘सुत्तात्’  
पिण्डेषणाध्ययन तन्त्रियुक्त्यागमाद् ‘द्वात्रिंशद्’ आधाकर्मादीनां षोडशानां धात्र्यादीनां च षोडशानां दोषाणामेवं मीलनाद्-  
द्वात्रिंशत्सङ्ख्याः । के ? इत्याह—‘गवेषणा’ ग्रहणनिमित्तं भक्तादेरवलोकना, तत्काले तद्विषया वा ‘एषणा’ उद्गमादिदोषनिरी-  
क्षण-विचारणेत्यर्थः, गवेषणेषणा, तदुपयोगिनो ‘दोषा’ दूषणानि-गवेषणेषणादोषाः । एषणा हि गवेषणा ग्रह-[णेषणा]-ग्रसैषणा  
भेदान्निप्रकारा सूत्रेऽभिधीयते, तदियता ग्रन्थेनाद्या प्रतिपादितेति । अथ द्वितीयां प्रतिपादयन्नाह—‘ग्रहणं’ पिण्डोपादानं,  
तद्विषया वा ‘एषणा’ शङ्कित्वादिदोषनिरीक्षण, तदुपयोगिनो ‘दोषा’ दूषणानि-ग्रहणेषणादोषास्तान् ‘दशे’ति दशसङ्ख्यान्  
तत्काले ‘लेशेन’ सङ्क्षेपेण ‘भणामि’ वच्मि ‘ते च’ ते पुनरिमे-एते वक्ष्यमाणा इति गाथार्थः ॥ ७६ ॥

अथ तानेव प्रस्तावितदोषान्नामतः सङ्ख्यातश्च दर्शयन्नाह—

दी०—इत्येवं ‘बुक्ता’ उक्ताः ‘सुत्तात्’ पिण्डेषणाध्ययनादेः, कियन्तस्ते ?, द्वात्रिंशत्, गवेषणा-भक्तादेर्ग्रहणार्थविलोकना,  
तत्कालं तद्विषयं वा ‘एषणा’ उद्गमादिदोषविचारणा, तस्य दोषाः । अत्र गवेषणा-ग्रहण-ग्रसभेदात्रिविधा एषणा, तत्राद्या  
उक्ता, द्वितीयामाह-ग्रहणं भक्तादेस्तत्काले या एषणा, तदोषान् दशसङ्ख्यान् ‘लेशेन’ सङ्क्षेपेण भणामि, ते च इमे वक्ष्यमाणा

इति गार्थः ॥ ७६ ॥ आदौ नामान्याह—

संकिर्य-मखिखर्य-निखिखर्य-साहरिर्ध-दायगु-म्मीसे ।

अपरिणर्य-लित्त-छडियं, एसणदोसा दस हवंति ॥ ७७ ॥

व्याख्या—‘शुद्धितं’ सम्भाविताघाकर्मादिदोषं भक्तादि, इह च प्रथमैकचनान्तता सर्वत्र दृश्या, तथा दोषवतो निर्दे-  
शेऽपि दोषदोषवतोरभेदाच्छङ्का-शङ्कारूप एषणादोष उक्तोऽवसेयः, तस्यैव विवक्षितत्वात्, एवं सर्वत्र । ‘अशितं’ आरूषितं  
‘निक्षिप्तं’ न्यस्तं ‘पिहितं’ स्थगितं ‘संहृतं’ अन्यत्र क्षिप्तं ‘दायको’ दाता ‘उन्मिश्रं’ मिश्रीकरणं ‘अपरिणतं’ अप्रासुकादि ‘लित्तं’  
खरण्टितं ‘छदितं’ परिशाटितं, इत्येवमेते ‘एषणादोषाः’ पिण्डग्रहणदूपणानि दश ‘भवन्ति’ स्युरिति गाथासमासार्थः ॥ ७७ ॥

अथाद्यं शुद्धिताभिधानदोषं व्याख्यातुमाह—

दी०-इह दोषदोषवतोरभेदादेषणादोषः प्रथमैकचनान्तो द्वेषः । तत्र शुद्धितं-सम्भाविताघाकर्मादिदोषं भक्तादि १,  
अशितं सचितादिभिः २, निक्षिप्तं तत्र न्यस्तम् ३, पिहितं तैः स्थगितम् ४, संहृतं तस्मादन्यत्र क्षिप्तम् ५, दायका  
नालादयः ६, उन्मिश्रं सचितादियुक्तम् ७, अपरिणतं द्रव्यं भावो वा ८, लित्तं खरण्टितम् ९, छदितं परिशाटनावत्  
१०, एवं एषणा दोषा दश भवन्तीति गार्थः ॥ ७७ ॥ अथाद्यं शुद्धितमाह—

संकिर्यगहणे भोगे, चउभंगो तत्थ दुचरिमा सुद्धा । जं संकइ तं पावइ, दोसं सेसेसु कम्मइ ॥ ७८ ॥





अन्नेहिं वि तारिसिया, वियडत्त॥निसामणे तइओ ॥ १ ॥” ति ३ । चतुर्थमङ्गकसम्भवस्त्वतिप्रतीत एवेति ४ । ‘तत्थ’ति ‘तत्र’ तेषु चतुर्षु मङ्गकेषु मध्ये ‘दुचरिम’ति ‘द्विचरमौ’ द्वितीयचतुर्थौ, किमित्याह—‘शुद्धौ’ निर्दोषौ, द्वयोरपि भोजनस्य निश्शङ्कितत्वेन शुद्धत्वात् । द्वितीयमङ्गभाविनश्च शङ्कितग्रहणदोषमात्रस्योत्तरशुभपरिणामेन शुद्धिसम्भवात् । तथा यं कञ्चन, दोषमिति योगः, ‘शङ्कते’ आरेकते-सम्भावयतीत्यर्थः, पिण्डग्रहकसाधुरिति गम्यते, तं ‘प्राप्नोति’ आपद्यते ‘दोषं’ दूषणं ‘सेसेसु’ति ‘शेषयोः’ प्रथमवृतीयमङ्गयोः, उभयत्रापि भोजनस्य शङ्कितत्वेनाशुद्धत्वात् । किंविधं दोषं ? इत्याह—‘कम्ममाइ’ ति ‘कर्मादि’ आधाकर्मौदेशिकप्रभृत्युद्गमदोषषोडशकं अक्षितनिक्षिप्ताधेषणादोषनवकं चेत्यर्थः । इति गार्थार्थः ॥ ७८ ॥

अथ अक्षितदोषं व्याख्यानयन्नाह—

दी०—‘शङ्कितस्य आधाकर्मवत्तया सन्दिग्धस्य ‘ग्रहणे’ स्वीकारे तथा ‘भोगे’ भोजने सति, जात्येकवचनाच्चतुर्भङ्गः+ स्यात्, यथा—शङ्कितग्रहणे लज्जादिवशादपृच्छायां तथैव सन्देहाच्छङ्कितपरिभोगः १, शङ्कितग्रहणे पश्चात्सन्देहापगमे सति भुञ्जानस्य निःशङ्कितभोगः २, निश्शङ्कितग्रहणं कुतोऽपि हेतोर्दोषाशङ्कायां शङ्कितभोगः ३, निश्शङ्कितग्रहणे निश्शङ्कितभोगः स्पष्टः ४, ‘तत्र’ तेषु द्वितीयचरमौ भङ्गौ शुद्धौ, निश्शङ्कितभोगादित्याह—यं कञ्चन दोषं शङ्कते साधुस्तं प्राप्नोति ‘शेषयोः’ प्रथम-वृतीयमङ्गयोः, शङ्कितभोगात् । किम्भूतं ? ‘कर्मादि’ उद्गमदोषषोडशकं अक्षणाधेषणादोषनवकं चेति भाव इति गार्थार्थः ॥ ७८ ॥ अथ अक्षितमाह—

§ “वियडत्त” प. ह. क. । + “भङ्गौ” ह. ।

सच्चित्ताचित्तमखिल्यं, दुहा तत्थ भूदूगवणेहिं । तिविहं पढमं बीयं, गरहिय-इयरेहिं डुविहं तु ॥७९॥

व्याख्या—‘सच्चित्ताचित्तं’ति सचित्तेन अक्षितं यत्करादि, तदेव तद्योगात् ‘सचित्तं’ सचेतनं, तच्च, एवमचित्तं चा-  
चेतनं सच्चित्ताचित्तं, द्वन्द्वैकवद्भावात्सचित्तअक्षित-मचित्तअक्षितं चेत्यर्थः, इत्येवं अक्षित-मारूषितं ‘द्विधा’ द्विप्रकारं, भवतीति  
शेषः, ‘तत्थ’ति ‘तत्र’ तयोर्अक्षितभेदयोर्मध्ये प्रथमं त्रिधा, भवतीति योगः, कथमित्याह—‘भू-दक-वनैः’ सचित्तपृथिव्यम्बु-  
वनस्पतिभिर्प्रक्षणभेदादिति गम्यते । ‘त्रिविधं’ त्रिप्रकारमेव, तेजोवायुत्रस्र्प्रक्षितत्वायोगात्, प्रथमं सचित्तअक्षितं, भवति ।  
‘बीयं’ति, वक्ष्यमाणपुनरर्थतुशब्दस्येह सम्बन्धाद्द्वितीयं पुनरचित्तअक्षितं, द्विविधमिति योगः, कथमित्याह—‘गर्हितेतराभ्यां’  
लोकनिन्द्यानिन्द्यवस्तुभ्यां, अक्षणभेदादिति गम्यते, ‘द्विविधं’ द्विप्रकारं भवति, तुव्याख्यात एवेति गार्थार्थः ॥ ७९ ॥

एवं अक्षितस्वरूपमभिधायऽथास्यैव विभागेनाऽकल्पनीयतां विभणिषुराह—  
दी०—सच्चित्ताचित्तयोर्देयवस्तुनोर्योगान् अक्षितं द्विधा स्यात्, तत्र ‘भू-दक-वनैः’ सचित्तपृथ्वीजलवनस्पतिभिस्त्रिभ्रक्षण-

भेदात्रिविधं प्रथमं, द्वितीयं त्वचित्तअक्षितं ‘गर्हितेतराभ्यां’ लोके निन्द्यानिन्द्यवस्तुभ्यां अक्षणभेदाद्द्विविधमिति गार्थार्थः  
॥ ७९ ॥ एतदेव विशेष्यन्नाह—

संसत्तअचित्तेहिं, लोगागमगरहिएहि य जईणं । सुक्कोऽल्लसच्चित्तेहि य, करमत्तं मखिल्यमकप्पं ॥८०॥  
व्याख्या—संसक्तानि च-तान्येकेन्द्रियादिसत्त्वसम्भृतिशुक्तानि, अचित्तानि च-दधिद्राक्षापानकादीनि संसक्ताचित्तानि,

तैस्तथा 'लोकश्च' पृथग्जन आगमश्चा-ऽर्हतप्रवचनं लोकागमौ, तयोर्मध्ये 'गर्हितानि' निन्दितानि यानि मद्य-मांस-वशा शोणित-  
मूत्र पुरीषादीनि, तानि लोकागम( ग्रन्थाग्रं. २००० )गर्हितानि, तैः, चः समुच्चये, अनेन चाऽसंस्कागर्हिताचित्तद्रव्यम्रक्षि-  
तस्य कल्पनीयता प्रतिपादिता भवति । 'यतीनां' साधूनां, तथा 'शुष्कार्द्रसचित्तेहि य'त्ति 'शुष्कार्द्रसचित्ते'र्नीरस-सरस-  
मचेतनैः, प्रक्रमात्पृथिव्य-म्बु-वनस्पतिलक्षणैर्वस्तुभिः, चः समुच्चये, अक्षितं अकल्प्यमिति सम्बन्धः । किं तदित्याह-  
'करमत्तं'ति 'करश्च'दातुहस्तो 'मात्रं च' करोटिकादिलक्षणं भिक्षामाजनं, द्वन्द्वैकवद्भावात् करमात्रं 'अक्षितं' खरण्डितं  
सदुभयमन्यतरद्वा, उपलक्षणत्वादेयद्रव्यं वा, किमित्याह-'अकल्प्यं' अकल्पनीयं, यतीनामिति पूर्वेण योगः, अयमर्थो-न  
पूर्वोक्तद्रव्यैर्अक्षिताभ्यां हस्तमात्राभ्यां दीयमाना शुद्धाऽपि भिक्षा यतीनां ग्रहीतुं कल्पते नाऽपि तैर्अक्षितं द्रव्यमादातुं युज्यते,  
सत्त्वोपघात-जनापवादादिदोषसम्भवादिति गाथार्थः ॥ ८० ॥ अथ निक्षिप्तदोषं विवरीतुमाह—

दी०—'संसक्तै'रेकेन्द्रियादिसत्त्वसम्भूतियुवतैरचित्तैस्तथा 'लोकः' पृथग्जनः 'आगमो'ऽर्हतप्रवचनं, तयोर्गर्हितैश्च-मद्य-  
मांस-वशा-शोणित मूत्र-पुरीषाद्यैस्तथा 'शुष्कार्द्रै'र्नीरस सरसैः सचित्तैः, प्रस्तावाद्भू दक-वनलक्षणेर्अक्षितं करमात्रं, करो-हस्तो  
'मात्रं' करोटिकादिस्तदुपलक्षणादन्यदपि यतीनामकल्प्यं, सत्त्वोपघात-जनापवादादिदोषसम्भवादिति गाथार्थः ॥ ८० ॥

अथ निक्षिप्ताख्यमाह—

पुढविदगअगणिपवणे, परित्तऽणते वणे तसेसुं च । निक्खित्तमचित्तं पि हु, अणंतरपरंपरमगेज्झं ॥ ८१ ॥  
व्याख्या—'पृथिवी' च मृत्तिका 'उदकं च' जलं 'अग्निश्च' तेजस्कायः 'पवनश्च' वायुः, द्वन्द्वैकवद्भावात् पृथिव्युदकाग्नि-

पवनं, तस्मिन् सचिन्ते मिश्रे चेति गम्यं, एवमुत्तरत्राऽपि, तथा 'परीत्तं च'-प्रत्येकं 'अनन्तं च' साधारणं परीत्तानन्तं, तस्मिन्, एकवचनान्तता च प्राग्वत्, क्व ? इत्याह-'वने' वनस्पतिक्राये तथा 'त्रसेषु च' द्वीन्द्रियादिषु, चः समुच्चये, 'निक्षिप्तं न्यस्तं-स्थापितमित्यर्थः । 'अचित्तमपि' प्राप्तुकमपि, देयद्रव्यमिति गम्यते, सचितं तावद्ग्राह्यमेवेत्यपिशब्दार्थः, हुरवधारणे, तस्य चाग्राह्यमेवेत्यनेन योगः, कथं न्यस्तमित्याह-'अनन्तरं च' अव्यवहितं 'परम्परं च' वस्त्वन्तरव्यवहितं अनन्तर-परम्पर-न्यस्तं, क्रियाविशेषणं चैतत्, तत्र पृथिव्यामनन्तरनिक्षेपसम्भवो मण्डकादेरुदके नवनीतस्थानघृतादेरङ्गाराव-स्थाग्नौ मण्डकादेः पवने तेनैव द्वियमाणस्य शालि-पर्यटादेर्वनस्पतौ त्रसेषु च पूषकादेः, परम्परनिक्षेपसम्भवस्तु पृथिव्या-दिषु मण्डकादेरेव वस्त्वन्तरव्यवहितन्यस्तस्य भावनीयः, पवने तु नातपूरित-अस्त्व्यादिस्थितस्य वस्तुन इति, एतत्किमि-त्याह-'अगेज्जं' ति 'अग्राह्यमेव' साधूनां ग्रहीतुमयोग्यमेवेति, अत्रोत्तरत्र च चतुर्भङ्गादिचर्चो ग्रन्थान्तरादवसेयो वैषम्य-मयाच्च नेहाऽवतारित इति गार्थार्थः ॥ ८१ ॥

अथ पिहितदोषमभिधातुमाह—  
दी०-इन्द्रैकवद्भावात्पृथिव्यु-दका-ग्नि-पवने, सचिन्ते मिश्रे वेति गम्यं, तथा 'परीत्तानन्ते' प्रत्येकसाधारणे 'वने' वनस्पतिक्राये, तथा 'त्रसेषु' द्वीन्द्रियादिषु निक्षिप्तमचित्तमपि देयद्रव्यं 'हु'रिति निश्चये, अनन्तरं-अव्यवहितं 'परम्परं' वस्त्वन्तरव्यवहितं सद् अग्राह्यमिति गार्थार्थः ॥ ८१ ॥

अथ पिहिताख्यमाह—  
वस्त्वन्तरव्यवहितं सद् अग्राह्यमिति गार्थार्थः ॥ ८१ ॥  
सचिन्ताचित्तपिहिण्, चउभंगो तत्थ दुष्टमाइतिगं । गुरुलहुचउभंगिह्ले, चरिमे वि दुचरिमगा सुद्धा ॥८२॥

+ सालेवढ । X बस्त्यादि " अ. । [ दीवडी-मशक ] ।

व्याख्या—‘सचितं च’ चैतन्ययुक्तमचितं च—चेतनाविकलं सचित्ताचित्ते वस्तुनी, ताभ्यां ‘पिहितं’ स्थगितं, तत्र वस्तुनीति गम्यते, किमित्याह—‘चउभंगो’ति चतुरूपो भङ्गश्चतुर्भङ्गो, जातिनिर्देशाच्चत्वारो भङ्गका भवन्तीत्यर्थः; तद्यथा—सचितेन सचितं १ एवमचितेन सचितं २ सचितेनाऽचितं ३ अचितेनाचितमिति ४ । तत्र तेषु चतुर्षु भङ्गकेषु मध्ये, किमित्याह—‘दुष्टं’ दोषव-जीवपीडावहत्वात् । किं तदित्याह—‘आदित्रिकं’ प्रथमभङ्गत्रयं, चतुर्थं Xस्य का वार्तेत्याह—‘गुरुलहु’ इत्यादि, ‘गुरु च’ प्रचुरभारान्वितं वस्तु ‘लघु च’ स्तोत्रकारं गुरुलघुनी, ताभ्यां चतुर्भङ्गो विद्यते यत्र स गुरुलघुचतुर्भङ्गवान्, तस्मिन्, इह च ‘आल-इल्ल-मण’ प्रभृतिप्राकृतप्रत्ययानां मत्वर्थीयार्थत्वात् ‘चउभंगिल्ले’ चि निर्देशेऽपि चतुर्भङ्गवतीति व्याख्यातं, चतुर्भङ्गश्चैवं ‘गुरु’ महद्देयद्रव्यभाजनं ‘गुरुणा’ प्रभूतभारेण स्थाल्यादिना पिहितं १ एवं गुरु ‘लघुना’ स्तोत्रकारेण पिधानस्थाल्यादिना २ एवं लघुगुरुणा ३ लघुलघुना ४ । पूर्वोक्तचतुर्भङ्गकेभ्यश्च क्रमान्तरचतुर्भङ्गकोऽयं, मध्यमभङ्गयोः क्रमविपर्ययात् +, केत्याह—‘चरमेऽपि’ चतुर्थभङ्गकेऽपीत्यर्थः । ‘द्विचरमको’ द्विती-यचतुर्थवित्र, किमित्याह ‘शुद्धौ’ निर्दोषौ, पिधायकद्रव्यस्य लघुत्वेन निरपायत्वात्तयोः, न तु प्रथमचतुर्थीयौ, पिधायक-द्रव्यस्य गुरुत्वेन तत्र पतनाद्यनेकदोषसम्भवादिति गार्थार्थः ॥ ८२ ॥

साम्प्रतं संहतदोषमभिधातुमाह—  
 दी०—सचित्ताचित्ताभ्यां पिहिते देयद्रव्ये ‘चतुर्भङ्गो’X, [ जातिनिर्देशाच्चत्वारो भङ्गाः ], यथा—सचितेन सचितं १,

X “चतुर्थकस्य” य. । + द्वितीयस्थाने तृतीयः प्राप्नोति, तृतीयस्थाने द्वितीयः प्राप्नोतीत्येवं क्रमविपर्ययः ( टि० अ. )

X “भङ्गी” ह. ।

× सचित्तेनाचित्तं २, अचित्तेन सचित्तं ३ । 'तत्र' तेषु 'दुष्टं' सदोषं 'आदित्रिकं' प्रथममङ्गत्रयं, चतुर्थः कथं ? इत्याह—'गुरुलघुभ्यां' बहुभारस्तोकभाराभ्यां पिधानाभ्यां सचित्ताचित्तव'चतुर्भंगिल्ले' चतुर्भेदवति चरमे भङ्गे द्वितीयचरमौ शुद्धौ, निरपायत्वादिति गथार्थः ॥ ८२ ॥

अथ संहृताख्यमाह—  
स्त्रिवियऽन्नत्थमजोगं, मत्ताओ तेण देइ साहरियं । तत्थ सचित्ताचित्ते, चउभंगो कप्पइ उ चरिमे ॥ ८३ ॥

व्याख्या—यत् 'क्षिप्त्वा' प्रक्षिप्याऽन्यत्र पृथिवीकायादौ, किं तदित्याह 'अयोग्यं' दानानुचितं मृत्तिका-जल-तुषारादि दातुमनभिप्रेतं वा, कस्मादित्याह—'मात्रात्' करोटिकादेः स्वभाजनात् 'तेण' चि सावधारणत्वात् 'तेनैव' रिक्ती-कृतमात्रकेणैव 'ददाति' देयं वस्तु साधुभ्यः प्रयच्छति, गृहस्थ इति गम्यते, तत्संहृतमित्युच्यत इति शेषः । 'तत्र' तस्मिन् संहृते 'सचित्ताचित्ते' सचेतनाचेतने वस्तुनि, मिश्रस्य सचेतन एवाऽन्तर्भावात्, किमित्याह—'चतुर्भङ्ग'श्चत्वारो भङ्गा भवन्तीत्यर्थस्तद्यथा—सचित्ते-पृथिव्यादौ सचित्तं-पृथिव्याद्येव संहरति १, एवमचित्ते-भस्मादौ सचित्तं २, सचित्तेऽचित्तं ३, अचित्तेऽचित्तं ४ । एवं भङ्गकानभिधाय तन्मध्ये यत्र कल्पते तमाह 'कप्पइ उ चरिमे' चि 'कल्पते तु' भक्तादि ग्रहीतुं युज्यते पुनः साधूनां 'चरमे' चतुर्थभङ्गके, नाऽद्यत्रिक इति गथार्थः ॥ ८३ ॥ अथ चतुर्थभङ्गकस्यैव विशेषं प्रतिपादयन्नाह—दी०—क्षिप्त्वा अन्यत्र पृथ्वीकायादौ 'अयोग्यं' दानानुचितं मृत्तिका-जल-तुषादि दातुमनिष्टं वा 'मात्रात्' करोटिकादेर्भाजनात् 'तेनैव' रिक्तीकृतमात्रकेणैव ददाति तत्संहृतं स्यात् । तत्र सचित्ताचित्ते वस्तुनि चतुर्भङ्गो यथा-सचित्ते सचित्तं १,

× " अचित्तेन सचित्तं २ सचित्तेनाचित्तं ३ " प. म. ।

सचिच्चेऽचिच् २, अचिच्ते सचिच् ३, अचिच्चेऽचिच् ४, संहरतीति, एषु कल्पते 'तु' पुनश्चरमे भङ्गे इति गार्थः ॥ ८३ ॥

अत्रापि विशेषमाह—

तत्थ वि य थोवबहुपय-चउभंगो पढमतइयगाइण्णा । जइ तं थोवाहारं, मत्तगमुक्खिविय वियेरज्जा । ८४ ।

व्याख्या—'तत्रापि च' चतुर्भङ्गकेऽपि, किं स्यादित्याह 'थोव-बहुपय-चउभंगो'ति स्तोत्रबहुलक्षणे ये 'पदे' अभिधाने, ताम्यां चतुर्भङ्गः स्तोत्रबहुपदचतुर्भङ्गः, स्यादिति शेषः, तद्यथा—'स्तोके' अल्पे तक्रादिके 'स्तोकं' स्वल्पं तक्रादिकमेव संहरति १, एवं +स्तोके बहुकं २, बहुके स्तोकं ३, बहुके बहुकं ४ । एतेषु च 'प्रथमतृतीयकौ' आद्यो-पान्त्यभङ्गकौ, किमित्याह—'आचीणौ' भिक्षाग्रहणे साधुभिर्व्यवहृतौ । अत्रापि किमपि विशेषमाह—'जइ तं'मित्यादि, यदीत्यभ्युपगमे 'तं'ति तदेयसंहृतसत्कं 'थोवाहारं' ति स्तोकः करग्रहणमात्ररूप 'आधारः' साहाय्यं यस्य, स्तोकं वा वस्तु आ-समन्ताद्धारयति, स्तोकस्य वा वस्तुन 'आधारः' स्थानं यत्तत्स्तोकाधारं-अल्पभारमित्यर्थः, बह्वाधारे हि भाजने उत्क्षिप्यमाणे दातृपीडादयो दोषाः स्युरिति स्तोकाधारविशेषणं, किं तदित्याह—'मात्रकं' स्थाल्यादिभाजनं 'उत्क्षिप्य' उत्त्पाद्य, भूमौ स्थितेन हि भाजनेनाऽवनम्य तन्मध्ये Xवस्थिते वस्तुनि दात्र्या दीयमाने अधो-भूमिभाजनयोरन्तरे कीटिका-शुपमर्दः सम्भवतीति । किं कुर्यादित्याह—'वितरेत्' दात्री दधान्मात्रकमध्यगतं संहृतसंज्ञं वस्त्विति गार्थः ॥ ८४ ॥

अथ दोषदोषवतोरभेदादायकानभिघातुमाह—

+ अत्रापि भेदविपर्ययोऽस्ति ( टि० अ. ) । X " ष्यस्थिते " प. ट. क. ।





“पंढर १ बाहर २ कीचे ३, कुंभे ४ ईसालए ५ तथा । सउणी ६ तक्कमसेवी य ७, पक्खियापक्खिए वि य ८ ॥ १ ॥”  
 “सोगंधिए य ९ आसित्ते १०, वद्धिए ११ चप्पिए १२ तथा ।

मंतो १३ सहिओवहयए १४, इसिसत्ते १५ देवसत्ते य १६ ॥ २ ॥”

तथा नारीस्वरानुकारिस्वरो महन्मेहनान्वितः सशब्दफेनमूत्रप्रकृतिः पृष्ठा[पृष्ठा]वलोकनकलितमन्दगतिः शीतलमृदुगात्रः स्त्रीवत्प्रलम्बपरिधानरुचिरभीक्षणं कटिहस्तदानशीलो वामकरतलन्यस्तदक्षिणहस्ततलपर्यस्तमुखवृत्तिश्च, सविलासलोचनः सवि-  
 अमभ्रूक्षेपकारी स्वात्मानि स्त्रीमण्डनकेशचन्धविधायी प्रच्छन्नस्नानमूत्रोच्चारकारकः प्रमदाकर्मकरणरतिलंजालुः पुरुषवर्गे प्रग-  
 लभश्च स्त्रीसमाज इत्यादिलक्षणलक्ष्य+श्च, एतेन च दीयमाना भिक्षा न ग्राह्या, अनेकदोषसम्भवात्, Xयदाह-“आयपरोभय-  
 दोसा, अभिवखगहणम्मि” भिक्षाया इति शेषः, “खोभण नपुंसे । लोगदुगुंछा संका, एरिसया नूणमेत्ते+वि ॥ १ ॥”

अपवादस्तु वद्धितचिप्पितमन्त्रौषध्युपहतसुनिदेवशप्तादिषु केषुचिदप्रतिसे विनपुंसकेषु\* ददत्सु भिक्षा ग्राह्येति ३ ।  
 तथा ‘वेचिर’ चि ‘वेपिता’ †कम्पमानशरीरः, प्राकृते च ‘तुन इर’ इति वचनात् ‘वेचिर’ इति स्यात्, स हि वेपमानत-  
 तुत्वाद्धिं प्रयच्छन् परिशातन-भाजनमङ्गादीन् दोषान् करोतीति तद्वर्जनं, अपवादतोऽस्मिन्नपि दृढभाजनभिक्षाग्रहे गृह्यत

+ “लक्षितश्च” मां, । X “यत आह” प. ह. क. य. । † “णमेएवि” य., “णमेएवि” प. ह. क. “णमेषवि” अ ।

§ सुनिना, कोऽर्थः ? ऋषिणा देवेन वा शप्ताः सन्तः, कोऽर्थः ? आक्रोशिताः सन्तो ये नपुंसका भवन्ति, तेष्वित्यर्थः । (टि० अ.)

\* नपुंसककार्यरहितेष्वित्यर्थः (टि० अ.) । † “वेपितः” मां ।

इति ४ । तथा 'ज्वरितो' ज्वरोगवाच, तद्विज्ञाग्रहणे हि ज्वरसङ्क्रमण-जनापवादादयो दोषाः स्युरतो न ग्राह्या, शिवज्वरेः तु यतनया ग्राह्याऽपीति ५ । तथा 'अन्धो' विगलितलोचनः, तस्य हि भिक्षां ददतः कायवध-स्खलन-पतन-भाजनबहिर्भक्तक्षेपण-जनवचनीयतादयो दोषाः स्युरिति न ग्राह्या, यदि पुनः सोऽप्यन्येन पुत्रादिना विधृतो भिक्षां वाऽन्येनैव धृतां ददाति, तदा पूर्वोक्तदोषाभावाद्ग्राह्याऽपीति ६ । तथा 'अन्यक्तो' बालो, जन्मतो वर्षष्टिकाभ्यन्तरवर्ती, स चाऽनभिज्ञत्वात्साधुभिक्षाप्रदाने नाऽधिक्रियते तज्जन्यादेः प्रद्वेषसम्भवाच्च, श्रूयते चाऽत्रोदाहरणं—

इह मदिगा अगारी, आसेसा सा नियं सुयं मणिउं । समणण दिज्ज भिक्खं-ति तो गया निययखिचम्मि ॥ १ ॥ अह भिक्खव्हा एगो, समागओ तीए मंदिंरं समणो । तो धूयाए दिन्नं, कूरकरंबाइ से सव्वं ॥ २ ॥ अवरल्लकालसमए, समागया खंतिया मणइ धूयं । आणेहि पुत्ति ! कूरं, जेणं खुंजामि सा मणइ ॥ २ ॥ साहुस्स मए दिन्नो, ता माया मणइ सुहु मे विहियं । संपइ जं अवसेसं, चिद्धइ तं देहि Xमज्झं ति ॥ ३ ॥ तो धूयाए कहियं, दिन्नं सव्वं पि साहुणो अम्मो ! । तो रुह्हाए तीए, मणियं सव्वं पि किं पावे ! ॥ ४ ॥ तुमए दिन्नं ? सा मण-इ साहुणो +जाइअम्मि पुणरुत्तं । इय सोउं सा रुह्हा, सामागया खरिपांसमि ॥ ५ ॥ जंपेइ मज्झ गेहं, मुसियं सव्वं पि साहुणा तुम्ह । तत्तो तीए समक्खं, उवगरणं खरिणा हरिउं ॥ ६ ॥ निच्छूहो सो साहु, नियगच्छओ निवारिओ तीए । पच्चागयभावाए, पवेसिओ तो पुणो गुरुणा ॥ ७ ॥ इति, परं बालोऽपि यदि दक्षः स्यात्तदा तेन दीयमानं भिक्षामात्रं मात्रादिवचनतः प्रभूतं वा अविचारितमेव ग्राह्यं ७ । तथा 'मत्तो'

† शान्तज्वरे (टि० अ.) । X "मज्झंमि" भां. अ. य. । + "जाइयग्धि" प. ह. क. य. ।

मदिरादिमदविह्वलः, स चाशुचित्वा-लिङ्गना-हनन-भाजनमङ्गकरणादिदोषदुष्टत्वात्साधुमिक्षादानायोग्यः, सोऽपि यदि मनाग्-  
मत्तोऽसागारिकप्रदेशस्थः\* शुचिहस्तः श्रावकश्च स्यात्तदा योग्यः ८ । तथोन्मत्तो-हृष्टः ग्रहगृहीतादिरस्याऽपि मत्तोक्तदोष-  
दुष्टत्वाद्दत्तोऽपि भिक्षा न ग्राह्या, नवरं यदि सोऽपि शुचिर्भद्रकश्च स्यात्तदा ग्राह्याऽपीति ९ । तथा 'छिन्नकरः' कर्चितहस्त-  
स्तथा 'छिन्नचरणो' लूनपादः, एताभ्यां च सकाशाद्धिक्षा न ग्राह्या, दानासमर्थत्वाद्धोकापवादादिदोषसम्भवाच्च, केवलं यद्येता-  
वसागारिकस्थानस्थौ भवतश्छिन्नचरण उपविष्टश्च स्यात्तदा ग्राह्याऽपीति १०-११ । तथा 'प्रगलितो' गलत्कुष्ठस्तद्धिक्षाग्रहणे  
हि साधोरपि कुष्ठरोगसङ्क्रान्तिः स्यात्, तदीयोच्छ्वास-त्वक्संस्पर्शं स्वेद-मल मूत्रो-चार-आहार-लालादिभिः शरीरान्तरे तत्सङ्क्र-  
मणस्याऽभिहितत्वात्, ततो न ग्राह्या, ददुःप्रसुप्तिसिद्धिनि X चोक्तदोषाभावाद्ग्राह्याऽपीति १२ । तथा 'नियल'ति सूचकत्वा-  
न्निगडितः-अयोमयपादवन्धनान्वित इत्यर्थः, तथा 'अंडुय'ति अत्राऽपि सूचकत्वादन्दुकवद्धः-दारुमयकरवन्धननियन्त्रित,  
एताभ्यां सकाशात्परितापना-स्यतनादिदोषसम्भवाद्धिक्षा न ग्राह्या, यदि च निगडवद्धः सविक्रमोऽविक्रमश्चोपविष्टोऽसागा-  
रिकप्रदेशस्थो ददाति तदा ग्राह्या, अन्दुकवद्धे च दानशक्तेरेवाऽभावान्नाऽस्त्यपवादः १३-१४ । तथा 'पादुकारूढः' काष्ठादि-  
मयोपानत्समारूढः, स हि भिक्षां प्रयच्छन् दुर्व्यवस्थितत्वात्कदाचि\*त्पतति कीटिकादिसन्धिविषाधनां च करोतीत्यतः परि-  
ह्रियते, यदि चाचल एवासौ किमपि ददाति तदा गृह्यत एवेति गार्थार्थः १५ ॥ ८५ ॥ तथा—

दी०—'स्थविरो' वृद्धः सप्ततिवर्षोपरिवर्त्ती १, अग्रभु-दैयस्यास्वामी २, पण्डो-नपुंसकः ३, वेपिरः-कम्पमानाङ्गः ४,

\* एकान्तप्रदेशस्थः । X श्वेतकोट (प० अ.) । † "तापनपतनादि०" प. ह. क. "तापनादि०" अ. य. । \* "चित्प्रपतति" भां. ।

ज्वरितो-ज्वरार्त्तः ५, अन्धो-दृष्टिरहितः ६, अव्यक्तो-बालो वर्षाष्टकान्तर्वर्त्ती ७, मत्तो-मदिरामदविह्वलः ८, उन्मत्तो-  
ग्रहादिगृहीतः ९, एषु द्वन्द्वैकत्वादेकवचनं, इत्थम्भूते दायके सति भिक्षा न ग्राह्येति योगः । तथा 'छिन्न'शब्दस्य पूर्वनिपाता-  
च्छिन्नकरश्छिन्नचरणश्च स्पष्टौ ११, प्रगलितो-गलत्कुष्ठः १२, सूचकत्वान्निगडितो लोहमयपादबन्धनान्वितः १३, एवं अन्दु-  
कितो-दारुमयकरबन्धनान्वितः १४, पादुकारूढः-काष्ठादिमयोपानचटितः १५, इति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ इदमेवाह—  
खंडई पीसई भुंजई, कर्त्तई लोटेई विखिण्डणइ पिंजे । दलई विरोलई जेमई, जा गुठ्ठिणि बालवच्छो य ॥

व्याख्या—अत्र वक्ष्यमाणो 'या' शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, ततश्च या काचिन्महिला 'खण्डयति' उदूलक्षिप्तानि  
शाल्यादिवीजानि मृशलयतिः श्लक्ष्णीकरोतीत्यर्थस्तथा दीयमाना भिक्षा न ग्राह्या, बीजसङ्घट्टनाधारम्भसम्भवात्, साऽपि  
यदि साधुमागतमवलोक्य स्वयोगेनोन्निक्षिप्तमलग्नवीजं च मुशलं निरपायप्रदेशे विनिवेश्य ददाति तदा गृह्यते १६ । तथा  
'पिनष्टि' शिलायां तिलामलककुस्तुम्बुरुलवणजीरकादि मृदूनातीत्यर्थः, अनयाऽपि दीयमाना न कल्पते, तिलादिसङ्घट्टनसङ्गा-  
वाद्भिश्चाखरणिटकरप्रक्षालनसम्भवाच्च, यदि तु पेपणसमाप्तौ प्रासुकं वा पिषती ददाति तदा कल्पते १७ । 'भुञ्जति' चनक-  
यवगोधूमादीनिग्निप्रतप्तकडिल्लकादौ स्फोटयतीत्यर्थः, तथा दीयमानं न कल्पते, कडिल्लकादिप्रक्षिप्तस्य चनकादेर्दाहसम्भ-  
वात्, यदि चाग्नेतनं चनकादि भृष्टोत्तारितमन्यच्च करे न गृहीतं स्यात्तदा कल्पते १८ । तथा 'कर्त्तयति' रूतं सचक्रेण  
सूत्रं करोतीत्यर्थः १९ । तथा 'लोठयति' कर्पासं लोठिन्यां कणकेन निरस्थिकं करोतीत्यर्थः २० । तथा 'विखिण्डणइ'  
त्ति 'विकीर्णयति' रूतं कराम्भ्यां पौनःपुन्येन श्लक्ष्णयति २१ । तथा 'पिञ्जयति' रूतं पिञ्जनेन मृदूकरोति २२ । एताभिश्च-

तस्यभिरपि दीयमानं न कल्पते, कार्पासास्थिकसङ्घट्टन-देयवस्तुखरण्टितहस्तघावनादिदोषसम्भवात्, यदि च कर्त्तयन्त्यपि  
 सूत्रं तन्तुश्वेतताविधायिना शङ्खचूर्णेन हस्तौ न घवल्यति, घवलितौ वा शौचानाग्रहशीलतया भिक्षां दत्त्वा न प्रक्षालयति,  
 लोठयन्ती विकीर्णयन्ती पिञ्जयन्ती च कार्पासं तदस्थिकांश्च न सङ्घट्टयति, देयद्रव्यखरण्टितकरघावने जलं च न विराध-  
 यति तदा कल्पत इति २२ । तथा 'नदलति' सचित्तगोधूमादिधान्यं घण्डेन पिनष्टि, इयं हि भिक्षादानायोत्तिष्ठन्ती बीजानि  
 सङ्घट्टयति दत्त्वा च करौ प्रक्षालयतीति न गृह्यते, यदि च स्वयोगेन मुक्तदलनव्यापाराऽचेतनं वा किञ्चिद्दलन्ती ददाति दत्त्वा  
 च हस्तप्रक्षालनं न करोति तदा गृह्यत इति २३ । तथा 'Xविलोलयति' करमन्थनादिना दध्यादि मन्थयति, सा हि संसक्त-  
 दध्यादिलिप्तकरा भिक्षां ददती सरस्वधं विदध्यादिति न गृह्यते, यदि चासंसक्तदध्यादिकं मन्थन्ती दद्यात्तदा गृह्यत इति  
 २४ । तथा 'जेमह' त्ति 'जेमति' शुक्ले-ऽभ्यवहरीत्यर्थः, शुद्धाना ह्याचमनं विधाय यदि साधुभ्यो दद्यात्तदाऽऽप्कायविरा-  
 घना, अथैतद्दोषभयात्तदकृतैव वितरेत्तदोच्छिष्टमप्येते न त्यजन्तीत्यादिजनापवादः स्यात्तत्र च महान्दोषो, यदाह—“छक्काय-  
 दयावंतो, वि संजओ दुल्लहं कुणह बोहि । आहारे निहारे, दुगुच्छिए पिंङ्गहणे वा ॥ १ ॥” इत्यतो न कल्पते,  
 यदि च कवलं मुखेऽक्षिपन्ती तदा चोपनतसाधुभ्य उत्थाय दद्यात्तदा कल्पत इति २५ । तथा या काचिन्महिला  
 गुर्धिण्यापन्नमर्या स्यात्तत्सकाशाद्दुच्छनिर्गता जिनकल्पिकादयः प्रथमदिनादारभ्य भिक्षां न गृह्णन्त्येव, स्थविरकल्पिका-  
 स्त्वष्टौ मासान् यात्रदृक्कन्ति, नवममासे तु निपीदनोत्थानाभ्यां दीयमानं न गृह्णन्ति, गर्भपीडासम्भवात्, स्वभावस्थितया

+ “ दलयति ” य. । X “ विरोलयति ” ह. क. ।

तु दीयमानं गृह्णन्त्यपीति २६ । तथा 'बालवत्सा' स्तन्योपजीविशिशुका, चः समुच्चये, तथा दीनमानं न कल्पते, निश्चि-  
प्तबालस्य मार्जारदिभ्यो विनाशसम्भवात्, निश्चिप्यमाणस्योत्क्षिप्यमाणस्य चातिसुकुमारत्वेन परितापनासम्भवाच्च । अत्र  
चायं वृद्धसम्प्रदायः—गच्छवासिनो यदि क्षीराहारं बालकं पिबन्तं निश्चिप्य जननी ददाति, तदा रोदितु वा मा वा, न  
गृह्णन्ति, अथाऽन्यदपि श्लेषीहकाद्याहारमाहारयति पिबंश्च निश्चिप्तस्ततो यदि न रोदिति तदा गृह्णन्ति, अथ रोदिति ततो न  
गृह्णन्ति, अथ स्तन्यजीवी इतरोवाऽपिबन्नेव निश्चिप्तस्ततो यदि न रोदिति तदा न परिहरन्ति, अथ रोदिति ततः परिहरन्त्ये-  
वेति । गच्छनिर्गताः पुनर्जिनकल्पिकादयो यावत् स्तन्यजीवी बालकस्तावत् पिबन्पिबन्नेव वा निश्चिप्यतां रोदितु वा मा  
वा, न गृह्णन्त्येव, यदा चाऽन्यदप्याहारयितुमारब्धो भवेत्तदा यदि पिबन्निश्चिप्यते, ततो रोदितु वा मा वा न गृह्णन्त्येवाऽ-  
थाऽपिबन्नेव निश्चिप्तस्ततो यदि रोदिति तदा परिहरन्त्येवाऽथ न रोदिति ततो न परिहरन्ति २७ । इति गाथार्थः ॥ ८६ ॥

दी०—या स्त्री 'खण्डयति' उदूखलमृशलैः सचिचं श्लक्ष्णयति १६, पिनष्टि-जीरकादि मृद्नाति १७, भृञ्जति-चणका-  
दौस्तप्तकडिहल्लकादौ+स्फोटयति १८, कर्चयति-पूणिकाः सूत्रीकरोति १९, लोढयति-लोढिन्यां कणकेन कर्पासं निर्वीजयति  
२०, विकीर्णयति-कराभ्यां पुनःपुनस्तूलकं सूक्ष्मयति २१, पिञ्जयति-रूतं पिञ्जनेन मृदूकरोति २२, दलति-घरडुन सचिचं  
पिनष्टि २३, विरोलयति-दध्यादिमथ्नाति २४, जेमति-शुक्ले २५, या काचिन्महिला गुर्विणी-अष्टमासिकगर्भा, जिनकल्पि-  
कादयः प्रथममासगर्भामपि त्यजन्ति २६, बालवत्सा च-स्तन्योपजीविशिशुकेति २७ गाथार्थः ॥ ८६ ॥ अत्रैवाह—

\* "अवलेही" इति पर्याय अ पुस्तके । + "प्तकडिवल्लकादौ" क० ।

तथा—

तद् छक्काए गिण्हई, घट्टई आरभई खिवई दट्टु जई । साहारण-चोरियंगं, देइ परेकं परेडुं वा ॥८७॥

व्याख्या—तथेति समुच्चये येति पदं सर्वत्रेहाऽपि सम्बध्यते, ततश्च या काचिद्गारिणी 'पट्कायान्' लवणो-दका-ग्नि-  
पवनपूरितदृति-फल-मत्स्यादिजीवममूहान्, किमित्याह—'गृह्णाति' हस्ताभ्यामादेत्ते, तथा दीयमानं, न कल्पत इति सर्वत्रा-  
गोत्रनीयं २८ । तथा 'घट्टयति' पट्कायानेव शेषशरीरावयवैः सङ्घट्टयति, अयमर्थः—ऋणरोपितवदरकरीरजपाकुसुमदाडिम-  
पुष्पादीनि यस्तकस्थितसिद्धार्थराजिकाशतपत्रिकाकुसुमादीनि गलावलम्बिताम्लानमालतीमालादीनि परिधानाद्यन्तरस्थापित-  
सरसद्यन्तवाम्बूलपत्रादीनि च शरीरेण चलयतीति २९ । तथा 'आरभते' पट्कायानेव विनाशयति, तत्र खननमर्दनादिना  
पृथिवीकायं मज्जनवस्त्रधावनानादिनाऽष्कायं उल्लुघट्टनानादिनाऽग्निमुष्णभक्तादेः फुल्करणादिना मारुतं फलादेः कर्तवनादिना  
वनस्पतिं स्फुरन्मत्स्यादिच्छेदनादिना त्रसकायं विराधयतीति भावना ३० । तथा 'क्षिपति' प्रकृतपट्कायानेव भूम्यादौ  
मुञ्चति, किं कृत्वेत्याह—'दृष्ट्वा' अवलोक्य, कानित्याह—'यतीन्' साधून्, यतिभिक्षादानबुद्धयेति तात्पर्यम् ३१ । तथा  
'साधारणं' बहुवायत्तं, तद्दातीति योगः, तत्र च साधारणानिष्टुवदोषा वाच्याः ३२ । 'चौरितकं' चौरिकया गृहीतं  
'ददाति' भक्त्यादिना साधुभ्यः प्रयच्छति, तत्र च दोषाः प्रतीता एव ३३ । तथा 'पराकयं' परसत्कमथवा 'परार्थ'  
परनिमित्तं, कार्पटिकादिदानाय कल्पितमित्यर्थः । 'धा' विकल्पे, ददाति । अत्र च परसत्के तत्स्वामिनाऽननुज्ञातेऽपरभिक्षा-  
चरदानाय कल्पिते च दीयमानेऽदत्तदानान्तरायादयो दोषाः स्युः ३४-३५ । इति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ तथा—

दी०—तथा या स्त्री षड्जीवनिकायान् गृह्णाति हस्ताभ्यां २८, घट्टयति-तानेव शरीरस्पर्शादिना २९, आरभते-षट्क्रायं पाकाद्यर्थं विनाशयति ३०, क्षिपति-दृष्ट्वा यतीन् भिक्षादानोद्यता षट्क्रायं भूमौ मुञ्चति ३१, साधारणं-ब्रह्मायत्नं ३२, चौरितकं-चौरिकया गृहीतं ३३, ददाति, तथा 'पराक्यं' परकीयं ३४, अथवा 'परार्थ' कार्पटिकादीनां कल्पितं ३५, इति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ अस्मिन्नेवाह—

ठवइ बौलिं × उवत्तैइ, पिठराइ तिहा सपच्चर्वाया जा । देतेसु एवमाइसु, ओहेण सुणी न गिणहंति ॥ ८८ ॥  
 व्याख्या—इहाऽपि वेति पदं प्रतिपदं सम्बन्धनीयं, ततश्च या काचिन्नारी 'स्थापयति' साधुदानायोग्यता सती मूल-स्थालीतः समाकृत्य स्थगनिकादौ न्यस्यति, किमित्याह—'बलिं' उपहार-मग्रकूरमित्यर्थः, तथा दीयमाना भिक्षा न कल्पते, प्रवर्त्तनादिदोषसम्भवात् ३६ । तथा 'उद्धर्त्तयति' साधुदानबुद्ध्या परानर्त्तयति-नमयतीत्यर्थः । किं तदित्याह—'पिठरादि' स्थाल्यादि, अत्र च कीटिकादिसत्त्वघातः स्यात् ३७ । तथा 'त्रिधा' ऊर्ध्वाधस्तिर्गलक्षणैस्त्रिभिः प्रकारैः 'सप्रत्यपाया' काष्ठकण्टकगवादिभ्यः सकाशात्सम्भाव्यमानाभिघाताद्यनर्था या काचिद्वनिता स्यात्तया दीयमानं न कल्पत इति ३८ । इह च कण्डनादिव्यापारस्य तदुचितत्वादानप्रवृत्तौ च प्रायस्तासां मुख्यत्वाच्च + कण्डयतीत्यादिना स्त्रीणां विशेषणानि विहितानि, न तु पुरुषादीनां व्यवच्छेदकानि, ततो लिङ्गव्यत्ययेन पुरुषाणामुचितनपुंसकानां च यथासम्भवमेतान्यायोजनीयानि । अत्राऽऽह-ननु अक्षितसंहतानिसृष्टादिष्वपि द्वारेषु षट्क्रायान् गृह्णातीत्यादिद्वाराणां केषाञ्चिदर्थो व्याख्यातः ।

× भां. क. म. । " उयत्तइ " अ. य. । " ओयत्तइ " प. ह. । + " कण्डतीत्यादिना " अ. प. ह. क. य. ।



एव, तत्किं पुनरिह तद्गणनेन ? इत्युच्यंते—तत्र अक्षितादिद्वारानुरोधेनेह तु दायकद्वारशनेत्यदोषः । 'न चैकस्याऽपि वस्तु-  
नोऽनेकदोषनिपातो नोपपद्यते' अस्य न्यायस्य तत्र तत्र प्रसिद्धत्वादेवमन्यत्राऽपि लक्षणसाङ्ख्ये समाधानं वाच्यमिति । एवं  
दायकानभिधायार्थैतेषु ददत्सु साधुभिर्यद्विधेयं तत्साक्षाद् ग्रन्थकार एवाभिधातुमाह 'दितेसु' इत्यादि 'ददत्सु' वितरत्स्वेव-  
मादिषु स्थविराप्रभुप्रभृतिष्वदिशब्दात् पदकायान् पादाभ्यामवगाहमानासंस्कृतव्यलिसकरमात्रेत्यादीनामागमोक्तदावृविशे-  
षाणां ग्रहः, 'ओधेन' सामान्येनोत्सर्गेणेत्यर्थः, अपवादतस्तु यथासम्भवं गृह्णन्त्यपि । अयं चाऽर्थः प्राग्भावित एवेति न पुनः  
प्रतन्यते । 'मुनयः' साधवो 'न' नैव 'गृह्णन्ति' स्वीकुर्वन्ति, भक्तादीति गम्यत इति गार्थार्थः ॥ ८८ ॥

अथोन्मिथद्वारं विवरीतुमाह—

दी०—या स्त्री साधुदानोद्यता स्थालितः स्थापयति, 'बलि' अग्रकरं ३६, उद्वर्तयति—नमयति 'पिठरादि'स्थाल्यादि ३७,  
तथा 'त्रिधा' ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लक्षणैस्त्रिभिः प्रकारैः 'सप्रत्यपाया' काष्ठकण्टकगवादिभ्यः सकाशात्सम्भाव्यमानानाभिघाताद्यनर्था  
या स्त्रीति ३८, इह ख(क)ण्डयतीत्यादिषु प्रायः स्त्रीणां मुख्यत्वात्तद्विशेषणानि कृतानि । तथा च अक्षितानिसृष्टादिदोषाणां  
केषाञ्चिदर्थः पुनरुक्तोऽप्यत्र दायकाश्रितत्वान्न दुष्टः, तथा स्वलनासमाधानलोकापवाद+प्रवृत्तिरोगसङ्गमपट्टायविराधनादयो  
दोषा यथार्हमेतेषु भावनीयाः । एवं ददत्सु 'एवमादिषु' स्थविरादिदायकेषु, आदिशब्दादन्येष्वपि तद्विधदोषदुष्टेषु 'ओधेन'  
उत्सर्गेण मुनयो भक्तादि न गृह्णन्ति, अपवादतस्तु तद्विधदोषासम्भावनायां गृह्णन्तीति गार्थार्थः ॥ ८८ ॥

+ "० पवादाप्रवृत्ति" क० । "० पवादाप्रवृत्ति" प० । "पवादाप्रवृत्ति" अ० ।

अथोन्मिश्राख्यमाह—

जोगमजोगं च दुवे, वि मीसिउं देइ जं तमुम्मीसं । इह पुण सच्चित्तमीसं, न कप्पमियरम्मि उ विभासा ।  
व्याख्या—‘योग्यं’ साधुदानोचितमोदनादि, तथा ‘अयोग्यं’ तद्विपरीतं सचेतनं तुषादि वा, चः समुच्चये ‘द्वे अपि’  
द्विसङ्ख्ये अपि वस्तुनी ‘मिश्रयित्वा’ एकीकृत्य, इह च मिश्रणं मीलनमात्रमेवाऽवसेयं, न तु करम्बीकरणं, तस्य कृतौ-  
देशिकत्वेनाऽभिहितत्वात् । उन्मिश्रणं चाऽनाभोगेन, केवलं दीयमानं स्तोकं स्यादिति लजया, पृथग्दाने वेला लगतीत्यौत्सु-  
क्येन, मीलितं मिष्टं स्यादिति भक्त्या, नियममङ्गो भवत्वेतेषामिति प्रत्यनीकतया वा कुर्यादिति । किमित्याह—‘ददाति’  
यतिभ्यो वितरति, गृहस्थ इति गम्यते, यत्तदुन्मिश्र-मुन्मिश्राभिधानमुच्यत इति शेषः, इह पुन-रत्रोन्मिश्रे पुनः सचित्त-  
मिश्रं-बीज-कन्द-हरितादिमिश्रितं देयद्रव्यमपि दात्र्या दीयमानं, किमित्याह ‘न नैव ‘कल्प्यं’ कल्पनीयमितरस्मिंस्तु-  
अचित्तमिश्रे पुनर्विभाषा-तत्किञ्चित्कल्पनीयं किञ्चिन्नेत्येवंलक्षणा विकल्पना, स्यादिति शेषः, एतदुक्तं भवति-अत्राऽपि सचि-  
त्तेन सचित्तं मिश्रितं १, एवमचित्तेन सचित्तं २, सचित्तेनाऽचित्तं ४, इत्येवं लक्षणाश्चत्वारो भङ्गा  
भवन्ति, तेषु च मध्ये आद्यमङ्गत्रये न कल्पते, देयद्रव्यस्य सचित्तमिश्रत्वेनाकल्पनीयत्वात्, चरममङ्गसत्कयोश्च स्तोक-  
बहुपदसमुत्थयोः प्रथमवृतीयमङ्गकयोः संहतदोषोक्तविधिना कल्पत इति गाथार्थः ॥ ८९ ॥

साम्प्रतमपरिणतदोषमभिधातुमाह—

दी०—‘योग्यं’ साधूनामुचितं देयं वस्तु ‘अयोग्यं’ तद्विपरीतं, द्वे अपि ‘विमित्यं’ एकीकृत्य अनाभोगात्स्तोकत्वा-

दौत्सुक्यात्प्रत्यनीकत्वाद्वा ददाति यद्द्वयं तदुन्मिश्राख्यं स्यात्, इहोन्मिश्रे पुनः सचित्तमिश्रं न कल्प्यं, अशुद्धत्वात्, इतरस्मि-  
 स्तत्रचित्तमिश्रे 'विभाषा' किञ्चित्कल्पते किञ्चिन्नैवेति, कोऽर्थः ? सचित्ताचित्तयोर्मिश्रत्वे चतुर्भङ्ग्यां संहतवत् स्तोत्रकबहु-  
 पदभेदादचित्तमिश्रस्य चतुर्विधत्वे प्रथमवृत्तीयभङ्गभवं कल्पत इति गार्थार्थः ॥ ८९ ॥ अथापरिणताख्यमाह—

पदभेदादचित्तमिश्रस्य चतुर्विधत्वे प्रथमवृत्तीयभङ्गभवं कल्पत इति गार्थार्थः ॥ ८९ ॥ अथापरिणताख्यमाह—  
 अपरिणयं दद्वं चिय, भावो वा दोषह दाणि एगस्स । जइणो वेगस्स मणे, सुद्धं नऽन्नस्स परिणमियं ॥ ९० ॥

न्याख्या—'अपरिणतं' अपरिणताभिधानं, किमुच्यत ? इत्याह 'द्रव्यमेव' दातव्यं वस्त्वेवाऽप्रासुकमिति 'भावो वा'  
 अद्यवसायो वेत्यथवाऽऽपरिणतो-ऽनभिमुखो 'द्वयो' द्विसङ्ख्ययोः स्वामिनोर्भ्रव्यादेकस्येति योगः, क्व विषये ? इत्याह—'दाने'  
 दानविषये 'एकस्या'ऽन्यतरस्य दातुः 'यतेर्वा' साधोर्वेत्यथवा 'एकस्य' भिक्षागतसाधुसङ्घाटकमध्यादन्यतरस्य 'मनसि' चेतसि  
 'शुद्ध'मेतच्छ्रम्यमानमज्ञादि निर्दोषं, परिणतमिति योगः । 'न' नैवा'ऽन्यस्य' द्वितीयस्य साधोः 'परिणमियं'ति 'परिणत'-  
 मवगतिमागतं । इह च दातृभावापरिणतस्याऽनिसृष्टस्य च दातृसमक्षासमक्षत्वकृतो विशेषोऽनसेय इति गार्थार्थः ॥ ९० ॥

अथ लिप्तदोषविवरणाय सपादगाथामाह—  
 दी०—अपरिणतं स्याद्द्रव्यमेवाप्रासुकं अथवा 'भावो' अद्यवसायो 'द्वयो'द्वयस्वामिनोर्भ्रव्या'दाने' दानविषये  
 'एकस्य' अपरिणतोऽनभिमुखः, यतेर्वा-साधुसङ्घाटकमध्यादेकस्य मनसि शुद्धं परिणतं नैवान्यस्य-तद्वितीयस्य, इह दातृ-

भावापरिणतस्यानिसृष्टस्य च दातृसमक्षासमक्षत्वकृतो विशेष इति गार्थार्थः ॥ ९० ॥ अथ लिप्ताख्यमाह—  
 दाहिमाइलेचजुत्तं, लित्तं तमगेज्झमोहओ इहइं । संसट्टमत्तकरसा-वसेसदवेहिं अडभंगा ॥ ९१ ॥

एत्थ विसमेसु धिप्पइ,

पिण्ड-  
विशुद्धिं  
डीकाद्रयो-  
पेतम्

व्याख्या—मकारस्याऽऽगमिकत्वाद्दध्यादि' दधिशीरतक्रतीमनप्रभृति 'लेपयुक्तं' लेपवत्, किमित्याह—'लिप्तं' लिप्ता-  
ख्यमुच्यत इति शेषः । 'तं'ति, पुनरित्यस्याध्याहारात्तत्पुनर्लिप्तं, किमित्याह—'अग्राह्यं' अनादेयं, किं सर्वथा ? , नेत्याह—  
'ओघतः' सामान्यतः—कारणं विनेति यावत्, यदाह—“ धेतव्वमलेवकडं, लेवकडे साहु पच्छकम्ममाई । ”  
अलेपवतो गुणमाह—“ न य रसगेहिपसंगो, न य सुत्ते बंभपीला य ॥ १ ॥ ” अलेपकारि चेह शुष्कौदनमण्डक-  
सक्तुलमापवल्लचनकादिकं विज्ञेयं । आह—यधेवमलेपकार्यपि न +ग्रहीतव्यं, तत्राऽपि कियतामपि दोषाणां सम्भवात्,  
Xको वा किमाह ? न केवलमलेपमपि न ग्राह्यं, भोजनमपि न कर्तव्यमेव, यदि संयमयोगानां हानिर्न स्यान्नवरं—तदन्तरेण  
शरीरस्थितेरेवासम्भवात्सैव दुर्निवारेत्यत उत्सर्गतोऽपि तदनुज्ञातं, यदाह—“ जइ पच्छकम्म दोसा, हवंति मा चेव  
सुंजउ समणो । ” आचार्याः—“तवनियमसंजमाणं, चोयग ! हाणी खमंतस्स ॥ १ ॥”त्ति । 'इहं'ति, चशब्दाध्या-  
हारादिह चा-ऽत्र च लिप्तेऽष्टौ भङ्गाः स्युरिति योगः, कैः कृत्वेत्याह—'मात्रं च' भाजनं 'करश्च' हस्तो मात्रकरो, संसृष्टौ च तौ  
दध्यादिलेपत्रद्रव्यलिप्तौ मात्रकरो च संसृष्टमात्रकरो, तौ च 'सावशेषद्रव्यं च' दत्तोद्धरितवस्तु, तानि तथा, तैः संसृष्टमात्र-  
करसावशेषद्रव्यैः, किमित्याह 'अष्टौ' अष्टसङ्ख्या 'भङ्गा' विकल्पाः स्युरिति शेषस्ते चामी—संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं  
सावशेषं द्रव्यं १ । संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यं २ । संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं ३ । संसृष्टो हस्तो-

+ मां. अ. । “ गृहीतव्यं ” प. ह. क. य. । X आचार्यः प्राह—इति पर्यायः अ. पुस्तके ।

संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यं ४ । असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यं ५ । असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यं ६ । असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यमिति ८ । 'एत्थ'ति चण्डाध्याहाराद्वा चैतेषु चाष्टसु भङ्गकेषु मध्ये 'विषयेषु' प्रथमतृतीयादिषु भङ्गकेषु 'कल्पते' ग्रहीतुं युज्यते, स्वयोगेन असंसृष्टयोरपि करमात्रयोः सावशेषद्रव्यतायां लेपवद्द्रव्यमिक्षाया अपि ग्रहणे कथञ्चित्पश्चात्कर्मदोषस्य परिहर्तुं शक्यत्वात्, न तु समेषु, निरवशेषद्रव्यतया स्थाल्यादिधावनतः पश्चात्कर्मदोषस्य तत्र सम्भवादिति सपादगार्थार्थः ॥ ११ ॥

अथ छडितदोषाभिधानाय प्रथमपादोनगाथामाह—

दी०—दधिधीरतक्रतीमनप्रभृतिलेपयुक्तं लिप्ताख्यं स्यात्, तत्पुनराह्वं 'ओषतः' कारणं विना, इह च लिप्ताख्येष्टौ भङ्गाः स्युरिति योगः । कैः कृत्वा ? इत्याह—'संसृष्टौ'द्वयादिलिप्तौ 'मात्रकरो' भाजनहस्तौ 'सावशेषं द्रव्यं' दत्तोद्धरिति, तैः, यथा-संसृष्टौ मात्रकरो. सावशेषं द्रव्यं १, तौ तथैव. निरवशेषं द्रव्यं २, हस्तः संसृष्टो न मात्रं. सावशेषं द्रव्यं ३, चतुर्थोऽप्येवं. निरवशेषं द्रव्यं ४, असंसृष्टो हस्तो न मात्रं. सावशेषं द्रव्यं ५, षष्ठोऽप्येवं. निरवशेषं द्रव्यं ६, असंसृष्टौ मात्रहस्तौ. सावशेषं द्रव्यं ७, तौ तथैव. निरवशेषं द्रव्यं ८, इति गार्थार्थः ॥ ११ ॥ एषु युद्धत्वं छडिते दोषत्वं चाह—

छडियमसणाइ हौत परिसाडिं । तत्थ पडंते काया, पडिष् महुबिंदुदाहरणं ॥ १२ ॥

व्याख्या—'छडितं' छडिताभिधानं, किमुच्यत ? इत्याह—'अग्नादि' यद्भक्तपानप्रभृति 'भवत्परिशाटि' भूमौ परिपत-द्वयत्वं सद्वाच्या दीयते, तदिति । 'तत्थ'ति चस्य गम्यमानत्वात्तत्र च' तस्मिंश्च प्रकृतवस्तुनि दीयमाने 'पतति' दातृभाजनात्प-

रिभ्रश्यति सति, किमित्याह—'कायाः' पृथिव्यादिजीवसमूहाः, विराध्यन्त इति गम्यते । 'पडिए'ति वशब्दाध्याहारात्पतिते च-भूमिगते च, किमित्याह—'मधुचिन्दूदाहरणं' पुष्प[मधु-मिष्टान्न]रसलवहृष्टान्तोऽनेकदोषपरम्परावेदकं वाच्यं, तच्चैदम्—  
चंपाए नयरीए, मित्तपहो नाम नरवई होत्था । तस्स य भज्जा सोह-ग्गमंडिरं धारिणी देवी ॥ १ ॥ तत्थेव सत्थ-  
वाहो, धणमित्तो धणसिरी य से भज्जा । ओवाइयप्पभावा, तीसे पुत्तो वरो जाओ ॥ २ ॥ तो लोगो भणइ इमं, एयंमि कुलंमि धणसमिद्धंमि । जो जाओ तस्स जए, सुजायमेयस्स पुत्तस्स ॥ ३ ॥ तत्तो अम्मापियरो, बोलीणे बारसंमि दिवसंमि ।  
ठाविसु तस्स नामं, गुणनिष्फन्नं सुजाओ चि ॥ ४ ॥ ललिएण य भणिएण य, देवकुमारोवमो गओ बुद्धि । अम्मपिईगुणेणं, संजाओ सावओ परमो ॥ ५ ॥ तत्थेव धम्मयोसो, निवसइ मंती पियंगुनामेण । तस्स य भज्जा गुणरूव-विम्हिया तो सुजायस्स ॥ ६ ॥ पमणइ दांसि जाहे, अणेण मग्गेण सो उ गच्छेज्जा । ताहे मम साहेज्जह, जेण अहं तं पलोएमि ॥ ७ ॥  
अह मित्तविदसहिओ, अन्नदिणे एइ तेण मग्गेण । तो दासीए कहिए, झत्ति पियंगू पलोएइ ॥ ८ ॥ अन्नाहि सवत्तीहि य, पलोइओ सायरं पियंगू वि । पमणइ धन्ना सच्चिय, नारी जीसे वरो एसो ॥ ९ ॥ अह अन्नया कयाई, सुजायवेसं करित्तु सा रमई । अन्नाण सवत्तीणं, मज्जे तवयणचेट्ठाहि ॥ १० ॥ एत्थावसरे मंती, समागओ निज्जुणंति कलिऊणं । सणियं उवसप्पेउं, कवाडछिइण पिच्छेइ ॥ ११ ॥ अंतेउरं समग्गं, दंहुं सोउं च तस्स वावारं । चित्तेह मणे नूणं, विणट्टमेयं परं भिन्ने ॥ १२ ॥ रहसे होही सहरं, ता छन्नं चेव अच्छउ इमं ति । कुविएण सुजायमी, कूडे लेहे नरवइस्स ॥ १३ ॥ दांसित्तु कोवमप्पा-इऊण लोगाववायमीएण । लेहं समण्णिऊणं, विसज्जिओ सो अमच्चंण ॥ १४ ॥ नयरीए अक्खुरीए, वंदज्जयरइणो

ममीवंमि । पत्तो य तत्थ दिट्ठो, रत्ता तो चित्थियं एवं ॥ १५ ॥ अच्छउ ता वीसत्थो, मारेयवो इसो उवाएणं । एगत्थ  
 रमतंणं, नाऊणं तस्स आयारं ॥ १६ ॥ परिचित्थियमणेणं, किह रूवं एरिसं विणासेमि ? । उस्सारित्ता सबं, कहेइ लेहं च  
 दरिसेइ ॥ १७ ॥ भणियं च सुजाएण वि, जं जाणसु तंतुमं करेह ति । न तुमं मारेमि अहं, पच्छन्ने नवरमच्छाहि ॥ १८ ॥  
 इय भणिऊणं रत्ता, चंदजसानामिया निया भगिणी । तयदोसदूसियतणू, दिन्ना अह भोगदोसेणं ॥ १९ ॥ वड्डुं आरद्धो,  
 तयदोसो सो सुजायदेहे वि । ईसीसिऽ संकंतो, तो सा चित्तइ नियमणे एवं ॥ २० ॥ एसो मम धम्मगुरु, निरुवमसोहग्ग-  
 संपयासहिओ । मज्झ कएण विणट्ठो, धिरत्थु !!! मे कामभोगाणं ॥ २१ ॥ संवेगसमावन्ना, पच्चक्खइ जावजीवमाहारं । मरिउं  
 जाओ देवो, सम्मं निज्जामिया तेणं ॥ २२ ॥ ओहि पडंजिऊणं, समागओ वंदिउं भणइ भणसु । किं ते करेमि ? सो वि  
 ह, तिवं संवेगमावन्नो ॥ २३ ॥ चित्तइ अम्मापियरो, जइ पेच्छं पवयामि तो नूणं । तब्भावं नाऊणं, देवेण तओ सिला  
 विउला ॥ २४ ॥ नयरप्पमाणमित्ता, विउधिया नायरा तओ मीया । धूयकडुच्छय+हत्था, पायावडिया पजंपति ॥ २५ ॥  
 भो मो ! खमेउ सो जस्स, किंचि अम्हेहिं चिट्ठियं ×डुहुं । देवो भासेइ तओ, हा दासा !! कत्थ वच्चेह ? ॥ २६ ॥ पावेण  
 अमच्चेणं, सुसावओ दूसिओ अकजेणं । चूरेमि अज्ज तुब्भे, नवरं जइ तं समाणेह ॥ २७ ॥ \*खाभेयह तो छुट्टह, पुट्ठो  
 सो कत्थनं पलोएणं । उजाणगओ चिट्टह, कहिओ देवेण तो झत्ति ॥ २८ ॥ नागरज्जणसहिएणं, रत्ता गंतूण खामिओ

१ "मी" भां. । "से" प्र० । + "कडुच्छुय" अ । "कडुच्छुय" प. ह. क. य. । × "डुहुं" भां. अ. ।  
 "डुहु" प्र० । \* "खाभेहह" प. ह. क. । † "कत्थ तं" अ । "कत्थ चं" प. ह. क. य. ।

पिण्ड-  
विशुद्धि-  
दीकाद्वयो-  
पेवम्  
॥ ८३ ॥

तत्थ । सो वि हु अम्मापियरो, रायाणं तह य पुच्छेउं ॥ २९ ॥ पवइओ तो पच्छा, अम्मापियरो वि काउमणवञ्जं । पवञ्जं पत्ताइं, सिद्धिपयं विगयसव्वभयं ॥ ३० ॥ मंती वि धम्मघोसो, निविसओ कारिओ नरिंदेण । निवेयं आवन्नो, अहो !!! मए पावकम्ममेणं ॥ ३१ ॥ अचंतदारुणेसुं, आसीविससंनिमेसु भोगेसु । लुद्धेण इमं विहियं, ति निग्गओ हिंडमाणो उ ॥ ३२ ॥ रायगिहे संपत्तो, थेराणं अंतिए य पवइओ । गीयत्थो वि य जाओ, विहरंतो तो गओ भगवं ॥ ३३ ॥ वारत्तपुरं नगरं, तत्थाऽभयसेणराइणो तणओ । वारत्तओ अमच्चो, तस्स गिहे भिक्खवेलाए ॥ ३४ ॥ संपत्तो जा चिट्ठइ, ता दाणनिउत्तऽमच्च-मणुएणं । पायसथालं भरियं, उवणीयं महुघयसणाहं ॥ ३५ ॥ पडिओ य तओ बिंदू, छड्डियदोसो त्ति निग्गओ साहू । ओलोयणोवविट्ठो, दहं वारत्तओ एवं ॥ ३६ ॥ किं कारणं ? न गहिया, अणेण सुणिणा इमा पवरभिकखा । इय जा चित्तइ ता तत्थ, मच्छियाओ निलीणाओ ॥ ३७ ॥ ताओ घरकोइलिया, पिच्छइ तं सरद्ध तं पि मज्जारो । तं पच्चंतियसुणओ, तं पि य वत्थवगो सुणओ ॥ ३८ ॥ ते कलहंते दहं, उवट्टिया तेसि सामिणो तेसि । जाया मारामारी, वाहिं च विणिग्गया तत्तो ॥ ३९ ॥ पाहुणगा वि हु सबलं, पिडित्ता आगया पुणो तत्थ । तेसि मंडंताणं, जाओ य महाऽऽहवो पच्छा ॥ ४० ॥ वारत्तगो विंचित्तइ, एएणं कारणेण नो गहिया । भिक्खा मणोहरा वि हु, तओ य सुहभावजोगेणं ॥ ४१ ॥ जायं जाईसरणं, संबुद्धो देवयाए उवगरणं । उवणीयं सवं पि हु, जाओ वारत्तगो समणो ॥ ४२ ॥ विहरंतो य कमेणं, संपत्तो सुंसुमारनयरमि । तहिं धुंधुमारन्नो, अंगारवइत्ति नामेणं ॥ ४३ ॥ धूया समत्थि सा वि हु, सुसाविया वायनिजिया तीए । परिवाइया पओसं, आवन्ना चित्तए एवं ॥ ४४ ॥ पाडेमि सवत्तिजणे, एयं पंडिच्चगवियं तत्तो । चित्तफलए लिहित्ता,

छदिते-  
धर्मघोष-  
मन्त्रि-  
श्रमणोदा-  
हरणम् ।

॥ ८३ ॥



पञ्जोयनिवस्स उवणीया ॥ ४५ ॥ दहुं पञ्जोएणं, तीसे रूवं मणोहरं दूरं । पुट्टाए तीए कहियं, दूयं पेसेइ सो ताहे ॥ ४६ ॥  
 गंतूण तेण कहियं, वयणं पञ्जोयराइणो तणयं । देहि नियं मे धूयं, भवाहि वा जुञ्जसज्जो चि ॥ ४७ ॥ तो धुंधुमाररत्ता, इय  
 सोउं कोवपूरियमणेणं । सो निच्छट्ठो गंतुं, सविसेसं कहइ नियरत्तो ॥ ४८ ॥ तो आसुरुत्तचित्तो, सवेण बलेण आगओ तुरियं ।  
 वेदेइ सुंसुमारं, नयरं अह धुंधुमारो वि ॥ ४९ ॥ अप्पाणं अप्पवलं, इयरं च महावलं कलेऊणं । भयभीओ मज्झगओ,  
 पुच्छइ नेमित्थियं कि पि ॥ ५० ॥ सो वि निमित्तनिमित्तं, चच्चरमज्झमि गंतु भेसेइ । डिभाणि ताणि तत्तो, भीयाणि पलायमा-  
 णाणि ॥ ५१ ॥ नागघरमज्झपरिसं-ठियस्स चारत्तगस्स पासंमि । पत्ताणि तओ सहसा, मा वीठह तेण भणियाणि ॥ ५२ ॥  
 नेमित्थिएण रत्तो, कहियं तुज्झं जओ न संदेहो । वीसत्थाणं उवरिं, पडिओ गंतूण मज्झहे ॥ ५३ ॥ गहिऊणं पज्जोओ,  
 नीओ नयरीए मज्झभागंमि । उत्तमपुरिसो एसो, अंगारवई तओ दिन्ना ॥ ५४ ॥ नयरं हिंडंतेणं, अप्पवलं धुंधुमारारायाणं ।  
 दहुं पञ्जोएणं, अंगारवई तओ मणिया ॥ ५५ ॥ भदे ! तुह जणएणं, अप्पवलेणं कहं अहं गहिओ । सा साहइ सुणि-  
 वयणं, गओ य सो साहुमूलंमि ॥ ५६ ॥ भणमाणो नेमित्थिय-खमणं वंदामि सो य उवउत्तो । आपवज्जं पेच्छइ, चेडगसं  
 वइयरं नवरं ॥ ५७ ॥ Xइत्यलं प्रसंगेनेति गाथार्थः ॥ ९२ ॥

इत्युक्त्वा उद्गमोत्पादनाग्रहणैषणादोषाः, साम्प्रतं तु त एव यत्प्रभवास्तद्दर्शनार्थं श्रौसैषणादोषसङ्ख्याप्रतिपादनार्थं चाऽऽह-  
 दी०—एषु च 'विषमेषु' प्रथमतृतीयादिभेदेषु भक्तादि शुद्ध्यते, पश्चात्कर्मादिदोषरहितत्वात् । अथ छदितमुच्यते यद-  
 X “ तओ सम्मं निरइयरं, अणुट्टाणं काऊण काले सिद्धो चि ” श्रीचन्द्रीयवृत्तौ ।

पिण्ड-  
विशुद्धि०  
टीकाद्वयो-  
पेतम्  
॥ ८४ ॥

शनादि 'भवत्परिशाटि' भूमौ पतत्तदवयवं 'तदि'ति तस्मिंश्च-दातुः कराद्भूमौ पतति सति 'कायाः' शृथिव्यादिजीव-  
समूहा, विराध्यन्त इति गम्यते । 'पतिते च' भूमिगते मधुबिन्दूदाहरणं, यथा-कश्चिद्धर्मघोषारुयो मन्त्री गृहीतव्रतो विहरन्  
वारित्तकपुरं जगाम, तत्र वारित्तकमन्त्रिगृहे भिक्षार्थं गतो, दीयमानमधुघृतान्वितपायसादघोषुलमधुबिन्दुपातदर्शना-  
द्वोषमन्वेष्य निर्गतः । तच्च गत्राक्षस्थो वारित्तको (मन्त्री) विलोक्य कुतो भिक्षा न गृहीता ? इति यावच्चिन्तयति तावत्तत्र  
भूपतितमधुबिन्दुके मक्षिकायोगाद्गृहकोकिला तद्योगात्सरस्वतो मार्जारस्त्वं प्रति प्रावृणकः श्वा घ्रावितस्त्वदनु वास्तव्यः श्वा,  
तयोः कलहे तत्स्वामिनोर्विरोधादन्योन्यं सङ्ग्रामोऽभूत्, ततो वारित्तकेन चिन्तितं-अहो!! अनेनैव कारणेन मुनिना भिक्षा  
न जगृहे, धन्यः स इति शुभभावयोगाज्जातजातिस्मरणो देवताऽर्पितसाधूपकरणः स्वयम्बुद्धो जात इति गाथार्थः ॥ ९२ ॥

इत्युक्तदोषनिगमनं ग्रासैषणादोषांश्च प्रस्तावयन्नाह—

इय सोलस सोलस दस, उगमउप्यायणेसणादोसा । गिहिसाहूभयप्रभवा, पंच उ+ग्रासेसणाइ इमे । ९३।

व्याख्या—इत्येवं पूर्वोक्तस्वरूपाः षोडश षोडश दश च प्रतीतरूपाः, यथाक्रममुद्गमस्योक्तरूपस्यैवधुत्पादनाया ग्रहणे  
षणायाश्च ये 'दोषा' दूषणानि, ते यथासङ्ख्यं गृहिसाधूमयप्रभवा-दायकयतितद्वितयसमुत्था भवन्तीति शेषः । तत्र गृहि-  
प्रभवा उद्गमदोषा, गृहिणा प्रायेण तेषां क्रियमाणत्वात्, साधुसमुत्था उत्पादनदोषाः, साधुनैव तेषां विधीयमानत्वात्, गृहि-  
साधुजन्या ग्रहणैषणादोषाः, शङ्कितदोषस्य साधुभावापरिणतदोषस्य च साधुजन्यत्वाच्छेषाणां च गृहिप्रभवत्वादिति,

+ "घासे०" अ. य. ।

ग्रहणैषणा-  
निगमनं  
ग्रासैषणा-  
प्रस्तावना  
च ।

॥ ८४ ॥

एवं विधिना गृहीतस्याऽप्याहारस्य विधिनैव ग्रासः कार्य इति ग्रासैषणदोषानाह—‘पंच उ’ पञ्च पुनर्दोषाः, स्युरिति गम्यते, केत्याह—ग्रसनं ग्रासो—भोजनं, तद्विषया ‘एषणा’ शुद्धाशुद्धपर्यालोचना, तस्यामिमे—एतेऽनन्तरमेव वक्ष्यमाणा इति गार्थार्थः ॥ ९३ ॥

तानेवाऽऽह—  
 दी०—इत्येवं षोडश षोडश दश सङ्ख्या यथाक्रमं उद्गमोत्पादनैषणादोषाः गृहिसाधुतदुभयप्रभवाः स्पष्टा भवन्तीति शेषः । एवं द्विचत्वारिंशदोषरहितस्याप्याहारास्य विधिनैव ग्रासः कार्य इत्याह—पञ्च ‘तु’ पुनर्ग्रासैषणायां दोषा ‘इमे’ वक्ष्य-  
 माणाः स्युरिति गार्थार्थः ॥ ९३ ॥ तानेवाह—

संजोयणा पमौणे, इंगौले धूर्म-ऽकारणे पढमा । वसहिबहिरंतरे वा, रसहेउं दवसंजोगा ॥ ९४ ॥

व्याख्या—संयोजनं संयोजना, रसगृह्या गुणान्तरोत्पादनाय द्रव्यान्तरमीलनं, सा क्रियमाणा ग्रासैषणादोषः स्यात्तथा ‘प्रमाणं’ कत्रलादिभिर्भोजनपरिमाणं, तच्चाऽतिक्रम्यमाणं भोजनदोषो भवेत् । तथा चारित्रिन्धनस्याऽङ्गारस्येव करणमिति विग्रहे +कारिते पुंसि संज्ञायां घे च कृते भवत्यङ्गार× इति । चारित्रिन्धनस्य धूमवत् इव करणमिति विग्रहे कारिते घे मतुब्लोपे च स्याद्धूम\* इति, चारित्रिन्धनस्य धूमयमानतेत्यर्थः । अन्योश्च दोषत्वं प्रतीतमेव । तथा ‘कारणं’ भोजनहेतुः,

+ अङ्गारशब्दस्याग्ने कारितः । × अङ्गारं करोति तद्व[त्तच्च व]ति वदाचष्टे इत् कारि अङ्गारयतीति घे [कृते] स्यादङ्गार इत्यर्थः ।  
 \* धूमो विद्यते यस्य स तथावन्तः, धूमवन्तं करोतीति “मन्तु-वन्तु-विनां लुक्चे ति वन्तलोपः” इति “लिङ्गस्ये”त्यादिनाऽन्यस्वर-  
 लोपः, धूमयतीति धूमः । घे धूमः सिद्धयति । इति टिप्पणानि अ. पुस्तके ।

एतस्य दोषत्वमनाश्रीयमाणत्वात् । अथ संयोजनादोषव्याख्यायाऽऽह-प्रथमा-ऽऽद्या संयोजनेत्यर्थो वसते-रुपाश्रयाद्बहि-  
र्बहिस्ताद्विधाटन इत्यर्थः, अन्तरे वा-वसतिमध्ये वेति अथवा रसहेतो-विशिष्टास्वादिनिमित्तं द्रव्याणां-दुग्धदध्यादनादीनां  
'संयोगो' मीलनं तस्मिन्सति संयोजना, भवतीति पूर्वेण योगः, तत्र बहिर्भक्तपानसंयोजना-भिक्षामटतो दुग्धदध्यादिलाभे  
गुडादिप्रक्षिपतोऽन्तर्भक्तपानसंयोजना पुनः-पात्रे मुखे च स्यात्तत्र पात्रे मण्डकगुडदृतादि संयोज्य भक्षयत, एतान्येव  
मुखप्रक्षेपेण संयोजयतो मुखसंयोजना, पिण्डप्रस्तावाच्चैत्रमुच्यते, अन्यथा उपकरणं गवेषयत एव साधोश्चोलपट्टकाद्यवाप्तौ  
विभूषाप्रत्ययमन्तरकल्पं याचित्वा परिभुञ्जानस्य बहिरुपकरणसंयोजना, वसतौ चाऽऽगत्य तथैव परिभुञ्जानस्याऽन्तरुपकरण-  
संयोजनेत्याद्यपि द्रष्टव्यमिति । इह च रसहेतोरिति विशेषणेन कारणतः संयोजनायामपि न दोष इत्यावेदयति, यदाह-  
“ रसहेतुं संजोगो, पडिसिद्धो कप्पए गिलाणट्ठा । जस्स च अभत्तच्छदो, सुहोचिओऽभाविओ जो य ॥१॥ ”

सुगमा, नवर-यस्य चाऽऽहारेऽरुचिस्तथा यः शुभाहारोचितो राजपुत्रादिर्यश्च साधूचिताहारेणाऽभावितस्तस्य संयोगोऽ-  
नुज्ञात इति गार्थार्थः ॥ ९४ ॥ अथाऽऽहारप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह-

दी०-“संयोजना' रसगृह्या गुणान्तरार्थं द्रव्यान्तरसंयोजनं १, अप्रमाणं मानमतिक्रम्य भोजनं २, 'अङ्गार' इति चारित्रे-  
न्धनस्याङ्गारस्येव करणात् ३, 'धूम'ति चारित्रेन्धनस्य धूमवत इव करणं, वन्तुलोपाद्भूम ४, अकारणं-भोजनहेत्वनाश्रयणं ५,  
एतद्द्रव्याख्यामाह-एषु पञ्चसु प्रथमा संयोजना स्याद् 'वसते'रुपाश्रया'द्बहि'र्भिक्षाटने रसहेतोर्विशिष्टास्वादनार्थं 'द्रव्य-  
संयोगाद्' दुग्धादौ गुडादिक्षेपात् 'वा' अथवा 'अन्तरे' वसतेर्मध्ये पात्रे मुखे च तथा करणात्, पिण्डप्रस्तावादिद्रमत्रोक्तं,

परतस्तृष्णकरणादीनामपि ज्ञेयं, रमहेतोरिति भणनाद्गलानादिकारणतः संयोजनायामपि न दोष इति गाथार्थः ॥ ९४ ॥

अथाहारप्रमाणाख्यमाह—

धिद्वलसंजसजोगा, जेण ण हायंति संपइ पए वा । तं आहारपमाणं, जइस्स सेसं किलेसफलं ॥९५॥  
व्याख्या—‘धृतिश्च’ चित्तस्वास्थ्यं—मनःसमाधानमित्यर्थः ‘वलं च’ शारीरः प्राणः ‘संयमयोगाश्च’ चरणकरणव्यापारा-  
धृतिवलसंयमयोगाः ‘येन’ यावन्मात्रेण द्वात्रिंशत्कवलादिनाऽऽहारेण, भुक्तेनेति गम्यते । ‘न’ नैव ‘हीयन्ते’ हानिमुपगच्छ-  
न्ति, कदेत्याह—‘सम्प्रति’ तदैव—तद्दिन एवेत्यर्थः ‘प्रणे’ वा प्रभाते—द्वितीयदिन इत्यर्थः; वेत्यथवा, तत्तावन्मात्र ‘माहारप्रमाणं’  
भोजनमानं, विज्ञेयमिति गम्यते, कस्येत्याह—‘यतेः’ साधोः, सूत्रे च कुक्कुट्यण्डकमात्रकवलापेक्षमेवमाहारमानमभिधीयते—  
“वत्तीसं किर कवला, आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ । पुरिसस्स महिलियाए, अट्टावीसं भवे कवला ॥१॥”

नपुंसकस्य चतुर्विंशतिः । उदरभागापेक्षं त्वेवं—

“अद्धमसणस्स सव्वं—जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागा । वाउपवियारणट्टा, छब्भांगं ऊणगं कुज्जा ॥१॥”  
‘सेसं’ति पुनः शब्दाध्याहाराच्छेषं पुनरायोपायकुशलतया सम्यगाकलितात् संयमव्यापारनिर्वाहेतोः स्वदेहस्वभावा-  
नुगुणादाहारमानान्दन्यदतिबहुप्रभृतिकं, किमित्याह—‘क्लेशफल’मैहिकामुष्मिकदुःखपरम्पराजनकमिति गाथार्थः ॥ ९५ ॥

श्रुतः जेपं क्लेशफलमित्याह—

दी०—‘धृति’र्मनःस्वास्थ्यं ‘वलं’ शारीरिकं ‘संयमयोगा’श्चरणकरणव्यापारास्ते ‘येन’ यावन्मात्रेण भुक्तेन नैव हीयन्ते

‘सम्प्रति’ तदैव अथवा ‘प्रगे’ द्वितीयदिना(न्तरा)रम्भे तत्तावन्मात्रमाहारप्रमाणं यतेः स्यात्, सूत्रे कुर्कुट्यण्डकप्रमाणाः पुरुषस्य

द्वान्निशक्तवलाः स्त्रियोऽष्टाविंशतिर्निपुंसकस्य चतुर्विंशतिरुक्तस्तत्रापि—  
“अद्धमसणस्स सन्वं—जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे । वायपविचारणट्ठा, छब्भांगं ऊणयं कुज्जा ॥१॥”

“अद्धमसणस्स सन्वं—जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे । वायपविचारणट्ठा, छब्भांगं ऊणयं कुज्जा ॥१५५॥  
इतः ‘शेषं’ संयमनिर्वाहेतुदेहानुगुणाहारमानान्यदतिबहुप्रभृतिकं ‘क्लेशफलं’ ऐहिकामुष्मिकदुःखजनकमिति गाथार्थः ॥१५५॥

इतः शेषं क्लेशफलं ? इत्याह—  
कुतः शेषं क्लेशफलं ? इत्याह—  
जेणऽइबहु अइबहुसो, अइप्पमाणेण भोयणं भुत्तं । हादिज्ज व वामिज्ज व, मारिज्ज व तं अजीरिंतं ॥१६॥

व्याख्या—येन कारणेना ‘ऽतिबहु’ पूर्वोक्तस्वप्रमाणाधिकं, आकण्ठमित्यर्थः, तथा ‘अतिबहुशो’ऽतिबहून्वारान्, वारत्रय-

मित्यर्थः, तथा ‘अतिप्रमाणेन’ वारत्रयोल्लङ्घनलक्षणेन करणभूतेनाऽवृष्यता वा साधुना कर्त्रा भोजन-मशनादिकं सुक्त-मभ्य-

वहंतं, किं कुर्यादित्याह—‘हादयेद्वा’ पुरीषनिसर्गाधिक्यं कारयेद्वा ‘वामये’च्छदिं कारये ‘न्मारयेद्वा’ प्राणत्यागं कारयेद्वाशब्दा

विकल्पार्थाः, किं तदित्याह—तदतिबहुकादिभोजनं कर्तुं, किंविशिष्टं सदित्याह—‘अजीर्यत्’ परिणाममगच्छत्, तस्मा-

त्प्रमाणयुक्तमेव भोक्तव्यं, तस्यैव गुणावहत्वाद्यदाह—  
“अप्पाहारस्स न इ—दियाइ विसएसु संपयट्ठति । नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न मुज्झए या वि ॥१॥”

“अप्पाहारस्स न इ—दियाइ विसएसु संपयट्ठति । नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न मुज्झए या वि ॥१॥”  
तथाहि—‘हियाहारा मियाहारा, अप्पाहारा य जे नरा । न ते विज्जा चिगिच्छंति, अप्पाणं ते चिगिच्छंगा ॥२॥”

‘हिताहाराः’ देहस्वभावानुकूलभोजनाः ‘मिताहाराः’ प्रमाणोपेतभोजनाः ‘अल्पाहाराः’ प्रमाणप्राप्तादपि हीनतराहारा इति गाथार्थः ।

अथाङ्कार-धूमलक्षणं दोषद्वयं व्याचिख्यासुराह—

दी०—येन कारणेन 'बहु' पूर्वोक्तस्वप्रमाणाधिकमाकण्ठमित्यर्थः, अतिबहुशो-बहून् वारान् 'अतिप्रमाणेन' वारत्रयोह्यङ्घ-  
नादिना अटुप्यता वा साधुना भोजनं भुक्तं सत् किं कुर्याद् ? इत्याह-हादयेत् पुरीषाधिक्येन, वामयेच्छदिकाकरणेन, मार-  
नेत्प्राणत्यागेन, 'वा' शब्दा विकल्पार्थाः । तद्भुक्तं कथम्भूतं ? 'अजीर्यत्' परिणामगच्छदिति गाथार्थः ॥ ९६ ॥

अथाङ्कारधूमाल्ये आह—

अंगारसधूमोवम-चरणिंधणकरणभावओ जमिह । रत्तो दुट्टो मुंजइ, तं अंगारं च धूमं च ॥९७॥

व्याख्या—अङ्कारसधूमे प्रतीते, तदुपमस्य-तथाविधासारातासाधम्यचित्तसदृशस्य 'चरणेन्धनस्य' चारित्रैन्धसः 'करण-  
भावा'निर्वर्त्तनसद्भावाद्यं मनोज्ञामनोज्ञमाहारं भुङ्क्ते, साधुरिति योगः । 'इह' जैने प्रवचने, किंविशिष्टः सन्नित्याह—'रक्तः'  
प्रेमवान् 'द्विष्टश्च' द्वेषवान्, इह चशब्दोऽध्याहार्यः । 'भुङ्क्ते'ऽभ्यवहरति, साधुरिति गम्यते, तमाहारं यथाक्रममङ्गारं  
चा-ङ्कारमिति ब्रुवते 'धूमं च' धूममिति ब्रुवते । अयमर्थः—यमाहारं साधुः सुन्दरमिति कृत्वा रक्तः सन् भुङ्क्ते, तमिह प्रवचने-  
ऽङ्गारोपमचरणेन्धनकरणभावादङ्कारमित्याचक्षते, यं चाऽसुन्दरमिति कृत्वा द्विष्टोऽभ्यवहरति, तं सधूमोपमचरणेन्धनकरण-  
भावाद्भूममिति, आह च—'तं होइ सइंगालं, जं आहारेइ सुच्छिओ संतो । तं पुण होइ सधूमं, जं आहारेइ  
निंदंतौ ॥ १ ॥' इति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ अथ कारणद्वारं व्याचिख्यासुराह—

दी०—अङ्कारसधूमे प्रतीते 'तदुपमस्य' तथाविधासारतया ततुल्यस्य 'चरणेन्धनस्य' चारित्रैन्धसः 'करणभावात्'

निर्वर्त्तनायोगाद्यमाहारमिह—जिनागमे साधुर्भुङ्क्ते 'स्वतो' मनोज्ञमिति प्रेमवान् 'द्विष्टो'ऽमनोज्ञमिति द्वेषवान्, तत् किं ? तद्यथाक्रममङ्गाराख्यं च धूमाख्यं च स्यादिति गाथार्थः ॥ ९७ ॥ अथ षोढा कारणाख्यमाह—

बुहवियर्णवेयाव—च्चैसंजभैसुज्ज्ञाणपाणैरखट्टा । इरियं च विसोहेडं, भुंजे न उ ख्वरसहेडं ॥ ९८ ॥

व्याख्या—इह च भुद्धेदनादिपदानां द्वन्द्वं कृत्वा रक्षार्थमिति पदेन प्रत्येकं सम्बन्धः कर्त्तव्यः, ततश्च क्षु-हुशुक्षा, तस्यास्तद्रूपा वा 'वेदना' पीडा भुद्धेदना 'तद्रक्षार्थ' तन्निवारणानिमित्तं, यदाह—“नत्थि ह्युहाए सरिसिया, वियणा भुंजेज्ज तप्पसमणहत्ति” । तथा वैयाहृत्य—माचार्यादिप्रतिचरणं, तद्रक्षार्थ—तद्वानिवारणार्थं, आह च “छाओ वेयावच्चं, न तरह काउं अओ भुंजे ।” 'छाओ' चि 'प्सातो' बुभुक्षित इत्यर्थः, तथा 'संयमः' प्रत्युपेक्षणाप्रमार्जनादिलक्षणः साधु-व्यापारस्तत्पालनार्थं, बुभुक्षित एनं कर्तुं न शक्नोतीति कृत्वा, तथा शोभनं ध्यानं सुध्यानं—सूत्रार्थानुचिन्तनादिलक्षणं शुभचिन्तप्रणिधानं, एतदपि बुभुक्षितः कर्तुं न शक्नोतीति, तथा 'प्राणा' जीवितं, तेषां रक्षार्थं—परिपालनानिमित्तं, ईर्या वा-ईर्यामिति, वेत्यथवा 'विशोधयितुं' निर्मलीकृतुं, बुभुक्षितो हि ध्यामल्लोचनत्वादितस्तां तथा कर्तुं न शक्नोतीति, किं कुर्यादित्याह—'शुज्जीत' भोजनं कुर्यात् 'न तु' न पुना 'रूपं च' शरीरलावण्यं 'रसश्च' भोजनास्वादो रूपरसौ, तद्धेतो-स्तन्निमित्तं, बलवर्णादिनिमित्तं रसगृह्या च न शुज्जीतेत्युक्तं भवतीति गाथार्थः ॥ ९८ ॥

अथाऽन्यान्यप्यजेमनकारणानि प्रतिपादयन्नाह—  
दी०—'भुद्धेदना' बुभुक्षापीडा १, वैयावृत्यं दशधा प्रतीतं २, संयमः प्रत्युपेक्षणाप्रमार्जनादिलक्षणः ३, सुध्यानं—सूत्रा-



शान्तिचिन्तनादौ प्रणिधानं ४, प्राणा-जीवितं, एतेषां रक्षार्थं ५, ईर्या च-गमनमार्गं विशेषयितुं ६, साधुभुञ्जीत-अश्रीयान्न रूपरसहेतोर्देहादिमौन्दर्यविशिष्टास्वादाद्येति गाथार्थः ॥ ९८ ॥

अजेमनकारणान्यपि पडेवाह—

अहव न जिमेज्ज रोगे, मोहुदए सयणमाइउवसंगे । पाणिंदयातवेहेउं, अंते तणुमोयणत्थं च ॥९९॥  
 व्याख्या—‘अथवा’ यद्वा ‘न’ नैव जेमे-दश्रीयात्साधुरिति गम्यते, केत्याह—‘रोगे’ ज्वराक्षिरोगाजीर्णाद्यातङ्के सञ्जाते सति, अमोजनस्य रोगनिवर्त्तनोपायत्वाद्, यदाह—सहसुप्पन्नं वार्हि, अट्टमेणं निचारए” तथा “बलाविरोधिनिदिष्टं, ज्वरादौ लङ्घनं हितम् । ऋतेऽनिलश्रमक्रोध-शोककामक्षतज्वरान् ॥ १ ॥” तथा ‘मोहस्य’ पुरुषादिवेदलक्षणस्य ‘उदये’ विपाकप्रावत्ये, तपसो मोहोपशमहेतुत्वाद्, यदाह—“विषया विनिवर्त्तन्ते, निराहारस्य देहिनः।” इति । तथा ‘स्वजनादीनां’ मातृपितृकलत्रनुप्रभृतीनां ‘उपसर्गे’ प्रत्रय्यामोचनादिलक्षणे उपद्रवे, ते हि तपस्यन्तं साधुमवलोक्य तन्निश्चया-वगमान्मरणादिभीतेर्वोपसर्गकरणाद्विनिवर्त्तन्ते, तथा ‘प्राणिदया च’ सत्वरक्षणं, तपश्च चतुर्थादिलक्षणं प्राणिदयातपसी, तद्धेतो-स्तन्निमित्त, अयमर्थः—पानीये महिकायां वा निपतन्त्यां प्रभूतश्लक्ष्णमण्डूकिकादिसत्त्वसमाकुलायां वा भूमौ तत्तज्जीवसंरक्षणार्थं भिक्षाऽटनादि न कुर्यात्, एतच्चोपोषितस्यैव निर्वहति, तपोऽपि चाऽभुञ्जानस्यैव भवतीति । तथा ‘अन्ते’ पर्यन्ते—मरणकाल इत्यर्थः । ‘तनुमोचनार्थं’ संयमपालनासमर्थदेहपरित्यागनिमित्तं, चशब्दो ‘न जेमे’दिति क्रियाऽनुकर्षणार्थं इति गाथार्थः ॥९९॥

अथ ग्रन्थोपसंहारमवानुक्तार्थातिदेशं च कुर्वन्नाह—

दी०—‘अथवा’ यद्वा न जिमेत्, क ? ‘रोगे’ ज्वराक्षिरोगाजीर्णाद्यातङ्के १, तथा मोहस्य-पुरुषादिवेदलक्षणस्योदये-

त्रिपाकप्राबल्ये ३, तथा स्वजनादीनां-मावृपितृपुत्रकलत्रप्रभृतीनां 'उपसर्गे' प्रब्रज्यामोचनाद्युपद्रवे ३, तथा प्राणिदया-वृष्ट्यां  
महिष्कापाते स्रक्षमण्डूकिकादिसत्त्वाकुलायां वा भूमौ जीवरक्षा ४, तपश्चतुर्थादि 'तद्धेतो'स्तयोर्निमित्तं ५, तथा 'अन्ते'  
मरणकाले 'तनुमोचनार्थ' संयमाक्षमदेहत्यागाय ६ चेति गार्थार्थः ॥ ९९ ॥ अथ ग्रन्थार्थमुपसंहरन्नाह—

इय तिविहेसणादोसा, लेसेण जहागमं मएऽभिहिया । एसु गुरुलहुविसेसं, सेसं च मुणेज्ज सुत्ताओ ॥ १०० ॥

न्याख्या—'इति' एवं पूर्वोक्तप्रकारेण त्रिविधा चाऽसौ गवेषण-ग्रहण-ग्रासमेदादेषणा च-शुद्धाशुद्धपिण्डविचारणा, तस्यां  
'दोषा' आधाकर्म-धात्रीत्व-शङ्कित-संयोजनादिलक्षणानि दूषणान्यभिहिता इति योगः, कथमिन्याह—'लेशेन' संक्षेपेण 'यथागमं'  
आगमस्थानतिक्रमेण-पिण्डानियुक्त्यादिग्रन्थानुसारेणेत्यर्थः, अनेन चाऽस्य प्रकरणस्य ग्रामाण्यमाह । 'मया' कर्त्रा 'अभिहिताः'  
प्रतिपादिताः । 'एसु'ति चकाराध्याहारादेषु च दोषेषु 'गुरुलघुविशेषं' कस्कोऽत्र दोषो गुरुः कस्कश्च लघुरित्येवंविधं प्रकारं  
'शेषं च' अन्यच्च यदत्र नोक्तं पिण्डविचारसम्बद्धं नामादिन्यास-दृष्टान्त-भङ्गक-विस्तरविचारणादिकं शय्यातरराजपिण्डोपाश्रय-  
वस्त्रपात्रगतदोषादिकं च, तत्किमित्याह—'मुणेज्ज' ति जानीयास्त्वं हे श्रोतः ! कस्मादित्याह—'सत्रा' दागमात्तत्र सर्वगुरु मूलकर्म,  
तस्माच्चाऽऽधाकर्मिकं कर्मोद्देशिकचरमत्रिकं मिश्रान्त्यद्विकं वादरप्राभृतिका सप्रत्यपायाऽभ्याहृतं लोभपिण्डोऽनन्तकायाव्यव-  
हितनिक्षिप्तपिहितसंहतमिश्रापरिणतछर्दितानि संयोजना साङ्गारं वर्त्तमानभविष्यन्निमित्तं चेति लघवो दोषाः, मूलप्रायाश्चित्वाच्च-  
तुर्थतपो वत् । एतेभ्यः कर्मोद्देशिकाद्यभेदो मिश्रप्रथमभेदो धात्रीत्वं दूरीत्वमतीतनिमित्तमाजीवनापिण्डो वनीपकत्वं वादरचि-  
कित्साकरणं क्रोधमानपिण्डौ सम्बन्धिसंस्तवकरणं विधायोगचूर्णपिण्डाः प्रकाशकरणं द्विविधं द्रव्यक्रीतमात्मभावक्रीतं लौकि-

कप्रामित्यपरावर्तिते निष्प्रत्यपायपरग्रामाम्याहृतं पिहितोद्भिन्नं कपाटोद्भिन्नमुत्कृष्टमालापहृतं सर्वमाच्छेद्यं सर्वमनिसुष्टं पुरःकर्म पश्चात्कर्म गहितप्रक्षितं संसक्तप्रक्षितं प्रत्येकान्यवहितनिक्षिप्तपिहितसंहृतमिश्रापरिणतच्छदितानि प्रमाणोल्लङ्घनं सयूमकारणभोजनं चेति लघवश्चतुर्थादाचाम्लमिव । एतेभ्योऽप्यह्यवपूरकान्त्यभेदद्वयं कृतभेदचतुष्टयं भक्तपानपूतिकं मायापिण्डोऽनन्तकायव्यवहितनिक्षिप्तपिहितादीनि मिश्रानन्ताव्यवहितनिक्षिप्तादीनि चेति लघवः, आचाम्लादेकभक्तमिव । एतेभ्योऽप्यौघो-दृशिकमुद्दिष्टभेदचतुष्टयमुपकरणपूतिकं चिरस्थापितं प्रकटकरणं लोकोत्तरं परावर्तितमपमित्यं च परभावक्रीतं स्वग्रामाम्याहृतं दर्दरोद्भिन्नं जघन्यमालापहृतं प्रथमाध्यवपूरकः सूक्ष्मचिकित्सा गुणसंस्तवकरणं मिश्रं कर्दमेन लवणसेटिकादिना च अक्षिप्तं पिष्टादिप्रक्षितं किञ्चिदायकदुष्टं प्रत्येकपरम्परस्थापितादीनि च मिश्रानन्तरस्थापितादीनि चेति लघवः, एकभक्तात्पुरिमार्धमिव । एतेभ्योऽपि चेतस्वस्थापितं सूक्ष्मप्राभृतिका सस्निग्धसरजस्कप्रक्षितं प्रत्येकमिश्रपरम्परस्थापितादीनि चेति लघवः, पुरिमार्धा-निर्विकृतिकमिव । इत्ययं सामान्यतो गुरुलघुविशेषो, विशेषतस्तु सूत्रादेवाऽवसेयः ( इति गाथार्थः+ ) ॥ १००\* ॥

अथ शय्यातरपिण्डविचारणा—  
सागारि'ओत्ति को पुणे, काहे<sup>३</sup> वा कइंविहो +य से पिंडो । अस्मिज्जायरो व काहे, परिहरियव्वो य सो करसं । १ ।  
दोसा वा के तंसेस, कारणजाए व कर्पणए वा काए, एगमणेगेसु धेतं'व्वो ॥ २ ॥

अस्य गाथाद्वयस्य व्याख्या— 'सागारिकः' शय्यातरस्तत्र सहाऽगारेण-साधुयोग्यगृहेण वर्तत इति सागारः, स एव + भ. प्रतावेवैतद्वाक्यं । \* अ. म. प्रत्योरेवात्राक्कविन्यासः । + "°विहो वि सो पिंडो" मां० । "°विहो वि से पिंडो" अ ।

सागारिकस्तथा शय्यां तद्गतसाधून् वा संरक्ष्य तद्दानेन वा संसारसागरं तरतीति शय्यातरः १ । कः पुनरसौ ? उच्यते-य उपाश्रयस्य प्रभुस्तत्सन्दिष्टो वा, तेषु वाऽनेकेषूत्सर्गतः सर्वेऽपि वर्जनीयाः, अनिवहि तु परिपाट्वैकैको वर्जनीयः, यदा चोपाश्रयसङ्कीर्णत्वकारणेन भिनोपाश्रयेषु वसन्ति, तदाऽपि सर्वापि वर्जयितुमशक्नुवन्त आचार्यशय्यातरं वर्जयन्त्येवेति २ । कदा वा ?-कुतः कालात्प्रभृति शय्यातरो भवतीत्यर्थस्तत्रोच्यते-प्रत्यूषावश्यं कृते स्वापे वा विहिते, यदाह-  
“जह जगंति सुविहिया, करंति आवस्सगं च अन्नत्थ । सेज्जायरो न होई, सुत्ते व कए व सो होइ ॥१॥” ३ ॥

कतिविधश्च तस्य पिण्डः स्यात्तत्रोच्यते-अशन-पान-खादिम-स्वादिम ४ वस्त्र-पात्र-कम्बल-रजोहरण ४ सूची-पिप्पलक-नखरदन-कर्णशोधन ४ भेदाद्द्वादशविधः, यदाह-  
“असणाईया चउरो, पाउँछणवत्थपत्तकंबलयं । सूइछुरकन्नसोहण-नहरणिया सागरियपिंडो ॥ १ ॥”

वृणादिस्तु न भवति, यदाह-  
“तण्डगलछारमल्लग-सेज्जासंथारपीढलेवाई । सेज्जायरपिंडो सो, न होइ सेहो य सोवहिओ ॥ २ ॥४”  
अशय्यातरो वा कदा भवति ? तत्रोच्यते-निर्गमनकालाद्दिनमेकं वर्जयन्ति, ततः परमशय्यातरो भवति, यदाह-“बुच्छे वळंतऽहोरत्तं” । आदेशान्तरेण तु दिनद्वयादिति,  
“सूरत्थमणे दिणनि-ग्गयाण सूरोदए असागरिओ । अत्थमियनिग्गयाणं, बारसजामा उ सागरिओ ॥१॥”ति ।  
तथा परिहर्त्तव्यश्च स कस्येत्यत्रोच्यते-

“लिंगात्थस्स उ वज्जो, तं परिहरओव्व सुंजओ वा वि । जुत्तस्स अजुत्तस्स व, रसावणो तत्थ दिट्ठतो ॥१॥”

अस्या भात्रार्थः—लिङ्गस्थस्य यः शय्यातरस्तस्य पिण्डो वर्ज्यः, तं-शय्यातरपिण्डं परिहरतो वा सुज्जानस्य वाऽपि, तथा युक्तस्य श्रापण्यगुणैरयुक्तस्य [वा] तैरेव, अत्र ‘रमापणो’ मद्यविपणिस्तस्य+दृष्टान्तो यथा—किल महाराष्ट्रविषये X कल्पपाला-पणेषु मद्यं भवतु वा मा वा तथापि ध्वजो वर्ज्यते, तं च दृष्ट्वा मर्वेऽपि भिक्षाचारादयः परिहरन्ति, अभोज्यमिति कृत्वा, एवमत्राऽपि यस्य धर्मध्वजो दृश्यते तस्य शय्यातरो वर्जनीय इति ६ । दोषा वा के ? तस्य पिण्डे गृह्यमाण इत्यत्र कथ्यते— तीर्थकरनिषिद्धाद्गो बहवः, यदाह—

“तित्थयरपडिक्कुट्टो, अन्नोयं उग्गंजो वि न य सुज्जे । अविमुत्ति अलाघवर्यो, दुल्लहसेज्जां य वोच्छेओ ॥१॥”

अस्यार्थः—तीर्थकरैराद्यान्तिममध्यमविदेहजिनैः ‘प्रतिक्रुष्टः’ ससाधूनां तदाश्रयस्थानामन्याश्रयस्थानां वा निषिद्धः शय्यातरपिण्डः, यदाह—

“पुरपच्छिमवज्जेहिं, अविकम्मं जिणवरहिं लेसेणं । सुत्तं विदेहएहि य, न य सागरियस्स पिण्डो उ ॥१॥”

‘लेशेने’ ति यस्यैवैकस्य कृते कृतं तस्यैवैकस्य न कल्पते, शेषसाधूनां तु कल्पत एवेत्यंशेनेति ? । कस्मादेवमित्याह— ‘अज्ञातस्या’ऽविदितस्य = राजादिप्रव्रजित्वेन यद्भ्रंशं तदज्ञातमुच्यते, तदेव च प्रायः साधुना ग्राह्यं, “अन्नायउच्छं चरई

+ नास्त्यं शब्दो भाण्डारकरीयातिरिक्तासु प्रतिकृत्तियु । X सर्वास्वपि प्रतिकृत्तिपूलभ्यते “कल्पपाल” इति, अभिधाचिन्तामणौ तु “कल्पपालः सुराजीवी” इत्यस्ति । \* “प्रव्रजितो नृपादिर्भिक्षार्थं यस्य गृहे प्रविष्टो न प्रत्यभिज्ञायते, तस्य सम्बन्धि । इति टि. अ. ।

चिसुद्धं” इति वचनात्, तच्चाऽऽसन्ननिवासादतिपरिचयेन ज्ञातस्वरूपतया शय्यातरगृहे पिण्डं गृह्णतो यतेर्न शुद्ध्यतीति योगः २। तथा ‘उद्गमः’ कल्पनीयभक्तादिभवनमपि, चेति समुच्चये ‘न शुद्ध्यति’ न शुद्धो भवति शय्यातरपिण्डग्रहणे सति, कथं ? “बाहुल्ला गच्छस्स उ, पढमालियपाणगाइकज्जेसु । सज्झायकरणआउ-ड्डियाइ करे उग्गमेगयरं ॥ १ ॥” ३ ।

आह च—

तथा ‘अविमुक्तिः’ सलोभता, तद्वशाच्छय्यातरकुलस्याऽमोचनं, गओ चि दूरं पुणो एइ ॥ १ ॥” ४ ।  
“ भावे उक्कोसपणी-यगेहिओ तं कुलं न छड्डेइ । एहाणाईकज्जेसु य, गओ चि दूरं पुणो एइ ॥ १ ॥” ४ ।  
तथाऽविद्यमानं ‘लाघवं’ लघुता यस्य स तथा, तस्य भावोऽलाघवता, तत्र विशिष्टाहारलाभेनोपचितत्वाच्छरीरालाघवं, शय्यातरात् तत्परिचितजनाच्चोपधिलाभादुपघेरनल्पतया तदलाघवमिति, उदाहरणं चाऽत्र-एकस्य साधोः शय्यातरेण कम्ब-लकानि प्रदत्तानि, तत्प्रत्ययाच्च तत्पुत्रभ्रात्रादिभिश्च कम्बलकाद्युपकरणं तस्मै वितीर्णं, ततश्चाऽसौ प्रचुरोपकरणप्रतिबन्धाद्भारम-याच्च न विहरति, इतश्च देवयोगाहुर्भिक्षे जाते शय्यातरेण चिन्तितं-यथाऽयं वयं चाऽत्र मरिष्यामस्ततः केनाऽप्युपायेनैनं विस-र्जयामि सुभिक्षदेशान्तर इति, ततो बहिर्भूमौ गते तस्मिन् सर्वमुपकरणं निष्कास्याऽन्यत्र रुद्धोप्य च प्रदीप्तस्तदुपाश्रयः, आगतस्य चापितानि भाजनानि शेषमुपकरणं दग्धमिति निवेद्य । ततोऽसौ प्रस्थितो देशान्तरं भणितश्च शय्यातरेण-सुभिक्षे पुनरिहाऽऽ गन्तव्यमिति । आगतश्चाऽसौ सुभिक्षे जातेऽर्पितं च सर्वमुपकरणमित्येवं शय्यातरपिण्डग्रहणेऽलाघवं भवतीति । तथा दुर्लभा-ऽसुलभा शय्या च-वसतिः कृता भवति, येन किल शय्या देया तेनाऽऽहाराद्यपि देयमिदमेवं गृहिणां भयोत्पादनात्, अत्राप्युदाहरणं-एकस्य गृहपतेर्गृहे पञ्चशतिकः साधुगच्छः स्थितवान्, तस्य च साधवः प्रतिदिनं भिक्षार्थं ब्रजन्तः शय्यातर-

गृहे प्रथममेव ( ऋकारणतो ) भिक्षां गृह्णन्ति, कालेन च स निर्धनो जातस्ततश्च तैः साधुभिर्गतैरन्ये समागतास्तैरपि तत्पार्श्वे मैव वमतियञ्चिता, +स ग्राह-अस्ति मे वसतिः, केवलं निर्धनोऽहमिदानीं, नाऽस्ति प्रथमभिक्षादानयोग्यं किमपीत्यतो न वसतिं दास्यामीति । साधुभिरुक्तं-शय्यातरभिक्षाऽस्माकं न कल्पतेऽतो देहि शय्यां, स (X) च पूर्वसाधुवचनाभिसंस्कृतमतिः एवं ग्राह-अस्मद्गृहाद्रिक्तभाजना निर्गच्छन्तो भवन्तोऽमङ्गलं स्युरतो न दास्यामीति, ततस्तं प्रज्ञाप्य कष्टेन गृहीतेति, एवं दुर्लभा शय्या भवतीति । तथा 'व्यवच्छेदो' विनाशो दानभयाच्छय्यायाः शय्यातरेण क्रियते, वसत्यभावाद्भक्तपान-शय्यादेर्वा व्यवच्छेदः स्यादिति । अथैते दोषाः प्रायः पिण्डान्तरग्रहणेऽपि समानाः, अतः कोऽत्र भावार्थः ? इत्यत्रोच्यते—

“पड्विंशिनिराकरणं, केई अन्नेऽग्निहीयगहणरस । तस्साउंटणमाणं, एत्थऽवरं बेत्ति भावत्थं ॥ १ ॥”

प्रतिबन्धनिराकरणं-साधुशय्यातरयोर्योऽत्यन्तोपकार्योपकारकभावेन स्नेहस्तन्निरासं, केचिदाचार्या, भावार्थं ब्रुवन्तीति योगः । अन्ये पुनराचार्या अगृहीतग्रहणस्य-साधुभिरस्वीकृतभक्तादिदातव्यद्रव्यस्य शय्यातरस्याऽऽकुण्टन-भावर्जनमहो !! निःस्पृहा एतेऽतो वसत्यादिदानतः पूज्या इति भावोत्पादनात् । तथा 'आज्ञां' आप्तोपदेशं, अत्र-शय्यातरपिण्डपरिहारे 'अपरे' अन्ये 'ब्रुवन्ति' आहु'भावार्थ' तात्पर्यमिति सप्रसङ्गं दोषद्वारं ७ । तथा तस्य पिण्डः कस्मिन् कारणजाते कल्पते ? तत्रोच्यते—

“दुचिहे गेलन्नमी, निमंतणे दव्वदुल्लभे असिचे । ओमोयरियपओसे, भएण गहणं अणुनायं ॥ १ ॥”

द्विविधं ग्लानत्वं-अत्यागाहमनागाढं च, तत्राऽत्यागाढे क्षिप्रमेव प्रायोग्यद्रव्यग्रहणं कर्त्तव्यं, अनागाढे त्वन्यत्रालाभः शब्दोऽयं मां. अ. प्रतिकृत्योरेव । + “स तान्प्रत्याह-” य० । X केवलं मां० प्रतावेवायं पाठः । † “प्रायोग्यग्रहणं” प० अ० ह० क० ।

एवेति । निमन्त्रणेऽपि तदभिष्टुखं वक्तव्यं-कार्यं ग्रहीष्यामः, न पुन 'न कल्पत' इति ब्रुवते, यदाह—“ कञ्जमि छंदिया-  
धे-त्थिमो त्ति न य बेंति उ अकप्पं”ति । निर्बन्धे च प्रसङ्गनिषेधयतनया शुक्लन्त्यपि । दुर्लभद्रव्ये च द्रुतादावन्य-  
त्राऽलभ्यमाने ग्लानादिकारणे ग्रहणमनुज्ञातं, तथा “ओमऽसिवे पणगाइसु, जइऊणमसंथरे गहणं ।” तथा ब्रह्मेषो  
राजादेः, तत्र च “उवसमणहूपडुडे, सत्थो वा जा न लभए ताव । अच्छंता पच्छन्नं, गिणहंति भए वि  
एमेव ॥ १ ॥ ” चौरादिसम्बन्धनि ८ । यतनाद्वारमप्यत्रैव भावितं, यद्वा—“ तिक्खुत्तो सक्खित्ते, चउद्धिसि  
मग्गिऊण गीयत्थो । दव्वंमि दुल्लभंमी, सेज्जायरसंतिए गहणं ॥ १ ॥” इति यतनाद्वारव्याख्यानम् ९ । एवमे-  
कमाश्रित्योक्तं, यत्राऽप्यनेके पितृपुत्रादयः शय्यातरा भवन्ति तत्राऽपि यावन्तः स्वामिनस्तत्सन्दिष्टा वा, सर्वेऽप्यनु-  
ज्ञापनीयाः‡ यो वा तन्मध्येऽनतिक्रमणीयवचनो भवति, तस्यैव च पिण्डो वर्जनीयः, भद्रकप्रान्तादिदोषाच्छेषाणामपि १० ।  
इति लेशतः शय्यातरपिण्डविचारो, विस्तरस्तु ग्रन्थान्तरादवसेयः । अथ राजपिण्डविचारोऽयं—  
“सुहयाइगुणो राया, अट्टविहो तस्स होइ पिंडो त्ति । पुरिमेयरानमेसो, वाघायार्हीहिं पडिक्कुट्ठो ॥ १ ॥”

“सुहयाइगुणो राया, अट्टविहो तस्स होइ पिंडो त्ति । पुरिमेयरानमेसो, वाघायार्हीहिं पडिक्कुट्ठो ॥१॥”

मुदितादिगुण, आदिशब्दान्मूर्धाभिषिक्तादिपरिग्रहो, यदाह—  
“मुदिओ सुद्धंभिसित्तो, सुइओ जो होइ जोणिसुद्धो” उ । अभिसित्तो इयरेहिं, सयं व भरहो जहा राया ॥१॥”

‡ “छिंदिया” प० ह० क० य० । “छंदिया-निमन्त्रिताः” इति पर्यायः अ० । † “पृच्छनीयाः ।” इति पर्यायः अ० ।  
§ “सुइओ” ह० क० प० य० मां० । × “मातृपक्ष-पितृपक्षशुद्धः” इति पर्यायः अ० ।



‘राजा’ नृपस्तत्र च मुदितो मूर्द्धाभिषिक्तश्चेत्यादि-चतुर्भङ्गी, तत्र प्रथमो दोषाभावेऽपि वर्जनीयोऽसावितरेषु तु दोषस-  
म्भव एवेति । ‘अष्टविधो’ऽष्टमेदस्तस्य-राज्ञो भवति ‘पिण्डो’ भैक्षं, तद्यथा—

“असणाईया चउरो, वत्थं पायं च कंथलं खेव । पाउंछणगं च तथा, अट्टविहो राघपिंडो उ ॥ १ ॥”

“पूर्वेतराणां’मादिमान्तिमजिनसाधूनां’एय’राजपिण्डो व्याघातादिभिर्दोषैः ‘प्रतिक्रुष्टो’ निषिद्धो जिनैस्तथाहि—

“इसरपभिईहि तहि, वाघाओ खद्धलोहुदाराणं । दंसणसंगो गरहा, इयरेसि न अप्पमायाओ ॥ १ ॥”

‘ईश्वरप्रभृतिभि’र्धुवराजादिभिरादिशब्दात्तलवरमाडम्बिकादिपरिग्रहः, तलवरश्च राज्ञ उत्थासनिको बद्धपट्टः, माडम्बि-  
कस्तु संनिवेशविशेषनायकस्तैः प्रविशद्भिर्निर्गच्छद्भिश्च सपरिकरैस्तस्मिन्-राजकुले ‘व्याघातः’ स्वलना साधोस्तत्र प्रवेशस्य  
निर्गमस्य वा, अत एव भिक्षास्वाध्यायकार्याणामपि स्यात्, अमङ्गलबुद्ध्या हननं वा कोऽपि कुर्यात्सम्मर्दात्कायपात्राणां भङ्गो  
वा स्यात्, तथा ‘खद्ध’त्ति प्रचुरेऽबादौ लभ्यमाने यो ‘लोमो’ लुब्धता स खद्धलोमः, स च तत्र स्यात्तत्तत्शेषणाभ्ररणं स्यात्,  
तथा ‘उदाराणां’उदारदेहानां हस्त्यश्चस्त्रीपुरुषादीनां ‘दर्शने’ऽभिष्वङ्गो-दर्शनसङ्गः स्यात्, ततश्चाऽऽत्मविराष-  
नादयः स्युः, तथा चारिक-चौरा-भिमर-कामुकादिसम्भावनया राजकोपात्कुलगणसङ्घाद्युपघातः स्यात्, तथा ‘गर्हा’ निन्दा,  
यथाऽहो राजप्रतिग्रहमेते गर्हणीयमपि स्वीकुर्वन्ति, गर्हणीयता च तस्य स्मार्त्तरेवमुच्यते,—

“राजप्रतिग्रहदग्धानां, ब्राह्मणानां युधिष्ठिर ! । स्विन्नानामिव बीजानां, पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १ ॥”

“मुदितो मूर्द्धाभिषिक्तश्च १, मुदितो न मूर्द्धाभिषिक्तः २, मूर्द्धाभिषिक्तो न मुदितः ३, न मुदितो न मूर्द्धाभिषिक्तः ४” इति पर्यायः अ० ।

अथवाऽनभिष्वङ्गा यतयो भवन्ति, एते त्वष्टकल्याणवत्कथं गजवाज्यादिषु सङ्गं कुर्वन्तीत्येवंरूपा । अथैते दोषा मध्यम-  
जिनसाधूनामपि सम्भवन्तीति कथं तेषां तस्य ग्राह्यताऽपीत्यत आह—‘इतरेषां’ मध्यमजिनसाधूनां ‘न’ नैवैते दोषा भवन्ति, तु  
कुत ? ‘अप्रमादात्’ प्रमादाभावाद्धेतोस्ते हि ऋजुप्राज्ञत्वाद्दिशेषेणाप्रमादित्वेनोक्तदोषपरिहारसमर्था भवन्ति, इतरे तु  
ऋजुजड-वक्रजडत्वेन न तथेति राजपिण्डविचारः । तथा शय्याऽपि पिण्डवदोषरहितैव सेव्या, यदाह—

“मूलोत्तरगुणसुद्धं, थीपसुपंडगविविज्जियं वसहिं । सेविज्ज सन्वकालं, विवज्जए होंति दोसा उ ॥ १ ॥”

तत्रेयं मूलगुणैरशुद्धा वसतिर्यथा—

“पट्टीवंसो दो धा-रणी उ चत्तारि मूलवेलीओ । मूलगुणे हुववेया, एसा उ अहागडा वसही ॥ १ ॥”

‘पट्टीवंसो’ दो धा-रणी उ चत्तारि मूलवेलीओ यत्प्रतिष्ठोऽसावेव, चतस्रो मूलवेत्यो याश्चतुर्षु गृहस्य पाश्वेषु  
‘पृष्ठिवंशो’ मध्यवल्को ‘द्वे धारण्यो’ द्वे बृहद्वेल्यौ यत्तैर्युक्ता मूलगुणैरुपेता, एषा त्वियं पुनराधाय कृता वसतिराधार्मिकी-  
क्रियन्ते, एते सप्ताऽपि मूलगुणास्तैश्च साधुमाधाय कृतैर्युक्ता मूलगुणैरुपेता, एषा त्वियं पुनराधाय कृता वसतिराधार्मिकी-

त्यर्थः । उत्तरगुणाश्च द्विविधा भवन्ति—मूलोत्तरगुणा उत्तरोत्तरगुणाश्च, तत्रैते मूलोत्तरगुणाः—  
“वंसगकडेणुक्कंवण-छायणलेवणंहुवारंभूमी य । सप्परिकम्मा वसही, एसा मूलोत्तरगुणेसुं ॥ १ ॥”

अत्र बृहद्व्याख्या—‘वंसग’त्ति दण्डकाः ‘कडण’ति’ कटकदिभिः कुड्यकरणं ‘उक्कंवण’त्ति दण्डगोवरि ओलवणं+  
‘छायणं’ति’ दर्भादिनाऽऽच्छादनं ‘लेवणं’ति’ चिकखलेन कुड्ढाण लिपणं ‘हुवार’त्ति’ गृहद्वारस्य बाहल्यकरणमन्यस्य वा

× ‘वल्को’ य । ‘वलयुको’ मां । \* ‘यत्प्रविष्टो’ य । † “रुपपेता” प. ह. क. । ‡ “दण्डकोपर्युद्धपनं” मां० ।

विधानं 'भूमि'ति' भूमिकर्मं विसमाए समीकरणं ति बुचं होइ, एसा सपरिकम्मा वसही 'मूलूत्तरगुणेषु'ति मूलभूतो-  
 चरगुणेष्वित्यर्थः । एते च षष्टिवंशादयश्चतुर्दशाऽप्यविशोधिकोडिः, इमे पुण. उत्तरोत्तरगुणा विसोहिकोडि+विसया-  
 वमहीए उवघायकरा ।

“दूमिर्ग्रधुविग्रवासिर्ग्र-उज्जोविग्र्यं बलिकडो अवर्ता य । सितां सम्मट्टा वि य, विसोहिकोडिं गया वसही ॥ १ ॥”

अत्राऽपि वृद्धव्याख्या-‘दूमि’ति उल्लाहया-सेटिकादिभिः संसृष्ट्युक्तं भवतीति । ‘धूवि’ति दुग्ंध ति काउं  
 अगुरुमाईति सुगंधी कया । ‘वासि’ति पटवासकुसुमादिभिरपनीतदुर्गन्धभावा । ‘उद्योतिता’ रत्नप्रदीपादिभिः प्रकाशिता ।  
 ‘बलिकड’ति कृतकरादिवलिविधाना । ‘अवर्त्त’ति छगणमृत्तिकाम्यां जलेन चोपलिप्तभूमितला । ‘सिता’ केवलोद-  
 केनाऽऽर्द्धीकृता । ‘सम्मट्टा’ प्रमार्जिता, साध्वर्थयेति सर्वत्र प्रक्रमः । ‘विसोहिकोडिं गया वसहि’ति अविशोधिकोडौ न  
 भवतीत्युक्तं भवति, एतदनुसारतस्तु चतुःशालादिष्वपि मूलोत्तरगुणविभागो विज्ञेयः, यदाह—

“ चाउस्सालाईए, विन्नेओ एवमेव उ विभागो । इह मूलाइगुणाणं, सक्खा पुण सुण न जं भणिओ ॥ १ ॥”

“विहरंताणं पायं, समत्तकजाण जेण गामेसु । वासो तेसु य वसही, पट्टाहजुया तओ तासि ॥ २ ॥”

ततस्तासां वसतीनां साक्षाद्गणनमकारीति, अन्ये चाऽमी सामान्यतो वसतिदोषाः—

“कालाडंभंतुव-ट्टाणां अभिकंतो अणभिकंतो य । वज्जो य महावज्जा, सावज्जं महंस्पकिरियां य ॥ १ ॥”

ऋतुबद्धे वर्षासु वा यत्र वसतौ स्थितास्तत्रैव मासे चातुर्मासिके वा पूर्णेऽपि तिष्ठतां कालातिक्रान्ता भवति, ऋतुबद्धे यत्र मासकल्पो विहितस्तत्रैव वसतौ मासद्वयं, वर्षासु च यत्र चतुरो मासान् स्थितास्तत्रैवाष्टौ मासानपरिहृत्य यदि समागच्छन्ति तदोपस्थाना स्यात्, यदाह—

“उउ-वासा समईया, कालाईया उ सा भवे सेज्जा । सञ्चेव उवट्टाणो, दुगुणादुगुणं अवज्जेत्ता ॥ १ ॥”

अन्ये प्रतिपादयन्ति—यत्र वर्षीकालं स्थितास्तत्र यदि वर्षीकालद्वयमन्यत्र कृत्वा समागच्छन्ति तत उपस्थानदोषवती शय्या न भवतीति कल्पचूर्णिः । तथा यात्रदर्शिकार्थे विहिता शय्या यावत्का, सा यद्यन्यैश्चरकादिपाषण्डिभिर्गृहस्थैर्वा निषेविता भवति, तदनन्तरं च संयताः प्रविशन्ति, तदाऽभिक्रान्तेत्युच्यते, सैवाऽन्यैरपरिशुक्ता सती साधुभिः सेव्यमानाऽनभिक्रान्तेति । तथाऽऽत्सार्थं कृतां साधुभ्यो दत्त्वा स्वार्थमन्यां कुर्वतो गृहस्थस्य वज्जेति, यदाह—

“ अत्तऽट्टकडं दाउं, जईण अन्नं करेइ वज्जा उ । जम्हा तं पुव्वकडं, वज्जेइ तओ भवे वज्जा ॥ १ ॥”

तथा श्रमणब्राह्मणादीनां पाषण्डिनामर्थाय कृता महावज्या, तथा पञ्चानां श्रमणानामर्थाय कृता सावधा, तथा जैनसाधुनामर्थाय कृता महासावेद्येति, आह च—

“पासंडकारणा खल्ल, आरंभो अहिणवो महावज्जा । समणट्ठा सावज्जा, महसावज्जा य साहूणं ॥ १ ॥”

तथा या पूर्वोक्तकालातिक्रान्तादिदोषाष्टकवर्जिता स्वार्थं जिनबिम्बप्रतिष्ठार्थं वा कारिता धवलधूपनाद्युत्तरगुणवर्जिता च, साऽल्पक्रिया—शुद्धेत्यर्थः । अल्पशब्दस्याऽभाववाचकत्वाद्यदाह—

“जा खलु जहुत्तदोसे-हिं वज्जिया कारिया सयट्टाए । परिकम्मविप्पमुक्खा, सा वसही अप्पकिरियां उ ॥१॥”

तथा ह्यादिरहितैव शय्या सेवनीया, सा चैयं—

“श्रीवज्जियं वियाणह, इत्थीणं जत्थ ठाणरूवाणि । सद्दा य न सुव्वंती, ता वि य तेसिं न पेच्छंति ॥१॥”

तत्र स्थानस्वरूपमिदं—

“ठाणं चिट्ठंति जहिं, मिहो कहाईहिं नवरमित्थीओ । ठाणे नियमा रूवं, सिय सद्दो जेण तो वज्जं ॥१॥”

स्यात्कदाचिच्छब्दो न भवत्यपि विप्रकृष्टे, येन एवं ततो च्छब्दं स्थानं, अवर्जने त्वमी दोषाः—

“वंभवयस्स अशुत्ती, लज्जानासो य पीइवुट्ठी य । साहुतवो वणवासो !, निवारणं तित्थहाणी य ॥१॥”

तत्र हि ब्रह्मव्रतस्याऽगुप्तिर्भवति, प्रतिषिद्धव्रमतिनिवासात्, लज्जानाशश्च भवत्यसकृद्दर्शनेन प्रीतिवृद्धिश्च भवति, जीव-  
स्वाभाव्यात्, साधुतपो वनवास ॥ इति लोके गर्हा, निवारणं तद्रव्यान्यद्रव्याणां, तीर्थहानिर्लोकाप्रच्युरेति । तथा स्थाने रूपे

चाऽमी दोषाः साधूनां स्युर्यथा—

“चंक्रमियं ठियं मो-ट्टियं च चिप्पेक्खियं च सविलासं । सिंगारे य बहविहे, दट्ठं सुत्तेयरे दोसा ॥ १ ॥”

‘चंक्रमियं’ किलिकिञ्चित्-रमितमित्यर्थः ‘सुत्तेयरे’ति’ मुक्ताभुक्तभोगयोर्दोषाः स्मृतिकृतह्लादयः । तथा साब्बा-  
लम्बनाः स्त्रीणामप्यमी दोषाः स्युर्यथा—

“जल्लमलपंक्रियाण वि, लावन्नसिरी उ जहेसि देहाणं । सामन्ने वि सुखा, सयगुणिया आसि गिहवासे ॥१॥”

जलमलपङ्क्तितानामपि-बहलमलदिग्धानामपीति भावः, लावण्यश्रीयैषां साधूनां श्रामण्येऽपि सुरूपा तथैवमहं मन्ये-  
शतगुणा आसीद्गृहवास इति । तथा स्त्रीशब्दविषया यतीनामिमे दोषा भवेयुर्यथा—  
“गीयाणि य पडियाणि य, हसियाणि य संजुले य उल्लावे । भूसणसेदे राह-रिसए य सोऊण जे दोसा॥१॥”

साधुशब्दविषयास्तु स्त्रीणामप्यमी दोषा उत्पद्यन्ते, यथा—

“गंभीरजहरफुडविसय-गाहगो लुरसरो सरो जहेसि । सज्जायस्स मणहरो, गीयस्स णु केरिसो होइ ? ॥१॥”  
‘गम्भीरो’ महा‘न्मधुरः’ कोमलः ‘स्फुटविशदो’ऽत्यन्तव्यक्ताक्षरः ‘स्फुटविषयो’वा स्फुटार्थो ‘ग्राहको’ऽक्लेशेनार्थबोधकः,  
एतेषां कर्मधारयः, तथा ‘सुस्वरो’ +मालवकौशिकादिप्रधानस्वरानुरञ्जितः ‘स्वरो’ ध्वनिर्यथा-अमीषां स्वाध्यायस्याऽपि  
मनोहरो, गीतस्य, नु इति वितर्के, कीदृशो भवतीति । “एवं परोप्परं मो-हणिज्जदुव्विजयकम्मदोसेणं । होइ दढं  
पडिबंघो, तम्हा तं वज्जए ठाणं ॥ १ ॥” तथा—

“पसुपंडगेसु वि इहं, मोहानलीवियाण जं होइ । पायमसुहा पवित्ती, पुव्वभवऽब्भासओ तह य ॥ १ ॥”  
“तम्हा जहुत्तदोसे-हिँ वज्जियं निम्ममो निरासंसो । वसहिँ सेविज्ज जई, विवज्जाए आणमाईणि ॥ २ ॥”  
इति वसत्यधिकारः ।

तथा वत्तमपि पिण्डवहोषदुष्टं वर्जनीयं, तद्दोषाश्च प्रायस्तद्देवाऽवबोद्धव्याः, विशेषस्तु कश्चिदुच्यते-इह तावद्ब्रह्ममेकेन्द्रिय-  
+“मालवकौशिकादि” अ. । मालवदेशकादि” प. य. । “मालववेशिकादि” ह. । “मालवकौशिकादि” प्र० ।

विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियावयवनिष्पत्तिमेदात्रिविधं भवति । तत्रैकेन्द्रियावयवनिष्पन्नं कार्पासिकादि, विकलेन्द्रियावयवनिष्पन्नं कौशेयकादि, ऊर्णादिमयं तु तृतीयं, अत्र कारणग्राह्यं कौशेयकादि । एतदपि जघन्यमध्यमोत्कृष्टमेदात्प्रत्येकं त्रिविधं, तत्र जघन्यं-मृत्वपोतिकादि, मध्यमं चोलपट्ट-पटलकादि, उत्कृष्टं प्रच्छदादि, एतदपि पुनः प्रत्येकं यथाकृताल्प बहुपरिकर्मभेदा-त्रिधा भिद्यते, एतेषु च शुद्धिः पूर्व यथाकृतं ग्राह्यं, सर्वोपाधिविशुद्धन्वात्तस्य, तदलाभे चाल्पपरिकर्म ग्राह्यं, स्तोत्रदोषत्वात्तस्य, तस्याभावे बहुपरिकर्मापि ग्राह्यं, एतच्च सर्वमपि वस्त्रं गच्छगैरेताभिश्चतसृभिः प्रतिमाभि-रेपणाभिरित्यर्थः, गवेषणीयम् ।

“उच्छिष्ट १ पेह २ अंतर ३ उज्झियधम्मा ४” इति । तत्रोद्दिष्टा-यद्गुरुसमक्षं स्वयं प्रतिज्ञातं जघन्यादिकमेकेन्द्रियावयवनिष्पन्नादिकं वा वस्त्रं, तदेव गृहिभ्यो याचमानस्य स्यादिति, १ । प्रेक्षा नाम वस्त्रमवलोक्य त्रवीति साधुर्यथा-भोः श्रावक ! यादृशमिदं दृश्यते तादृशमिदं वा मे वस्त्रं देहि २ । तृतीया तु परिधानवस्त्रं प्रावरणवस्त्रं वा शय्याया अधस्तनवस्त्रमुपरितनवस्त्रं वाऽन्यद्भोक्तुकाममप्रेतनं च मोक्तुमनसं दातारमत्राऽन्तरे याचमानस्येति ३ । चतुर्थी पुनः स्वदेशं बहुवस्त्रदेशं वा गन्तुकामाः कार्पाटिकादयो यदुज्झन्ति बहुवस्त्रदेशे वा यत्प्रत्येकं लभ्यते, तद्याचितमयाचितं वा गृह्णतां स्यादिति ४ । जिनकल्पिकास्त्वामां मध्यादुपरितनद्वयादन्यतरयैवाऽऽददते, न त्वाद्यद्वयेनेति । तत्पुनः केन विधिना गच्छ-वासिन उत्पादयन्ति ? इति चेदुच्यते-यद्यस्य साधोर्वस्त्रं नास्ति स तत्प्रवर्त्तिसाधवे निवेदयति, सोऽपि च गुरुभ्यो, यथा-अमृत्स्य साधोरमृत्कं वस्त्रं नाऽस्तीति । गच्छे चैयं सामाचारी, यदुताऽऽभिग्रहिकसाधवो भवन्ति यथाऽस्माभिर्वस्त्राणि पात्राणि वाऽन्येन वा येन केनचिद्दस्तुना साधूनां प्रयोजनं तदानेतत्त्वं, तत आचार्यस्तेभ्यो निवेदयति, यथा-हे आर्या ! अमुकस्य

साधोरगुक्रं वस्त्रं नाऽस्तीति, अथ न सन्त्याभिग्रहीकास्ततः स एव मण्यते, यथा-त्वमेव स्वयोग्यं वस्त्रमुत्पादय, अथाऽऽवा-  
शकस्ततो योऽन्यः समर्थस्तं गुरवो व्यापारयन्ति । अथ कस्मिन् काल उत्पादयन्तीति चेदुच्यते-सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च कृत्वा  
भिक्षार्थमेव हिण्डमाना उत्पादयन्ति । यदि च तदा न लभन्ते, ततो द्वितीयपौरुष्यामपि गवेषयन्ति, तथाप्यलाभे प्रथमा-  
यामपि मृगयन्ति । यद्येवमपि न लभन्ते, ततो भिक्षार्थं व्रजन्तः सर्वेऽपि सङ्घाटका व्यापार्यन्ते, ततस्तेऽपि याचन्ते, तथाऽ-  
प्यलाभे बहूनि वा वस्त्राण्युत्पादनीयानि, ततो 'वृन्दसाध्यानि कार्याणी'ति कृत्वा गीतार्था अगीतार्थसहिता वाऽऽ-  
चार्यं मुत्तवा समुदायेनोत्तिष्ठन्ति, आचार्यस्तु यद्यपूर्वस्थानगृहचैत्यपरिपाटेऽन्यत्र +वस्त्रार्थमेव गृहेषु हिण्डते ततः प्रायश्चित्तं  
प्राप्नोति । उपयोगं च युगपन्निषीदनोत्थानादिविधिना कुर्वन्ति, तत्र च चिन्तयन्ति-किं प्रमाणं वस्त्रं गृहीतव्यं ? किं  
जघन्यं मध्यम-मुत्कृष्टं वा ? अथवा किं यथाकृत-मल्पपरिकर्म बहुपरिकर्म वा ? यद्वा कः प्रथमं याचितोऽवश्यं दास्यतीति ।  
कायोत्सर्गं च यो ज्येष्ठो गीतार्थो लब्धिमौश्च स प्रथमं पारयति, तथा 'यस्य च योग' इति X वचनोच्चारवेलायां 'यथाऽऽ-  
दिष्ट'मिति भाषते, तस्याऽभावे लघुरपि तादृश एव पारयति, स एव च पुरतो हिण्डते । गच्छन्तश्च दण्डकं भूमौ न स्थापयन्ति  
यावत्प्रथमो लाभः, वसत्यागमनं वा यावदित्यन्ये । इत्यादिविधिना च गृहं गतैरभावितश्रावको न याचनीयः, विपरिणाम-  
क्रीतादिदोषसम्भवात्, किञ्च-श्रावकाणामाचार एवाऽयं यदेषणीयमुद्धरितं स्वत एव प्रयच्छन्ति, यदाह—

“सङ्गुणं सह विभवे, साहूणं वत्थमाह द्वायव्वं । गुणचंत्ताण विसेसो, तत्थ वि जेसिं न तं अत्थि ॥ १ ॥”

+ “चैत्यपरिपाटिनिमित्तं च गतस्य कश्चिद्वस्त्राणि ददाति तदा कल्पन्ते” इति टिप्पितं अ पुस्तके । X “इति योगवचनो” अ० य० ।



तस्माधान्यन्यानि भावितकुलानि, तेषु दानफल-दातृगुणवर्णनं वर्जयद्भिर्याञ्चा कर्तव्येति, गत्वा च वक्तव्यो यः प्रभु-  
 र्थया-‘धर्मलाभो भोः श्रावक ! एष साधुजनस्तव समीपमागत ईदृशैर्वस्त्रैः प्रयोजनमस्ती’ति । ततश्चाऽनुग्रहं मम्यमानेन तेन  
 दर्शिते वस्त्रे मणितव्यं-‘कस्य सम्बन्धेतद्वस्त्रं ? किं वा भाविष्यति ? किं वा आसीत् ? किं वा भविष्यति ? कुत्र वाऽऽसी’दिति याचनावस्त्रे प्रश्न-  
 द्वयं विधेयं । तत्र कस्यैतत्प्रश्ने कथयत्येव प्राञ्जलभावो गुही, यथा-‘भवदर्थं कृतं क्रीतं धौतं वेत्यादि, अमुकेन वा इहाऽऽनीय  
 स्थापितं, येन तद्गृहे न गृह्णन्ति भवन्त’ इत्यादि । ततश्च साधोरविशोधिकोटि-विशोधिकोटिपरिज्ञानं स्यात्तत्स्वरूपं चेदं-  
 “तणविणणसंजयट्ठा, मूलगुणा उत्तरा उ पज्जणया ।” अस्य गाथादलस्य चूर्णिरियमर्थतः-वस्त्रनिष्पत्त्यर्थं यत्क्रियते,  
 यथा-तानं परिकर्मणं वानं चैते मूलगुणा-अविशोधिकोटिरित्यर्थः, संयतार्थं करोति, ये निष्पन्नस्य क्रियन्ते, ते उत्तरगुणा-  
 विशोधिकोटिरिति भावः, यथा-पज्जणं मोडणं +उण्पुंभणं धावनादयश्चैतान्वा संयतार्थं करोतीति । अत्र प्रेरकः-पज्जणं सज्जणं  
 च उग्गमकोटिं इच्छइ तणणं विणणं च विसोहिकोडिं ति । अत्राऽऽचार्यो ब्रवीति-हे प्रेरक !  
 “अत्तट्टयतंतूहिं, समणऽट्टXतओ अपाइय\* बुओ य । किं सो न होइ कम्मं, फासूण वि पज्जिओ जो उ ॥१॥”

‘फासूण चित्ति, स्वार्थविहितेनाऽपीत्यर्थः ।

“जह पज्जणं तु कम्मं, इयरमकम्मं सकप्पजु धोउ । अह धोओ वि न कप्पइ, तणणं विणणं च तो कम्मं ॥२॥”  
 तथा पूर्वोपभुक्ते वस्त्रे दर्शिते प्रष्टव्यं-‘किमेतदासीत् !’ । ततो दाता ब्रवीति-‘नित्यनिवसनं, यद्वा मज्जनवस्त्रं, यद्वा

+ “पुम्भः-निष्काशनमि”ति पर्यायः अ० । X भ्रमणार्थं । \* “अपाययित्वैव व्यूतः” इति पर्यायः अ० ।

राजदौवारिकं, यद्वा उत्सववस्त्रमिदमष्टकस्ये'ति । अत्र यद्वस्त्रं दर्शितं, यदि तस्य सदृशं वहमानं चाऽऽन्यदप्यस्ति दालुस्ततो गृह्यते, अन्यथा ग्रहणे तु गृह्यन्यद्युत्पादयति क्रीणाति वा, अन्यच्च नवसानो देहस्य वीवरस्य\* वा धूपनं कुर्यात् स्नानं वा कुर्यादित्यादिदोषजालं स्यात् । अथाऽपरिशुद्ध्यमानं दर्शितं तत्र ग्रष्टव्यं-किमेतद्भविष्यति ? क्व वा स्थाने इदमासीदिति । अत्राऽपि दाता यत्कथयति तत्समानापरवस्त्रे वहमानेऽवहमाने वा विद्यमान एव ग्रहणं कर्त्तव्यं, तदभावे तु त एवोत्पादनादयो दोषाः स्युः । एवं पृच्छाशुद्धं यदा कल्पनीयमिति निर्द्धारितं भवति, तदा द्वयोरप्यन्तयोगृहीत्वा सर्वतो निरीक्षणीयं, मा तत्र गृहिणां मणिर्वा सुवर्णं वाऽन्यद्वा रूपकादि द्रव्यं निबद्धं स्यात्ततः सोऽपि गृहस्थो भण्यते 'निरीक्षस्वै- तद्वस्त्रं सर्वतः' । एवं च यदि तेन मण्यादि दृष्टं, अथ न दृष्टं, ततः साधुरेव दर्शयति- 'एनम- पनये'ति । आह-गृहिणः कथिते कथमधिकरणं न भवति ?, उच्यते-कथिते स्तोत्रे एव दोषोऽकथिते

|    |    |    |
|----|----|----|
| दे | आ  | दे |
| मा | रा | मा |
| दे | आ  | दे |

तु उडाहादिर्महान् स स्यादिति । तथा-  
“नवभागकप्पणाए, पहसं वत्थं करित्तु जोएति । नाऊण फलविसेसं, गिणहंती अहव वज्जंति ॥ १ ॥”  
“चत्तारि देवयाभागा, दुवे भागा य माणुसा । आसुरा य दुवे भागा, मज्जे वत्थस्स रक्खसो ॥ २ ॥”  
“अंजणखंजणकहम-लित्ते सूसगभक्खिय अगिगिदिदुहू ।  
तुन्नि य कुट्टिय पज्जव-लीढे होह विवागु सुहो असुहो वा ॥ ३ ॥”

× “चेदन्यदप्यस्ति” अ. । + “अन्यवस्त्रपरिधानं कुर्वन्” इति पर्यायः अ० । \* “चीरस्य” प० ह० क० य० ।

“देवेसु उत्तमो लाभो, माणुसेसु य मद्धिमो । आसुरेसु य गेलन्नं, मज्जे मरणमाइसे ॥ ४ ॥”  
 एतेन च विधिना लब्धेषु वस्त्रेषु आगताः सन्तो गुरुणां समर्पयन्ति साधवः; ततो गुरवोऽपि यद्यस्य साधोर्वस्त्रं नाऽस्ति  
 तत्तस्मै प्रयच्छन्ति, अथवा यावतां साधूनां दातुमिष्टानि तानि नावस्तु भागेषु गमेषु क्रियन्ते, ततो यथाज्येष्ठं गृह्णन्तीति ।  
 तथा परिभोगकालेऽतिप्रमाणं वस्त्रं छिन्दानैर्भूलागा न छेत्तव्या, अमङ्गलत्वादिति याचनावस्त्रविधिः । निमन्त्रणावस्त्र-  
 विधिरप्ययमेव, नवरं-उपयोगे “जस्स य जोगो”ति वक्तव्यं । तथा सङ्घाटकेन विनिर्गतः कस्मिन्नपि कुले प्रविष्टः सन्केन-  
 चित्प्रमदादिना दातुविशेषेण महता सम्भ्रमेण भक्तपानाभ्यां प्रतिलम्भ्य वस्त्रेण निमन्त्रित एवं प्रश्नयति, यथा-‘कस्येदं ? किं  
 वाऽऽसीद्भविष्यति वा ? कुत्र चाऽसीत् ? केन वा कारणेन मयं दीयते ? इति । यद्येवं न पृच्छति तदा पूर्वोक्तदोषा आत्माभङ्गादयश्च  
 स्युः; तथा निमिच्चादिप्रश्नबुद्ध्या प्रदत्ते वस्त्रे गृहस्थस्य निमिच्चादिप्रश्ने तत्कथनाकथनादयो ये दोषाः सम्भवन्ति, तेऽपि स्युः ।  
 ततश्चाऽयमत्र भावार्थः-यदि कोऽपि मम पिताऽयं मम पितृसदृशो वाऽयमित्यादिपूर्वसम्बन्धेन, मम भ्राता-भर्ता-भ्रातृ-भर्तृ-  
 सदृशो वाऽयमित्यादिपश्चात्सम्बन्धेन वा ददाति, अन्येन वा निमिच्चादिप्रश्नपरिणामादिलक्षणेन कारणेन ददाति, तदा न ग्राह्यं,  
 यदा तु यूयं धर्मं कृतमतयस्ततश्च धर्मार्थं स्वर्गारम्भप्रवृत्तैर्गृहिभिर्दातव्यमेवेत्यादिकारणेन ददाति, तदा ग्राह्यमेवेति यस्त्रविधिः ।  
 तथा पात्रमप्येकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियावयवमयत्वभेदात्रिविधं भवति । तत्रैकेन्द्रियदेहनिष्पन्नं तुम्बकादि, विकले-  
 न्द्रियशरीरनिर्भूतं शङ्गशुत्पयादि, पञ्चेन्द्रियदेहावयवमयं कुतुप-दन्त-शृङ्गापात्रादि । अत्रौघतः प्रथममेव ग्राह्यं, तदपि तुम्बक-  
 दारु-मृत्तिकापात्रभेदात्रिविधं, एतदपि प्रत्येकं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात्रिविधमेव । तत्र जघन्यं उ(ओ)लङ्ककादि मध्यमं

मात्रकमुत्कृष्टं पतद्ग्रहः । पुनरप्येकैकं त्रिविधं—यथाकृत-मल्पपरिकर्म-बहुपरिकर्म च । पूर्वपूर्वाभावे चेहोचरोत्तरं ग्राह्यं, एतदपि चतसृभिः प्रतिमाभिर्गविषणीयं, ताश्चेमाः—“ उद्दिष्ट १ पेह २ संगय ३, उच्चियधम्मत्ति ४ । ” अत्र प्रतिमात्रयं प्राग्वन्नवरं—इह पात्राभिलापो वक्तव्यः । तृतीया पुनरेवं—“ संगइयं वा वेजइयं वा ” कस्याऽपि गृहिणः पात्रद्वयं भवति, स च तयोर्मध्यादेकैकस्मिन्दिन एकैकं वारकेण वाहयति । तत्र यद्वाहयति तत्साङ्गतिकं, यत्तिष्ठति तद्वैजयिकं, ईदृशं च कोऽपि साधुरभिग्रहविशेषाद्याचते । शेषविधिस्तु पात्रेऽपि यथासम्भवं वस्त्रवद्द्रष्टव्यः । तथा गृह्नन्तुं विधिं प्रयुङ्क्ते—  
“ दाहिणकरेण कोणे, घेतुत्ताणेण वासमणिबंधे । खोडेइ त्तिन्नि वारे, त्तिन्नि तले त्तिन्नि भूमिए ॥ १ ॥ ” तथा—  
“ तस-बीयादि व द्दुं, न गिल्हई गिल्हई य अदिट्ठे । गहणंमि उ परिसुद्धे, कप्पह दिट्ठेहि वि बहूहिं ॥ २ ॥ ”

उत्तरार्धस्याऽयं भावार्थः—ग्रहणे परिशुद्धे पश्चाद्यदि बीजादीनि बहून्यपि पश्यति तथापि गृह्णात्येव, न पुनः परिष्ठापयति प्रत्यर्पयति वा पात्रं, किन्तु षतनया तान्येवाऽऽस्फेटयति—यत्र न विराध्यन्ते तत्र च क्षिपतीति । मूलोत्तरगुणविभागश्चाऽय-  
मत्र—“ सुहकरणं मूलगुणा, पाए× निक्कोरणं च इयरे उ ” ति गाथादलं सुगममेव । किञ्च—  
“ सुवगरणं धरेज्जा, जेण न रागस्स होइ उप्पत्ती । लोणंमि य परिवाओ, विहिणा य पमाणजुत्तं तु ॥ १ ॥ ”  
“ सुवगरणं धरेज्जा, जेण न रागस्स होइ उप्पत्ती । लोणंमि य परिवाओ, विहिणा य पमाणजुत्तं तु ॥ १ ॥ ” कदाचिदेवंविधस्य

इति सप्रसङ्गगार्थः ॥ १०० ॥ आह—यद्येतदोषविप्रमुक्त एव यतिनाऽऽहारो ग्रहीतव्यस्तदा

तस्याऽप्राप्त्या बुभुक्षतो देहादेर्बीधा स्याद्यदाह—  
“ तुम्बकपात्रे बीजनिष्कासनम् ” इति प० अ० ।

“तं नत्थि जं न चाहह, तिलतुसमित्तं छुहा सरीरस्स । सन्निब्भं सबहुहा-इं दिति आहाररहियस्स ॥१॥” यतः-  
 “पंथसमा नत्थि जरा, दारिदसमो य परिभवो नत्थि भयं, छुहासमा वेयणा नत्थि ॥२॥” तथा  
 “गलह वलं उब्ब्याहो, अवेह सिद्धिहेह सयलवावारे । नासह सत्तं अरई, विवहुए असणरहियस्स ॥ ३ ॥”

ततश्च स्वर्गापवर्गान्बन्धनित्थनत्वेनाऽधःकृतचिन्तामणिकल्पद्रुमोपमानानामतिदुर्लभतरसच्चरणकरणव्यापाराणां कथं  
 हानिर्न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—  
 दी०—इत्येवं त्रिविधैषणाया-गवेपण-ग्रहण-शासमेदात्सप्तचत्वारिंशद्विधाया दोषा ‘लेशेन’ संक्षेपेण ‘यथागमं’ पिण्डनियु-  
 क्त्यादिग्रन्थानुसारेण मया ‘अभिहिता’ उक्ताः । एषु च दोषेषु गुरुलघुविशेषं-को दोषो गुरुः ? कश्च लघुस्तिथेवं स्वरूपं ‘शेषं च’  
 यदत्र नोक्तं-नामादिन्यास-दृष्टान्त-भङ्गक-विस्तरविचारणादिकं, तन् X ‘मुणे’जानीयात् सूत्रा-दागमादिति गाथार्थः ॥१०१॥

अथैतावद्योपरहितपिण्डस्याभावे मुनिः किं कुर्यादित्याह—

सोहितो य इमे तह, जइज्ज सब्वत्थ पणगहाणीए । उस्सगऽववायविऊ, जह चरणगुणा न हायंति ।१०१।  
 व्याख्या—‘शोधयन्’ विशुद्धपिण्डग्रहणार्थंमवलोकयन्, चः शब्दः प्राक्तनोपदेशापेक्षयोपदेशान्तरसमुच्चयार्थः, कानि-  
 त्याह-‘इमान्’ अनन्तरोक्तदोषां‘स्तथा’ तेन सर्वथा शुद्धाहाराप्राप्तौ +मनागशुद्धादितद्ग्रहणलक्षणेन-प्रकारेण ‘यतेत’ यतनां  
 कुर्यात् । कः?, सर्वत्र क्षेत्रकालादौ । कया करणभूतयेत्याह-पञ्चकहान्या, इहाऽकृतवीप्सोऽपि पञ्चकशब्दस्तदर्थसम्भवाद्द्वीप्सार्थो

X “मुने-जानीयात्” ह. क. । ‘मुणेज्ज’ जानीयादिति सङ्गतमिति मे मतिः । + “मनाकशुद्धाशुद्धादि” प. ह. क. अ. य. ।

व्याख्येयस्ततश्च पञ्चकेन पञ्चकेनाऽऽगमप्रसिद्धप्रायश्चित्तक्षणेन कृत्वा यका 'हानिः' स्वानुष्ठानव्ययो, व्येति चाऽशुद्धा-  
हारग्रहणादिनाऽपराधसम्भवे तच्छुद्ध्यर्थं विधीयमानमनुष्ठानं, नृपापराधे दीयमानदण्डद्रव्यवत्, सा पञ्चकपरिहाणिस्तया,  
एतदुक्तं भवति-सर्वथा शुद्धाहारस्याऽप्राप्तौ लघुगुरुपञ्चकप्रायश्चित्ताहं दोषदुष्टमाहारं गृह्णीयात्, तस्याऽप्राप्तौ लघुगुरुदशक-  
प्रायश्चित्ताहं दोषवन्तं, तस्याऽप्यभावे लघुगुरुपञ्चकप्रायश्चित्ताहं दोषदुष्टमित्यादि, न पुनः कारणोत्पत्तावपि गुरुगुरुतर-  
प्रायश्चित्तशोध्यगुरुगुरुतरदोषदुष्टमशनादि प्रथमत एवासेवेतेति । कः ? इत्याह- 'उत्सर्गापवादौ' कारणभावासद्भावौ 'वेत्ति'  
अवगच्छति यः स उत्सर्गापवादविद्वान्-सम्यगधीतच्छेदादिश्रुत इत्यर्थः । साधुरिति गम्यते । 'यथा' येन देहोपष्टम्भकरण-  
लक्षणेन प्रकारेण 'चरणगुणा' आवश्यकदयश्चारित्रधर्मा 'न' नैव 'हीयन्ते' हानिमुपगच्छन्तीति गाथार्थः ॥ १०१ ॥

इत्थं चाऽशठस्य यतनया प्रवर्तमानस्य विराधनाऽपि निर्जराफलैवेति प्रतिपादयन्नाह—  
दी०-'शोधयन्' विशुद्धिपिण्डार्थमन्वेषयन्, च शब्द उपदेशान्तरसमुच्चये, कान् ? इमान्-दोषान् । 'तथा' तेन-निर्दोषा-  
हाराप्राप्तौ मनागशुद्धस्यापि ग्रहणेन 'यतेत' यतनां कुर्यात्, कः ? सर्वत्र क्षेत्रकालादौ, कया ? पञ्चकहन्त्या, पञ्चकशब्दोऽत्र वीप्सया  
व्याख्येयस्ततः पञ्चकपञ्चकेन सूत्रप्रसिद्धप्रायश्चित्तक्षणेन या हानिः स्वानुष्ठानव्ययरूपा, कोऽर्थः ? सदोषाहारग्रहणाद्य-  
पराधशुद्धये विधीयमानानुष्ठानं, नृपापराधे दीयमानदण्डद्रव्यवत्, तथा । को यतेत ? 'उत्सर्गापवादवित्' कारणभावासद्भाव-  
विद्वान् यतिः, यथा, किं स्याद् ? इत्याह-चरणगुणा न हीयन्त इति गाथार्थः ॥ १०१ ॥ इत्थं चाशठस्य यतनायोगे निर्जरामाह-

十 “दोषदुष्टमाहारं गृह्णीयात्तस्याभावे” अ. ।

जाजयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिंसमग्गस्स। सा होइ निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्सा। १०२।

व्याख्या—या काचिद्विराधनेति योगः 'यतमानस्य' कारणिकसेवायामपि यथाशक्त्या गुरुदोषपरिहारेण प्रवर्तमानस्य साधो 'भवे'त्स्याद्विराधना'स्वानुष्ठानखण्डना, पुनः किंविशिष्टस्य साधोरित्याह—'सूत्रस्या'ऽऽगमस्य 'विधि'विधानमर्थ इत्यर्थः सूत्रविधि-स्तेन 'ममग्रो' युक्तस्तस्य गीतार्थस्येत्यर्थः, सा विराधना 'भवति'जायते 'निर्जराफला' कर्मविशोधिका । पुनरपि कथम्भूतस्य ? 'अध्यात्मं' मनस्तस्य 'विशोधि'र्यथौचित्येन प्रवर्तनाद्रागद्वेषाभावरूपा निर्मलता, तथा 'युक्तस्य' समन्वितस्येति गाथार्थः ॥ १०२ ॥

अथ ग्रन्थसमाप्तौ स्वनामाविष्करणगर्भं स्वप्रवृत्तेः स्वरूपं फलवत्त्वं च दर्शयन् ग्रन्थकारः कामपि बहुश्रुतप्रार्थनां कर्तुमिदमाह—  
दी०—या काचिद् 'यतमानस्य' कारणिकसेवायामपि यथाशक्त्या गुरुदोषपरिहारिणो यतेर्भवेद् 'विराधना' स्वानुष्ठान-  
खण्डना, कथम्भूतस्य ? 'सूत्रविधिसमग्रस्य' सिद्धान्तार्थसम्पूर्णास्य, सा विराधना भवति 'निर्जराफला' कर्मविशोधिका,  
कीदृशस्य सतः ? अध्यात्मं—मनस्तस्य विशोधि—र्यथौचित्याचरणाद्रागद्वेषाभावरूपा, तथा युक्तस्येति गाथार्थः ॥ १०२ ॥

अथ ग्रन्थसमाप्तौ ग्रन्थकारो निजनामग्रथनफलवदश्रुतप्रार्थनागर्भितं शार्दूलदृत्तमाह—

इच्चेयं जिणवह्छहेण गणिणा जं पिंडनिज्जुत्तिओ, किंची पिंडविहाणजाणकए भवाण सवाण वि ।  
वुत्तं सुत्तनिउत्तमुद्धमइणा भत्तीइ सत्तीइ तं, सबं भवममच्छरा सुयहरा बोहिंतु सोहिंतु य ॥ १०३ ॥

व्याख्या—इत्येतदनन्तराभिहितत्वेन प्रत्यक्षं यत्किञ्चिदुक्तं, तद्भव्यान् बहुश्रुता बोधयन्स्विति योगः । केनोक्तमि-

पिण्ड-  
विशुद्धि-  
दीक्षाद्वयो-  
पेतम्

॥ ९९ ॥

त्याह-‘जिनवल्लभेन’ जिनवल्लभनाम्ना साधुविशेषेण, किंविशिष्टेनेत्याह-‘गणिना’ व्याख्याप्रज्ञत्पुषधानोद्ग्रहनावाप्तगणि-  
लक्षणनामचिहेन, अथवा गुणगणः साधुगणो वा विद्यतेऽस्येति गणी, तेन, यत्पिण्डनियुक्तैर्येन्यत्रिशेषात् ‘किञ्चित्’  
स्तोत्रमात्रं, किमर्थमुक्तमित्याह-‘पिण्डविधानज्ञानकृते’ आहारविधिपरिज्ञानहेतोः, केषामित्याह-‘भव्यानां’ योग्यानां ‘सर्वे-  
पामपि’ साधुश्रावकव्यक्तिसद्व्रह्मणात्समस्तानामपि, श्रावकाणामपि पिण्डेषणाध्ययनार्थस्याधिकारित्वाद्यदाह आवश्यकचूर्ण-  
कारः-“सावओ पुण सुत्तओ अत्थओ य जहन्नेण अट्टपवयणमायाओ सिक्खइ, उक्कोसेणं सुत्तथेहिं जाव  
छब्बीवणियं, अत्थओ पिण्डेसणञ्जयणं, न पुण सुत्तओ वि”त्ति । ‘बुत्तं’ति ‘उक्तं’-प्रस्तुतग्रन्थरूपतया विरचय्य  
भाषितं । किंविशिष्टेन जिनवल्लभेनेत्याह-सूत्रनिबुक्तपुग्धमतिना, सूत्रे नियुक्ता-ऽऽगमे व्यापारिता पुग्धा-ऽनिपुणा भूति-बुद्धियेन  
स तथा तेन, अनेन च किलाऽऽस्मौद्धत्वपरिहारमाह । कया हेतुभूतया तेनोक्तमित्याह-‘भक्त्या’ प्रवचनबहुमानेन ‘सत्तीइ’त्ति  
च शब्दाध्याहाराच्छक्त्या च-स्वबुद्धिसामर्थ्येन, तदस्मदुक्तं ‘सर्वं भव्वं’ति जातिनिर्देशात् ‘सर्वान्’ समस्तान् ‘भव्यान्’  
योग्यान्, यद्वा सर्वमिति उक्तस्य विशेषणं भव्यमिति बोधयन्त्विति क्रियाया विशेषणं, भव्यानिति च प्रक्रमगम्यं, अमत्सरा-  
अद्वेषिणः, संज्वलनकषायोदये मत्सस्याऽपि सम्भवात्, न श्रुतधराणां प्रस्तुतविशेषणव्यवच्छेदाथसम्भव आशङ्कनीयः, दृश्यते  
चोत्तराध्ययनचूर्णो निर्गन्धविचाराणायामयमर्थः “नाण-पडिसेवणाकुसीलो” ज्ञानविराघनां करोति कालविनयबहुमाना-  
दीनि न सम्यक्करोति, तथा ज्ञानस्य ज्ञानिनां च निन्दाप्रद्वेषमत्सरादीनि करोतीत्यादि, बहुशपरिसेवनाकुशीलाद्यन्यतराश्च  
साम्प्रतसाधव इति । के ? इत्याह-‘श्रुतधरा’ आगमवेदिनो ‘बोधयन्तु’ ज्ञापयन्तु तथा शोधयन्तु चोत्सन्नार्थीपनयनेन निर्देपि

॥ ९९ ॥

स्वीद्वल्य-  
परिहारपूर्व-  
दूषणाप-  
नयनाभ्य-  
र्धना श्रुत-  
धरान्प्रति ।



कुर्वन्तु, च शब्दो बोधनक्रियापेक्षया समुच्चयार्थ इति शार्दूलच्छन्दोवृत्तार्थः ॥ १०३ ॥ समाप्ता चेयं पिण्डविशुद्धिप्रकरण-  
वृत्तिः । २८०० ग्रन्थाग्रं । प्रतिवर्णतो गणनया, न्यूनं सहस्रत्रयं शतद्वयेनेति ।

दी०—इत्येतत्पूर्वोक्तं जिनवल्लभाख्येन 'गणिना' उद्धृष्टभगवत्यङ्गादियोगेन यत् पिण्डनिर्मुक्तितो मूलग्रन्थात् 'किञ्चित्'  
स्वरूपमात्रं 'पिण्डविधानज्ञानकृते' आहारविधिपरिज्ञानहेतोः, केषां ? 'भव्यानां' योग्यानां सर्वेषामपि साधुश्राद्धादीनां  
'दुत्तं' प्रकरणरूपतया विरच्योक्तं, किंविशिष्टेन ? 'सूत्रनिर्मुक्तमुग्ध( शुद्ध )मतिना' सिद्धान्तव्यापारित+निपुणबुद्धिना, औद्ध-  
त्यपरिहारार्थमिदं । कयोक्तं ? 'भक्त्या' प्रवचनबहुमानेन 'शक्त्या च' स्वबुद्ध्यनुसारेण । तत्सर्वं महुक्तं भव्यं यथा भवत्येवं  
'अमत्सरा' ? अद्वेषिणः 'श्रुतधरा' यथार्थागमवेदिनो 'बोधयन्तु' शिष्यान् ज्ञापयन्तु 'शोधयन्तु च' उत्सृज्यापनयनेन निर्दोषं  
कुर्वन्तु इति गार्थार्थः ॥ १०३ ॥ समाप्ता चेयं पिण्डविशुद्धिदीपिका ।

[ वृत्तिकृतप्रशस्तिः ]—

आसीचन्द्रकुलोद्भूतिः शमनिधिः सौम्याकृतिः सन्मतिः, संलीनः प्रतिवासरं निलयगो वर्षासु सुध्यानधीः ।  
हेमन्ते शिञ्जिरे च शार्धरहिमं सोढुं कृतोर्ध्वस्थिति-र्मास्त्रच्चण्डकरे निदाघसमये चाऽऽस्तापनाकारकः ॥ १ ॥  
आदेयता तपस्त्याग-व्याख्यावृत्वादिसद्गुणैः । लोकोत्तरैर्विशालश्च, श्रीमद्वीरगणिप्रभुः ॥ २ ॥ [ शुग्मम् ] ।  
श्रीचन्द्रसूरिनामा, शिष्योऽभूत्तस्य भारतीमधुरः । आनन्दितमव्यजनः, शंसितसंशुद्धिसिद्धान्तः ॥ ३ ॥

+ " मुग्धो मूढे रम्ये " इति हेमानेकार्थोक्तः ।

संवत्त्रैर्निर्धानसिन्धुरधरासङ्ख्ये सिते मार्गके, चन्द्रे रुद्रतीर्थौ गणे खरतरे दुर्गे च मण्डोवरे ।  
प्राप्तं पुण्यवशाद्गुरोश्च कृपया सूर्यास्पदं सत्तमं, ते श्रीजैनमहेन्द्रस्वरिगुरवो जीयासुरूर्यां सदा ॥ १॥X



X वैश्विंशतितमायाः शताब्द्याः जैनशासनस्यासाधारणप्रभावकाः क्रियोद्धारविधायकाः श्रीमन्मोहनमुनीश्वराः संवत्त्रैत्रखनिधीन्दु-  
वत्सरे [ १९०२ ] वैक्रमे यत्तित्वेन दीक्षितास्तेषां श्रीपूज्यानां श्रीजिनमहेन्द्रस्वरिवराणामाचार्यपद्प्राप्तिसमयादिसूचकोऽयं पद्यो जैतारण-  
ग्रामस्थे श्रीसङ्घसत्के चित्कोये एकस्मिन्नेव क्षुल्लके पत्रखण्डे लिखितः समुपलब्धः ।

## शुद्धिपत्रकम्—

| पत्रम् | पृष्ठम् | पंक्तिः | अशुद्धम्    | शुद्धम्     | पत्रम् | पृष्ठम् | पंक्तिः | अशुद्धम्    | शुद्धम्      |
|--------|---------|---------|-------------|-------------|--------|---------|---------|-------------|--------------|
| ६      | १       | ८       | द्रव्यन्नि° | द्रव्यनि°   | ४३     | १       | १०      | ताड्यसि     | ताड्यसि      |
| १५     | २       | ४       | दुवजो       | दुवओजो      | ५४     | २       | ११      | सुट्ट       | सुट्टु       |
| १९     | २       | १       | आचरित्वा°   | आचरितत्वा°  | ५८     | २       | १०      | मने न       | मनेन         |
| २३     | १       | १       | हेतुत्वनु°  | हेत्वनु     | ६०     | १       | १       | मुवविट्टो   | मुवविट्टो    |
| २७     | २       | २       | मालवाकादे°  | मालवकादे°   | ६४     | २       | ६       | भणा°        | भणना°        |
| "      | "       | ३       | स्यादत्त°   | स्यात्त°    | ८१     | २       | ४       | घेतव        | घेतव         |
| २८     | २       | १०      | खगतवो°      | खगतवो°      | ९२     | २       | ९       | राधार्मिकी° | राधाकर्मिकी° |
| ३१     | २       | ६       | क्रियतीरपि  | क्रियती अपि | ९४     | १       | ११      | बहविहे      | बहुविहे      |
| ३९     | "       | १३      | पा न प्र°   | पानप्र°     | ९६     | १       | १       | यङ्गियच्छिा | यङ्गियच्छिा  |
| ४१     | "       | ३       | दट्टण       | दट्टुण      |        |         |         |             |              |

आसन्वतरं गच्छे, सुविशुद्धक्रियान्विते । नास्मा मोहनलालेति, क्रियोद्धारस्य कारकाः ॥ १ ॥

## इति पिण्डविशुद्धिप्रकरणं समाप्तम् ।

तच्छिष्यशिष्यपत्न्यास-गणिकेशरसन्धुनेः । शिष्यं हि गणिबुद्ध्यन्धि, ते प्रयच्छन्तु शं सदा ॥ २ ॥



आसन्वतररे गच्छे, सुविशुद्धक्रियान्विते । नाम्ना मोहनलालेति, क्रियोद्धारस्य कारकाः ॥ १ ॥

इति पिण्डविशुद्धिप्रकरणं समाप्तम् ।

तच्छिष्यशिष्यपंथास-गणिकेशरसन्धुनेः । शिष्यं हि गणितुद्धयबिंधि, ते प्रयच्छन्तु शं सदा ॥ २ ॥

आचार्यश्रीमद् विजयदानसूरीश्वरजी-जैनग्रन्थमाला-ग्रन्थाङ्क (११)  
श्रीमज्जिनवल्लभगणप्रणीता श्रीमच्चन्द्रसूरिविद्वता

## श्रीपिण्डविशुद्धिः

नं ५८ ११ ३१०

सकलागमरहस्यवेदी पूज्यपादाचार्य श्रीमद्विजयदानसूरीश्वरपट्टप्रभावक सिद्धान्तमहोदध्याचार्य श्रीमद्विजयप्रमसूरीश्वरविनेयावतंस  
न्यायानवाचस्पति प्रखरवक्त्रा आचार्य श्रीमद्विजयरामचन्द्रसूरीश्वर शिष्यरत्न मुनिश्रीतिलकविजयोपदिष्ट भाणवडवास्तव्य  
श्राद्धवर्त्य शापरीया धरमसीभाइ तनुज भाणजीभाइ तत्पत्नी च श्रीमती पुरीवाइप्रदत्त द्रव्यसाहाय्येन

प्रकाशिका-आचार्यश्रीमद्विजयदानसूरीश्वरजी-जैन ग्रन्थमाला. सुरत

वीर संवत् २४६५

विक्रम संवत् १९९५

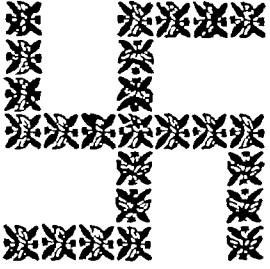
काइष्टस्य १९३९

मूल्यम् पादोनरूप्यकद्वयम्

प्राप्तिस्थानं-

आचार्यश्रीमद् विजयदान-  
स्वरीश्वरजी जैन ग्रन्थमाला

गोपीपुरा-सुरत



मुद्रक-

भगवानदास हरखचंद पण्डित  
“श्री शारदा मुद्रणालय”

खाफन गेट मद्र-अमदावाद.



## પ્રકાશકીય નિવેદન

આચાર્યશ્રીમદ્વિજયદાનસૂરીશ્વરજી—જૈનગ્રન્થમાલા તરફથી અત્યાર સુધીમાં ૧૦ ગ્રન્થો બહાર પડી ચૂક્યા છે અને ૧૧મા ગ્રન્થાક તરીકે 'શ્રી પિંડવિશુદ્ધિ' નામનો ટીકા સહિત આ ગ્રન્થ બહાર પાડવામા આવે છે.

સદરહુ ગ્રંથના મૂલકાર આચાર્ય શ્રીજિનવલ્લભસૂરીશ્વરજી મહારાજા છે. તે કયા ગચ્છના હતા, ક્યારે થયા, ક્યારે ક્યાં અને કોની પાસે દીક્ષા લીધી અને કેટલા વર્ષ સુધી સંયમની આરાધના કરી, ક્યારે આચાર્યપદ પ્રાપ્ત કર્યું તથા કહ્ સાલમા પ્રસ્તુત ગ્રન્થની રચના કરી તે સામગ્રીના અમાવે કહી શકાય તેમ નથી. પરંતુ સ્વરતરગચ્છવાલા કે જેઓ તેઓને જિનાજ્ઞાવિરુદ્ધ છ કલ્યાણકત્તુ પ્રતિપાદન કરનાર શ્રીજિનવલ્લભગણ તરીકે ઓઢઢવાવે છે તે વાત સત્ય નથી પરંતુ બીજા ગચ્છના છે. તે સંબંધમાં સદરહુ ગ્રન્થની પ્રસ્તાવનામાં સ્પષ્ટ રીતિએ સુલાસો કરેલ છે જે પ્રમાવના વાંચવાથી જણાશે.

સદરહુ મૂલ ગ્રન્થ ઉપર ઘણા આચાર્યોએ વૃત્તિ, અવચૂરિ, દીપિકા અને બાલાવબોધ કરેલ છે, પરંતુ આ મૂલ ગ્રન્થની વિસ્તૃત અને તલસ્પર્શિ ટીકા શ્રીશુજયમહાસ્થની વૃત્તિના કર્તા આચાર્ય શ્રીમદ્દનેશ્વરસૂરીશ્વરજીમહારાજાના શિષ્ય આચાર્યશ્રીમંચંદ્રસૂરીશ્વરજીમહારાજાએ ૪૪૦૦ શ્લોક પ્રમાણ ઘિ. સ. ૧૧૭૮ની સાલમાં કરી છે. પૃલે આ ટીકાની કૃતિ આઠસો વર્ષ પૂર્વેની છે અને તે હજી સુધી કોઈ પણ સંસ્થા તરફથી છપાઈને વહાર પડેલ નથી.

આ ગ્રન્થમાં ચારિત્રનો મૂલ આધારમૃત જે દેહ તેના પોષણમાં અત્યંત ઉપયોગી ઇવા પિંડાદિના ગુણદોષને સારી રીતે વતાવવામાં આવેલા છે

तेथी आ ग्रन्थनुं प्रकाशन निरतिचारित्रि पाळवानी इच्छावाळाओने अत्यंत उपयोगी थइ पडशे एम जाणी अत्यार सुधी अमुद्रित रहेल आ ग्रन्थ सदरहु सस्था तरफथी बहार पाडवामा आवे छे के जेनुं पठनपाठन करवा द्वारा, चारित्रिनी आराधना करनार संयमी आत्माओ तेमा बता-  
 वेल दोषोनुं निवारण करवामा पोतानी शक्तिनो उपयोग करी संयम मार्गने उत्तम रीतिए आराधी इष्ट सिद्धि जे मोक्ष तेने प्राप्त करशे एम अमो आशा राखीए छीए.

भाणवडवास्तव्य सुश्रावक शापरीया भाणजीभाई धरमसी तथा तेमनी पत्नी पुरीभाई व्याख्यानवाचस्पति आचार्यश्रीमद्विजयरामचन्द्र-  
 सूरीश्वरजी महाराजना शिष्यरत्न मुनिराजश्री तिलकविजयजी महाराजना सदुपदेशथी पोताना कल्याणार्थे पोताना उपार्जन करेल द्रव्यमाथी सन्मार्गे व्यय करी ज्ञानभक्तिद्वारा लाभ लेवा माटे अमुक रकम काढेली छे जेमांथी आ ग्रन्थ बहार पाडवामा आवे छे. तेओनी ईच्छा सदरहु रकममांथी परंपराए ग्रन्थो बहार पड्या करे एवी होवाथी आ ग्रन्थनी पडतर किंमत राखवामां आवी छे. आवी रीते ग्रन्थोना प्रकाशनमा सहाय करवा माटे उपदेश आपनार महात्मानो तथा सहाय करनारनो अत्यंत आभार मानवामां आवे छे अने अमो इच्छीये छीए के हजी पण तेओ ग्रन्थ प्रकाशनमा लक्ष्मीनो वधु फाळो आपी पुण्यना योगे मळेली लक्ष्मीनो लाभ उठावे.

आ ग्रन्थना सशोधनमां सिद्धान्तमहोदधि आचार्य श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराजना प्रशिष्य मुनिराज श्रीमानविजयजीए अत्यंत परिश्रम लीघो छे ते माटे पण आ संस्था तेमनी अत्यंत ऋणी छे.

वि. सं. १९९५

}

प्र. श्रावण सुद ३ सुरत

लि. संपादक

मास्तर हीरालाल रणछोडभाइ.

मुमसिद्धमेतद्विगच्छिता यद्दस्मिन्ननाद्यनिधनापारससारपारावारे सर्वेऽपि सुखार्थिन प्राणिनस्तदर्थमनवरत प्रयासं कुर्वाणा अपि तथाविधसुखप्राप्त्युपायसद्वैधाभावान्न परमानन्दरूप सुखमासादयन्ति परं यत्किञ्चित् सासारिकसुखं प्राप्नुवन्ति तदपि दुःखप्रागभावमात्रतया न तु दुःखाल्यन्तिकोच्छेदतया मुक्ताभासत्वात्तच्चतो दुःखमेव । तथाविधससारस्थितिं निरीक्ष्य पूर्ववृत्तीयभवे 'सर्वेऽपि प्राणिन सुखिनो भवन्तु' इत्येतद्भावनात्रलेन निकान्तितीर्थकरणामकर्मोद्दयात्तीर्थकराः केवलज्ञानप्राप्त्यनन्तरं तस्मात्सुपाय धर्मतीर्थस्थापनाद्वारेण दर्शयन्ति । स च द्विविधः, एको देशविरतिर्विक्रो दुरागान्यश्च समारवन्धनभावाच्चिरकालेनेष्टार्थप्रापकः, इतरस्तु सर्वविरतिः ऋजुः सुवाराध्यश्च ससारत्यागादचिरेण च निर्वाणपददायकः । अत एव ये केऽपि ऐकान्तिकशाश्वतिकसुखं प्रति अत्यंतस्पृहालवः ते द्वितीयः स्वीकार्यः अचिन्त्येन साध्यसाधकत्वात् । न केवलं वेपपरावर्त्तनरूपेण लिङ्गग्रहणेन कार्यसिद्धिः संसारे वम्भ्रम्यमाणैः संप्राणैरनेकशः तस्य प्राप्तवेऽपि निस्ताराजनकत्वात्, परं तदनुरूपानुष्ठानकरणैव । तदनुष्ठानाधारभूतं च शरीरं, यत उक्तम् 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्' । तच्च तदा संयमोपकाराय भवति यदा तदागमविहितशुद्धिपिण्डेन पुष्यते, यत 'याद्दगाहारेण देहोपष्टम्भः ताद्दगान्यवसायवान् जीवोऽपि भवती'ति लोकोक्तिः, ततः निरतिचारसंयमपालनद्वारेण अक्षयस्थानैषिभिः प्रथमं पिण्डगवेषणादिविधिविलोकनीया, सा च चिरन्तनाचार्यैः तत्रभवद्भिः श्रीदशवैकालिकश्रीपिण्डनिर्युक्त्वादिग्रन्थेषु संद्वधा । तत्र गाथाप्रमाणाधिक्यान्मन्दमेधाविना सुखेन मुखपाठकरणायात्यन्तोपयोगि श्रीपिण्डविशुद्धिसंज्ञकमिदं प्रकरणं त्र्युत्तरशतगाथात्मकं श्रीमज्जिनवल्लभसूरिभी

रचितं । प्रकरणस्यास्य कारका एते आचार्याः कदाऽभूवन् ? किगच्छीयाः ? के अमीषां गुरवः ? स्वजनुषा कां भुवमलंचक्रुः ? कदा कुत्र च पवि-  
त्रस्थले कृतमिदम् ? इत्येतन्निश्चेतु न शक्यम् सामग्र्युपलम्भाभावात्, परमेतत् सिद्धमेव यत्वरतैः 'एते श्रीजिनवल्लभसूरयः स्वगच्छीयाः' इति यदु-  
द्यूष्यते तत्तेषा स्वसम्प्रदायोत्कर्षल्यापनार्थं मिथ्याप्रलापमात्रमेव, यतः तेषा स्वोक्तिसंवादिनां जेसलमेरुदुर्गे श्रीसम्भवजिनालये उत्कीर्णां प्रशस्ति-  
विना न किञ्चिदन्यत् प्रबलं प्रमाणमस्ति, परं साऽपि न प्रमाणत्वेन स्वीकर्तुं योग्या, तदनुयायिभिः स्वगच्छस्य कृत्रिमोत्तमत्वोद्भावनार्थं निम्ननि-  
दिष्टानेकविधासत्त्वैरुद्भावितत्वात्, तानि चैवम्—

१ प्रशस्तौ खरतरविरुदं श्रीजिनेश्वरसूरिभिः प्राप्तमिति यल्लिखितं तच्छशशृगमिव प्रतिभाति, यतः तैर्यो विरुदप्राप्तिसमयः स्वकीयग्रन्थेषु प्रति-  
पादित. तस्मिन् समये विरुददातृश्रीदुर्लभसेनश्रीजिनेश्वरसूरीणा योग एवासम्भव. तेषां सत्तासमयस्य भिन्नत्वात् ।  
२ सतनवत्यधिकचतुर्दशशतसंवत्सरे प्रशस्तिः लिखिता अर्थात् श्रीजिनवल्लभस्य कालगमनसमयपश्चात् त्रिशतवर्षानन्तरं । एतत्त्रिशतीकालमध्ये  
खरतराचार्यैः अनेके ग्रंथा. संहब्धाः किन्तु नैकस्मिन् ग्रन्थे कुत्रचित् श्रीजिनवल्लभस्य श्रीपिण्डविशुद्धिकारकत्वविशेषण. उक्तः, तत एताव-  
त्कालानन्तरं नाममात्रसाम्यबलेन स्वमतसुल्यपुरुषल्यातिरल्यापनार्थं पाश्चात्यैः स्वमतावलम्बिभिरिदं प्रशस्तिपट्टकं स्वोत्प्रेक्षोल्लिखितं सम्भाव्यते  
अतः न प्रमाणक्षमम् ।

३ प्रशस्तौ पद्मावल्या यच्छ्रीमज्जिनेश्वरसूरय. नवागीवृत्तिकारश्रीअभयदेवसूरयश्चापि खरतरत्वेन दर्शिता तदपि स्वसम्प्रदायालीकग्रामाणिक-  
त्वोद्भावनार्थमेव यतः न कुत्रापि स्वकीयग्रन्थेषु तैः महात्मभिः खरतरगच्छमान्यस्य जिनागमविरुद्धस्य षट्कल्याणकस्य प्ररुपणा कृता प्रत्युत  
प्रमाणनिष्ठकितपचकल्याणकरूपणैव कृता, किंच न कुत्रापि आत्मना खरतरगच्छीयत्वं स्थापितं ।

पञ्चसुक्तप्रकारेण प्रशस्ते कपोलकल्पनामामूलकत्वात् श्रीजिनवल्लभगणखरतरस्य श्रीपिण्डविशुद्धिप्रकरणकर्तृत्वं दूरेऽपास्तम् ।

किञ्च श्रीपिण्डविशुद्धिप्रकरणस्यास्य रचयितार श्रीजिनवल्लभगणखरतराद् भिन्ना इत्येतत्साधकानि अन्यप्रमाणान्यपि सन्ति तानि चैवम्-  
श्रीसेनप्रश्न पत्र ४/१ प्रश्न २३ तमे भट्टारकश्रीमद्विजयसेनसूरिभिरेव प्रतिपादित यथा 'पिण्डविशुद्धिविधाता श्रीजिनवल्लभगणः खरतरो-  
ऽन्यो वा ' इति प्रश्नोऽत्रोत्तर-जिनवल्लभगणे खरतरगच्छसम्बन्धित्वं न सम्भाव्यते यतस्तच्छ्रुते पौपधविधिप्रकरणे श्राद्धाना जेमनाक्षरदर्शनात्

कल्याणकर्मोत्रे च श्रीवीरस्य पचकल्याणकप्रतिपादनाच्च तस्य सामाचारी भिन्ना खरतराणा च भिन्नेति ॥२३॥

अस्य प्रकरणस्योपर्यनैके पृथक् पृथक् टीकावचूरिदीपिकानालावबोधा कृता. परं न केनापि तत्कर्तृणा खरतरगच्छसम्बन्धिता प्रतिपादिता ।  
प्रस्तुतटीकाप्रकारा श्रीमचन्द्रसूरय. श्रीजिनवल्लभखरतरसमकालीनाः सन्तोऽपि प्रकरणकारस्य खरतरगच्छीयत्वं न सूचितवन्तः, यदि त-

न्यात्तर्हि तदवश्यमेव सूचितं स्यात् उत्सूत्रमपि श्रीजिनवल्लभखरतरस्य तत्प्रातकभीरुभिरवश्यं तादृशव्यपदेशयोग्यत्वात् ।

श्रीजिनवल्लभखरतरस्य कालग्रामनसमय वि. सं. ११६७, यदि तेनैवेदं प्रकरणं कृतं स्यात् तर्ह्येकादशवर्षात्मकातिस्तोककालानन्तरं वि.  
म. ? १७८तमे वर्षे इदं वृत्तिकरणं न सम्भवेद्यत श्रीजिनवल्लभगणः षट्कल्याणकाद्युत्सूत्रभाषित्वात् श्रीसंघाद् वहिष्कृतः तच्च खरतरैरेव  
स्वसप्तपट्टके भूषणत्वेन प्रतिपादितं न तु दूषणत्वेन । एव च शासनद्वेहकारिनिवीनमतोत्पादकस्य ग्रन्थ प्रमाणीकुर्वन्तः परमसूत्रानुसारि-

श्रीमचन्द्रसूरिमहाभागास्तस्योपरि वृत्ति कुरुरेतदपि सुबुद्धिपथं नावतरति ।  
ग्रन्थे न किञ्चिदुत्सूत्रं निबद्धमतएव वृत्तिकरणं न दोषाय, अपि च पाश्चात्यानामुपकाराय भविष्यतीत्येतदभिप्रायेण वृत्तिकारेः प्रयासः कृतः  
इति यदि सम्भाव्यते तर्हि कथं प्रान्तगाथावृत्तौ प्रकरणकर्तुः परिचयदर्शने, तस्य निश्चितस्वसमानकालवर्तिष्वपि, सधर्हिष्कृतत्वेपि षट्कल्या-

णकादिप्रतिपादनेनोत्सूत्रभाषित्वेऽपि न किमपि विशेषणत्वेन प्रतिपादितम् प्रत्युत बहुमानं दर्शितमेतदपि सूचयति यदस्य रचयितारः श्रीजिन-  
वल्लभसूर्योऽन्य एव.

एवं प्रदर्शितप्रमाणैरिदं फलितं भवति यदिदं प्रकरणं न श्रीजिनवल्लभखरतरकृतिः किन्तु अन्येषामेव.  
न केवलं खरतरैः स्वमतोत्कर्षार्थं जेसलमेरुदुर्गे एव श्रीसम्भवजिनालयप्रशस्ताविदमसम्भावितं लिखितम् परमनेकग्रन्थेषु एवं निबद्धं, तत्रप्रति-  
कारस्तु महोपाध्याय श्रीधर्मसागरगणिविरचिताया प्रवचनपरीक्षायां विस्तरतः कृतो विलोक्यते अतः तज्जिज्ञासुभिसत्रावलोकनीयम्, अपि च  
मुनिश्रीदर्शनविजयेन श्रीजैनसत्यप्रकाशसज्ञकभासिके ४ वर्ष १०-११ अंके 'फलवद्धितीर्थविषयिकनिबन्धे' यत् 'नाहटा' इति उपाधिधारकेण स्वोप-  
लब्धगुर्वावलयानुसारेण 'स. १२३४ फलवद्धिकायां विधिचैत्ये पार्श्वनाथ. स्थापितः' इत्यक्षरबलेन 'अब यह निस्सन्देह प्रमाणित हो जाता है कि  
पार्श्वनाथभगवान् की प्रतिष्ठा स. १२३४ में खरतरगच्छाचार्य श्रीजिनपतिसूरजी ने की थी' इति यल्लिखितं तत्र प्रामाण्यं विभर्ति इति तद्ब्रह्मका-  
नेकप्रमाणैर्दर्शितम् प्रत्युत तत्रप्रतिष्ठा श्रीवादिदेवसूरीश्वरैः स्वशिष्यद्वारा कारापिता इत्यपि प्रतिपादितम् । एतावता एतत् सिद्धं भवति यद् खरतरैः  
स्वगच्छोत्तमत्वस्थानुसारेण अनेकस्थले असम्बद्धप्रलापा उद्भाविताः, परं यथा चौर आत्मानं स्वाङ्गुल्याऽऽच्छादयितुम् न शक्नोति तथैव तेऽपि  
कूटलेखैः स्वेषिसतार्थं साधयितुं न शक्नुवन्तः ॥

एतादृक्प्रयासकरणे किं प्रयोजनं ? न च श्रीजिनवल्लभसूरीणां खरतरगच्छसम्बन्धित्वनिरासकरणेनापि शुष्मदभितगच्छसम्बन्धित्वं न साधितं,  
तथा च निष्फल एव श्रीमदीयः प्रयास इति वाच्यं यतः मया प्रथममेव उक्तम् यद् प्रकरणकर्तारः किंगच्छीया इत्येतन्निश्चिंतुं न शक्यम्, मम  
प्रयासस्तु खरतरा यद् वदन्ति 'पिण्डविशुद्धिप्रकरणकारकाः अस्मद्गच्छीयाः' तदसत्यं इत्येतद्ज्ञापनायैव आसीत्स च सिद्धस्ततः सफल एव ।

पिण्डोपज्ञाने अस्य प्रकरणस्यात्यन्तोपयोगित्वं ज्ञात्वा मन्दमेधाविनामुपकाराय श्रीमच्चन्द्रसूरीश्रीयशोदेवप्रमुखैस्तदुपरि वृत्तिदीपिकावचूरि-  
 चान्यवचोधाः कृता. परमयथावत् न केनापि तत्प्रकाशने परिश्रमः कृतः । गतवर्षे मोहमय्या पूज्यपादसिद्धान्तमहोदध्याचार्यश्रीमद्विजयप्रेमसूरी-  
 श्रे, पिण्डविशुद्धेर्दीपिकामवचूरि च विज्ञाय, पिण्डशुद्धिज्ञाने च तस्य उपयोगित्वमवधार्य, तत्प्रकरणस्य वृत्तिदीपिकाधन्यसामग्रीप्राप्तये मम प्रेरणा  
 कृता । गयाऽपि यथालभ्यदीपिकावचूरिवृत्तीनाम् प्रतयः प्राप्ता. । तासाम् मध्ये अस्याः श्रीचन्द्रसूरेः वृत्तेः सुकृतित्वं ज्ञात्वा तत्प्रकाशने मम  
 मनोरथो जातः ।

मुद्रणावसरे मग्नत्तिकस्यास्य ग्रन्थस्य सशोधनार्थं तिस्रो हस्तलिखितप्रतयो मयोपलब्धाः, एका पत्तनसंघहस्ताकलीवडीपाडाभण्डारसत्का पत्र  
 १३१ नि. सं. १५५१ वर्षे लिखिता, द्वे प्रती राजनगरडहेलाउपाश्रयभण्डारसत्के, एका पत्र १०९ वि. सं. १६७३ वर्षे लिखिता, द्वितीया पत्र  
 १२९ वि. सं. १५७५ वर्षे लिखिता । तिस्रः प्रतयः शुद्धयशुद्धिविषये प्रायः समाना एव, अत एव एकस्याः कस्या अपि प्रतेः प्रतिकृतयः सम्भा-  
 व्यन्ते, केवलं पत्तनमन्त्रायाः प्रान्ते प्रशस्ति. लिखिता साऽपि त्रुटिता एव । तिस्रः प्रतयः न शुद्धाः, तासु क्वचित् कुत्रचित् स्थले अशुद्धित्रुटित-  
 पाठाभिरुपाटादीनि दृश्यन्ते तत. यत्र यत्र स्थले अशुद्धिः त्रुटितपाठश्च सम्भावितस्तत्र तत्रासावेतत् चिह्नेन ( ) यत्र अधिकपाठः तत्र स एतत्संज्ञया  
 [ ] यत्र च अर्थस्य वैलक्षण्यं तत्र प्रश्नार्थचिह्नं दर्शितम् । यत्र च लेखकेन पाठो न लिखितः तत्र मयाऽपि तादृगेव रक्षितः ।

एतत्सुस्तकनतृणाम् उक्तभण्डारकार्यवाहकानां विशालौदार्यता धन्यवादास्पदीभूता एव ।

एतद्वृत्तिकौरेः ससत्तासमय. स्वगुरूणां नाम, गच्छनिर्देशः, वृत्तिरचनासमयः स्थलं च प्रशस्तौ दर्शितं, परं ततोऽधिकं स्वजन्मभूम्यादि तादृश-  
 मागम्रीवैरुल्यान शस्यते ज्ञातुम् । तैरेवमहोदयैः श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रवृत्तिः, पचोपांगवृत्तिः, निशीथविंशोद्देशकवृत्तिः जीतकरूपचूर्णविषमपदव्याख्या

इत्यादि पाण्डित्यपूर्णग्रन्था अन्येऽपि संबन्धाः, निर्णयिते अतस्तेषां वृत्तिरचनाया कौशल्यतिशयः । चेतश्चमत्कारकरी इयं वृत्तिः पुनः द्वादश-  
मशताब्दिकालीनत्वात्सुप्राचीना अत एव प्रकाशितासौ विदुषां सत्कारयोग्या भवितेति नात्र कश्चित्संदेहः ।

साम्प्रतं संयमसाधनप्रधानमूतदेहोपष्टम्भाय अनन्तज्ञानिनोपदिष्टविधिप्रचारः लुप्तप्राय एव दृश्यते । वस्तुस्थित्या तु यावत् पिण्डेषणाध्ययनादि  
न पठ्यते तावत् गोचरचर्यायामपि मुनिरधिकारी न भवति । वर्तमानसाधुसंस्थायां अस्य पिण्डविशुद्धिज्ञानस्य प्रसरो न तादृक्संबुद्धिजनकः,  
पिण्डगवेषणे तु का वार्ता । श्रीदशवैकालिक श्रीपिण्डनिर्युक्त्यादिग्रन्थाना पठनपाठनेन भाविता अपि यदा पिण्डप्रस्तावे अयतमाना उपेक्षाभावं भजन्तो  
दृश्यन्ते, तदा तु एतन्महाश्र्वर्यं यत उपलभ्यापि सुदुर्लभं भगवतोपदिष्टसंयममार्गं, अवाप्य च तथाविधं ज्ञानावरणक्षयोपशमेन सम्यग्ज्ञानं, श्रीतीर्थ-  
कराज्ञा सम्यग्ज्ञानतोऽपि स्वरूपकष्टसाध्यपिण्डविशुद्धिगवेषणायतनायां न स्वादरवन्तः प्रत्युत दोषान् प्रति उपेक्षां कुर्वाणा अवलोकयन्ते । अनैतन्न  
निश्चेतव्यं यत्र कोपि पिण्डविशुद्धौ यतमानः दृश्यते परं यतनावन्त अस्या एव । अत एव उद्गमादिदोषगवेषणायां या शिथिलता उपेक्षा च दरी-  
दृश्यते तद्वरीकरणार्थं स्वस्वगच्छनायकैः पिण्डनिर्युक्त्यादिशास्त्रानुसारेण रचितत्वात् पिण्डदोषज्ञानेऽत्यन्तोपयोगी । संयमाराधनायां मूलमूतदेहधारणाय आहा-  
सवृत्तिकग्रन्थः श्रीदशवैकालिकश्रीपिण्डनिर्युक्त्यादिशास्त्रानुसारेण रचितत्वात् पिण्डदोषज्ञानेऽत्यन्तोपयोगी । संयमाराधनायां मूलमूतदेहधारणाय आहा-  
रग्रहणं, न तु बलवीर्यादिवर्धनाय यत उक्तं 'अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ति साहूण देसिया । मोक्खमग्गस्स हेउस्स, साहुदेहस्स धारणा' ॥१॥  
श्रीमद्दृष्टिभद्रसूरिभिरपि भिक्षाष्टकप्रकरणे दोषवती भिक्षा संयमबलहारिणीत्विनोक्ता, तीर्थकैः द्विचत्वारिंशदुद्गमादिदोषदुष्टाहारस्य निषिद्धत्वात् ।  
तद्दोषज्ञानदर्शको अय ग्रन्थो अवश्यं पठनीयः, तत्करणेन च पिण्डग्रहणे उत्सर्गोपवादं विदन् शुद्धाहारेण संयमाधारमूतशरीरोपेषणद्वारेण निरतिचारं  
चारित्रं समाचरनुत्तरोत्तरं कर्मक्षयं कृत्वा निस्सीमानन्दास्पदं प्राप्नुयादिति ममेहा न शशशृङ्गायमाणा भूयात् ।



उपरोक्तपुस्तकत्रयानुसारेण सावधानीभूय यथाशक्ति संशोधितेऽप्यस्मिन् ग्रन्थे छद्मस्थभावानुसारिप्रमादवशात्, दृष्टिदोषवशात् सीसक्रयो-  
जकदोषवशाद्वा यत्र कुत्रचित्स्थले या काप्यशुद्धिर्वाचकानां दृष्टिपथमवतरेत् सा संशोध्य वाचनीया कोविदैरिति प्रार्थ्यते ।

एतस्मिन् ग्रन्थसंशोधने संग्रयस्थानापनोदार्थं ममात्यंतसाहाय्यीभूतानां परमगुरुदेव परमोपकारि द्रव्यानुयोगनिष्णात सिद्धान्तमहोदध्याचार्य  
श्रीमद्भिजयेप्रमद्वरीश्वराणां अनुग्रहोत्कटघं हृद्धिमर्शमर्यादासुल्लङ्घ्यमानमपि लेखिनीगोचरीकर्तुं किमिति न पार्यते मयका ।

एतद्ग्रन्थस्य प्रान्ते वाचकानां सुखेन मुखपाठोपयोगि मूलप्रकरणनिबन्धनमपि पृथग्योजितम् ।

वीर संयत् २४६५

पुण्यपत्तने प्र. भावणशुक्ल ३

व्याख्यानवाचस्पति आचार्यश्रीविजयरामचन्द्रसूरीश्वरपादारविन्द-  
भृङ्गायमानो मुनिमानविजयः

| पृष्ठ-पुंठी पंक्तिः | अशुद्धः           | शुद्धः             | पृष्ठ-पुंठी पंक्तिः | अशुद्धः          | शुद्धः           |
|---------------------|-------------------|--------------------|---------------------|------------------|------------------|
| २ २ ७               | सत्त्वतो          | सत्त्वतो           | ४ २ ११              | दोष              | दोष              |
| २ २ १०              | पेद्दा            | पेद्दो             | ५ १ ६               | लोल्य            | लौल्य            |
| ३ १ ३               | प्रतिकुप्यो       | प्रतिकुप्यो        | ५ १ ८               | अहे त्ति         | 'अहे' त्ति       |
| ३ १ ११              | दृष्टव्यमिति      | दृष्टव्यमिति       | ५ २ ४               | बुच्चइ           | बुच्चइ           |
| ३ १ ११              | 'तत्राहाकम्मत्ति' | तत्र 'आहाकम्म'त्ति | ५ २ १२              | स्थितिः          | स्थितिः          |
| ३ १ १३              | 'उद्देसियत्ति'    | 'उद्देसिय' त्ति    | ६ १ ४               | पर               | पर               |
| ३ १ १३              | उद्देशे           | उद्देशो            | ६ २ २               | पुनः शब्दश्च     | पुनः शब्दश्च     |
| ३ २ १               | निवृत्तं          | निवृत्तं           | ६ २ ३               | प्रतिषेधनादि     | प्रतिषेधनादि     |
| ३ २ ६               | प्रथमत            | प्रथमतः            | ६ २ ४               | स्यात्ताम्       | स्यात्तान्       |
| ३ २ ७               | 'पाउपर्यत्ति'     | 'पाउपर' त्ति       | ६ २ ६               | दोषा             | दोषा             |
| ४ २ २               | तेन               | [तेन]              | ६ २ ९               | छलना             | छलना             |
| ४ २ ६               | यतेर्जीवं         | यतेर्जीवं          | ८ १ १३              | फासुकडं          | फासुकडं          |
| ४ २ ८               | स त्ति            | 'से' त्ति          | ९ १ २               | भूतत्वेनाप्राप्त | भूतत्वेनाप्राप्त |

| शुद्धः          | अशुद्धः        | पुंठी पंक्तिः | शुद्धः           | अशुद्धः         | पुंठी पंक्तिः |
|-----------------|----------------|---------------|------------------|-----------------|---------------|
| कर्मिकापरिहारे  | कर्मिकपरिहारे  | १६ १ ५        | कर्मिकपरिहारे    | कृत्येत्यर्थः   | ० १ ६         |
| आराहणा          | आहाराणा        | १७ १ ४        | निष्ठितमित्यर्थः | निष्ठितमित्यस्य | ० १ १२        |
| कदाचित्         | कथाचित्        | २० २ १२       | मात्मनिमित्तं    | मात्मनि निमित्त | ० १ १३        |
| कयाइ            | मा कयाइ        | २२ २ ८        | भट्टयोर्भजनया    | भट्टयोर्भजनया   | ११ १ ४        |
| पयत्तो          | पयत्तयत्तो     | २३ १ ३        | अतिप्रसङ्ग       | यतिप्रसङ्ग      | ११ २ १०       |
| भुञ्जिउ         | भुंजउ          | २३ १ ५        | प्रतिषेधादीन्    | प्रतिषेधादीन्   | ११ २ ११       |
| साध्वाद्यर्थ    | साध्वाद्यर्थम  | २३ १ ११       | प्रतिषेवणादि     | प्रतिषेवणादि    | १२ १ ६        |
| गुस्तगु         | गृह्तोऽगु      | २३ २ ७        | न्यथाभाव         | न्यथा भाव       | १२ २ ४        |
| चैवं            | चैव            | २४ १ ५        | इतिशब्दाच्च      | इति शब्दाच्च    | १२ २ ५        |
| समाएस्          | समापसा         | २५ १ ५        | प्रतिषेवादय      | प्रतिषेवादय     | १३ १ १२       |
| (द्विष्टो)      | (द्विष्टो)     | २६ २ ९        | प्रतिषेवणा       | प्रतिषेवणा      | १३ २ १        |
| भोजनद्रव्य      | भोजनद्रव्य     | २७ २ १        | राजकथक           | राजाकथक         | १३ २ १३       |
| स्थितं तस्य     | स्थितस्तस्याः  | २९ १ १४       | प्रतिषेधादयश्च   | प्रतिषेधादयश्च  | १४ २ १०       |
| तंदुलीयक        | तंदुलीयक       | २९ २ ४        | प्रतिषेधादी      | प्रतिषेधादी     | १४ २ १२       |
| द्विगुलवणाद्ये- | द्विगुलवणाद्ये | २९ २ ४        | तत्वं            | तत्वं           | १५ १ ११       |
| लवणस्य          | लवणस्य         | २९ २ ७        | अतिचार           | अतीचार          | १६ १ २        |

| शुद्धः           | अशुद्धः         | पुंठी पंक्तिः | शुद्धः           | अशुद्धः         | पुंठी पंक्तिः |
|------------------|-----------------|---------------|------------------|-----------------|---------------|
| कृत्येत्यर्थः    | कृत्येत्यर्थः   | ० १ ६         | निष्ठितमित्यर्थः | निष्ठितमित्यस्य | ० १ १२        |
| निष्ठितमित्यर्थः | निष्ठितमित्यस्य | ० १ १२        | मात्मनि निमित्त  | मात्मनि निमित्त | ० १ १३        |
| मात्मनिमित्तं    | मात्मनि निमित्त | ० १ १३        | भट्टयोर्भजनया    | भट्टयोर्भजनया   | ११ १ ४        |
| भट्टयोर्भजनया    | भट्टयोर्भजनया   | ११ १ ४        | यतिप्रसङ्ग       | यतिप्रसङ्ग      | ११ २ १०       |
| यतिप्रसङ्ग       | यतिप्रसङ्ग      | ११ २ १०       | प्रतिषेधादीन्    | प्रतिषेधादीन्   | ११ २ ११       |
| प्रतिषेधादीन्    | प्रतिषेधादीन्   | ११ २ ११       | प्रतिषेवणादि     | प्रतिषेवणादि    | १२ १ ६        |
| प्रतिषेवणादि     | प्रतिषेवणादि    | १२ १ ६        | न्यथा भाव        | न्यथा भाव       | १२ २ ४        |
| न्यथाभाव         | न्यथा भाव       | १२ २ ४        | इति शब्दाच्च     | इति शब्दाच्च    | १२ २ ५        |
| इतिशब्दाच्च      | इति शब्दाच्च    | १२ २ ५        | प्रतिषेवादय      | प्रतिषेवादय     | १३ १ १२       |
| प्रतिषेवादय      | प्रतिषेवादय     | १३ १ १२       | प्रतिषेवणा       | प्रतिषेवणा      | १३ २ १        |
| प्रतिषेवणा       | प्रतिषेवणा      | १३ २ १        | राजाकथक          | राजाकथक         | १३ २ १३       |
| राजकथक           | राजाकथक         | १३ २ १३       | प्रतिषेधादयश्च   | प्रतिषेधादयश्च  | १४ २ १०       |
| प्रतिषेधादयश्च   | प्रतिषेधादयश्च  | १४ २ १०       | प्रतिषेधादी      | प्रतिषेधादी     | १४ २ १२       |
| प्रतिषेधादी      | प्रतिषेधादी     | १४ २ १२       | तत्वं            | तत्वं           | १५ १ ११       |
| तत्वं            | तत्वं           | १५ १ ११       | अतीचार           | अतीचार          | १६ १ २        |
| अतिचार           | अतीचार          | १६ १ २        |                  |                 |               |

| शुद्धः     | अशुद्धः    |
|------------|------------|
| द्रव्यं    | द्रव्य-    |
| द्रष्टव्य  | दृष्टव्य   |
| दृष्टो     | दृष्टो     |
| जईण्डा     | जईणठा      |
| द्यभिहृतं  | द्यभिहृतं  |
| द्यभिहृतं  | द्यभिहृत   |
| पगस्स      | पयस्स      |
| तेहि       | तेहि       |
| कवला       | केवला      |
| सम्भवः ?   | सम्भव !    |
| चालयन्ती   | चलयन्ती    |
| कोष्ठिका   | कोष्ठिका   |
| कोष्ठिका   | कोष्ठिका   |
| कोष्ठिका   | कोष्ठिका   |
| मपरिवहत्   | मपरिवहन    |
| कोष्ठिकादौ | कोष्ठिकादौ |

| शुद्धः          | अशुद्धः             |
|-----------------|---------------------|
| वेसण            | वसण                 |
| वेसनेन          | वसनेन               |
| भक्त्तपान       | भक्त्तापान          |
| शनादिना         | शनादीनां            |
| पायधरं          | पायधरं              |
| पूतीभूतं        | पूतिभूतं            |
| सत्वान्         | सत्वान्             |
| वानसत्त्वा      | वानसत्त्वा          |
| नन्तरस्वरूपं    | नन्तरं स्वरूपं      |
| स्थानस्थापना    | स्थास्थापना         |
| रूवेहि          | रूवेहि              |
| (द्विणः)        | (द्विणा)            |
| तदापमित्य       | तदपमित्य            |
| बुद्धीप         | बुद्धीप             |
| आपमित्यकं       | अपमित्यकं           |
| परिवर्त्तनीयद्र | परिवर्त्तिनी यद्द्र |

| शुद्धः              | अशुद्धः       | पुंठी पंक्तिः | शुद्धः | अशुद्धः | पुंठी पंक्तिः |
|---------------------|---------------|---------------|--------|---------|---------------|
| कौटुम्बिकस्य        | कौटुम्बिकस्य  | ५० १          | ५० १   | ५० १    | ५० १          |
| मानो                | मनो           | ५० २          | ५० २   | ५० २    | ५० २          |
| योगाद्यदिति         | योगाद्यदि     | ५१ १          | ५१ १   | ५१ १    | ५१ १          |
| सुल्यत्वा           | तल्यत्वा      | ५१ २          | ५१ २   | ५१ २    | ५१ २          |
| पि हु               | पिहु          | ५२ १          | ५२ १   | ५२ १    | ५२ १          |
| बृहज्जेलया          | बृहज्जेलया    | ५३ १          | ५३ १   | ५३ १    | ५३ १          |
| मनोज्ञे त्वऽद्धि    | मनोज्ञेऽत्वदि | ५३ २          | ५३ २   | ५३ २    | ५३ २          |
| कार्यः              | कायः          | ५४ १          | ५४ १   | ५४ १    | ५४ १          |
| दोसा                | दोषा          | ५४ २          | ५४ २   | ५४ २    | ५४ २          |
| तानैव               | तानैव         | ५५ १          | ५५ १   | ५५ १    | ५५ १          |
| श्रमणादि            | श्रवणादि      | ५५ २          | ५५ २   | ५५ २    | ५५ २          |
| दानात् (पञ्चाद् वा  | दानात्        | ५६ १          | ५६ १   | ५६ १    | ५६ १          |
| संस्तवः ११, विद्या) |               |               |        |         |               |
| निस्थामः            | निस्थामां     | ५६ २          | ५६ २   | ५६ २    | ५६ २          |
| स्नापयै-            | स्नापय-       | ५७ १          | ५७ १   | ५७ १    | ५७ १          |
| च(व)                | च             | ५७ २          | ५७ २   | ५७ २    | ५७ २          |

| शुद्धः             | अशुद्धः            | पुंठी पंक्तिः | शुद्धः | अशुद्धः | पुंठी पंक्तिः |
|--------------------|--------------------|---------------|--------|---------|---------------|
| कोष्टिकादि         | कोष्टिकादि         | ४४ १          | ४४ १   | ४४ १    | ४४ १          |
| गृहमध्यवर्त्तिभ्यः | गृहमध्यवर्त्तिभ्यः | ४४ २          | ४४ २   | ४४ २    | ४४ २          |
| यदुवचनस्य          | यदुवचनस्य          | ४५ १          | ४५ १   | ४५ १    | ४५ १          |
| भिक्षवा            | भिक्षां            | ४६ २          | ४६ २   | ४६ २    | ४६ २          |
| असुगंमि            | असुगंमि            | ४६ २          | ४६ २   | ४६ २    | ४६ २          |
| कोष्टिका           | कोष्टिका           | ४६ २          | ४६ २   | ४६ २    | ४६ २          |
| पहुत्तेणा          | पहुत्तेणा          | ४७ २          | ४७ २   | ४७ २    | ४७ २          |
| विपयान्छेद्ये      | विपयान्छेद्ये      | ४८ १          | ४८ १   | ४८ १    | ४८ १          |
| यथा                | यथा                | ४८ २          | ४८ २   | ४८ २    | ४८ २          |
| अज्जथेवं           | अज्जथेवं           | ४८ २          | ४८ २   | ४८ २    | ४८ २          |
| निषेध्यं           | निषेध्य            | ४८ २          | ४८ २   | ४८ २    | ४८ २          |
| निसंठति            | निसंठति            | ४९ १          | ४९ १   | ४९ १    | ४९ १          |
| स्त्रिपरद्विय      | स्त्रिपरद्विय      | ४९ २          | ४९ २   | ४९ २    | ४९ २          |
| रक्खणठा            | रक्खणठा            | ४९ २          | ४९ २   | ४९ २    | ४९ २          |
| च्छिन्नः           | च्छिन्नः           | ५० १          | ५० १   | ५० १    | ५० १          |
| च्छिन्नः           | च्छिन्नः           | ५० २          | ५० २   | ५० २    | ५० २          |

| पृष्ठः | पुंठी | पक्तिः | अशुद्धः       | शुद्धः             |
|--------|-------|--------|---------------|--------------------|
| ६८     | २     | ४      | पंचहि         | पंचहि              |
| ६८     | २     | ७      | बारवरिसिओ     | बारहवरिसिओ         |
| ६८     | २     | १४     | गयदिम्बो      | ग(हि)यदिम्बो       |
| ६९     | १     | ५      | नागरपहि       | नागरिपहि           |
| ७०     | २     | १२     | तावादी        | तावादि             |
| ७२     | १     | ११     | वसहीमाणीप     | वसहीमाणीप (मागयाप) |
| ७२     | २     | ६      | पयमि          | पयमि               |
| ७३     | २     | ६      | प तेसि        | पतेसि              |
| ७४     | १     | ४      | निव्वाहया     | निव्वेइया          |
| ८०     | १     | ९      | बुत्त         | बुत्तं             |
| ८०     | २     | ४      | भन्नादिना     | भन्नादिना          |
| ८०     | २     | ७      | गवेसणेसणादोसे | गवेसणेसणादोसा      |
| ८०     | २     | १२     | गहणैषणा       | ग्रहणैषणा          |
| ८२     | २     | ७      | कर मात्रं     | करं मात्रं         |
| ८२     | २     | १४     | गरिहियहि      | गरहिियहि           |
| ८३     | १     | ९      | सदैते         | सदेते              |

| पृष्ठः | पुंठी | पक्तिः | अशुद्धः      | शुद्धः       |
|--------|-------|--------|--------------|--------------|
| ५८     | १     | ४      | सौऽनर्थ      | सौ अन्तर्थ   |
| ५८     | १     | ८      | मवलभक        | मवलम्भक      |
| ५८     | १     | ४      | विशेषस्त     | विशेषतस्त    |
| ५८     | १     | १४     | स घु         | साधु         |
| ५८     | २     | ६      | भिक्खट्ट     | भिक्खट्ट     |
| ६०     | १     | ४      | (णीय)        | (जईण)        |
| ६१     | १     | ३      | वितथाकरणाद्  | वितथकरणान्   |
| ६१     | १     | ३      | सुशिक्षितः   | सुशिक्षितो-  |
| ६१     | २     | १०     | तभत्तं       | तभत्त        |
| ६२     | १     | १      | तदुर्मनस     | तत्र दुर्मनस |
| ६४     | २     | १२     | ब्रम         | ब्रूम        |
| ६६     | १     | १४     | दुद्वारे     | दुवारि       |
| ६६     | २     | ८      | विविहरूचं    | विविहरूचं    |
| ६७     | १     | ९      | धेतव्वो त्ति | धेतव्वो त्ति |
| ६७     | २     | १०     | वाहत्तरी     | वाहत्तरी     |
| ६८     | २     | १      | किस्स        | किस्स        |

शुद्धः  
 पङ्क  
 सङ्कतं  
 कुर्यात्  
 अतस्तुभिरं-  
 र्क्तव्यो  
 तत्तदासीदिति  
 विराधनाप्रत्ययं  
 विशोधिर्यथो  
 भवन्त्येवं  
 विधाइति

अशुद्धः  
 पङ्क  
 स कृतं  
 कुर्याद्  
 अतस्तुभिरं-  
 र्क्तव्यो  
 तदासीदिति  
 विराधना प्रत्ययं  
 विशोधिर्यथो  
 भवन्त्येते  
 विधाइति

पृष्ठः पुढी पक्तिः  
 १८ १ १४  
 १०२ २ ४  
 १०३ १ १  
 १०३ २ ९  
 १०४ १ ५  
 १०४ १ ९  
 १०६ १ ९  
 १०६ १ १०  
 १०६ २ १४  
 १०८ २ ८

शुद्धः  
 मुष्मिषविय  
 तत्संहतं  
 चोत्पाट्या  
 चासौ  
 गृह्यते  
 वृक्षाग्नि  
 साधारणस्यानिसृष्ट  
 द्रव्यं  
 संयोजना  
 श्रुत्सर्पणकारिणि

अशुद्धः  
 मुष्मिषवि य  
 तत्संहत  
 चोत्पाट्या  
 सौचा  
 गृह्यते  
 वृक्षाग्नि  
 साधारणस्य निसृष्ट  
 द्रव्ये  
 संयोजना  
 श्रुत्सर्पणकारि

पृष्ठः पुढी पक्तिः  
 ८७ १ ५  
 ८७ २ ५  
 ८७ २ ७  
 ८८ १ १४  
 ९० २ १३  
 ९१ १ ८  
 ९२ १ ४  
 ९५ १ ११  
 ९७ १ ८  
 ९७ २ ९



## आचार्यश्री विजयदानसूरीश्वरजी जैनग्रन्थमाला

| ग्रन्थाङ्क | नाम  | कि.       | ग्रन्थाङ्क | नाम  | कि.    |
|------------|--|-----------|------------|--|--------|
| १          | मौनएकादशी कथा पद्य                                   | ०-१-०     | ९          | श्रीप्रतिक्रमणसूत्रपदविवृत्तिः   | ०-६-०  |
| २          | यवराजर्षि कथा पद्य                                   | ०-१-३     | १०         | श्रीयोगशास्त्रमूलम् (आन्तरश्लोकैकरूपयोगि-<br>श्लोकैश्च समन्वितम्)                | भेट    |
| ३          | श्रीश्रीपालचरित्र पद्य                               | भेट       | ११         | श्रीपिण्डविशुद्धिः (सटीक)  | १-१२-० |
| ४          | उपधानविधि  | भेट       | १२         | श्रीजिनगुणगान-अमीधारा स्तवनावली  | भेट    |
| ५          | सामायिकसूत्र विधिसहित                                | भेट       | १३         | विविध प्रश्नोत्तर भा. २ जो (प्रेसमा छे)  |        |
| ×६         | श्रीनिशीथचर्णि सभाष्य साइक्लोस्टाइल्ड कोपी भा. १ भेट | भा. १ भेट | १४         | श्रीआवश्यकनिर्युक्तदीपिका (आ. श्रीमाणिक्यशेखर-<br>सूरिकृत) भा. १ लो (प्रेसमा छे) |        |
| ×७         | "  | भा. २ भेट |            |  |        |
| ×८         | "  | भा. ३ भेट |            |  |        |

प्राप्तिस्थान-मास्तर हीरालाल रणछोडभाई

ठे. आचार्यश्री विजयदानसूरीश्वरजी जैनग्रन्थमाला  
गोपीपुरा कायच मोहल्लो-सुरत.

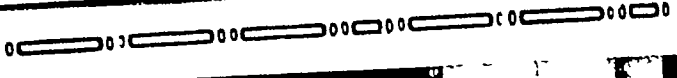
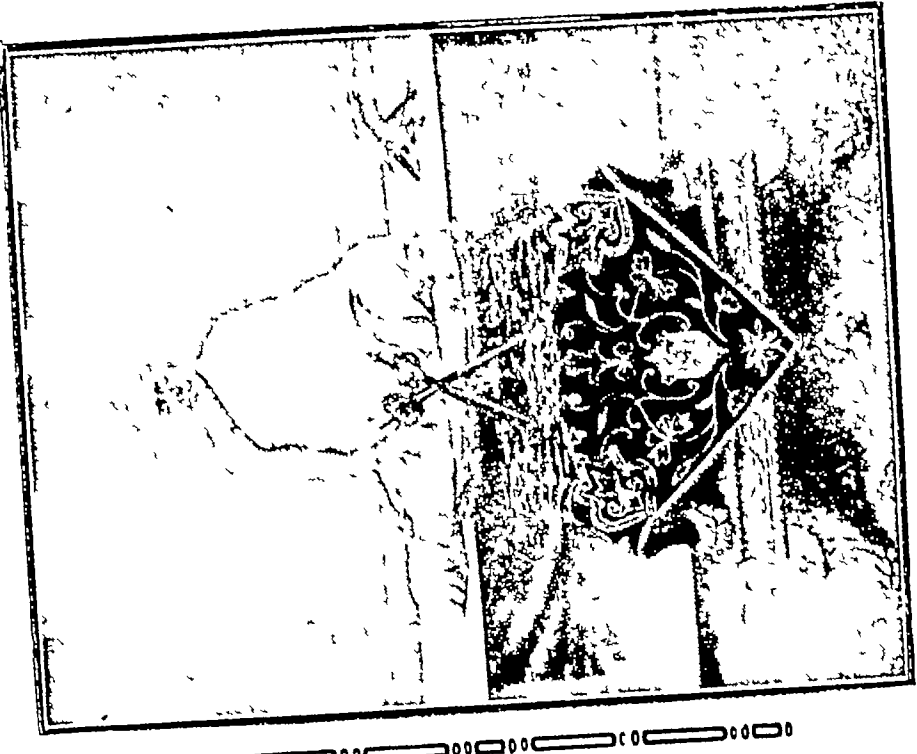
× आ निशानीवाला पुस्तको स्टोकमां नथी.

ता क-प्रत्येक पुस्तकनुं पोस्टेज अलग समजुं.





आ० श्री० विजयरामचन्द्रसूरीश्वरजी



आ० श्री० विजयदानसूरीश्वरजी



आ० श्री० विजयप्रेमसूरीश्वरजी



आचार्यश्रीमद्विजयदानसूरीश्वरपादपद्मेभ्यो नमः  
श्रीमज्जिनवल्लभगणिप्रणीता श्रीमचंद्रसूरिविद्युता

## श्रीपिंडविशुद्धिः

॥ ॐ नमो वीतरागाय ॥

नम्रानेकसुरासुराधिपशिरोमालाच्चितांहिद्वयं । लोकालोकविलोकिकेवलवशाज्जातार्थसन्निर्णयम् ।  
सचारित्रनिदेशकं, जितरिपुं स्वर्गापवर्गप्रदं । दुष्टारिष्टविवातकं जिनपतिं वीरं प्रणम्यादरात् ॥१॥  
श्रीमत्पाश्र्वजिनेन्द्रं च, विघ्नव्रातविघातिनम् । निःशेषकुमतध्वान्त-विध्वंसनदिवाकरम् ॥२॥  
शेषानपि नमस्कृत्य, जिनान् विगतकल्मषान् । श्रीगौतमादिसूरींश्च, भारतीं स्वगुरुंस्तथा ॥३॥  
शास्त्रान्तरदर्शनतो, वक्ष्येऽहं पिण्डशुद्धिशास्त्रम् । स्वपरकृते स्पष्टार्थां, वृत्तिं जिनवल्लभकृतस्य ॥४॥  
इह हि सर्वेणापि संसारिणा सत्त्वेनातिदुर्लभजिनधर्मान्वितं मनुष्यादिसामग्रीसद्भात्रमवाप्य तीर्थकरानुचीर्णपरोपकारे यतित-  
व्यम्, यस्मान्नगवान् भवाम्भोधिपारगाम्यपि परोपकारे यतते । स च न जन्तुहितोपदेशदानादपरः कश्चिच्छ्रेयतरः समस्ति । स च

सकलकर्म्मनिर्म्मूलनप्रवणपरमपदप्रापकसच्चारित्रपरिपालनगोचरः श्रेयान् । तच्च पिण्डविशुद्ध्यादियतनया प्रवर्त्तमानानामुपजायते विशुद्धाहारोपष्टम्भिभक्तदेहस्य चारित्रसाधकत्वात् । सा च न शास्त्रादृते सम्यग् विज्ञायते सुष्ठुभिः । यद्यपि च पूर्व्वसुनिप्रणीतचिरन्तनशास्त्रेषु सानेकथा स्थाने निरूपिता, तथापि नासावैदंयुगीनानां दुःषमकालबलेन परिधीयमाणमेधायुर्बलानां मानवानामत्यन्तोपकारायालमिति विभाव्य श्रीमल्लिनवल्लभाभिधद्युर्रैदंयुगीनप्रज्ञाधिकलमानवोपकाराय महार्णवकल्पात् पिण्डनिशुक्तिशाल्वात् ताम्बुद्ध्य पिण्डविषयविशुद्धिलक्षणप्रतिनियतार्थाभिधायकत्वाद्यथार्थनामकमल्यग्रन्थमहार्थं पिण्डविशुद्धिसंनिहितं शास्त्रं कर्त्तुमारभे । तत्र च शिष्टाः क्वचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तमाना विघ्नविनायकोपशमनाय विघ्नाभावेऽपि शिष्टसमाचारपरिपालनाय चेष्टेवतानमस्कारपुरस्सरं प्रवर्त्तन्ते । ततोऽयमपि तन्मार्गमनुसरन्निष्टेवतानमस्कारं प्रेक्षावब्लोतुजनप्रवृत्तयेऽभिधेयादि च वक्तुकामश्चादौ मङ्गलाद्यभिधायिकां गाथामाह ।

देविन्द्विन्द्वन्द्विन्द्व-पयारविन्देऽभिवन्द्य जणिन्दे । वोच्छामि सुविहियहियं पिण्डविसोहिं समासेण॥१॥

न्याख्या—जिनेन्द्रानभिवन्द्य पिण्डविशोधिं वक्ष्यामीति क्रिया । तत्र नानाजन्मादिदुःसहदुःखनिबन्धनरागादीनां जेतारो जिनाः सामान्यकेवलिनस्तेषामिन्द्राश्चतुस्त्रिंशदतिशयादिपरमैश्वर्ययुक्तत्वान्नायकास्तैर्थकरास्तान् । कीदृशान् इत्याह देवेन्द्रदृन्द्वन्द्वितपदारविन्दान् । तत्र पूर्वभवोपात्तशुभकर्म्मवशाथेष्टक्रीडाविचरिणवो देवा भवनपत्यादयोऽमरास्तेषामिन्द्राः शक्रास्तेषां वृन्दानि सङ्घातास्तैर्बिन्द्वानि नमस्कृतानि, पादाश्रणाः पदशब्दस्याह्निवाचकत्वात् एवारविन्दानि पद्मानि येषां ते देवेन्द्रदृन्द्वन्द्वितपदारविन्दास्ता- नभिवन्द्य प्रशस्तमनोवाक्कायैर्नमस्कृत्य वक्ष्याम्यभिधास्येऽहमित्त्वम् । सुविहिताः शोभनानुष्ठानविधातारो यतयस्तेषां हितोपकारि-

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
श्रद्धासूरीया  
दृष्टिः

त्वाद्योग्या तां, कामित्याह पिण्डविशोधिमिति । तत्र पिण्डनं पिण्डो मीलनमात्रम् । तच्च येषामस्ति तैः सहितस्यैवोपचाराद्भस्त्वनि  
 अपि पिण्डः । यद्वा पिण्ड्यत इति पिण्डः, पिण्डनीयं वस्तु, स च नामादिभेदरागमे यद्यप्यनेकधोक्तं, तथापीह संयमादिरूपभाव-  
 पिण्डोपकारकस्य द्रव्यपिण्डस्याहारादेर्ग्रहणम् । तस्य विशोधिऋत्मादिदोषरहिततया निर्मलता । तत उद्गमादिदोषलरूपपरिज्ञापनेन  
 पिण्डनिर्मलताकारिणी शास्त्रपद्धतिरपि पिण्डविशोधिरित्युच्यते । यद्वा विशोधिहेतुरुद्गमादिदोषपरिज्ञापनमप्युपचाराद्विशोधिस्ततः  
 पिण्डस्य विशोधिर्यस्यां शास्त्रपद्धतौ सा तथेति विग्रहस्ताम् । अथ पूर्वचार्यैरेव तस्या अभिहितत्वात् किं भवतो भणनेनेत्याह । समासेन  
 पिण्डस्य विशोधिर्यस्यां शास्त्रपद्धतौ सा तथेति विग्रहस्ताम् । अथ पूर्वार्थेन जिनेन्द्रनमस्करणान् मङ्गलमुक्तम् ।  
 संक्षेपेण । पूर्वार्थविस्तरेण सोक्ता मया तु वक्ष्यते स्तोत्रकक्षेत्रेणेति भावः । अत्र पूर्वार्थेन जिनेन्द्रनमस्करणान् मङ्गलमुक्तम् ।  
 पिण्डविशोधिं वक्ष्यामीत्यभिधेयमेतस्या एवात्र शास्त्रेऽभिधास्यमानत्वात् । सम्बन्धस्तूपायोपेयलक्षणस्तत्र प्रकरणमिदमुपाय उपेयं तु  
 पिण्डशुद्धिपरिज्ञानमिति । प्रयोजनं तु संक्षेपभणनरूपं शास्त्रकृतैवोपात्तम् । यद्वा कर्तुः श्रोतुः प्रत्येकमन्तरपरम्परभेदभिन्नं साक्षाद-  
 नुक्तमप्येतच्छ्रूयते । तत्रानन्तरं कर्तुः प्रयोजनं सत्त्वानुग्रहः, श्रोतुश्च प्रकरणार्थपरिज्ञानम् । परम्परं तु द्वयोरपि परमपदावाप्तिरिति ।  
 एतेन सर्वशास्त्रकाराणां प्रवृत्तिरनुश्रिता भवति, उक्तं च—सम्बन्धभिधेयपयोयणाहं तह मङ्गलं च सत्थंमि । सीसपविचिनिमित्तं  
 निविग्धत्थं च चिन्तेजा' ॥ इति गाथार्थः ॥१॥

पिण्डविशोधिं वक्ष्यामीति प्रतिज्ञातम् । तत्र मुमुक्षुभिः पिण्डस्य विशुद्धिरेव किमर्थं विधीयते येन तत् परिज्ञानाय तदभिधायकं  
 शास्त्रं कर्तुमारभ्यत इति पराभिप्रायं चेतसि निधाय शास्त्रकरणप्रयाससाफल्यप्रकाशनगर्भं यद्दोषविकलस्य पिण्डस्य शुद्धिर्भवति तान्  
 वक्तुकाम इमां तत्प्रस्तावनामाह ।

जीवा सुहेसिणो तं सिवम्भि तं संजमेण सो देहे । सो पिण्डेण सदोसो सो पडिक्कुट्टो इमे ते य ॥२॥  
 व्याख्या—पिण्डविशुद्धरेव सचारित्रं तस्माच्च विशिष्टसुखमोक्षप्राप्तिसच्छुद्धिश्च न ज्ञायते शास्त्रं विनेत्यस्य करणप्रयाससाफल्य-  
 भिति गर्भार्थः । अत्र च 'यश्च निम्बं परशुना(छिनत्ति), यश्चैनं मधुसर्पिपा(सिञ्चति), यश्चैनं गन्धमालाभ्यां(योजयति), तत्सर्वस्य  
 कटुरेव स' इत्यादाविव सर्वत्रानुरूपक्रियाभ्याहर्तव्या । ततश्च जीवाः प्राणिनः सुखलिप्सव इति यावद्वर्तन्ते ।  
 तदुक्तम्—'सन्वेवि सोवखकह्वी सन्वेवि हु दुक्खभीरुया जीवा । सन्वेवि जीवियपिया सन्वे मरणाउ वीहन्ति' ॥ तत्पुनः सुखमवि-  
 कलं परमानन्दरूपम्, कर्माभावेन सर्वोपद्रवरहितत्वाच्छिवो मोक्षस्तत्रैव सञ्जायते । यदुक्तम्—'नवि अत्थि माणुसाणं तं सोक्खं  
 नवि य सव्वदेवाणं । जं सिद्धाणं सोक्खं अब्बावाहं उवगयाणं' ॥ सांसारिकसुखं च दुःखप्रतीकारमात्रतया सुखाभिमानरूपत्वात्तत्त्वतो  
 दुःखमेवेति । ते पुनः शिवं जीवाः प्राप्नुवन्ति केनेत्याह संयमेन । पञ्चाश्रवाद्द्विरमणं, पञ्चेन्द्रियनिग्रहः, कषायजयो, दण्डत्रयविरति-  
 श्चेति संयमः सप्तदशभेद इति शास्त्रान्तरप्रसिद्धेन सप्तदशभेदात्मकेन चारित्रेण । यद्वा पृथिव्याद्युपमदीदिसंरक्षणात्मकेन सप्तदशभेदे-  
 नैव प्रकारान्तराभिहितेन क्रियानुष्ठानविशेषरूपेण संयमेन । स चायं—'पुहवि दग अगणि मारुय वणस्सइ बिति चउ पणिन्दि ९ अ-  
 जीवे १० । पेहा ११ पेह १२ पमज्जण १३ परिट्टवण १४ मणो १५ वई १६ काए १७ ॥' इत्यस्य श्लोकैः किञ्चित् स्वरूपमुच्यते ।  
 'इलाजलानलानिलाशखिनां दुःखरक्षणं । त्रिधा द्वित्रिचतुःपञ्चाक्षाणां हिंसाविवर्जनं ॥१॥ निर्जीवमपि यद्वस्तु हिंसाकरणसुन्दरं । वृण-  
 मद्यहिरण्यादि तस्यादाननिषेधनम् ॥२॥ प्रेक्षणं स्थण्डिलादीनामुपेक्षासंयमो द्विधा । तत्रैकः संयमोद्वेगे सीदतां प्रेरणं च यत् ॥३॥  
 अन्यः सावद्यव्यापारे गुहिणां चाप्रेरणं यत् । स्थानादिकरणे सम्यक् तद्भूमीनां प्रमार्जनम् ॥४॥ आहारोपधिष्ययानामशुद्धाधिक

भावतः । परिष्ठापनमन्त्रश्च मनोवाकाययन्त्रणम् ॥५॥' अलं प्रसङ्गेन, प्रकृतमुच्यते । सो देहेति स संयमः, देहेति विभक्तिव्यत्ययाद्दे-  
हेन शरीरेण सम्पद्यते देहसाध्यत्वात्तस्य, यदुक्तम्—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनमिति', स देहः पिण्डेनाहारेणोपष्टभ्यः, संयमोपकाराय  
जायते । सद्योपो वक्ष्यमाणोद्गमादिदोषवृन्दान्वितः स पिण्डः प्रतिशुष्टो निषिद्धो जिनादिभिरिति दृश्यम् । अथ क एते दोषा यैर्दुष्टो  
ऽसौ ग्रहीतुं निषिद्ध इत्याह । 'इमे ते य'त्ति, ते पुनर्दोषा आहाराशुद्धिरूपाणि दूषणानि इमे वक्ष्यमाणाः सम्भवन्तीति गाथार्थः ॥२॥  
साम्प्रतं प्रास्तावितपिण्डदोषावसरः । ते च द्वित्रित्वारिंशत् । यत उक्तम् 'सोलस उगमदोसा सोलस उप्पायणाए दोसा उ । दस  
एसणाए दोसा त्रायालीसं इय ह्वन्ति'त्ति । तत्र तावदाहारीद्रमविषयपोडशदोषान् यथानामग्राहं द्वारागथाद्द्वयेन वक्तुमाह—

आहाकम्मु१द्देसिय२ पूर्ईकम्मे य३ मीसजाए य४ । ठवणा५ पाहुडियाए ६ पाउय७ कीय८ पामिच्चे९ ॥३॥

परिअट्टिए १० अभिहडु ११ बिम्ने१२मालोहडे अ १३ अच्चिज्जे १४ ।

अणिसिट्टु १५ उज्जोयरए १६ सोलसपिण्डुगमे दोसा ॥४॥

व्याख्या—आधाकर्मादयोऽध्यवपूरकान्ताः पोडश पिण्डोद्गमविषया दोषाः स्युरिति गाथाद्द्वयस्य सम्बन्धः । इह च विभक्ति-  
लोपविभक्तिव्यत्ययानुस्वारलोपादिकं यत्र दृश्यते, तत्र सर्वत्र प्राकृतत्वात्तद्दृष्टव्यमिति न न्यूनाधिकत्वदोषो वक्तव्यः । 'तत्राहाक-  
म्मत्ति,' आधानमाधा, प्रस्तावात्साधुप्राणिनां यथाऽमुकस्मै साधवे इदं भक्तादि देयमित्यादिक्रियेति तत्त्वम्, यद्वा आधाय सङ्कल्प्य  
कर्म क्रियेति विगृह्य निरुक्तवशेन यकारलोपादाधाकम्मिकेऽयुद्गमदोषत्तद्योगान्द्रक्ताद्यपि १ । तथा 'उद्देसियति' अनुस्वारलोपादुद्देशे

यायदर्थिकादिप्रणिधानमित्युद्गमदोषस्तेन निवृत्तं तत्प्रयोजनं वेत्यौद्देशिकं भक्तादि । इह दोषभणनक्रमे यद्दोषवतो भक्तादेरभिधानं तद्दोषदोषवतोरभेदविवक्षणा ज्ञेया, एवमन्यत्रापि २ । 'पूर्वकामे यत्ति' उद्गमादिदोषरहिततया पवित्रस्य सतो भक्तादेरविशुद्धिकोटिक-  
तयाऽपवित्रेण भक्तादिनैव सह मीलनात् पुतेरपवित्रस्य कर्म कर्णमिति पूतिकर्म तद्योगाद्भक्ताद्यपि, चः समुच्चये ३ । 'मीसजाए यत्ति'  
मिश्रेण गृहिसाध्वादिप्रणिधानलक्षणभावेन जातं पाकादिभावमुपगतं मिश्रजातं, भक्ताद्येव, चः पूर्ववत् ४ । 'ठवणत्ति' स्थाप्यते साधु-  
दानाय किञ्चित् कालं यावन्निधीयत इति स्थापना भक्ताद्येव ५ । 'पाहुडियाए'त्ति एकारः प्रथमैकवचनार्थः, प्र इति विवक्षितकालात्  
प्रथमत, आ इति साध्वागमनलक्षणमर्यादया, भृताधारिता, यका भिक्षा, सा स्वाथिककप्रत्ययात् प्राश्रुतिका यद्वा प्राश्रुतं कौशलिकं  
तदिवोपचारसाधर्म्याद्यक्का भिक्षा सा प्राश्रुतिका ६ । 'पाउयरयत्ति' विसर्गलोपात् प्रादुः प्राकाश्यं तस्य करणं साध्वर्थविधानं प्रादु-  
ष्कारस्तद्विशेषितं भक्ताद्यपि ७ । तथा 'कीयत्ति' अनुस्वारलोपात् क्रीयतेस्म साध्वर्थायार्थदानादिना गृह्यतेस्मेति क्रीतं भक्ताद्येव ८ ।  
'पामिचेत्ति' अपमित्यं प्रामित्यं वा पुनर्हस्याम्येतत्तवेत्यभिधाय साध्वर्थाय गृहीतमुच्छिन्नमिति तत्त्वं भक्ताद्येव ९ । 'परियट्टिएत्ति'  
परिवर्तितं साध्वर्थाय कृतपरावर्त्तं भक्ताद्येव १० । 'अभिहडत्ति' अभि इति साध्वभिमुखं हृतं स्थानान्तरदानीतमभिहतमभ्याहृतमित्यर्थो  
भक्ताद्येव ११ । 'उडिभन्नेत्ति' उद्भेदनमुद्भिन्नं साध्वर्थाय कुतुपघटादेरुद्घाटनं तद्योगाद् भक्ताद्यपि १२ । 'मालोहडे अत्ति' माला-  
रिसक्कादेरपहृतं साध्वर्थमानीतं मालापहृतं भक्ताद्येव, चः समुच्चये १३ । 'अच्छिजेत्ति' अनिच्छतोऽपि पुत्रादेः सकाशात् साधुदानाय  
गृह्यते यत्तदाच्छेदं भक्ताद्येव १४ । 'अणिसिड्डत्ति' न निस्पृष्टं सर्वस्वामिभिः साधुदानाय नानुज्ञातमनिस्पृष्टं भक्ताद्येव १५ । 'अज्झो-  
यरएत्ति' अधीत्याधिक्येनावपूर्णं स्वार्थदत्ताद्रहणादेर्भरणमध्यवपूरः स एवाध्यवपूरकस्तद्योगाद् भक्ताद्यपि १६ । इतेषु गम्यमान-



त्वादित्येवं स्वरूपाः षोडशसंख्याः षिण्डोद्गमे षिण्डोत्पत्तौ दोषा भवन्तीति शेषः । एते षिण्डोद्गमदोषाः षोडशेति तत्त्वमिति द्वार-  
गायाद्वयार्थः ॥४॥

इदानीमाद्यद्वारव्याख्यावसरस्तत्राद्यद्वारोपात्तदोषस्याधाकर्मसंख्यस्य सान्वयं नामत्रयं भवति, यथाधाकर्म अथःकर्म आत्मघ्न-

मिति । तत्र क्रमेण त्रीण्यपि व्युत्पादयन्नादौ तावदाधाकर्मशब्दस्य व्युत्पत्तिमाह—

आहाए वियप्पेणं जईण कम्ममसणाइकरणं जं । छक्कायारम्भेणं तं आहाकम्मममाहंसु ॥५॥

व्याख्या—‘आहाएति’ आधायाः पर्यायमाह—विकल्पेन साधुभ्यो दास्यामि इति कृतेन सङ्कल्पेनेत्यर्थः, दायकेन यतीनां साधू-  
नामर्थयेति गम्यते । यत्कर्म अशनादिकरणमशनादेः पाकादिक्रिया क्रियत इत्यर्थः । कथं यत्कर्मेत्याह—पट्कायारम्भेण पृथव्या-  
दिपट्जीवनिकायोपमर्द्देन, तत्पृथिव्याद्युपमर्द्देद्भिभूतपचनादि, तद्योगात्तदशनादिकर्माधाकर्मोक्तवन्तस्तीर्थकरादयः । यद्वा आघयेति  
विकल्पेन, केषां सम्वन्धिन्येत्याह—यतीनामिति यतिदानसङ्कल्पेनेति तत्त्वम् । ‘कम्मं’ति कम्मं, किं तदित्याह—‘असणाइ करणं जं’ति,  
अशनादीनां भोजनप्रभृतीनां करणं निष्पादनं यत् पट्कायोपमर्द्देन गुहिणा क्रियत इति शेषः । तदिति साधुदानसङ्कल्पपट्कायारम्भ-  
निष्पन्नमशनादिकमाधाकर्मं भ्रुवते । इह च यद्यपि पट्कायारम्भेण यत् क्रियते गृहे वस्त्रादि तदप्याधाकर्मं स्यात् तथापीह तन्न  
ग्राह्यम्, षिण्डस्यैवाधिकृतत्वादिति गार्थार्थः ॥५॥

अधुनाऽधःकर्मरामघ्नशब्दोर्व्युत्पत्तिमाह ।

अहवा जं तर्गाहिं कुणइ अहे संजमाउ नरए वा । हणइ व चरणाथं से अहकम्म तमायहम्मं वा ॥६॥

व्याख्या—अथवाशब्दः पूर्वनामापेक्षया नामान्तरग्रकारद्योतको, यत् किमप्यशनादिद्रव्यं साध्वाद्यर्थं कृतं सत्कतृभूतं तद्ग्रा-  
हिणं साध्वर्थसङ्कल्पिताशनाद्यादायकं साधुं करोति विधत्ते अधोऽथस्तावत् कस्मादत्रधेयःकरणं तेन साधोरित्याह । संयमात् पृथिव्या-  
द्युपमर्दजपापादात्मनः संयमनं निरोधनं यस्मात् क्रियानुष्ठानविशेषात् स संयमश्चारित्रं तस्मात्, कोऽर्थः उत्कृष्टनिरतिचारचारित्रा-  
दुपलक्षणत्वाच्छुभ्लेश्यादिभ्यश्च अंशयति, जघन्ये तत्र व्यवस्थापयतीति यावत्तदधःकर्मत्युत्तरेण योगः, इत्ययं संयमादिभावमङ्गी-  
कृत्योक्तमधःकर्म । अथ जीवमाश्रित्य तद्वक्तुमाह—नरए वत्ति, वा विकल्पान्तरापेक्षया समुच्चये । ततो अथ इत्यधोगतौ नरके साध्व-  
र्धकृताशनादिभोजिनो यतेर्जीवं करोति नयति यत्पूर्वोक्तमशनाद्यधःकर्ममिति योगः । इहाधःकर्मदोपस्ततो यद्बुद्धानस्य साधोः  
स स्यात्तदपि तथोच्यते । तथा हन्ति विनाशयति, यदित्यनुवर्त्तते ततो यत्साध्वाद्यर्थं कृतमशनादि । वा स्थाप्यः, कमित्याह—चरणात्मानं  
चारित्ररूपं जीवं, कस्य सम्बन्धिनमित्याह—स चि तस्य साध्वर्थनिष्पन्नाशनादिग्राहिणः साधोः तत्पूर्वोक्तमशनाद्यात्ममिस्तुत्तरेण  
योगः । तथाहि—प्राणभूतघातं पाकादि कुर्वन् दाता करोति, ततस्त्विष्पन्नमाहारं यदा साधुर्गृह्णाति तदा स पुनः पुनस्तत्करोतीति  
परमार्थतः साधुरेवानुमोदनादिना तानि हन्ति, तदाता तु संयमरूपमात्मानं साधोस्तदेव हन्तीत्यात्ममनुच्यते । इहात्महननलक्षणो  
दोपस्तद्योगादशनाद्यपि तथेति । स्थापितवाशब्दश्चानुक्तार्थसंस्मृचको यथा ज्ञानदर्शनचारित्ररूपमात्मत्रयं साधूनामस्ति, तच्छेषद्वयं  
व्युच्छेद्य किमिति चरणात्मानं तस्य हन्तीत्युक्तमिति परारेकायां निश्चयनयमतमाश्रित्य चरणविधाते अवश्यं सिद्ध एव चरणफलत्वात्  
सयोरिति न तयोर्विघातः पृथगुक्तः । व्यवहारमतं प्रतीत्य चरणघाते इतरयोर्विनाशः स्याद्वा न च(वा) । यदाह—मिथ्यात्वं याति तदा  
न ते, तदभावे तु ते स्यातामिति चरणघातेऽपि तयोः सद्भावान्न तयोरुपादानमिति । 'अहकर्म तमायहम्मं वत्ति' व्याख्यातमेव

नवरं वाशब्दोऽयमभिधानसमुच्चयार्थः । इति गार्थार्थः ॥६॥

अथ जीवमाश्रित्योक्तस्याधःकर्मणो धैः करणभूतैर्जीवस्य तत्स्यात्तेषामाधाकर्मभोजिनां प्रतिनिवर्त्तनस्वरूपमाह । यद्वाधाकर्म-  
ण पदारमकर्मैति शास्त्रान्तरे नामान्तरं चतुर्थमस्ति, तद्व्याख्यातुमाह—

अट्टवि कस्माद् अहे बंधइ पकरेइ चिणइ उवाचिणइ । कस्मियभोई अ साहू जं भणियं भगवईए फुडं ॥७॥  
व्याख्या—इह किल जन्तुराद्युबन्धाभावेन चिरं सप्तविधबन्धक एव प्राप्यते । भवमध्ये च स्त्रायुषः त्रिभागाद्यवशेषे यदायुर्वभाति  
चारमेकं तदाऽष्टविधबन्धकः प्राप्यते । ततश्च कार्मिकभोजीत्युपलक्षणत्वादाधाकर्मिकभोजी, लोल्यनिःशुक्रत्वाभ्यां साध्वर्थकृताहारा-  
भ्यवहरणशीलः 'तच्छीलार्थेइन्प्रत्ययः' चकारेणानामोगतरस्तु तमभ्यवहरन्नपि न तथा बद्धवान् इत्याचष्टे । सायुर्व्यतिरिष्टावप्यष्टसङ्ख्या-  
न्यपि न केवलं सप्तैत्यपेक्षार्थः । कर्माणि ज्ञानावरणादीनि । अहेति अधोगतिविषयाणि नरकादिगतिगमनयोग्यानि बध्नाति प्रकृत्या-  
दिरूपतया निघत्तं यातीति कृत्वाधःकर्मोक्तं, आत्मनः कर्मबन्धनादात्मकर्मैति वा । अत्र च यत् किल भाविभवायुर्भवमध्ये वारमेकं  
पृथ्यते तदाप्यधोतरकादिगतिविषयमसौ बध्नाति । तद्वन्धे तु शेषाण्यपि सप्ताधोगतिविषयाण्येव तान्यसौ बध्नातीत्यष्टावपीति-सा-  
मस्त्येनोक्तम् । एतेन अष्टानामपि कर्मणां बध्यमानानामसायुक्तः । अथ तेषामेव पूर्ववद्धानामवस्थामाह—'पकरेइ चिणइ उवाचिणइ'ति  
आधाकर्मिकभोजी यतिः कर्माणि पूर्ववद्धानि प्रकरोति स्थितिरूपतया निर्व्वर्त्तयति दीर्घस्थितीन् कर्तुमारभते इति यावत्, तथा  
पिनोति अनुभागरूपतया तान्यभिवर्द्धयति, उपचिनोति, प्रदेष्टतया तान्युपचितानि करोतीत्यर्थः । अथेदं भुञ्जानोऽधः कर्माणि  
बध्नातीति किमन्यत्रापि कुत्रचिदुक्तमित्याह—यद्भणितं यदुक्तम्, भगवत्यां पञ्चमाङ्के, स्फुटं प्रगटं, तथा च तत्त्वं "आहा

कर्मं भुंजमाणे समणे निगंथे किं बंधइ किं पकरेइ किं चिणाइ किं चिणाइ ? गोयमा ! आहाकर्मं भुंजमाणे आउयवजाओ सत्त रुम्मपयडीओ सिद्धिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ, हस्सकालठिईयाओ दीहकालठिईयाओ पकरेइ, मंदाणुभावाओ तिब्वाणुभावाओ पकरेइ, अप्पएसग्गाओ बहुपएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ, असायावेयिणंजं च कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणेइ, अणाइयं च णं अणवयगं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतरं अणुपरियइइ । से कंणट्टेणं भंते एवं बुच्चइ आहाकर्मं भुंजमाणे जाव अणुपरिअट्टइ ? गोयमा ! आहाकर्मं भुंजमाणे आयाए धम्मं अइकमइ आयाए धम्मं अइकममाणे पुढविकायं नावकंखइ ५ जाव तसकायं नावकंखइ । जेसिंपि य णं जीवाणं सरीराइं आहारमाहारेइ ते वि जीवे नावकंखइ, से एणट्टेणं गोयमा एवं बुच्चइ, आहाकर्मं भुंजमाणे जाव अणुपरिअट्टइ” ति । इदं च सुगमं नवरं ‘आउयवजाउ ति’ यसादेकत्र भवग्रहणे सकृदेवा- न्तमुहूत्तमात्रकाल एवायुषो बन्धस्तत उक्तमायुर्वर्जा इति । ‘सिद्धिलबंधणबद्धाउ’ ति । श्लथबन्धनं स्पृष्टता तेन बद्धा आत्मप्रदेशेषु सम्बन्धिताः पूर्वविश्यायामशुभतरपरिणामस्य कथञ्चिदभावात् शिथिलबन्धनबद्धा एताश्चाशुभा एव द्रष्टव्याः । आधाकर्मिभोजिनिग्र- न्थस्य निन्दाप्रस्तावात् ताः किमित्याह ‘धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ ति’ गाढतरबन्धनबद्धाः प्रकरोति प्रशब्दस्यादिकर्मार्थत्वात् सकृ- कृदाधाकर्मभोजनेऽपि कर्तुमारभ्यते आधाकर्मभोजित्वस्याशुभयोगरूपत्वेन गाढतरप्रकृतबन्धहेतुत्वात् । आह च- ‘जोगा पयडिपएसं ति पौनःपुन्यसम्भवे तु तस्य ताः करोत्येवेति, तथा इस्सकालस्थितिकाः दीर्घकालस्थितिकाः प्रकरोति । तत्र स्थिति उपात्तकर्मणोऽ- वस्थानं, तामल्पकालां महतीं करोतीत्यर्थः । आधाकर्मभोजित्वस्य लौल्यनिमित्तत्वात् तस्य च कषायरूपतया स्थितिवन्धहेतुत्वात् । आह च- ‘ठिइअणुभागं कसायउ कुणइ’ ति तथा मन्देत्यादि, इहाभुभावो विपाको रस इत्यनर्थन्तरं ततश्च मन्दानुभावाः परिपे-

वरसाः स तीत्रानुभावा गाढतररसाः प्रकरोति आधाकर्मभोजित्वस्य कषायहेतुत्वात् । अनुभागबन्धस्य च कषायप्रत्ययत्वादिति ।  
 तथा अप्पपसेत्यादीति अल्पं स्तोकं प्रदेशग्रं कर्मदलिकपरिमाणं यासां तास्तथा ता बहुप्रदेशाः प्रकरोति । प्रदेशबन्धस्यापि योग-  
 प्रत्ययत्वादाधाकर्मभोजित्वस्य च योगरूपत्वादिति । तथा आउयं चेत्यादि आयुः पुनः कर्म, स्यात् कदाचिद्बध्नाति स्यान्नब-  
 ध्नाति । यस्मान्निर्मागावशेषायुषः परपरभवायुः प्रकुर्वन्ति तेन यदा विभागादिस्तदा बध्नाति अन्यदा न बध्नातीति । असायेत्यादि  
 तथा अमातावेदनीयं च दुःखवेदनीयं कर्म भूयो भूयो पुनः पुनः उपचिनोति उपचितं करोति । ननु कर्मसप्तकान्तवर्त्तित्वादसावा-  
 वेदनीयस्य पूर्वोक्तविशेषणस्य एव तदुपचयप्रतिपत्तेः किं तद्ब्रह्मणेनेत्यत्रोच्यते, आधाकर्मभोजी अत्यन्तं दुःखितो भवतीति  
 प्रतिपादनेन भयजननादाधाकर्मभोजित्वनिरासार्थमिदमित्यदुष्टमिति । 'अणाइयं' ति अविद्यमानादिकं अनवदग्रं अनन्तमित्यर्थः ।  
 अत एव दीर्घाद् 'प्रभूतमालं 'चाउरंति' चतुरन्तं देवादिगतिभेदाच्चतुर्विभागं तदेव स्वार्थेऽणप्रत्ययोपादानाच्चातुरन्तं संसारकान्तरं  
 भवारण्यं 'अणुपरिअइइत्ति' पुनर्भ्रमति । 'आयाए' ति आत्मना धर्मं चारित्रधर्मं श्रुतधर्मं वा । पुढविकायं नावकंखइ ति  
 पृथ्वीकायं नापेक्षते नानुकम्पत इत्यर्थः । इति गाथार्थः ॥७॥

एवं तावदाद्यद्धारोक्तदोषस्य नामान्यभिधाय अधुना तत् स्वरूपं सप्रपञ्चं व्यावर्णयितुकामः तत् प्रतिबद्धद्वाराणि निरूपयन्नाह-

तं पुण १ जं जस्स २ जहा ३ जारिस ४ मसणे य तस्स जे दोसा ५ ।

दाणे य ६ जहापुच्छा ७ छलणा ८ सुद्धी य ९ तह वोच्छं ॥८॥

व्याख्या-—तत्पुनर्यदिति, तदाथाकर्मशब्दवाच्यं यत्स्वरूपं घस्त्राशनादिकं स्मृत्तथा वक्ष्ये इत्युत्तरेण योगः । एवं शेषद्वारेण्यपि पर्यन्ते तथा वक्ष्ये इति योजनीयम् । पुनः शब्दश्च तस्यैवाथाकर्मण उत्पत्तिलक्षणस्य सम्भवस्य सूचनार्थं इत्येकं द्वारम् । तथा यस्य नुविशेषस्यार्थाय कृतमाथाकर्म भवतीति द्वितीयम् । तथा 'जहत्ति' यथा वैः प्रकारैः प्रतिषेधनादिभिराथाकर्मपरिभोगजन्यः कर्मबन्धः स्यात्ताम् वक्ष्ये इति तृतीयं द्वारम् । 'जारिसंति' यादृशं वैर्वस्तुभिः सदृशं लक्षणं ग्रहणं वाश्रित्य तत्सयात् साधुनामिति चतुर्थम् । तथा 'असणे य तसस जे दोसत्ति' अशने भक्षणे तस्याथाकर्मिकस्याशनादेर्ये केचनाज्ञाभङ्गादयश्चकारात्तद्ग्रहणमाश्रित्य संयमप्रतिघातकत्वाद्येऽतिक्रमादथश्च दोषा दूषणानि भवन्तीति गृह्यते, 'इति पञ्चमं द्वारम् । 'दोषे य' त्ति चकारस्तस्य दोषा इत्यस्यानुकर्षणार्थस्त आथाकर्मणो दाने गृहिणा वितरणे क्रियमाणे तस्य गृहिणो ये दोषा कृतिसत्कचरणघातादयो भवन्तीति षष्ठं द्वारम् । 'जहापुच्छत्ति,' यथा येन प्रकारेण अशनादिविषया देशद्रव्यकुलभावानुचिताशनादिलाभे आथाकर्मामिदिशङ्कायां पृच्छाप्रश्नः साधुना गृहस्थं प्रति क्रियते इति सप्तमं द्वारम् । 'छलणं' त्ति इत्थं प्रश्निताहारग्रहणादिना यत्मानेऽपि साधौ यथेत्यनुवर्तनाधथा छलना अशुद्धस्य ग्रहणं स्यादिति अष्टमं द्वारम् । 'सुद्धी य' त्ति श्रुतोपयुक्तेनाऽशठभावता यतिना छलनासद्भावादाथाकर्मणो ग्रहणे कृतेऽपि यथा तस्य शुद्धिः कर्मबन्धाभावेन निर्दोषतेति नवमं द्वारम् । चकारादाथाकर्मग्रहणं प्रति निर्दोषस्य रूपपरप्रश्नाचार्योत्तररूपं दशमं द्वारं गृह्यते । तथा तेन स्वरूपनिरूपणप्रकारेण वक्ष्ये अभिधास्य इति द्वारागाथासमासार्थः ॥८॥

अधुना यद्वस्त्राथाकर्म भवतीत्याद्यद्वारं व्याख्यातुमाह ।  
असणाद् चउब्भेयं आहाकर्ममिह विन्ति आहारं । पढमं चिय जइ जोगं कीरंतं निट्टियं च तहिं ॥९॥

व्याख्या—अशनमादिः प्रभृतिर्यां पानादिभेदानां अशनादयस्तत्राशनं क्षुण्डशाल्यादितंदुलविशेषप्रभृतिकं, पानमवटवाभ्या-  
 दिस्थं ब्रह्म, स्वादिभं चिचिणिक्काणुष्पनालिकेरादिकम्, स्वादिभं सुण्ठिहरीतक्यादिकम् । ततः अशनादयश्चत्वारः चतुःसङ्ख्याभेदा-  
 विशेषा यस्य स तथा तं, क्रमित्याह—‘आहारं’ति, तत्राहियते वृत्तिजननायासावित्याहारः समयभाषया पूर्वोक्त एवाशनादिस्तं आधा-  
 कर्मत्वाधाकर्मशब्दवाच्यं इहेति प्रवचने, यद्वा पिण्डशुद्धिप्रक्रमे, इतरथा साध्वर्थं यद्गृहादिकं चीयते वस्त्रादिकं वाऽऽप्यते तुम्बकादे-  
 श्च मुख्यादिकं यस्य क्रियते तदप्याधाकर्म भवतीति केवलं तन्न ग्राह्यमप्रस्तुतत्वात्, ब्रुवतेऽभिदधति जिनादयः । कीदृशं सन्तमित्याह—  
 प्रथममेवादित एव वपनकृत्यत्वमारभ्येति यावत्, चियशब्दस्यैवकारार्थत्वात्, यतियोग्यं साधुजनोचितं यतिनिमित्तमिति यावत्,  
 क्रियमाणं निर्वर्त्यमानं गृह्णिणानिष्ठितं चेति, निष्ठाऽवसानं सा सज्जाताऽस्येति निष्ठितो निश्चतनीभूतस्तं, चः समुच्चये क्व विषये  
 निष्ठित इत्याह—‘तर्हि’ति, प्रस्तावात्तस्मिन् यतिविषये साधोरालम्बनेन सर्व्वथा प्रासुकीभूतमिति तत्त्वम्, इत्थम्भूतमाहारमाधकर्म ब्रुवते  
 इति गन्र्थः । अथ द्वास्यादोपात्तपुनःशब्दश्चित्तमशनादिरूपस्याधाकर्मणः सम्भवं पदमं चियेत्यनेन पदेनाभिहितवान्, तथाहि—  
 क्यमादित एवाधाकर्मिकमशनादिकं सम्भवति ? इति, उच्यते—कश्चिद् गृही अतिभक्तिभरनिर्भरङ्गः साधूनामकल्प्यमेतदिति जाना-  
 नोऽज्जानानो वा स्वक्षेत्रे कुतोऽपि कारणतः साधूनामनवस्थानमवलोक्य प्रच्छन्नादिना ज्ञात्वा च साधूनामवस्थानहेतोरशनादेश्चतुर्विध-  
 स्थाप्याहारस्य वपनादिनोत्पादनं करोति तत्राशनोत्पादनमाश्रित्याख्यानकं पूर्वाचार्योक्तम् यथा—

“अप्येगकुलसयसंकुलो संकुलो नाम गामो आसी, तस्मि जिणदत्तो नाम सावओ, तस्सय जिणमती नाम भज्जा । तत्थ कोद्वरालगा  
 उप्पज्जन्ति चि तेसि संतिउ कूरो भिक्खाए पउरो लब्भइ, वसही अ रमणिज्जा लब्भइ, सज्जाओ य निब्बहइ, परं आयरियाइपाउग्गो

सालिकूरो नत्थि चि न केइ आयरिया तत्थ चिडुन्ति । अन्नया य गुणनिहिणो पडिलेहणत्थं पेसिया । तेसिं जिणदत्तेण रमणिज्जा वसही समप्पिया । तेहिं तस्स बुत्तन्तं कहियं, खेत्तं पडिलेहियं । जिणदत्तेण पुष्ठा, भयवं! तुम्हाणं खेत्तं रुइयं? खरिणो एत्थागमिस्सन्ति? x×x परं कारणं न जानामि चि कारणजाणणत्थं तेसिं मज्झाउ एगो उज्जू साह पुच्छिओ, तेण कहियं जहा गणस्स जोगं एयं किन्तु आयरियाणं पाउग्गो सालिकूरो नत्थि । तओ तेण अन्नगामाउ सालिबीयं आणावेऊण वाविअं, जाव अपोणे सालिकूडया जाया । अन्नया केणइ पओयोणेणं ते वा अन्ने वा साहुणो तथागए नाऊण सावएणं चिन्तियं, जहा मएसिं सालिकूरो दायव्वो जेण आयरियाणं पि पाउग्गं एयं खेत्तं चिन्तिऊण एए साहुणो आयरिए एत्थ आणित्ति, तं च जइ नियघरे चैव दाहिस्सामि अन्नेसु कोइवरालगं लभिस्सन्ति तो मा एएसिं आहाकम्मस्स संका भविस्सइ चि विरिंचिऊण सयणाईण गेहेसु य पडुविओ साली, भणाविया य जहा-सयं खाएज्जह साहुणं पि देज्जह कूरं काऊण इमो साली, तेहिं तहेव कुरो रद्धो । सो वइयरो बालेहिं णओ । साहुणो भिक्खमडन्ता एसणासमिया बालाईणं जंपियं सुणेत्ति । एगो बालो भणइ ए एते साहुणो जेसिं अट्टाए सालीकूरो घरे रद्धो । अनो भणइ मम जणणीए साहुण दिन्नो सालिकूरो । अणो भणइ सयं साहुणं सालिकूरं दाहामि । अनो जणणीं भणइ-साहुणं देहि साहुणं देहि सालिकूरं । अनो भणइ थक्कावडियं संपन्नं जेण अभत्ताए सालिभत्तयं जायं । एत्थ लोइओ दिट्ठन्तो गेओ जहा-एगंमि गामे एगा आभीरी तीए भत्ता मओ तीए लहु देवरो अत्थि, तस्स य तम्मि पत्थावे भज्जा मया । तेसिं तु एसा नीती, जं भत्तुणो मयस्स इत्थी लहुदेवरस्स भज्जा होइ चि । तओ आभीरीए देवरो भणिओ जहा-इंत मे भत्ता नत्थि ते पुण भज्जा नत्थि, ताहं ते मारिया भवामि, तेण य तहत्ति पडिवन्नं । तीए चिन्तियं, जहा अवसरे अवसरावडियं, जेण जंमि पत्थावे मे भत्तुणो मरणं जायं,



तंमि चेत् देवस्स भज्जा मया, तओहं तेण अभजेण भज्जा पडिवन्ना अभहा न पडिवज्जन्ते । तथा अक्षेण जणणी भणिया, जहा सालिचाउलोदयं पि साहूणं देहि । अक्षेण वि जणणी भणिया सालिआयामं, सालिकंजियं च साहूणं देहि । इच्चाइचालाइजणजंपियं सोउं आहाकम्मं एयन्ति नाउं ते ताणि घराणि परिहरिज्जण तत्थेव अडन्ति । अनिब्वाहे पच्चासन्ने गामे गंतूण भिक्खवं अडन्ति ” । एवमग्नोत्पादनसम्भववत् पानोत्पादनसम्भवोऽपि ज्ञेयस्तमपि कश्चित् कुरुते, कथम् ? उच्यते—यथा क्वापि ग्रामे क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः साधव आगतास्तत्रिवासिना श्रावकेण साधियमाणा अपि न स्थिताः । तेन च तन्मध्यादेक क्रजुकः साधुरनवस्थानकारणं पृष्टस्तेनोक्तमत्र क्षारं जलं तद्गुरुणां न प्रायोग्यमिति श्रुत्वा यावदसौ मिष्टजलमवटं खनित्वा लोकप्रवृत्तिजनितपापभयात् पुलकादिना स्थगितमुखेन तेन तावत् स्थितो यावत् साधवस्तत्रायातास्ततोऽसौ तंदुलघावनादितया कृत्वा तत्तेभ्यो दापयति वक्ति च गुर्वर्वाद्यभिमुखमेतद्भवद्भिः स्वयं पातव्यं साधूनां च दातव्यमित्यादि यावदन्यत्र तेऽपि व्रजन्तीति । एतदनुसारतः खादिमस्त्रादिमयोरप्याधाकर्मसम्भवो भावनीयः । तत्र खादिमे यथा कश्चित् साधूनां शालनकाद्यर्थं चिभिटाग्रफलबीजपूरकपित्थद्राक्षादाडिमा(मादी)नां वपनं करोति । खादिमे तु कश्चित् साधूनामौपचाद्यर्थं शुण्ठिमरिचहरीतक्यादीनां रोपणं करोतीति गाथार्थः ॥९॥

तदित्थमाधाकर्मणो विषयसम्भवानुक्तावथात्रैव ‘कीरन्तं निट्टियं चे’ति पदोपात्ताभ्यां कृतनिष्ठितशब्दाभ्यामुत्पन्नं कल्पाकल्पविभागकारिभद्रचतुष्टयं ग्रत्येकमशनादिविषयं वक्तुमाह—  
 तस्स कड तस्स निट्टिय चउभङ्गो तत्थ दुचरिमा कप्पा । फासुक्यं रद्धं वा निट्टियमियरं कडं सव्वं ॥१०॥  
 व्याख्या—अत्रानुस्वारलोपात्तस कृतं तस्य निष्ठितमित्यस्मिन् वाक्ये चतूरूपो भङ्गश्चतुष्टयं ज्ञेयम् । यद्वा प्राकृतत्वात्



ति पुनःशब्दलोपादितरत् पुनमुनेर्गृहिणो वा हेतोरतीतवर्चमानकालैक्यात् प्रासुकीकृतं प्रारब्धं । पुनरेकद्विकण्डिततण्डुलाकृतं कृता-  
भिधानं भवति अप्रासुकीभूतत्वेन प्राप्तनिष्ठितत्वमित्यर्थः । सर्व्वं समस्रत्रमिति गाथार्थः ॥१०॥

एनमेवार्थं विशेषेणाह—

साधुनिमित्तं वविद्याइ ता कडा जाव तंदुला दुछडा । तिछडा उ निट्टिया पाणगाइ जहसम्भवं नेज्जा ॥

व्याख्या—‘साधुनिमित्तं’ यतेरर्थाय ‘वविद्याइ’ चि । अत्र पञ्चम्येकवचनस्य लुप्तत्वादुप्तादेरिति दृश्यम् । तत्रोप्तं वपनं तदादिः  
प्रथमं यस्य केदारगाहनलवनपरिमलतोत्पवनाहुत्तरक्रियाविशेषस्य स उप्तादिस्तस्मादुप्तादेरारभ्येति शेषो, वपनमादायावधीकृतेत्यर्थः ।  
वात्रदिति कालावधिनिर्देशे । ‘कड’ति कृताभिधाना भण्यन्ते शालयः । ‘यावदि’ति कालावध्युद्देशे । द्विकण्डितास्तादृशाः  
सन्तो लोके किं व्यपदेश्यास्ते स्युरित्याह । ‘तन्दुल’ चि, ते शालयश्छटितास्सन्तः तन्दुला भण्यते । अयमर्थः, साधुनिमित्तं शाल्या-  
दय उप्ता यावत्तथाभूतपरिणामेनैव दात्रा त्रीहिकरटितया एकां द्वे वा वारे कण्डित्वा तन्दुलीकृतास्तावचे कृता अभिधीयन्ते । त्रि-  
च्छटास्तु तिस्रो वाराः कण्डिता एव तंदुलाः तथाभूतपरिणामेनैव, तु शब्दः शालीनामेकद्विकण्डनेनानिष्ठितत्वावधारणार्थः, ते किमि-  
त्याह, निष्ठिता निष्ठिताख्या भण्यन्ते । ते च राद्धा अराद्धाश्च न कल्पन्ते साधुनिमित्तं निष्ठितत्वेनाधार्कर्मिकत्वात्, उपलक्षणमेतत्  
शुद्धतन्दुलादिभिः साध्वर्थं राद्धं कूरादिकमपि निष्ठितमित्यस्य । अत्र बृद्धसम्प्रदायो यथा—यदि प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमि-  
त्तमारमनि निमित्तं वा करटिं छटित्वा तन्दुलाः कृतास्वृतीयां वारां त्वात्मनिमित्तं छटिता राद्धा वा ते साधूनां कल्पन्ते । यदि  
तु प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमित्तं स्वनिमित्तं वा तृतीयां वारां तु साधुनिमित्तमेव कण्डिता राद्धास्त्वात्मनिमित्तं ते एकेषा-

मादेशेन एकेनान्यस्मै दत्तास्तेनाप्यन्यस्मायित्यादिरूपेण यावत् सहस्रसहस्रं स्थाने गतास्तावन्न कल्पन्ते, ततः परं कल्पन्ते, अन्येषां तु न कदाचिदपि । यदि तु प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमित्तमात्मनिमित्तं वा तृतीयां तु वारामात्मनिमित्तमेव कण्डिता राद्धाः पुनः साधुनिमित्तं ते न कल्पन्ते । यदि तु प्रथमां द्वितीयां वा वारां साधुनिमित्तमात्मनिमित्तं वा तृतीयवारां तु साधुनिमित्तमेव कण्डितास्तैस्तन्दुलैः साध्वर्थं राद्धः कूर साधूनामकल्प्य एव निष्ठिततन्दुलतत्पाकजनितद्विगुणाधाकर्मदोषदुष्टत्वात् । तदेवमशनमाश्रित्य तस्य कृतं तस्य निष्ठितमित्यादयश्चत्वारो भेदा दशिताः । अधुना पानादिशेषाहारत्रयेऽपि तानतिदिशन्नाह । 'पाणगाइ' ति विभक्तिलोपात् पानकादौ, पानखादिमखादिमाख्ये आहारत्रये, यथासम्भवं कृतनिष्ठितसम्भवानतिक्रमेण नयेद्भावेदेतानिति । तत्र पाने कूपादिकं साधुनिमित्तं खातं, जलमानीतं यावत्तथाभूतपरिणामेनैव कर्त्रा प्रासुकीक्रियमाणं नाद्यापि सर्वथा प्रासुकी भवति तावत्तस्य कृतत्वं, ततस्तथाभूतपरिणामस्य कर्तुश्चरमे क्षणे सर्वथा प्रासुकीभूतमिति तस्य निष्ठितत्वमिति प्रथमेत्यादि, खादिमे तु कर्कटिकादिकाः फलविशेषाः साधुनिमित्तमुक्त्वा यावत्तथाभूतपरिणामेनैव दात्रा ते खण्डितास्तानि खण्डानि क्षणे प्रासुकी भवन्ति सन्ति यावत्तथाभूतपरिणामस्यैव दातुर्नाद्यापि सर्वथा प्रासुकी भवन्ति तावत्तेषां कृतत्वम् । ततस्साधुनिमित्तमेव चरमे क्षणे सर्वथा प्रासुकीभूतानि तानीति तेषां निष्ठितत्वमिति प्रथमेत्यादि । खादिमे वल्लकादिकं खादिमवत् ज्ञेयमित्यत्रापि द्वितीयचतुर्थभङ्गौ शुद्धौ प्रथमतृतीयावशुद्धाविति । प्रस्तावादपरमपि सोपयोगित्वात् किञ्चिदभिधीयते । साधूनां छायार्थमारोपितवृक्षस्य गृहद्वारादिविहितमण्डपादेश्च निवासार्थं कृतमठादेश्च छायानिवेनमाधाकर्मिकत्वाभावादोषाप । परं प्रवृत्तिदोषादिना तत्परिहार्यम् । तथाहि तस्य कृतमन्यस्यनिष्ठितमिति द्वितीयभङ्गे साध्वर्थमुत्पद्यफलं वृक्षनिवन्धनमपि कल्पते वृक्षावृक्षनिवन्धना तु छाया सुतरां परिभोक्तुं

कल्पते, यतः सूर्यहेतुकापि छाया भवति न च सा वृक्षारोपककर्त्री सूर्येण वा साधून् मनस्याधाय निर्वाचिता येनाधाकर्मलक्षणयोगात् सा तथा सत्ययोग्या स्यादित्यलमगीतार्थाधार्मिकयतिजनकथयेति गाथार्थः ॥११॥

द्वारमिति प्रभूतार्थद्वचकं पदमित्यर्थः । उक्तमाद्यद्वारमिदानीं यस्येति द्वितीयद्वारं व्याचिख्यासुराह ।

साहम्मियस्स पवयणलिंगोहि कए कयं हवइ कम्मं । पत्तेयबुद्ध निपहयतिथयरट्टाए पुण कप्पे ॥१२॥

व्याख्या—साधर्मिकस्य समानस्वरूपस्य, समानधर्मा च दर्शनज्ञानादिनापि स्यादिति केनात्र समानधर्मते ? त्याह—पवयण-लिंगेहि चि प्रवचनं सद्मः, साध्वादिचतुष्करूपस्तथा लिङ्गयते चिद्वयते साधुरनेनेति लिङ्गं यतिचिद् रजोहरणमुखवस्त्रिकागोच्छकादि । अनयोर्द्वन्द्वे अल्पस्वरस्यापि लिङ्गशब्दस्य पूर्वनिपाताभावो गाथाबन्धानुलोम्यात् क्वचिच्छ्रणाद् व्यभिचारात् प्राकृतत्वाच्च ताभ्याम् । अत्र च न केवलेन प्रवचनेन साधर्मिकता नापि केवलं लिङ्गेन किन्तु युगपद् द्वितीयमीलकेन ग्राह्या ततो रजोहरणादियतिलिङ्गो-पेतधत्तुविधयद्युमध्यात् सदैकतरश्च गृह्यमाणः साधुसाध्वीवर्ग एव साधर्मिकः सामर्थ्याल्लिभ्यते । तस्य प्रवचनलिङ्गाभ्यां समानधर्मिणः साधुसाध्वीवर्गस्य किमित्याह—कृते निमित्तमर्थयिति यावत् कृतं राह्वं भवति जायते । कम्मं ति सूचनादाधाकर्म सामान्यकेवलस्वयं युद्धसामान्यशेषयतिरूपाणां साधूनामितिशेषः । अत्र च प्रवचनलिङ्गपदद्वयेन चतुर्भङ्गी सूचिता, यथा प्रवचनतः साधर्मिका न लिङ्गतः ? लिङ्गतः साधर्मिका न प्रवचनतः २ प्रवचनतः साधर्मिका लिङ्गतश्च ३ न प्रवचनतः साधर्मिका न लिङ्गतश्चेति ४ । तत्राद्यभङ्गे दर्शनप्रतिमाया आरभ्य अन्त्यप्रतिमावर्जिताः प्रतिमादशकस्थाः श्रावकाः प्रवचनतः साधर्मिकाः, साधुभिः सह सदैव तेषां तैः सदैकप्रवचनत्वात् लिङ्गस्याभावेन वैसदृश्याच्च । इह चान्त्यप्रतिमास्था अपगतकेशत्वजोहरणादिसाधुलिङ्गोपेतत्वाल्लिङ्गतोऽपि साध-

मिकाः किल भवन्तीति तद्वर्जनमिति प्रथमो भङ्गः । द्वितीयभङ्गे निहन्वाः सर्वेऽपि लिङ्गेन साधर्मिकास्तेषामेव लिङ्गत्वात् प्रवचनस्या-  
भावो वैसदृश्याच्च । ते हि लोके निह्वत्वेन ज्ञाता अज्ञाताश्च स्युरिह तु ज्ञाता ग्राह्या, इतरे तु साधूनां मध्ये व्यवहारतः प्रवचनान्तर्व-  
न्तित्वात्तेषामिति द्वितीयः । नवरं निह्ववास्तीर्थकृद्भवनं स्वाग्रहवशान्निरकुर्वन्तीति, निह्ववा जमालिप्रभृतयो ज्ञेयाः । तृतीयभङ्गे साधूनां  
साधर्मिकाः, साध्वेकादशप्रतिमास्थश्रावकाः । चतुर्थे तु तीर्थकरप्रत्येकबुद्धाः । इह च साधूनां प्रायः साधर्मिकद्वारेण कल्पाकल्पवि-  
धिर्गवेषणीयस्ते च तीर्थकरप्रत्येकबुद्धस्वयंबुद्धादयः सर्वेऽपि साधवो लभ्यन्ते । केवलं सर्वेषां साधुशब्दाव्यत्वेऽपि येषां प्रवचनलिङ्ग-  
योरन्यतस्त् इयं वाऽस्ति ते सङ्घातवत्तिन एव प्रायः प्रक्रान्ताः साधवो ज्ञेयास्तीर्थकरप्रत्येकबुद्धास्तु साधुत्वेऽपि प्रवचनलिङ्गतीतत्वेन  
सङ्घोतीर्णा इति तान् विवर्ज्य शेषाः स्वयम्बुद्धादयः सर्वेऽपि साधवः प्रक्रान्ता ज्ञेया येः सह साधर्मिकत्वं गवेषणीयम् । अथ प्रवचन-  
लिङ्गतीतत्वं शास्त्रस्तु प्रत्येकबुद्धानां च शेषयतितुल्यानां तत्कथमिति चेदुच्यते । तेऽपि सङ्घसमक्षमाचार्यादिसन्निधौ न लिङ्गप्रति-  
पत्तिं व्रतग्रहणं वा विदधति, नापि द्विविधां शिक्षां शेषां वा सामाचारीमपरपार्श्वे शिक्षते किन्तु पूर्वाधीतश्रुतबलेन सर्वं स्वयं ज्ञात्वा  
कुर्वन्त्यनुष्ठानं लिङ्गं च देवता प्रयच्छति, अतः सम्पद्येत तेषां लिङ्गस्य प्रदानसङ्घातवत्तत्त्वाभावात् प्रवचनलिङ्गतीतत्वं तेषामेता-  
वतोच्यते तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्ति । तत्र तीर्थकरः शास्ता स्वयंबुद्धप्रत्येकबुद्धयोश्च बोध्युपधिश्रुतलिङ्गकृतो विशेषस्तथाहि स्वयंबुद्धा  
बाह्यवृषभादिप्रत्ययमन्तरेणैव बुद्ध्यन्ते, प्रत्येकबुद्धास्तु न तद्विरेहेण । उपधिस्तु स्वयंबुद्धानां द्वादशविधस्तत्र पात्रादीनि सप्त, कल्प-  
त्रयम्, रजोहरणम् मुखवस्त्रिका च । प्रत्येकबुद्धानां नवविधोऽयमेव कल्पत्रयवज्रः । श्रुते तु पूर्वमवाधीते स्वयंबुद्धानामनियमः,  
प्रत्येकबुद्धानां तु नियमः तच्चोभयोरपि ज्वन्यत एकादशज्ञानि, उत्कृष्टस्तु भिन्नदशपूर्वाणीति, लिङ्गग्रहणं स्वयंबुद्धानामाचार्यसन्नि-

घावपि । प्रत्येकबुद्धानां तु देवता समर्पयति । इदानीं प्रवचनलिङ्गचतुर्भङ्गाया भङ्गकेषु कल्पाकल्पविधिरुच्यते । तत्र तृतीयभङ्गवर्ति-  
 यत्यर्थं यत्कृतं तदकल्पम् प्रक्रान्तसाधूनां सर्व्वयतीनां तृतीयभङ्गत्वात् । चतुर्थभङ्गवर्तिसाध्वर्थं च कृतं कल्पमेव । अत एव सूत्रकारोऽपि  
 तृतीयभङ्गेऽकल्पतां प्रदर्शय एतद्वर्जशेषभङ्गत्रये कल्पाकल्पविभागं दर्शयितुमाह । 'पत्त्येकबुद्धनिह्वत्तीर्थकराणामर्थाय प्रत्ये-  
 कबुद्धादिनिमित्तं कृतमशनादि । पुनः शब्दः प्रथमद्वितीयभङ्गयोर्भजनया कल्पाकल्पनिभागसूचनार्थः । अत एव द्वितीयभङ्गे भजनां  
 प्रतीत्यं सुशकृता निह्वत्तीर्थार्थाय कृतं कल्पमुक्तम् । 'कप्ते'चि कल्पते ग्राह्यं स्यादित्यर्थः । तथा च तीर्थकारार्थाय यत्कृतं देवैः समवसरणं  
 देशनाश्रवणार्थमुपवेशनादिना यथा यतीनां परिभोगोचितं स्यादेवं तदर्थं कृतमशनाद्यपि कल्पते प्रक्रान्तसर्व्वयतीनामिति एतेन प्रत्ये-  
 कबुद्धतीर्थकारार्थं कृतस्य कल्पताभणनाच्चतुर्थभङ्गे कल्पता दर्शिता । ननु यदि तीर्थकारार्थं कृतमाधाकर्मं न स्यात्तदा यद्भक्त्या तदर्थं  
 निष्पादितमनिश्चाकृतं भवनं तत्र किमिति न निवासादि क्रियते ? उच्यते महाशातनादोपभावात् । उक्तं च 'जइ वि, न आहाकम्मं,  
 भच्चिरुयं तह विवज्जयते हि । भत्ती खलु होइ कया, इहरा आसायणा परमा' ॥१॥ शेषयतीनामर्थाय च कृतं तीर्थकरादीनां कल्पते  
 प्रवचनलिङ्गोच्चीर्णत्वेपामिति । तीर्थकराद्यर्थं च कृतं तीर्थकरादीनामकल्पमेवेत्यनुक्तमपि दृश्यम् । तथा च व्याख्याप्रज्ञप्त्यां श्रूयते ।  
 गौशालत्रमुक्तेजोलेऽयाव्यथाजातातीसारस्य भगवतस्तद्व्यथोपशमनाय रेवतीश्राविकया वैधवचनेन स्वार्थं भगवदर्थाय च निष्पादिते  
 औपघट्टये भगवद्व्यथावलोकनेनाधृतिं कुर्व्वणस्य सिहानगारस्य गृहार्थनिष्पन्नौपधानयनाय प्रेषितस्य तन्मुखेन स्वार्थनिष्पन्नस्य तस्य  
 भगवते च क्रियमाणस्यानयननिषेधः । यदि च तत्तस्य कल्पं स्यात्तदा किमिति निषेधकर्षादीदसाविति एवं प्रत्येकबुद्धार्थं कृतं तेषामेव-  
 तदकल्पं । यद्येवं तीर्थकारार्थं देवैः समवसरणादि कृतं कथमसावुपशुद्धे ? उच्यते, तीर्थकरनामकर्मविपाकस्येत्यं तेन वैधमानत्वाद-

दोषः । नन्वत्रैकादशप्रतिमास्थश्रावकाणामपि तृतीयभङ्गावतारितत्वात्तदर्थं कृतमशनादि साधूनां कल्पमकल्पं वा ? उच्यते, गृहस्थत्वा-  
दयावज्जीविकलिङ्गत्वाच्च तेषां तदर्थं कृतमशनादि साधूनां कल्पत एवेति वृद्धाः । केचित्साधुकल्पत्वादेतेषामपि ग्रहणं न कुर्वन्ति ।  
तन्मतेनैते सर्वसाधुग्रहणग्राह्याः । प्रथमद्वितीयभङ्गभजना त्वेवं ज्ञेया । यथैकादशप्रतिमास्थवर्जश्रावकार्थं कृतमशनादिकं प्रक्रान्तसाधूनां  
कल्पं गृहस्थत्वाह्निगरहितत्वाच्च तेषां । चौरादिषुषितलिंगसाध्वर्थं कृतं त्वकल्पं भावतो लिङ्गयुतसाधुत्वात्तेषामिति प्रथमभङ्गे भजना ।  
द्वितीये त्वेवं, यथा लोके निह्ववा निह्ववत्वेन यदि ज्ञाता स्युस्तदा तदर्थं कृतं कल्पं सङ्घवाह्यत्वात् तेषां, यदि त्वज्ञातास्तदा अकल्पम्,  
तेषां व्यवहारेण सङ्घान्तर्वर्तित्वात् । अथ यथा कश्चित् स्नेहान्निजपित्रादेः साधोर्जीवतो मृतस्य वा काष्ठमयीं पाषाणादिमयीं प्रतिमां वा  
कारयति, तस्याश्चाग्रतो ढौकनाय बल्यादिकं निष्पादयति, तदा तस्याः अन्येषां तत्समानघर्मणां जीवतां स्थापनासाधमिकत्वात्  
तत्पुरतो ढौकितमढौकितं वा तद्बल्यादिकं साधूनां कल्पमकल्पं वा ? अत्रोच्यते, स्त्रोहरणादियुक्ताकारेण पितृतुल्यस्यैवेदं दातव्यमिति  
कतुः सङ्कल्पनेन कृतत्वात् तु तत्साधूनामकल्पम् पितृतुल्यसाधवे दास्यामीति साधुसङ्कल्पेन कृतत्वात् । भक्तिमात्रकृतं तु साधुसङ्क-  
ल्परहितं कल्प्यं (परं) यतिप्रसङ्गदोषात् (कल्प्यं) न स्यात् । एवं तत्कालं मृतस्य साधो निर्जीवशरीरस्य तत्पुरादिना पुरतो ढौकनाय  
कृतमशनादि ढौकितमढौकितं वा साधुसङ्कल्पपरहितमपि तदकल्प्यं अहो निःशुकाः सितपटा ये मृतकभक्तमपि न त्यजन्तीत्यादिञ्जु-  
गुप्सासङ्घावादित्यलं विस्तरेण इति गार्थार्थः ॥१२॥

उक्तं यस्येतिद्वारमथ यथेति द्वारं व्याचिख्यासुः यैः प्रकारैस्तत् स्यात्तान् प्रकारान् प्रतिषेधादीन् सदृष्टान्तानभिधातुमाह—  
पडिसेवण षडिसुणणा रसंवास षण्णुमोयणेहिं षतं होइ । इह तेण षरायसुय रपल्लि षरायडुट्टेहिं दिट्ठता ॥



व्याख्या—प्रतिषेवणं प्रतिषेवणा प्रतिषेवेत्येकोऽर्थः, आसेवेति तत्त्वं । प्रतिश्रवणं प्रतिश्रवणा अभ्युपगमाः । संवसनं संवासः एक-  
 त्रावस्थानम् । अनुमोदनमनुमोदना अनुमतिः । प्रतिषेवणा च प्रतिश्रवणा चेत्यादि द्वन्द्वस्ताभिः प्रतिषेवणादिभिरासेवाप्रभृतिभिश्च-  
 तुभिः प्रक्रैस्तदित्याधाकर्म्म तद्भोगादिजन्यः कर्मबन्ध इति तत्त्वं, भवति जायते । एतासां स्वरूपं सूत्रकार एव वक्ष्यति । अधुनैत-  
 द्विपयान् दृष्टान्तानाह । इहेति आस्वेतासु प्रतिषेवणादिषु यथाक्रमं स्तेनराजसुतपल्लीराजदुष्टैर्दृष्टान्ता उदाहरणानि वान्वयानि । तत्र प्रति-  
 षेवणायां, स्तेनाश्रौरा दृष्टान्त इति सर्वत्र योज्यम् । प्रतिश्रवणायां, राजसुतो नृपुत्रः । संवासे पल्ली, भिल्लसन्निवेशः । अनुमोदनायां  
 राजदुष्टो नृपावरोधापराघकारीति । एतांश्च प्रतिश्रवणादिस्वरूपाभिधायकं गाथाद्वयं व्याख्याय ग्रन्थविस्तरलाघवार्थं विनयासंसोहार्यं  
 च पश्चाद् वक्ष्याम इति गाथार्थः ॥१३॥

अधुना प्रतिषेवणादिस्वरूपाभिधानायाह—

सयमन्नेण च दिन्नं, कम्मियमसणाइ खाइ पडिसेवा । दक्खिन्नान्ना दुवओगे, भणिओ लामो त्ति पडिसुणणा ॥  
 संवासो सहवासो, कम्मियभोइहिं तप्पसंसाउ । अणुमोयणत्ति तो ते, तं च चए तिविहतिविहेण ॥१५॥

व्याख्या—सयमात्मना गृहादानीयान्येन वा अपरसाधुना, वा विकल्पे, दत्तं गृहादानीयान्यस्य साधोः समर्पितमाधाकर्मिकं  
 पूर्वोक्तमशनादि भक्तादिकं खादत्यश्नाति यः साधुस्तस्य प्रतिषेवा भवति । अयमभिप्रायः—इहाकृत्यमाधाकर्मसिंवनमेतदिति केनापि नि-  
 वार्यमाणोऽपि रसगृह्या तद्वचोऽवगणय्य कूटोपमां च तदग्रतोऽभिधाय यथा परहस्तेनाङ्गारानाकर्षयन् यथासौ न दहते किन्तु पर-

हस्त एव दह्यते, यथा वा मृगादेश्रहणाय यो व्याधः कूटं रचयति तस्यैवापराधो न तु तत्र पततोऽपि मृगादेश्रित्येवमत्राप्याधाकर्मि-  
काहारं ददत एव साधोर्गृहस्थस्य वा कर्मबन्धो नतु मम तद्भुजानस्येवमभिप्रायवतो लाम्पट्यान्निःशूकत्वाच्च तद्भक्षयतः साधोः  
प्रतिषेवा स्यात् । तथा दाक्षिण्यं प्रतीतं आदिग्रहणाद्भयस्नेहसम्बन्धादिग्रहः । ततो दाक्षिण्यमादिर्यस्य तत्तथा विभक्तिलोपात्तेन दाक्षि-  
प्यादिना, मनसोऽन्यथा भावपरिहारायाधाकर्ममादायकस्य शिष्यस्य संमुखमुपयोगे भक्तादिग्रहणमुत्कलनादिकारकेऽनुष्ठानविशेषे लाभ  
इति लाभं यो गुरुर्भणति इति शब्दाच्च श्राविकया करोटिकयेदं दत्तमित्याकारेण प्रक्रान्ते आधाकर्महारे निवेदिते सति शोभनं  
जातं यत्त्वथेदं लब्धमिति वा, यो भणतीति गृह्यते । तदित्थं तस्य गुरोर्भणतो जल्पतः प्रतिश्रवणा भवतीति गाथार्थः ॥१४॥

‘संवासो’ति आधाकर्मिकभोजिमिराधाकर्मिकभोक्तृभिः साधुभिः सह यः सहवास एकत्रस्थानं संवासोऽभिधीयते । अनुमोदना  
पूर्वोक्तार्थो भवति । केत्याह तप्पसंसाड चि तत्प्रशंसा आधाकर्मिकभोक्तृप्रशंसा यथा सुखपारणकसुखदेवसिंके भवताम् । यद्वा शो-  
भना एते ये मिष्टाहारेण जीवन्तीति । यद्वा तस्याधाकर्मिकभक्तादेर्गुणानाश्रित्य प्रशंसतः प्रशंसा अनुमोदना भवति । यथा कश्चित्  
साधुराधाकर्मिकं भुञ्जानं साधुं दृष्ट्वा वक्ति यथा मिष्टमिदं त्वया लब्धं, परिपूर्णं भक्त्या बुभुक्षाप्रस्तावे वसन्तादिकर्तुयोग्यं सद्यता-  
दीत्येवं तद्गुणविकत्थनं कुर्वतस्तस्याभुञ्जानस्यानुमोदना भवति । तु शब्दश्चैतासामेव गुरुलघुत्वादिविशेषसूचनार्थः । तद्यथा प्रतिषेवा  
आधाकर्मिकदोषासेवनाद् गुर्वी । ततः प्रतिश्रवणा लब्ध्वी प्रतिषेवायाः कारणत्वात् । इतिशब्दश्चतसृणामपि सरूपपरिसमा-  
नाया एव प्रायः कारकत्वात् । ततोऽपि लघुतमा अनुमोदना वाचनिकानुमतेरेव विषयत्वात् । इतिशब्दश्चतसृणामपि सरूपपरिसमा-  
स्यर्थः । चतुर्थपादं तु दृष्टान्तमणनादुपरिष्ठाद् व्याख्यास्यामः । इदानीं त एव कथ्यन्ते । तांश्च वस्तुविचारग्रन्थत्वात् संक्षेपेण भणि-

प्यामः । एव शेषाख्यानकान्यपि । तत्र प्रतिषेधायां चौरदृष्टांतो यथा-एंगमि गामे अपोमे चोरा वसन्ति ते य अन्नया कुओवि संनिवेगाउ गावीउ हरिळण नियगामाभिमुहं चलिया । तत्थ केवि पहिया मिलिया, जाहे सदेसे पविट्टा, तउ नियमंडलो ति काउं निन्मया भोयणवेलाए, तेसि गोणीणं मज्झाउ कत्तियाउ विणासिळण भोयणत्थं एएं लग्गा तंमि पत्थावे के वि पहिआ अन्नेवि मिलिया, भोयणकरणत्थं सन्वेवि चोरेहि भोचुक्कामेहिं निमत्तिया ततो केइ भुंजिउं पयट्टा, केहिं वि गोमंसभक्खणं बहु पावं ति काउं सयं भक्खणं न कयं किंतु परिवेसणाइ पारद्धं । एत्थन्तरे कूविया आगया, तेहिं सन्वे ते गहिया तत्थ जे पहिआ आसि ते पहिया अन्हे ति मणन्ता वि गोमंसभक्खणपरिवेसणादिदोसेण ते वि इयरे वि तेहिं वहियत्ति । एवमिहापि ये आधाकम्मानीय स्वयं भुञ्जते भुङ्ग्धं गूयमिति निमत्तिता वा ये भुञ्जते ये च तत्परिवेपयन्ति ये च तद्ग्रहणाय पात्राणि धरन्ति ते एवं कुर्वन्तस्सर्वेऽपीह जन्मनि तीव्रं कर्म यद्वा दुर्गतौ पर्यटन्तीति । दृष्टान्तदाष्टान्तिककयोजनात्वेवम्, यथा चौरस्थानीया आधाकम्मनिमत्तकाः साधवः, गोमांसभक्षकपथिकस्थानीया निमत्तिताधाकर्मभोजिसाधवो, गोमांसपरिवेपकपथिकादिस्थानीया आधाकर्मपरिवेपकादिसाधवो, गोमांसभ्यवहारस्थानीयमाधाकर्मभ्यवहरणम् । पथस्थानीयं मनुष्यजन्म, कूजिकस्थानीयानि कर्म्मणि, मरणादिस्थानीयो नरकादिपातः । इह दृष्टान्ते चौरैर्गोभक्षकपथिकैश्च दाष्टान्तिके त्वाधाकर्मभोक्तृसाधुभिल्लान्निमत्तिताधाकर्मभोक्तृसाधुभिश्च प्रकृतं तत्र दृष्टान्ते गोभक्षकपथिकानां दाष्टान्तिके त्वाधाकर्मानीय स्वयं भोक्तृसाधूनां च निमत्तिताधोक्तृसाधूनां च प्रतिषेधादयश्चत्वारोऽपि वाच्यास्तत्र पथिकानां गोमांसभक्षणं प्रतिषेवणा । तेषामेव भोजनार्थं चौरैर्निमत्तितानां गोमांसभक्षणपरिवेवणादिक्रियाप्रवृत्त्या निषेवणेन तत्परिमोगं प्रतिप्रवर्त्तकत्वात् प्रतिश्रवणा । चौरैः सार्द्धमेकत्र निवसनेन संवासः । तेष्वेव बहुमानादनुमोदना स्यात् । यत्तिजनेष्व्याथा-

कर्मनीय भक्षणेन प्रायः परिभोगकरणपरिणतत्वेन च द्रव्यतो भावतश्च प्रतिश्रवणा, आधाकर्मणैवान्येषां परिभोगं प्रति प्रयोजकतया प्रतिश्रवणा, यस्मै तदानीय ददाति तेन सार्द्धमेकत्र संवसनेन संवासास्तत्रैव बहुमानादनुमोदनेति, अकल्पमेतदिति न ग्रहीष्ये इत्यानायकं निवारयतां प्रतिषेवणा न भवतीति। प्रतिश्रवणायां राजसुतो दृष्टान्तः, तद्यथा-एगंमि नयरे श्रेरो राया रज्जधुरं परिपालेइ इउ य तस्सेगो (गंथाग्रं ५००) कुमारो रज्जगहणुस्सुओ चिन्तेइ जहा एसो मम पिया श्रेरो वि न मरइ ति नियभडे सहाए काऊण एयं मारेऊण रञं गिण्हामि। तओ नियभडेहिं सह एयं मंतियं। तत्थ केहिं वि बुत्तं अम्हे तुह सहाया भविस्सामो, केहिं वि बुत्तं एवं करेहि, केहिं वि तुसिणीकया, केहिं वि तं सब्वं रओ निवेइयं। तत्थ पढमा तिन्नि वि कुमारो य रत्ता वावाइया, चउत्थो बूइयत्ति। एवमत्रापि त्रयः साधवः स्युस्तत्र केनापि साधुनाऽऽधाकर्मनीय कश्चित्साधुनिमच्चितो यदुत भुंक्ष्व त्वमेनमाहारमहमपि भोक्ष्य इत्युक्ते प्रयच्छ महं येन भुञ्जे इति यस्तदभ्युपगच्छति स एकः साधुः, अपरश्च निमच्चितो वक्ति न भोक्ष्येऽहं किन्तु त्वमेनं भुंक्ष्वेति यद्वा आधाकर्मभोजिच्चि चरक्षणार्थमुपयोगे लाभशब्दं जल्पन् आलोचिते सुलब्धमिति वा भाषमाण इति द्वितीयः। अन्यश्च तूष्णीभाषमादाय आस्त इति मौन-भाक् तृतीय इत्येते त्रयः साधवः प्रतिश्रवणाविषयाः। अपरश्चाकल्पयमेतदिति न ग्रहीष्ये इत्यानायकनिवारयिता चतुर्थो यतिः। स च निषेधकत्वात् शुद्धः। इह दृष्टान्ते पदातिवर्गैर्दीर्घान्तिके तु साधुभिः प्रदर्शितरूपैस्त्रिभिः प्रकृतं। अत्र दृष्टान्तदाष्टान्तिकयोजना यथा-कुमारस्थानीय आधाकर्मणा निमच्चयिता साधुः, पितृवधस्थानीय आधाकर्मनिषेधः। क्रमेण प्रस्थिताद्यपदातिराशित्रयस्था-नीयमाद्यं साधुत्रयम्। राजाकथकपदातिस्थानीयश्चतुर्थः साधुः। तथा दृष्टान्ते कुमारस्य दाष्टान्तिकेत्वाधाकर्मनायकसाधोः प्रतिषेव-णादयश्चत्वारोऽपि विषयविभारेण वाच्यास्तत्र पितृमारणाय प्रवृत्तत्वेन प्रतिषेवणा। वयं नृपमारणे सहाया भविष्याम इत्यादीनां वच-

नानिषेधकत्वादिना प्रवर्तकत्वेन प्रतिश्रवणा, श्रेयं प्रतिषेवणावदनुमोदना यावद्वाच्यमिति । संवासे पल्लीदृष्टान्तो यथा-वसंतउरं नयरं  
आसि । तत्थ य अरिमइणो नाम राया । इउ य तस्स राइणो देसस्स पचासन्ना विसगिरिसंनिविट्ठा अत्थि एगा भिछपल्ली । तत्थय बहवे  
चोरा वणियवंभणाइणो वसन्ति । ते य चोरा सयावि तस्स राइणो मंडले चोरियं काउं पल्लीए पविसन्ति । सा य न केणह राइणो साम-  
न्ताइणो जेतुं सक्खिइ । अन्नया अमारिस्साह्हरियहियेण महासमग्गियं काऊण सयमेव गंतूण राइणा पल्ली गहिया । तीए गिउज्झ-  
माणीए चोरा केवि ह्यं, केवि नट्टा । वणियवंभणाइहिं चिन्तियं जहा अम्हं अचोराणं राया न किंचि करेहि चि ते न नट्टा । राइणा  
ते वि गहाविया । तेहिं भणियं जहा देव ! अम्हे वणियवंभणाइणो न चोरा । राइणा वुत्तं तुब्भे चोरेहितो वि अवराहिणो, जे अम्हणं  
अवरहकारीहिं चोरेहिं सद् एगतथ वसह । तउ निग्गहिय चि । एवमिहाप्याधाकम्मिकभोक्वृभिस्सह संयमवता साधुना न वस्तव्यम् ।  
संयमअंशादिदोपसद्भावत्, तथाहि ते आधाकम्मणो अवलोकनेन गंधेन गुणवर्णनेन चाधाकम्मवर्जकमभिब्वज्जविकृत्यादिपरिभोगर-  
हितमपि साधुमाधाकर्मपरिभोगवाञ्छाकारिणं कुर्वन्तीत्येतैः सह संवासो दूरतस्त्याज्यः । अत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोजना यथा-नुपस्था-  
नीयानि कम्मणि, पल्लीस्थानीया वसतिश्रौस्थानीया आधाकम्मभोक्वृभिस्सहवाससाधवः  
उपालम्भमरणस्थानीया दुर्गतिः । इह वणिग्ग्राहणादिभिः सहवासदुष्टसाधुभिश्च प्रकृतं । तत्र चौराणामाधाकम्मभोक्वृसाधूनां च पूर्व-  
वत् प्रतिषेवणादयश्चत्वारोऽपि भावनीयाः । अनुमोदनायां राजदुष्टदृष्टान्तो यथा । एगंमि नयरे एगो वणियकुमारो अतीव सुरूवो  
अत्थि सो य अतीव परमहिलाभिलासी । अन्नया अंतेउरसमीवं गच्छन्तो अंतेउरियाहिं दिट्ठो । तेण य ताउ दिट्ठाउ । परोप्परं अणुराओ  
जाओ । ततो दिव्वज्जोणं कहवि संपत्ती । एसो पइदिणं ताउ आसेविउं पयट्ठो । पच्छा रत्ता नाओ । तउ आहरिय विभूसिय अन्तेउरे

पविद्धो समाणो, हरावेक्षण मारावेक्षण य नयरमज्ज्ञे पविखवाविओ । तत्थ य कप्पडियवेसेण हेरिया मुक्का, भणिया य जहा जे एयं पसंसंति निंदन्ति य ते दो वि तुब्भेहिं मम सगासे आपेयन्वा । सो य लोणेण वेढिओ, बुत्तंतं जाणिऊण एणेण भणियं 'जाएण जीव-  
लोए सयलेण वि नरेण मरियन्वं' परं जाउ अंतेउरियाउ अम्हारिसेहिं अहन्नेहिं नयणेहिं वि न दीसन्ति ता शुज्जमाणिऊण मओ ताए स धन्नो । अन्नेहिं भणियं अधन्नो एसो उभयलोगविरुद्धकारी, जो जणणीतुल्लणं नियसामियंतेउरियाणं चुक्को । एयं सोउं हेरिएहिं पच्चक्खेहिं होऊण रन्नो समप्पिया । राइणा उ, जेहिं सो पसंसिओ ते वावाइया इयरे मुक्का पूइया य त्ति । एवमिहाप्येके साधव  
आधाकर्मं शुज्जते, अपरे च जल्पन्ति धन्या एते सुखं जीवन्ति, अन्ये तु बुवते धिगेतान् ये आगमनिविद्धमाहारं शुज्जते । अत्रोपनयः  
अन्तःपुरस्थानीयमाधाकर्म, तत्सेवकवणिक्सुतस्थानीयास्तत्सेवकाः साधवः । धन्योऽयमिति जल्पकपुरुषस्थानीयास्तत्सेवकसाधुवर्णकाः  
साधवः । अधन्योऽयमिति जल्पकपुरुषस्थानीयास्तत्सेवकसाधुनिन्दकाः साधवः । नृपस्थानीयानि कर्म्मणि । मरणस्थानीयः संसारः  
इह दृष्टान्ते यैर्युवा धन्य उक्तो दाष्टान्तिके तु यैराधाकर्मभोजिनः श्लाघितास्तैः प्रक्रान्तं । तत्र दृष्टान्ते युनो दाष्टान्तिके तु यैराधा-  
कर्मभोजिनां प्रतिषेधाऽयश्चत्वारोऽपि पूर्ववद् भावनीयाः । उक्ताः प्रतिषेवणादयश्चत्वारोऽपि सप्रपञ्चं प्रकाराः । साम्प्रतमेतेषां प्रदर्शि-  
तन्यायेन बहुदोषदुष्टद्विधाधाम्मिकहेतुत्वाच्च परिहार्यतां दर्शयन्नाह । तो ते तं च चए त्ति । यतः पूर्वोक्ता दुर्गतिपातादि-  
दोषनिबन्धनाः प्रतिषेवणादयस्ततः कारणान् प्रतिषेधादींश्चतुरः प्रकारान् आधाकर्मभोजिसाधुत्वात् तमिति साध्वाद्यर्थं कृतमशना-  
द्याहारं चः समुच्चये त्यजेत् परिहरेत् साधुः, कथमित्याह । 'तिविहितिविहेण' चि त्रयो विधा भेदा यस्य मनःप्रभृतिकस्य योगसमु-  
दायस्य स त्रिविधः । तथा त्रयो विधा यस्य करणादिरूपसमुदायस्य स त्रिविधः । ततस्त्रिविधश्च त्रिविधश्चेति समाहारद्वन्द्वो नपुंस-

कृत्वादेकत्रयम् तेन, यद्वा त्रिविधस्य त्रिविध इति विग्रहस्तेन, अयमर्थः—मनोवाक्कायैः प्रत्येकं करणकारणानुमतिविशिष्टस्त्यजेदिति  
गाथार्थः ॥१५॥

उक्तं तृतीयं सप्रपञ्चं यथेतिद्वारमिदानीं यादृशमिति चतुर्थं द्वारं व्याचिख्यासुराह ।

वंतुच्चारसुरागोमंससमसिमंति तेण तज्जुत्तं । पत्तं पि कयतिकप्पं कप्पइ पुव्वं करिसघट्टं ॥१६॥

व्याख्या—वान्तं भुक्तोद्दिलितं, उच्चारः पुरीषं, सुरा मद्यम्, गोमांसं सुरभिपिशितं उपलक्षणत्वात् काकमांसगड्डरिकोब्दीक्षीरल-  
शुनादिग्रहः । वान्तं चोच्चारश्चेत्यादिद्वन्द्वस्तैः समं सदृशं तुल्यमिति यावत् । इदं प्रक्रान्तमाधाकर्मिकभक्तादि वर्त्तत इति शेषः । अत्रायं  
भावार्थः—यथा राजिकादिभिः कृतातिसौरभ्यादिकमपि वान्तमभक्ष्यम्, उच्चारो यथा अभोज्यः, सुरोब्दीगड्डरिकाधीरादि यथा शिष्टाना-  
मपेयम्, गोमांसादि च यथा तेषामभक्ष्यम्, जघन्यजनैश्च सुरागोमांसादेर्यद्यपि पानं भक्षणं चाचर्यते तथापि तन्न प्रमाणं शिष्टानाम्,  
अन्यथा वान्तोच्चारदीनामपि सारमेयादिभिर्भोजने आचरितत्वात्तेषामपि भक्ष्यत्वे प्रसङ्गः । एवं जिनशासनभावितानां साधूनां सावद्यत्वे-  
न निन्द्यत्वादाधाकर्मिकमपि वान्तादिकल्पमभक्ष्यमपेयमग्राहं चेति । तथा यत इदं वान्तादिसदृशमित्यतः कारणात्, तेनेति आधाक-  
र्मणाऽशनादिना तच्छुद्धमशनादिकं युक्तं स्पृष्टं मिलितं सदित्यर्थः । तच्च तद्युक्तं च तद्युक्तं, पूतिकर्मभीभूतमिति तत्त्वं, साधूनां भोक्तुं  
न कल्पते इति शेषः । यथाऽशुचिसम्बन्धिना लवेनापि स्पृष्टं भक्तादि शुचीभूतमप्यभोज्यं भवति, एवं निर्दोषतया भोज्योऽप्याहारः  
आधाकर्मिकग्राहस्य लवेनापि स्पृष्टोऽभोज्यः स्यात् पूतिरूपत्वात् तथा पात्रमपि भाजनमपि यत्राधाकर्मिकं केवलं पतितं, शुद्धाशना-  
दिमध्येऽशुद्धं वा, तद्द्वयोरशुद्धिस्तयोरधाविततया, पूतिखरण्डितं सदित्यर्थः, न कल्पते परिभोक्तुं साधूनामिति शेषः । न केवलं

साक्षादाधाकर्म पूतिकर्म वा भोक्तुं न कल्पते इत्यपरर्थः । तर्हि कीदृशं सत्तद्भाजनं कल्पते इत्याह—पूर्वं कल्पत्रयदानात् प्रथमं, करीषं शुष्कगोमयं तेन घृष्टं निमाञ्जितमशुद्धवर्तितमिति यावत् करीषघृष्टम् । भूयोऽपि कीदृशमित् प्राह—कृता विहितान्त्रयद्विसंख्याः कल्प्या जलप्रक्षालनानि यस्य तत् त्रिकल्पम् । एवंभूतं सत् कल्पते शुद्धाशनादिग्रहणाय, यत्तिजन परिभोग्यं स्याद्, इतरथा यथा क्वापि भाजनेऽशनादिकं क्षिप्तं तदुपर्यशुचिः पतिता द्वे अप्यपनीते ततोऽघाविते तस्मिन्नपरमशनादिवंक्ष क्षिप्तमभोज्यं स्याद्, एवं शुद्ध-मप्यशनाद्यघाविततया, पूतिखरण्डिते तस्मिन् गृहीतं साधोरकल्पमेवेति गार्थार्थः ॥१६॥

इदानीमशने च तस्य ये दोषा इति पञ्चमद्वारं व्याख्यातुमाह ।

कम्मग्गहणे अइक्कमवइक्कमा तह इयारणायारा । आणाभंगणवत्था मिच्छत्तविराहणा य भवे ॥१७॥

व्याख्या—सूचनात् कर्मग्रहणे आधाकर्मादानविषये उपलक्षणत्वादाधाकर्मदानं तद्भक्षणं चाश्रित्येत्यर्थः, अन्यथा ग्रहणमात्र एव वक्ष्यमाणदोषासम्भवः प्रस्तुतद्वारविरोधश्च स्यात् । तस्मिन् किमित्याह—अतिक्रमव्यतिक्रमौ तथाशब्दश्चातिक्रमादीनां सम्भव-सूचनार्थः । तथा अतिचारानाचारावित्येते चत्वारो दोषाः स्युः । स्वरूपं चैतेषां चतुर्णामपि सूत्रकार एवावेदयिष्यति । कथं पुनराधा-कर्मदानविषयेऽतिक्रमादीनां सम्भवः ? उच्यते—यदा कश्चिदभिनवश्रावकः शालिदृत्तगुडगोरसामृतवल्लीकूष्माण्डखण्डादिष्वभिनवो-त्पन्नेषु नवं वस्तु यावत् साधूनां न दत्तं तावन्न भुज्यते इत्याशयवाच् प्रायेण तस्यान्युत्पन्नबुद्धित्वाद्यथाकथञ्चिदपि नवं शालिद्वारा-दिकमाधाकर्मं कृत्वा वसतौ गत्वा गृह्यतामागत्य मदीये गृहेऽशनादिकमिति साधुमभ्यर्थयते । ततश्चासौ निमन्त्रितोऽनाभोगादुपेत्य-करणादिना वा आधाकर्मग्रहणाय यदि प्रवर्त्तते तदा तस्य साधोश्चत्वारोऽतिक्रमादयस्सम्भवन्ति । एतेषां च लघु-गुरु-गुरुतर-



गुरुत्तमदोषत्वं क्रमेण ज्ञेयम् । तथाहि—कश्चित् साधुरतिक्रमाल्ब्यं दोषं प्राप्सः सन् स्तोत्रेनापि शुभाध्यवसायेन तं दोषं विशोष्य आत्मानं संयमे व्यवस्थापयति । व्यतिक्रमदोषं तु प्राप्सः सन् गुरुणा शुभाध्यवसायेन, अतीचारदोषं तु गुरुतरेण शुभाध्यवसायेन विशेषयितुं शक्नोति । अनाचारदोषे तु यद्विषयोऽनाचारस्सेवितस्तं संयमगुणं गुरुत्तमेनापि शुभाध्यवसायेनाखण्डं साधुर्न प्राप्नोतीति । इह च क्रमशश्चतुर्व्यतिक्रमादिषु जातेषु प्राय आधाकर्माहाराभ्यवहाराः सम्भवन्ति । ततो यदा तद्ग्रहणायातिक्रमादिषु वर्त्तते, तदैवाज्ञा-मद्गादिष्वपि चतुर्षु वर्त्तते इत्यधुना तानाह—‘आणामङ्गे’त्यादि, आज्ञामङ्गः सर्वज्ञोपदेशखण्डना, अनवस्थाऽऽधाकर्मिकपरिहारेऽन्ये-पामनास्या, मिथ्यात्वं विपर्यस्ताध्यवसायरूपं, विराधना संयमादेर्विघातस्तत आज्ञामङ्गश्चेत्यादिद्वन्द्वस्ताश्च, चः समुच्चये, भवेयुर्जा-येन् । एतेषां च स्वरूपं मन्त्रकृत्कृतक्रमादिस्वरूपादुपरिष्ठाद्वयं वक्ष्यामः इति गार्थार्थः ॥१७॥

इदानीं अतिक्रमादीनां स्वरूपं निरूपयितुमाह ।  
**आहाकर्मामंतण पडिसुणमाणे अइक्कमो होइ । पयभेयाइ वइक्कम गहिण् तइएयरो गिणिए ॥१८॥**

व्याख्या—विभक्तिलोपादायाकर्मणि पूर्वोक्ते आमन्त्रणे गृहाणेदमिति गृहस्थाभ्यर्थने सति प्रतिश्रुण्वति गृहीष्यामीति जल्पत्यनिषेधेन मौनावलम्बिनि वा सति साधौ यावन्नाद्यापि तद्ग्रहणाय चलति तावदतिक्रमो मनाच् चारित्रधर्मोच्छ्वन्नं भवति । ततः पदस्य चरणस्य भेदस्तद्ग्रहणार्थं गमनायोत्पाटनं पदभेदः, स आदिर्यस्य तद्ग्रहगमनादेस्तत् पदभेदादि विभक्तिलोपात्तस्मिन् निहिते सति यावत् तत्र गृह्णाति तावद् व्यतिक्रमः, पूर्वस्माद्गुरुश्ररणेऽपराधो भवति । ततो गृहीते पात्रकादौ स्वीकृते सत्याधा-कर्मणि यावत् मुखे न प्रक्षिपति तावत् सत्यागमनादावपि कृते तृतीयोऽतिचारो गुरुतरश्रणापराधः । तव इतरोऽनाचारो गुरुत्तम-

श्चारित्रदोषो गिलिते गलादधः क्षिप्ते सति भवति । केचिद् ग्रहणं कवलोल्लरणं यावद्रिलनं तु मुखे प्रक्षेप इति व्याख्यान्तीति । इह च उत्तरगुणगोचरणामतिक्रमादीनां सूत्रे सर्वथा चरणाभावसम्पादकत्वानभिधानादाधाकर्मादिविषयणामेतेषां चरणदोषकारित्वमेव व्याख्यातुं युक्तं न तु सर्वथा चरणाभावरूपतेति, न च 'पिंडं असोहयन्तो अचरिन्ती एत्थ संसओ नत्थि,' इत्याद्यागमवचनात् सर्वथा चरणाभावकारित्वं व्याख्येयम् । यतो निश्चयनयाभिप्रायतया उत्सर्गदेशनाविषयतया अभीक्ष्णसेवागोचरतया वा इदं सूत्रं ज्ञेयमिति गाथार्थः ॥१८॥

अधुना प्रागतिदिष्टमाज्ञाभङ्गादिदोषस्वरूपमभिधीयते—यथा निष्कारणे लुब्धस्सन्नाथाकर्मदिदान आज्ञाभङ्गं कुरुते तद्ग्रहणस्य सर्वत्रैर्निषिद्धत्वादिति सर्वज्ञाज्ञालोप आज्ञाभङ्गः । एकेनापि साधुना आधाकर्मसेवादिकृतं दृष्ट्वा तत्साध्वालम्बनेनापरोऽपि साधुस्तत् सेवनं कुरुते, तं दृष्ट्वा अन्योऽपीत्येवं यावत् सर्वेऽप्यकार्ये प्रवर्तन्ते, सर्वप्राणिनां सुखाभिलाषित्वात्, एवं च संयमस्य तेषां सर्वथा छेदः स्यादित्यनवस्था । तथा साधुना प्रत्रय्याग्रहणकाले सर्व्वं सावधं योगं प्रत्याख्यामीत्युक्तम् । तदुक्तौ च प्राणिवधानुमतिजनकत्वादाधाकर्म न भोज्यं इति परमार्थत उक्तं स्यादतस्तद् शुद्धानेन तेन यथावादो भग्नः स्यात्ततोऽयथावादित्वादहो एते अन्यथावादिनोऽन्यथाकारिण इत्यादि गृहस्थाशङ्कोत्पादकत्वाच्च मिथ्यात्वं । विराधना चात्मसंयमप्रवचनभेदेन, तन्निविधा । तत्राधाकर्म, साधोः प्रायः प्राघूर्णकस्येव गौरवेण गृहिणा क्रियते इति स्वादु स्निग्धं च तत् स्यात्ततः स्वादुतया तस्मिन् प्रचूरे स्निग्धे च भक्षिते ज्वरविस्त्रिचिकादिव्याधयस्तस्य कदाचित् स्युः, ततश्च ज्ञानादीनां विराधकः स्यात्, तथाहि—तस्य सूत्रार्थपौरुष्यकरणात् सूत्रार्थहानेर्ज्ञानस्य नाशः, शरीरविह्वलादितया चारित्रादिश्रद्धाननुटेर्देशनस्य, प्रत्युपेक्षणाद्यभावाच्च चारित्रस्य नाशः स्यादित्यात्मविराधना । वैधेन च

विचिकित्सायां क्रियमाणयां पृथिव्यादयः काया व्यापाद्यन्ते, प्रतिपालकसाधूनां च सूत्रार्थहानिः स्यादिति संयमविराधना । दीर्घ-  
 रोगित्वे पीडां चानुभवत्याह बहुभक्षका एते, ये स्वोदरमपि न जानन्ति इत्यादि प्रवचनमालिन्यसद्भावरूपा प्रवचनविराधना इत्येवं  
 यतो दोषा आधाकर्मणि आग्रहणे भवन्ति तस्मात्तत्र ग्राह्यम् । अधुनाधाकर्मपरिभोगेन आज्ञाभङ्गस्य विपाकं दर्शयन्नाह—

भुञ्जइ आहाकर्मं सम्मं जो न य पडिक्कमति लुद्धो । सव्वजिणाणाविमुहस्स तस्स आहारणा नत्थि ॥

व्याख्या—भुङ्क्तेऽभ्यवहरत्याधाकर्म—पूर्वोक्तं यः साधुरिति प्रक्रमः, कीदृशः सन्नित्याह—‘लुद्धो’ गृद्धोऽनेन ग्लानादिकारणेन  
 यस्तइ गृह्णाति स आज्ञां न लङ्घयतीत्यावेदयति । भुत्त्वा च ‘सम्मं’ति सम्यगणुनराष्ट्रस्या भावशुद्धया वा यो ‘न’, नैव, चः स्यात्प्यः,  
 प्रतिक्रामत्याधाकर्मिकपरिभोगात् प्रायश्चित्तग्रहणपूर्वकं व्यावर्त्तते । स्थापितचकाराद् गृहीत्वा तन्न करोति इति गृह्यते, स आज्ञाभङ्ग-  
 दोषकारीति प्रक्रमः । तस्य फलमाह—सर्वजिनानां समस्ततीर्थकराणामाज्ञा उपदेशस्तस्या विमुखः पराङ्मुखो भ्रष्ट इति भावस्तस्य ।  
 तस्येति साधुसङ्कल्पिताहारभोजित्वादाज्ञाभङ्गकारिणो यतेराराधना सुगतिनिबन्धनसदनुष्ठाननिष्पादना, यद्वा आराधना मरणकाले  
 माविनि पर्यन्तक्रिया सा अशुद्धाहारभोक्तृत्वेन संयमादिविधातकारित्वात् तस्य नरकादिकुगतिगमनसम्भवाच्चास्ति न विद्यते ।  
 अथाऽखण्डितसंयमानुष्ठानपरिपालनस्यति पण्डितमरणेनैव सुगतिमाप्तिकारकं श्रेयस्करमुपवर्ण्यते तच्च तस्य न स्यात्, युज्यते चैतत्  
 फलं परममहाराजतीर्थकराज्ञाभङ्गकारिणाम् । यत इह लोकेऽपि राजादेरप्याज्ञाभङ्गकारिणोऽनर्थपरम्परां प्राप्नुवन्तो दृश्यन्ते, किं पुन-  
 स्तीर्थकराज्ञाभङ्गकारिणांस्तामिति । अत्र राजाज्ञाभङ्गे आख्यानकम्—

एगाए नयरीए निजियासेसत्तुवगस्स एगस्स बहलपत्तलच्छाया सरससपक्वफलपन्भारोणाभियदुमगणरमणिज्जाणि दोणिण

उज्जाणाणि होत्या । चन्दोदयं सरोदयं च । तत्थ नयरीए पच्छिमदिसाए चंदोदयं, बीयं तु पुव्वदिसाए सरोदयं । तेसु तणकड्ड-  
हारागा वि गच्छन्ति । अह चेत्तमासे अन्तेउरकीलाकोउयत्थिणा पत्थिवेण पडहगदायगा भणिया, जहा भो भो पभाते अहं सरो-  
दये उज्जाणे नियअंतेउरीहिं सद्धि कीलं करिस्सामि ति, तणकड्डहारयाइणो चन्दोदये गच्छन्तु । इय संशाए पडहगं वाएउ लोणं  
जाणेवेज्जह । तेहिं तहेव कयं । सरोदये पभाए गच्छन्ताणं मज्झे उण तओ वलंताणं आइओ संसुहो भविस्सइ, सो य दुहावहोत्ति  
चितिय सेज्वालमज्झाठियाहिं अंतेउरियाहिं सद्धि पभाए राया चन्दोदयं गओ । इओ य पडहगसवणाणंतरं एत्थ अम्हे न को वि  
पेच्छिस्सह अम्हे पुण अउव्वंदंसणाउ रायंतेउरियाउ पेच्छिस्सामो ति कोऊहल्लिणो दुवित्ता पच्छिमराइए सरोदये उज्जाणे बहलप-  
त्तवंताणं रुक्खाणं साहासु लग्गिउ ठिया । ते य उज्जाणरक्खएहिं लक्खिउण रायाणाभङ्गकारगत्ति हत्थेहिं गहिया, उंडाईहिं हया,  
रज्जुयाईहिं बद्धा य । जे य तणकड्डहारगाइणो पडहगसवणेण पभाए चन्दोदयं गया, तेहिं सहसा पविट्टेहिं दिट्ठा उ ताउ वरनेव-  
त्थविशुत्तियाउ पीणुणयघणथणवक्खोणाभियाहेकाउ पुन्नचंदवयणाउ रायअंतेउरियाउ । इमेहिं दिट्ठाउत्ति उज्जाणपालएहिं ते वि  
बद्धा । तओ नयराभिसुहं वलियस्स निवस्स मज्जनवेलाए उज्जाणपालएहिं बुत्तंतकहणपूव्वं दोवि वग्गा दंसिया, राइणां आणाभंग-  
कारिणोत्ति सरोदयगामिणो अदिट्ठोवरोहावि दुवित्ता वहाविया । इयरे आणाकारिणोत्ति दिट्ठोवरोहावि विसज्जियत्ति । एवं एत्थवि  
त्तिथयराणाभंगकारिणो जम्मजरामरणरोगसोगाइडुक्खपउरं भवजलहिपरियडणमहाणत्थं पावेत्ति गार्थः ॥१९॥

उक्तमथनेन तस्य ये दोषा इति द्वारमधुना दाने च तस्य ये दोषा इति षष्ठं द्वारं व्याचिख्यासुराह ।

जइणो चरणविघाइत्ति दाणमेयस्स नत्थि ओहेण । बीयपए जइ कत्थवि पत्तविसेसे व होज्ज जओ ॥

व्याख्या—यतः संयमोद्योगवतः साधोः, किमित्याह चरणं विहन्तुं शीलमस्येति चरणविधाति चारित्रविनाशकृदाधाकर्मिका-  
 शनादि वर्तते इत्यनेन कारणेन दानं वितरणमेतस्याशनादेराधाकर्मणो नास्ति न विद्यते गृहिण ओधेन सामान्येन कारणं विनेति  
 यावत् । उपलक्षणत्वात्तदायकशुभाल्पायुर्बन्धनिबन्धनं चेदमिति दृश्यम् । तथा च प्रज्ञप्त्यां सुपात्रमाश्रित्याशुद्धदानस्य फलम-  
 मिहितम् । यथा—‘कहं णं भंते ! जीवा अप्पाउयत्ताए, कम्मं पकरेति । गोयमा ! पाणे अह्वाइत्ता मुसं वहत्ता तहारूवं समणं वा माहणं  
 वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभित्ता । एवं खलु जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेति’ । असाधोः,  
 तत्र प्रश्नः सुगमः । उत्तरे तु ‘पाणे अह्वाइत्त’त्ति प्राणानतिपात्य आधाकर्मोदिकरणतो विनाश्य, मृपोक्त्वा पथाहो ! साधो ! स्वार्थ-  
 सिद्धमिदं भक्तादि, कल्पनीयं वो, न शक्ना कार्या इत्याद्यनुत्तमभिधायाऽप्रासुकानेपणीयेनाशनादिना चतुर्विधाहारेण । ‘तहारूवंत्ति’  
 तथाविधस्यमावं भक्तिदानोचितपात्रमित्यर्थः । श्रमणं तपःखिन्नदेहं, ‘माहणं व’त्ति मा हनेत्येवं योऽन्यं प्रति वक्ति, स्वयं हनननिवृत्तः  
 सन्नसौ माहनः, [पचाद्यच्चि] तं माहनं, यद्वा ब्रह्मचर्यं कुशलानुष्ठानं वा तदस्यास्तीति ब्राह्मणः अस्त्यर्थेऽण्, एवमादित्वात् तं ब्राह्मणं  
 ब्रह्मचर्यादिगुणगणोपेतमित्यर्थः । वा शब्दपरस्परापेक्षया समुच्चये । प्रतिलभ्योपष्टभ्य लाभवन्तं कृत्वेत्यर्थः । यद्वा ये जीवा जिनसाधु-  
 गुणपशुपातितया पूजाद्यर्थं पृथिव्याधारभ्रमेण वर्तमानाः प्राणानतिपात्य पूजाद्यर्थमेव न्यासापहारादिना च वर्तमाना, मृपोक्त्वा श्रमणस्य  
 संस्तरणे सत्यपि निष्कारणतो भक्तिमात्रेणाप्रासुकानेपणीयाशनादिचतुर्विधाहारेण श्रमणं च प्रतिलभ्येति व्याख्या । ततः सरागसंय-  
 मनिरवयदाननिमित्तायुःकृत्वाऽल्पायुःकृतयाऽल्पजीवितव्यहेतुतया जीवा आयुःकर्म बध्नन्ति । तथा च जिनागमाभिसंस्कृतमतयो  
 यतयः प्रथमवयःसंभोगिनं कंचन मृतं दृष्ट्वा वक्तारो भवन्ति । नूनमनेन भवान्तरे किञ्चिदशुभं प्राणिघातादिकमासेवितमकरूप्यं वा

मुनिभ्यो दत्तं येनायं भोग्यल्पवयाः संवृत्त इति, न पुनः शुल्लकभवग्रहणादितयाऽल्पायुक्तया ज्ञेयम् । दाननिरतस्य प्राणिनो दानेन भोगानापनोतीति वचनात्सांसारिकराज्यादिप्राप्तिनिबन्धनत्वेन तस्य शुल्लकभवग्रहणेषूपत्यसम्भवात् । तस्मादोघतः आधाकार्म्मि-  
कस्य दानं नास्तीति । कदाचित्चहिं तदानं भवेदुत सर्वथा न? इत्याह—'बीयपण' ति उत्सर्गप्रथमपदापेक्षया द्वितीयस्थानमपवा-  
दस्तत्र यदीति सम्भावने यदि परमित्यर्थः । कुत्रचित् कस्मिन् महति पुष्टे ग्लाननिर्वाहादौ कारणे, तथा पान्नविशेषे विशिष्टतपो-  
ज्ञानादिसमग्रशुणगणाधारो यतिः तद्विषये वा । वाशब्दोऽशुद्धदानसम्भवस्य द्वितीयप्रकारसमुच्चयार्थः । भवेत्स्याद्यदि परं तद्दानमिति  
प्रक्रमः । अथ किमिति द्वितीयपदमेवाश्रित्याशुद्धाशनादि गृही दद्यान्नोत्सर्गतोऽपीत्याह—'जड'ति यतो यस्मात् कारणात्, तत्रार्थे  
इदमुक्तमागमे इति गाथार्थः ॥२०॥

यदुक्तं तदेवाह—

संथरणंमि असुच्छं दोणहवि गेणहत्तदंतयाणऽहियं । आउरदिट्टतेणं तं चैव हियं असंथरणे ॥२१॥

व्याख्या—संस्तरणं प्राप्तुकैषणीयाहारादिप्राप्त्यैव साधूनां निव्विहस्तस्मिन् सत्यशुद्धमनेषणीयादितया सदोषमशनादि द्वयो-  
रपि गृह्णद्दतोग्रहिकदायकयोर्यतिगृहस्थयोर्न केवलमेकस्य कस्यचिदित्येपरर्थः । अहितमपथ्यं संयमविघातशुभाल्पायुर्बन्धहेतुत्वेन  
अनिष्टफलकृदित्यर्थः । उत्सर्गतस्तावदेव, अपवादतस्तु तमप्यनेषणीयमशनाद्याहारं न केवलमेषणीयं हितमेवेत्येपरर्थः चेवशब्दस्या-  
प्यर्थत्वात् । हितं पथ्यमिष्टफलकृत् दातुर्गृहीतुश्च केत्याह—असंस्तरणेऽनिव्विहे दुर्भिक्षग्लानादौ प्रयोजने इत्यर्थः । केन हितमित्याह—  
आतुरो रोगी तस्य दृष्टान्तो निर्दर्शनमातुरदृष्टान्तस्तेन, स चायं यथा-सामवाताद्युद्धवज्वरोगाभिभूतः कश्चिद् रोगी दृष्टपूर्णमोदकादिकं

भोक्तुमभिलषति, वैधादिकं च याचते, तच्च तस्य गृह्तोऽन्यस्य ददतश्च तत्प्रस्तावे यथा द्वयोरप्यनर्थकृत् तथा तदेव भस्मकवाता-  
 द्युपहतस्य निरामयवाताद्युद्ध्वज्वरिणो गृह्त इतरस्य ददतश्च गुणकृत् तदुक्तं वैद्यशास्त्रे—‘उत्पद्येत हि सावस्था, देशकालामयान्  
 प्रति । यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्मकार्यं च वर्जयेत्’ ॥१॥ अकार्यमकर्तव्यं यत्तदपि कार्यं कर्तव्यं स्यात्, कर्मकार्यं कर्तव्यक्रिया-  
 मित्यर्थः । एवं अशुद्धाशनादिदानमपि सति निवहि द्वयोरप्यनिष्टकार्यऽसति तस्मिंस्तदेनाभीष्टार्थलाभकारीति । तदयं परमार्थो—यद्य-  
 व्याघाकर्मज्ञाभङ्गाधनेकदोषहेतुकं वर्णितम्, तथापि ‘सन्वत्थ संजमं संजमाउ अप्पाणमेव रक्खेज्जे’त्यादि ‘अप्पेण बहुमेसेज्जा । एयं  
 पंडियलक्खरणं सन्वासु पडिसेवासु पडिसेवासु एयमत्थपयं विळु । तथा न वि किञ्चि अणुणायं पडिसिद्धं वावी’त्याद्यागमाभिज्ञैर्यथावसरं बहुतर-  
 गुणलाभाकाङ्क्षया गृह्यमाणं दीयमानं च न दोषाय इति गार्थार्थः ॥२१॥

अधुना यदुक्तं ‘पत्तविसेसे व होज्ज’ति, तत्र सुपात्रमाश्रित्य गृह्णिणस्तदानसम्भवमावेदयन्नाह—

भणियं च पंचमङ्गे सुपत्तसुद्धन्नदाणचउभङ्गे । पढमो सुधधो बीए भयणा सेसा अणिट्टफला ॥२२॥

व्याख्या—भणितं च उक्तं च पञ्चमङ्गे व्याख्याप्रज्ञप्त्यां कस्थाने इत्याह—सुपात्रशुद्धान्नदानचतुर्भङ्ग इति । तत्र  
 सुपात्रं पूर्वोक्तं, शुद्धमेपणीयं यदन्नमशनमुपलक्षणत्वात् पानादिग्रहः । तस्य दानं गृहिणा वितरणं शुद्धान्नदानं ततः सुपात्रं च शुद्धा-  
 न्नदानं चेति विग्रहः, ताभ्यां पदाभ्यां चतुर्भङ्गो भङ्गचतुष्टयम् । यथा सुपात्रं सुदानं १ । सुपात्रमशुद्धदानं २ । कुपात्रं शुद्धदानं ३ ।  
 कुपात्रं कुदानं ४ इत्येवंरूपः सुपात्रशुद्धान्नदानचतुर्भङ्गस्तस्मिन्, यद्वा सुपात्रे सुपात्राय वा शुद्धान्नदानमेषणीयाहारवितरणं तद्विषय-  
 श्चतुर्भङ्गस्तस्मिन्निति व्याख्येयम् । अधुना यदुक्तं पञ्चमङ्गे तद्दर्शयितुमाह—प्रथम आद्यो भङ्गः शुद्धः, सुपात्रसद्भावात् साध्वर्थपाका-

दिक्रियाजनितकर्मबन्धक्षणदोपरहितत्वेन सुदानत्वाच्च अशुभकर्मनिर्जराहेतुतया निर्दोषः, तदनुपुण्यानुबन्धिपुण्यकारणत्वात्, प्रा-  
ग्जन्मनि वितीर्णसुपात्रशुद्धदानयोः कृतपुण्यकशालिभद्रयोरिवापेक्षयैवोक्तम्, तेनाभीष्टमोक्षादिकलप्राप्तिजनकत्वात् सर्वोत्तम इति ।  
अन्यत्रापि चोक्तं विधिविशेषाद् द्रव्यविशेषाद्दृष्टविशेषात् पात्रविशेषाच्च फलविशेषः । तथा द्वितीयभङ्गके, शुद्धेर्भोजना विकल्पना ।  
तथाह्यत्र यावता सुपात्रदानं तावता प्रभूतकर्मनिर्जरासद्भावाच्छुद्धिविता दानमशुद्धं तावता पापकर्मलेशसद्भावादशुद्धिरिति भजना ।  
तथा शेषाबुद्धरितौ तृतीयचतुर्थभङ्गकावनिष्टं फलमनभिमतं साध्यं दानप्रयुक्तेर्योस्तावनिष्टफलौ । इतरेर्गम्यमानत्वादित्येतद् भणितमि-  
ति । इदं च मोक्षसाधकदानापेक्षयाऽन्यभङ्गद्वये कुपात्रविषयायाः शुद्धाशुद्धदानप्रयुक्तेः पापानुबन्धिपुण्ययोर्पाञ्जिकत्वेन सांसारिकराज्या-  
दिभोगमात्रकारणत्वादिनिष्टफलत्वमुच्यते । तथा च तत्सूत्रं यथा 'समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएणं  
एसिणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ? गोयमा ! एगंत सो निजरा कज्जइ नत्थि से पावे कम्मे । 'सम-  
णोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ ?  
गोयमा ! बहुयतरियासे निजरा, अपपररे से पावे कम्मे' । अनेन द्वितीयदण्डकेनात्र प्रकृतम् । अस्यार्थः श्रमणोपासकस्य श्रावकस्य  
श्रमणं यतिं ब्राह्मणं ब्रह्मचर्यादिगुणोपेतं वन्दित्वा नमंसित्वा सत्कारयित्वा सन्मानयित्वा वन्दनादिव्यतिरेकेण वा अप्रासुकेनानेष-  
णीयेनाशनादिना चतुर्विधाहारेण प्रतिलम्भयतः लाभवन्तः कुर्वन्तः किं क्रियते, किं फलं भवति तस्य ? उच्यते—चारित्रसाधककायो-  
पष्टम्भात् प्रभूततरा निर्जरा अशुभकर्मपुद्गलपरिशाटरूपा पापकर्मापेक्षया बद्धी सञ्जायते । निर्जरापेक्षया जीवादिघातेन व्यवहारतस्त-  
च्चारित्रबाधया च शुभालपायुःकर्मबन्धकत्वं च भवति । शुभमपि चायुरल्पमहिततया पापरूपमेवेह विवक्षितम् । अत्र च गुणवत्पात्र-



माश्रित्याकारणेऽपि भावप्रकर्षविशेषादप्रासुकानेपणीयादेरपीदं फलं न विरुध्यते, अचित्यत्वाच्चिपरिणतेरिति सम्भाव्यते, अत एतद् भगवन्नीवचनाद् ज्ञायते । सुपात्रमाश्रित्यानेपणीयदानमपि भक्तिरलितचित्तत्वेन ददतः कदाचिन्न तथाविधबहुदोषकारीति सुपात्रे तदपि कदाचिद् गुह्यिणः सम्भवतीत्यावेदितम् । तथा 'समणोवासगस्स णं भंते ! तहारूवं असंजयअविसयअपडिहयपचक्खायपाव-  
 क्रम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा असण ४ पडिलाभेमाणस्स किं कञ्जइ ? हंता गोयमा ! एंगंत सो पावे कम्ममे कञ्जइ नरिय से कावि णिज्जरा' । सुगमं चैतत्, नवरं असंयतः सप्तदशप्रकारसंयमाद् बहिर्भूतः । तथा विविधमनेकधा द्वादशविधे तपसि स्तो विरतस्तन्निषेधादविरतः, तथा प्रतिहता निर्ग्रन्थमेदेन स्थितिहासात् प्रत्याख्यातानि हेत्वभावतः पुनर्वृद्धिनिरोधात् पापकर्माणि ज्ञानावरणादीनि येन स तथा तन्निषेधादप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा तम् । एवं चासंजयेत्यादिना निर्गुणः पात्रविशेष उक्तो । अनेन च तृतीयचतुर्थभङ्गावनेनैव दण्डकेन तुल्यफलत्वादुक्तौ । तृतीयभङ्गे सुदानस्यापि कुपात्राश्रितत्वादुभयाशुद्धभङ्गफलवधथोक्तफलत्व-  
 मेव । असंयमोपष्टम्भस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् पश्चात्प्रासुकादौ जीवघाताभावेन अप्रासुकादौ च जीवघातसद्भावेन विशेषः । सोऽत्र न विवक्षितः पापकर्म्मणो निर्जराया अभावस्यैव चेह विवक्षितत्वादित्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥२२॥

इदानीं यथापृच्छेति सप्तमं द्वारं न्याचिख्यासुराह—

देसाणुचियं बहुद्व्वमप्पकुलमायरो य तो पुच्छे । कस्स कए केण कयं लक्खिज्जइ बज्झलिंगेहिं ॥२३॥

न्याख्या—देशः सुराष्ट्रमालकप्रभृतिको मण्डलः । सोऽनुचितोऽयोग्यस्तस्मिन्, तस्याभावाद् यस्य देयवस्तुनस्तद्देशानुचितम् आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वाभिष्टान्तस्य पूर्वनिपाताभावो, यद्वा देशस्यानुचितं तत्र तस्यासम्भवाद् अयोग्यं, देशानुचितमिति विग्रहः ।

बहु प्रचुरं द्रव्यं शाल्योदनमण्डकसक्तकुल्माषमुद्गादिकं, बहु च तद्द्रव्यं चेति विग्रहः । अल्पमेकद्विमानुषं कुलं गृहं ततोऽल्पं च तत् कुलं चेति विग्रहः । आदरो दातुर्भक्तिकृतः सम्भ्रमः च समुच्चये । यदि स्यादिति शेषः । 'तो'चि ततस्तदनन्तरं तदा वा तस्मिन् काले आधाकर्मशङ्कासम्भवात् पृच्छेत्, प्रश्नयेत् कथमित्याह-कस्य कृते कस्य पुरुषादेर्निमित्तम् । केन वा प्रयोजनेन कृतं विहितमेतदितेर्गम्यमानत्वादित्येवंरूपतया किं निमित्तोऽयमारम्भ इत्यादि प्रश्नं कुर्यादिति यावत् । तत्र तु प्रचुरमपि द्रव्यं लभ्यते केवलं तत्र देशे प्रभूतमुत्पद्यते यथा-मालवके मण्डलादि अनादरवांश्च दाता तत् प्रयच्छति । तत्र स्वदेशोचिते प्रचुरेऽपि लभ्यमाने द्रव्येऽनादरवति दातरि त्र्यादिमानुषे गृहे आधाकर्मशङ्काया अभावान्नापृच्छेदेवं वा, यत्र पदे शङ्का स्यात् तत्र प्रश्नं विधाय निःशङ्कितं कृत्वा तद्ग्राह्यमित्यावेदितं भवति । कथं पुनः प्रश्नितेऽपि परेण कृतमाधाकर्म विज्ञायते परभावस्य दुर्ज्ञेयत्वादिति, आह-लक्ष्यते विज्ञायते यदुत शुद्धमिदमिति । कैरित्याह बाह्यलिङ्गैरिति । तत्र बाह्यानि बहिर्भवानि सर्वजनप्रत्यक्षाणि लिङ्गानि चिह्नानि वचनविन्यासपरस्परबलोकनसविलक्षहसनादीनि, तेषां निपुणान् प्रत्याऽऽन्तरपरभावप्रकाशकत्वे गमकत्वालिङ्गत्वं ततो बाह्यानि च तानि लिङ्गानि चेति विग्रहस्तैरित्ययमर्थः । ऋज्व्यो नार्यः कृताधाकर्मिकाः पृष्टाः सत्यः तव निमित्तमिदं विहितमिति वदन्ति । मायाविन्यस्तु मुखेन गृहार्थं कृतमिदमिति जल्पन्ति, चेष्टया तु ज्ञातास्म इति सलज्जं परस्परं वीक्षन्ते किञ्चिद्ददन्ति च । तत आधाकर्मिकमेतदिति विज्ञाय न गृह्णन्ति साधवः । अथ कथाचित् प्रश्नानन्तरं गाढं दातारो रोषं कुर्यात् । यद्वा केयं मदीयाशनादिविषया भवतां तत्तैरित्यवज्ञावचनं ब्रूयाः ततस्तद्भ्रामलीकसत्यकोपादिकं विज्ञायाशनादि ग्राह्यमिति । तदेवमनेन गाथाचतुर्थपादेन आधाकर्मिकपरिज्ञानोपाय उक्तः । एवमौद्देशिकादिष्वपि यत्र विशेषतः सूत्रकारो न भणति तत्र स्वयमसावभ्यूहो वयं च किञ्चिद्दर्शयि-

व्यामः । किं च सर्वदोषविषयशुद्धशुद्धिपरिज्ञानकारणमुपयुक्तैव । ततः संयमविघातकारिषु शुभेष्वशुभेषु वा शब्दादिष्विन्द्रियपथं  
स्वल्पमवतीर्णेषु रागद्वेषाकरणतः तेषु अदत्तमना भिक्षाचर्यायां प्रविष्टो मुनिः भिक्षाविषयैषणायामेव दत्तमना भवेत् मण्डितालंकृतव-  
धून्वदत्तावधानो नीरनीरणयोरेव कृतावधानो गोवत्सक इवेत्यत्राख्यानकं यथा ।

‘एगंमि नयरे एगो समिद्धो सेट्टी आसि तेण पहाणमन्दिरं कारियम् । तस्स बहवे पुत्ता, बहुयाउ य बहुयाउ, कालेण सेट्टि-  
णीए पञ्चत्तम्रवगयाए गिहतत्ति कारियाउ जायाउ, तेसिं तु एगा गावी पउरदुद्धा सवच्छा आसि । सा य दिवसे वाहिं चरणत्थं  
पट्टविज्जइ । वच्छो उ गिहे घरिज्जइ । तस्स य सव्वा बहुयाउ नीरणं पाणियं च दोइंति । अन्नया तग्गिहे नियपुत्तस्स विवाहो उवट्ठिओ  
तत्थ ताउ सविसेसं आहरियविभूसियाउ ताणं सपरेसि मण्हणवाववाडाणं वीसरिओ वच्छो न य तस्स एगाए नीरणं वा पाणियं  
वा दोइयं । जाव मज्झन्न सेट्टी समागओ तं दहुं वच्छओ रंजिउं लग्गो तेन नायं जहा अज्ज भुक्खिओ एस चिद्धइ । बहुयाउ  
निम्भञ्छियाउ ततो जेट्टा बहू ससंभमंता नीरणपाणियं गहाय वच्छाभिमुहं चलिया । तओ वच्छो न तारिसं ताहिं समलंक्रियं  
भवणं (वयणं) जोएइ किंतु नीरणपाणियं एगाए दिट्ठीए झायमाणो अवलोयइ जाव लद्धंति’ ।

अत्रोपनयो यथासौ गोवत्सो निजाहारे मूर्च्छितो गृद्धश्च दत्तावधानो न पूर्वोक्तस्वरूपं गृहं नापि कृतशृङ्गारालङ्कारा बधूः  
पश्यति । किं तर्हि गोभक्तमेवावलोकयतीत्येवं साधुरपि चारित्रे मूर्च्छितो गृद्धश्चोपयुक्तो न विषयभिक्षादात्रीषु मूर्च्छां करोति । किं  
तर्हि चारित्रोपपम्बिकायां भिक्षायासेवोपयोगं ददातीत्येवं उपयुक्त आधाकर्मिकतां शेषैषणादोषांश्च श्रमणः श्रवणचक्षुःप्रभृतिकर-  
णोपयोगवान् दात्र्याः साधवे भिक्षादानाय गमनागमनादिं कुर्वन्त्याः सत्कारश्रवणादिप्रकारेण जानातीत्येवं संशोध्य भिक्षा ग्राह्येति

गाथार्थः ॥२३॥

अधुना छलनाख्यमष्टमं द्वारं व्याचिख्यासुराह ।

शोवंति न पुष्टं न कहियं व गूढेहिं नायरो व कओ । इय छलिओ न लगइ सुउवउत्तो असढभावो ॥२४॥

व्याख्या—स्तोकं खल्यं एतदशनादिकं दृश्यते दात्र्या दीयमानमित्येतत् सम्प्रधार्य उपलक्षणत्वाद् बहुपि देशोचितमिति कारणाद्वा, न नैव पृष्ठं कस्याथयिदमित्यादिपूर्वोक्तप्रकारेण प्रश्रितं दातुः पार्श्वदिवं वस्त्विति शेषः । तथा पृष्ठैः किमर्थमिदं राद्धमि-  
त्यादिप्रश्रितैः सद्भिर्दातृभिर्न नैव कथितं वा प्रतिपादितं वा मायावित्वात्, यथा भवदर्थं कृतमिदमिति । तथा गूढैरलक्ष्याशुद्धाहा-  
रदानादिभौ वैर्दातृभिर्न नैव आदरोऽभ्युत्थानप्रसन्नवदनवन्दनादिप्रतिपत्तिरूपो, वा विकल्पे, कृतो विहितः । तत एवं यतमानस्यापि  
यतेः कदाचिदशुद्धाहारदेर्ग्रहणं स्यादिति । ननु तर्हि तद्ग्रहणे आधाकर्मजनितकर्मबन्धदोषवानसौ स्यादित्याह—‘इय’त्ति किल पूर्वो-  
क्तप्रकारेण सम्पृच्छथ आहारग्रहणे छलनैव प्रायो न सम्भवति, परमित्येवं स्तोकाशनदानादिना प्रदर्शितप्रकारेण छलितोऽप्यशुद्धा-  
शनादिग्रहणवानच्छलितोऽशुद्धाशनादिग्रहणजनितकर्मणा नाश्लिष्यत एवेत्यपि सूचयति । न नैव लगत्यशुद्धाशनादिग्रहणजनित-  
कर्मणा आश्लिष्यते । हेतुद्वारेण विशेषणद्वयमाह—श्रुतोपयुक्तो, लुप्तसमुच्चयार्थचकारस्य दर्शनादशठभावश्चेति दृश्यं । तत्र श्रुते  
पिण्डैषणानिरूपक आगमे उपयुक्त आहारादिशुद्धयशुद्धिविषये दत्तावधानो यथा अमुकेन सूत्रेण शुद्धोऽयमाहारो लक्ष्यत इत्यादि स  
श्रुतोपयुक्तः । स हि श्रुतोक्तप्रकारेणाशुद्धमप्यशनादि शोधितं गृह्णन्नदोषवानेव श्रुतप्रमाण्यात्तथा अशुद्धमपि छन्नस्थपरीक्षया निःशङ्की-  
कृतं गृहीतं शुद्धमेव मत्वाऽऽनीय दत्तं, श्रुतं प्रमाणीकुर्वन् केवल्यप्युपभुङ्क्ते । ‘अहो सुउवउत्तो सुयनाणी जहवि पिण्डइ अशुद्धं तं

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
श्रद्धसूरीया  
वृत्तिः

॥२१॥

केवली चि भुंजइ अपमाणं सुयं भवे इयरा' ॥१॥ तथा आहारग्रहणं प्रति गार्ह्यभावादशोऽमायावान् भावोऽध्यवसायविशेषो यस्य स अग्रहणं मायारहितभावोपेतो, मायी ह्यहारादिगार्ह्यपरिणामसद्भावाद् बहिर्दृश्यैव गवेषयति न प्रयत्नेन अतोऽसावशुद्धमाददानः कर्मणा वर्धते । तदिह परिणामशुद्धिरेव प्रकर्मबन्धाभावे कर्मक्षये वा कारणं नापरं किञ्चिदिति गाथार्थः ॥२४॥

इदानीं लिङ्गिष्वपकज्ञातेन तस्याग्रहणेऽपि च परिणामविशेष एव शुद्ध्यशुद्धिकारणमित्यावेदयन् शुद्धिद्वारं नवमं व्याख्यातुमाह ।  
आहाकर्मपरिणओ वज्जइ लिंगिव्व सुद्धभोई वि । सुद्धं गवेसमाणो सुज्जइ खवगव्व कम्ममे वि ॥२५॥

व्याख्या-आधाकर्मैतदित्येतस्मिन्नध्यवसाये परिणतः स्थितः माधुराधाकर्मपरिणतः, तव किमित्याह-बध्यते आधाकर्मप-रिभोगितया कर्मणाऽऽश्लिष्यते, क इवेत्याह-लिङ्गीव सङ्घभोज्यपरिकल्पिताशुद्धाहारभोजकसाधुरिविति दृष्टान्तः शुद्धभोज्यप्युद्गमादिदोपरहिताहाराभ्यवहारकोऽप्युपलक्षणत्वात् प्रासुकभोजिग्रहे न केवलमेतद्, विपरीतभोजीत्यपर्यर्थः । इह च प्रासुकैषणीययोर्द्वयोर्भोज्यत्वैऽपि कापि ग्लानादिप्रयोजने एषणीयाभावेऽनेषणीयमपि युज्यते न तु प्रासुकाभावेऽप्रासुकमपि । किं तर्हि, श्राविकादिना तदभावे स्वयं प्रासुकीकृतमेव भोक्तव्यमित्येवमागमव्यवस्था विज्ञेया । ततो गुणपत् द्वयोरूपादानं दृश्यते । लिङ्गिदृष्टान्तोऽयं-

‘यथा एगंमि नयरे एगो महाविभूतिकलितो सावगो सेट्ठी होत्था, तेण य रहजत्तपइहाइकम्मिइपओयणे संघभोज्यं दवावियं । इओय पचासन्नगामवत्तिणा एणेण साहुणा सुयं, जहा तंमि नयरे अणुगो सावगो सेट्ठी संघमत्तं देइ । तओ सो तग्गहणत्थं सिग्घ-मागओ । तं सन्वमन्नेसिं दिन्नं । तेण सेट्ठी मग्गिओ । सेट्ठिणा भज्जा भणिया, तीए कहियं जहा सव्वं दिन्नं, सेट्ठिणा भणियं मम रसोईए मज्झाउ देहि तओ तीए साल्लिकूरपक्कान्पभिइसव्वं दोससुन्नं भोयणं पडिणुन्नं भोयणं ति काउं सुत्तं । सो

सुद्धं पि सुंजतो परिणामवसेणाहाकम्मदोसजणियकम्मणा बद्धोत्ति ।  
तथा शुद्धसुद्धमादिदोषरहितमाहारं गवेषयन् मार्गयन् साधुः शुद्ध्यात्याधाकर्ममाप्रतिषेधजनितकर्मबन्धापत्तिरूपदुष्परहितः  
स्यात् । क इवेति आह-क्षपक इव मासोपवासपारणकभोक्तृत्यतिरिवेति दृष्टान्तः । 'कम्मे वि'त्ति सूचनादाथाकर्मण्यपि पूर्वोक्ते भुवते  
इति शेषः । शुद्धोऽश्नादौ शुद्ध एवेत्यर्थः । क्षपकदृष्टान्तो यथा-

‘एगंमि नयरे गुणरयणनिहिणो सुसिस्सगणपरियरिया के वि सुरिणो विहरंता समागया, तेसिं मज्जे इहपरलोएनिष्पिवासो  
विन्नायसमयसब्भावो विगिहृतवोकम्मकारी सज्जायज्झाणनिरओ एगो खवगसाहू होत्था । अन्नया स खवगो मासपारणगस्स  
पज्जन्ते मा एत्थ कोइ पारणगं नाउं आहाकम्माइ करिस्सइ, ता पच्चासन्ने कामे गंतूण अनाओ चेव पारेमि ति चिन्तिऊण  
गओ पच्चासन्नगामं, तत्थय एगाए सावियाए खवगो खवणे उवविट्ठो पारणदिणं च सुयं । तओ तीए भत्तीए मा कयाइ खवगो इत्थ  
एहि ति चिंतिउं वयगुलसंजुत्ता खीरी निम्मविया आहाकम्मिय ति नाउं मा सो परिहरिस्सइ ति माइठाणं कयं । जहा पत्तलाउ  
सरावाणि य खीरीखरंटियाणि काउ ठाणाठाणेषु खित्ताणि । तथा डिंभाणि सिक्खवियाणि जहा जया एरिसो तारिसो साहू एत्था-  
गच्छइ तथा तुब्भे भणिज्जह । अम्मो बहुया खीरी अम्हाणं परिवेसिया न रुच्चइ, अहं तुब्भे निब्भच्छिस्सामि, तुब्भे भणिज्जह  
किं दिणे दिणे खीरी रंथेज्जइ । एत्थंतरे सो खवओ हिंडंतो भवियव्वयावसेणं पढममेव तीसे गिहे संपत्तो, अंतो समुट्ठिय-  
महाभत्ती बाहिं अवन्नावंभी (दंसी) मोणेण ठिया ताणि य सिक्खावियडिंभाणि तहेव काउं पयट्ठाणि । तीए व ताणि तहेव निब्भ-  
च्छिऊण शुंडंकियसुहीए खवगो भणिओ । जहा एयाणि ताव मस डिंभाणि मत्ताणि, जइ तुज्ज रोयइ ता गिण्ह इमं खीरी ति

मणमाणीए खवगस्स जावणानिमित्तं धयगुलसंजुत्ताए खीरीए गरुयं भायणं भरेऊण आणियं । साहुणा य एसणीवउत्तेण सुद्ध  
 त्ति कट्टु गहिया पज्जत्तं ति काउं नियत्तो जोयराओ । भोयणट्ठो रुक्खस्स कस्स वि हेट्ठा गओ तत्थ य आलोइय पडिक्कन्तो विहिय-  
 तक्कालकरणिज्जसज्जायाइजोगो चिंत्तिउं पयत्तेयत्तो जहा एरिसं दव्वं उक्किट्ठं च सुद्धं मए लद्धं तो जइ कोइ साहू अट्ठाणाइ पडिवन्नो  
 होइ तो संविभागिय भुंजेमि, तेणाइं संसारमसुद्धाओ उत्तरेमि त्ति तस्स धम्मचिंता जाया न उण खीरस्सोवरि सुच्छा, जहा एयाए  
 मम सरिंरं लट्ठं मट्ठं बलिट्ठं भविस्सइ तओ पंचनमोक्कारपुव्वयं विहीए भुंजउ पयत्तो ताहे सुहज्झवसायस्स भुत्ते भोयणे केवल्लनाणं  
 जायं । कालेण मोक्खगमणं ति ।

इति परमार्थतोऽध्यवसायोऽत्र कारणं तेन गूढाचारादीनां सत्कमाधाकर्ममार्गि शोधितं भुंजानः साधुरबन्धक एवेति गाथार्थः ॥  
 इदानीं द्वारागथोपात्तचशब्दसूचितमाधाकर्मग्रहणं प्रतीत्याक्षेपपरिहारद्वारं व्याचिख्यासुराक्षेपं तावदाह—

नणु सुणिणा जं न कयं, न कारियं नाणुमोइयं तं से । गिहिणा कडमाययओ, तिगरणसुद्धस्स को दोसो ॥

व्याख्या—तन्निन्यक्षमायां मुनिना यतिना यदशनादि न कृतं न राद्धं स्वयं न नैव कारितं रंधितमन्येन न नैवानुमोदितं परेण  
 क्रियमाणं कृतं वा श्लाघितं ततश्च तदशनादि से तस्य साधोर्गृहिणा गृहस्थेन कृतं साध्वार्थमविहितमाददानस्य गृह्यतः त्रीणि कर-  
 णानि मनोवाकायलक्षणयोगत्रयरूपाणि शुद्धानि करणकारणानुमतिप्रवृत्त्यभावेन पाकादिक्रियाजनितकर्मबन्धलक्षणरहितत्वान्निर्म-  
 लानि यस्य स तथा । यद्वा त्रिभिः करणैर्मनःप्रभृतिभिः शुद्धो निर्दोषस्तस्येति । अत्र पाकादिक्रियायां यतिसत्कमनःप्रभृतीनाम-  
 व्यापृत्तत्वात्जनितकर्मबन्धाभावेनास्य शुद्धता ज्ञेया । कः कीदृशो दोषः पाकादिक्रियाजनितकर्मबन्धरूपो न कश्चिदित्यर्थः । अ-

यत्र भावार्थो-यत्कर्म येन कृतं तत्तेनैव भोक्तव्यं, नान्येन कृतमन्येनेति वस्तुस्थितिरत आहारपाकादिजनितं पाचकादिसत्कं ज्ञानावरणादिकर्म पाचकस्यैव लगति नासौ तद्ब्राह्मणपि परकर्मणा श्लिष्यते । अथान्यकृतेऽपि व्यापारे बन्धोऽन्यस्य स्यात् यथाहिव्याधेनापि कृते स्थापिते मृगस्यैव बन्धो न व्याधस्य इह व्याधकृता बन्धक्रिया मृगे संक्रान्ता, एवं गृहस्थेनापि यत्यर्थं कृते पाके पाकादिक्रियाजनितकर्मबन्धस्तद्ब्राह्मणकृतेऽपि व्यापारेऽन्यो बध्यते तथा कथमपि कूट-कृतया चलनक्रियया, कृते मृगस्यापि बन्धो जातः । तथाहि-असौ कूटपातविषयमनपहरन् कृते रज्वादिना बध्यते तथा कथमपि कूट-पातविषयमागतोपि बन्धं पतन्तं दृष्ट्वा इदिति तद्विषयान्निःसर्तुमशक्नुवंश्चेति स्वव्यापारेणैव तस्य बन्ध इति । एवं यतिरप्यशुद्धा-हारदानरूपे पाचककृते यन्त्रविशेषे कर्मणा बध्यते । यद्वाधाकर्म गृह्णतोऽशुभाध्यवसायवांस्तद्गृहीयात्तदिहाशुभभाव एव परिहर्तव्यो । यच्च गृहिणा कृतं तदकृतं न स्यात् ततश्च तद्ग्रहणेऽपि साधोर्न दोष इति पराशय इति गाथार्थः ॥२६॥

गुरुः परिहारमाह ।  
सत्त्वं तद्विमुक्तं गिणहंतो वद्वेष पसंगं से । निद्धंसो य गिद्धो, न सुयद् सजियं पि सो पच्छा ॥२७॥

व्याख्या—सत्यमवितथमेतत् स्वयमकृतादिस्वरूपं तत् तथापीति परेणाभ्युपगतार्थस्य दूषणघोतकं, 'मुण्तो'ति साध्वर्थमि-दमिति जानन्, अजानतो ग्रहणेऽपि न तथाविधो दोष इत्यनेनाचष्टे, 'गिणहंतो' ति गृह्णनाऽऽधाकर्मिकमादानः वर्द्धयति प्रतिक्षणं वृद्धिं नयति, प्रसङ्गः प्रवृत्तिस्तं कारणग्रहणयोरिति मस्तावाद् दृश्यन्ते । कस्येत्याह स इति प्रक्रमात् स्वपरस्य गृहस्थस्य आत्मनश्च, स्वस्य तत्राधाकर्मकारणप्रसङ्गं, परस्य ग्रहणप्रसङ्गं च वर्द्धयति । तथाहि यदैकां वारां गृहस्थ्या दत्तं तत् स गृह्णाति ततः सा वान्या च तद-



यमत्र भावार्थी—यत्कर्म येन कृतं तत्रेनैव भोक्तव्यं, नान्येन कृत्मन्वेनेति वस्तुस्थितिरत आहारपाकादिजनितं पाचकादिसत्कं ज्ञानावरणादिकर्म पाचकस्यैव लगति नासौ तद्ग्राह्यपि परकर्मणा श्लिष्यते । अथान्यकृतेऽपि व्यापारे बन्धोऽन्यस्य स्यात् यथाहि—व्याधेनापि कूटे स्थापिते मृगस्यैव बन्धो न व्याधस्य इह व्याधकृता बन्धक्रिया मृगे संक्रान्ता, एवं गृहस्थेनापि यत्पर्य कृते पाके पाकादिक्रियाजनितकर्मबन्धस्तद्ग्राहकादेः स्यात् तस्य गृहस्थस्येति चेत्, तदसत् यतो नान्यकृते व्यापारेऽन्यो बध्यते किन्तु स्वयं कृतया चलनक्रियया, कूटे मृगस्यापि बन्धो जातः । तथाहि—असौ कूटपातविषयमनपहरन् कूटे रज्ज्वादिना बध्यते तथा कथमपि कूटपातविषयमागतोपि बन्धं पतन्तं दृष्ट्वा क्षटिति तद्विषयाग्निःसर्तुमशक्नुवंश्चेति स्वव्यापारेणैव तस्य बन्ध इति । एवं यतिरभ्यशुद्धा-हारदानरूपे पाचककृते यन्त्रविशेषे कर्मणा बध्यते । यद्वाधाकर्म गृह्णतोऽशुभाव्यवसायवांस्तद्गृहीयात्तदिहाशुभभाव एव परिहर्तव्यो । यच्च गृहिणा कृतं तदकृतं न स्यात् ततश्च तद्गृहणेऽपि साधोर्न दोष इति पराशय इति गाथार्थः ॥२६॥

गुरुः परिहारमाह ।  
सञ्चं तद्विमुण्णतो गिणहंतो वद्ध्वा पसंगं से । निद्धंभसो य गिद्धो, न मुयद् सजियं पि सो पच्छा ॥२७॥

व्याख्या—सत्यमवितथमेवमेतत् स्वयमकृतादिस्वरूपं तत् तथापीति परेणाभ्युपगतार्थस्य दूषणद्योतकं, 'मुण्णतो'ति साध्वर्थमिदमिति जानन्, अजानतो ग्रहणेऽपि न तथाविधो दोष इत्यनेनाचष्टे, 'गिणहंतो' ति गृह्णनाऽऽधाकर्मिकममाददानः वर्द्धयति प्रतिक्षणं वृद्धिं नयति, प्रसङ्गः प्रवृत्तिसत् कारणग्रहणयोरिति प्रस्तावाद् दृश्यन्ते । कस्येत्याह स इति प्रकमात् स्वपरस्य गृहस्थस्य आत्मनश्च स्वस्य तत्राधाकर्मकारणप्रसङ्गं, परस्य ग्रहणप्रसङ्गं च वर्द्धयति । तथाहि यदैकां वारां गृहस्थया दत्तं तत् स गृह्णाति ततः सा धान्या च तद-

यमन्यसाध्वयं च पुनः पुनस्तत्करोति तथैकां वारां तद्ग्रहणप्रवृत्तरसम् भिन्नदंष्ट्रत्वादिना सोऽपि तदाचरितं प्रमाणीकुर्वन्तोऽपरेऽपि साधवः पुनः पुनस्तद्गुह्यन्ति ततश्च निदंघसो निर्दग्मा चकाराद् भिन्नदंष्ट्राश्च ते दृश्याः । तत्र भिन्नाः तद्रसेन व्यासा दंष्ट्रा दन्त-विशेषा यस्य स तथा लब्धतदास्वाद इति हृदयं । गुह्यः शोभनतयाधाकर्मभिलाषातिरेकवान् न मुञ्चति न त्यजति सजीवमपि सचे-तनमपि बीजपूरादि न केवलमचेतनमित्यपेरर्थः स आधाकर्मिकग्राही यतिः, पश्चादात्मनस्तद् प्रसङ्गवृत्त्यनन्तरमिति । यदा च तन्न शुक्राति तदा स एव कारणग्रहणप्रसङ्गं निवारयति परं पूर्वोक्तैव व्यत्ययेन तत्प्रसङ्गनिषेधभावना कार्या निःशुक्रता चैव परिहृता भवतीति सामर्थ्यदुक्तं भवतीति गाथार्थः ॥२७॥

व्याख्याता 'तं पुण जं जरस जहे'त्यादिद्वारगाथा, तद्व्याख्यानाच्च व्याख्यातं सप्रपञ्चमाहाकर्ममुदेसिएत्यादिगाथोपात्तमाधाक-मिकद्वारम्, इदानीं तद्गाथोच्छ्रितमेवौद्देशिकद्वारं व्याचिख्यासुस्तद्भेदनिरूपणं तन्मध्यादेकस्य स्वरूपं चाह ।

**उद्देशियमोहविभागधो य, ओहे सए जमारंभे । भिक्त्वाउ कइवि कण्णइ, जो एही तस्स दाणट्ठा ॥२८॥**

व्याख्या—औद्देशिकमुक्तशब्दार्थं द्विधा भवति इति शेषः । कथमित्याह—ओषविभागतस्तत्रौष उद्देशादिभेदानामविवक्षया सा-मान्यं । तथा विभजनं विभागः, तेषामेव विवक्षया विशेषस्तत ओषश्च विभागश्चेति विग्रहे तौ तथा, ताभ्यां । ततः चः समुच्चये औषौद्देशिकं विभागौद्देशिकं चेत्यर्थः । तत्रौषे औषौद्देशिकं तत् स्यादिति शेषः । अयं किमित्याह—'सए जमारंभे'त्यादि स्वके आत्म-विषये आत्मार्यामिति यावत् आरम्भे व्यापारे कृते सति यदशनादि निष्पन्नं तन्मध्यात् भिक्षा भक्तादिविभागात् कत्यपि कियतीरपि, अपिः परिपूर्णभोजनदानस्य सम्पूर्णभिक्षाणां च दानशक्त्यभावं सूचयति, कल्पयति सम्प्रधारयति कश्चिद् गुहीति गम्यते । किम-

पिण्ड-  
विशुद्ध-  
श्रद्धासरीया  
वृत्तिः

॥२४॥

र्थमित्याह-यः कश्चित् पात्राण्डिकः शाक्यादिगृहस्था वा एष्यति गमिष्यति तस्य पात्राण्डिकादेर्दानार्थं वितरणनिमित्तं गृहयोग्य-  
राद्धमध्यादानार्थं भिक्षां व्यवस्थापयतीति तत्रमिति स्वरूपमस्येति । कथं पुनरस्य सम्भव इति चेदुच्यते । इहानुभूतदुर्भिक्षबुभुक्ष आसा-  
दितसुभिक्षः कश्चिद् गृहस्थो गृहस्थी वा चिन्तयति यथा जीविता वयं कथमपि महाकष्टेन दुर्भिक्षे अतः किञ्चित् सञ्जातवृत्तिकस्य  
प्रतिदिनमर्थिजनसम्पूर्णभोजनदानशक्त्यभावे मम भिक्षा अपि तावत् कियत्यो दातुं युक्ता यतो नादत्तमिह जन्मन्यपरत्र स्वर्गाधिवा-  
स्यादिसु भुज्यते दत्तस्यैव भोगात् । नाप्यकृतं पुण्यं स्वर्गमनाद्यवाप्तये भवति कृतस्यैव फलदानसमर्थत्वादिति । पुण्योपार्जनाभिप्रा-  
यवान् यदा गृही गृहयोग्यराद्धमध्यादेव तावतीभिक्षा अर्थिभ्यो दास्यामीति सामान्यसङ्कल्पेन कल्पयति तदा तत्रथाभूतं भक्तमोर्षो-  
देशिकं स्यादित्थमिदं भवतीति । कथं पुनरिदमपरचेतोवृत्तिकल्पितं ह्यस्येन ज्ञायते ? उच्यते उपयुक्तो गृहस्थमापितादिविचेष्टितेन  
जानाति । तथाहि-कश्चिद् गृहे भिक्षार्थं प्राविष्टः साधुः स्वामिना भार्याया भिक्षा दापितायाः सत्या अन्यभिक्षाचरेभ्यस्ताः प्रतिदिनदेय-  
तया सङ्कल्पिता भिक्षा दत्ताः पञ्चापीति प्रत्युत्तरश्रवणतो जानाति, पञ्चभिक्षा दत्त्वा गृहिणा भोक्तव्यमिति लोकरूढ्या पञ्चेति सङ्ख्या-  
नमुच्यते, भित्त्यादिषु दत्तभिक्षापरिगणना खटिकादिना रेखाकरणतो वा दत्तसंख्याविस्मृतिरक्षणार्थं, प्रथमेयं भिक्षेत्यादिना रेखा-  
करणतो वा दत्तसंख्याविस्मृतिरक्षणार्थं प्रथमेयं भिक्षेत्यादिना मुखेन परिगणनश्रवणाद्वा । उद्दिष्टदत्तिसत्कपिटकादेर्मध्याद् भिक्षां  
प्रयच्छ, मा उद्देशरहिताद् भाजनादेरित्येवं कस्यापि संमुखं भणनसंबन्धनाद्वा । एतस्याः स्थाल्या मध्यादर्थिभ्यो दानायैतावतीभिक्षाः

१ नादत्तमिह किमपि लभ्यते ततः कतिपया भिक्षा दद्या इति बुद्ध्या कतिपयाधिक्तपण्डकादिप्रक्षेपेण यच्चिर्बुत्तमशनादि तदोर्षो-  
हेत्तिकमिति पिण्डनिर्युक्तौ

पृथक्कुरु इति वचनाकर्णनाद्वा इत्येवं कायिकवाचिकचेष्टाविशेषैरीदेशिकं जानाति ज्ञात्वा चैषणायामुपयुक्तो निःसन्देहोऽनापुच्छथ सन्देशिकमेतदिति परिहरति । इदं तु सङ्कल्पितदक्षिपृच्छतासु दत्तासु वा, शेषं कल्पते शुद्धत्वात् । पात्रकं तु तत्परित्यागेऽकृतत्रिकल्पमपि शेषग्रहणाय शुद्ध्यतीति गाथार्थः ॥२८॥

उक्तमोघोदेशिकं, विभागीदेशिकं विभाणिपुस्तावत्तस्य भेदानाह ।

**धारसविदं विभागे चउहुद्विटं १ कडं च २ कम्मं च ३ । उद्देसस्समुद्देसा-द्देसस्समाएसा ४ भेषुण ॥२९॥**

न्याय्या—द्वादशविधं—द्वादशभेदं 'विभागे'ति विभागीदेशिकं भवतीति शेषः । यथा चतुर्द्धा चतुष्प्रकारं ज्ञेयं । किं तदित्याह- 'उद्विट्'ति तत्रोद्देशानमुद्विटं, स्वार्थं निष्यन्नस्याशानादेर्द्रव्यभेदादिना भिक्षाचराणां दानाय कल्पनं [मत्वर्थीयेऽति] उद्विटं भक्ताहुच्यते । 'कडं च' ति कूरादिकं सत् करंवकादिलक्षणपर्यायान्तरेण क्रिया तस्येति कृतं चः चतुर्द्धेत्यस्याश्राप्यनुकर्षणार्थः । 'कम्मं च'ति स्वार्थनिष्यन्नं लङ्ङकचूर्णादिकं सद्गुडपाकादिना क्रिया लङ्ङकादिना क्रियते स्मेति कम्मं चः पूर्ववत् । इह त्वौदेशिकस्य साध्यत्वाद्दुद्विटौदेशिकं, कृतौदेशिकं, कम्मौदेशिकं चेति ज्ञेयम् । कथं पुनरुद्विट्यादीनां चतुर्द्धात्वमित्याह—'उद्देसे'त्यादि उद्देशं च समुद्देशं च आदेशं च समादेशं च तानि तथा । एतच्छ्रवणी वक्ष्यमाणो भेदो विभागी भेदप्रभेदादिकथनमिति यावद् उद्देशादिभेदास्तानिति । इह विभागीदेशिकमुद्विटकृतकर्मस्वरूपमूलभेदात् त्रिविधं । पुनः प्रत्येकमुद्देशसमुद्देशादेशसमादेशलक्षणोत्तरभेदाच्चतुर्विधमित्येवं विभागीदेशिके सर्व्वे द्वादशभेदा इति गाथार्थः ॥२९॥

उद्देशादिभेदचतुष्कस्य स्वरूपनिरूपणायाम्—

जावतियमुद्देशं, पासंडीणं भवे समुद्देशं । समणाणं आणसं, निगंथाणं समाणसं ॥३०॥

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
श्रद्धस्त्रीया  
श्रुतिः

व्याख्या—‘जावतिय’ ति सूचनाद्यावदर्थिकानां समस्ताश्विनामर्थाय कल्पितमश्वनादीति सर्वत्र प्रक्रमः उद्देशमुद्देशिकाख्यं । तथा पाखण्डिकानां चरकादीनां भवेत् स्यादिति सर्वत्र योगः समुद्देशं समुद्देशसंज्ञं एवं श्रमणानां निर्ग्रन्थानां आदेशमादेशिक-  
नामानम् । तथा निर्ग्रन्थानां श्वेताश्वराणां समादेशमिति गार्थार्थः ॥३०॥ (१०००)

॥२५॥

अधुनोद्दिष्टकृतकर्मसु त्रिविधुद्देशशब्दस्य सामान्यस्य प्रवृत्तेरुद्दिष्टोद्देशकतोद्देशकमोद्देशशाख्यानानां विभागोद्देशिकमूलभेदानां त्रयाणां संक्षेपतः स्वरूपनिरूपणायाह ।

संखण्डि भुत्तुव्वरियं, चउणहमुद्दिसइ जं तमुद्दिट्टं । वंजणमीसाइ कडं, तमगितविचाइ पुण कम्मं ॥३१॥

व्याख्या—‘संखण्डि’ ति विभक्तिलोपात् सङ्ख्यां, विवाहादिप्रकरणे भुक्ते स्त्रजनादिभिरभ्यवहते उद्धरितं शेषीभूतं भुक्तो-  
द्धरितं यदोदनतीमनदधिलह्लकचूर्ण्यादिकं भक्तं प्रचूरं दृष्ट्वा भर्तादिभार्यादिः संमुखमुद्दिशति-वक्ति यथा धर्माय देहीदं तद-  
वस्थमेव चतुर्णां यावदर्थिकपाखण्डिकश्रमणनिर्ग्रन्थानां मध्यादन्यतरस्मै इति तद्भक्तादि उद्दिष्टमिति उद्दिष्टोद्देशकं भण्यते । प्रायः  
सङ्ख्यामेव भुक्तोद्धरितं बहु स्यादिति संखण्डीप्रहणं । स्तोत्रकमुद्धरितमपि प्रायो गृहेऽप्युपयोगं यातीति प्रचूरविशेषणं तदपि  
द्रष्टव्यं सामर्थ्यात् । एवं च वदता स्त्रजकता विभागोद्देशिकस्य सम्भवः प्रदर्शितो भवति । तथा ‘वंजणमीसाइ कडं’ति इहापि  
‘संखण्डिभुत्तुव्वरियं चउणहमुद्दिसइ जमि’त्यनुवर्तते । ततश्च व्यज्यते ब्रह्म्यते कुरादिकर्मभिरिति व्यञ्जनाति गौरसत्कृतीमनादीनि

तैर्मिश्रितं कार्मिवत् यत्सङ्ख्येयुक्तोद्धारितं कुरादि तद्व्यञ्जनमिश्रं कार्मवीकृतमित्यर्थः । तदादिर्यस्य, निर्भञ्जनादिना पिण्डीकृत-  
 लङ्ङकचूर्ण्यदिः पर्यायान्तरस्य, तद्व्यञ्जनमिश्रादिकमित्यर्थः । करंबकादिलक्षणपर्यायान्तरापञ्चं कृत्वा इत्यर्थः । यदीदनादि संख-  
 डीभुक्तोद्धारितं चतुर्णामन्यतरस्मै दानायोद्दिशति गृही यथेदममुकेभ्यो दातव्यमिति । 'कडं'ति उद्देशिकस्य प्रस्तुतत्वात् कृतं करं-  
 वकादिपर्यायान्तरेण विहितमुद्देशिकं कृतोद्देशिकं तदोद्दनादि भण्यते । इह व्यञ्जनकूरोऽन्यो वा कश्चिद्यथासम्भवं यावदर्थिका-  
 दीनामन्यतरस्मै दानाय कल्पितो हेय इत्युद्देशिकता । तथा 'तमभिगतवियाह पुण कर्म' ति तत्सङ्ख्येयुक्तोद्धारितं लङ्ङकचूर्णिष्णु-  
 द्रादिकं अग्निना-वह्निना तापितसृष्णीकृतमग्नितापितं गुडादीति गम्यते । तदादिर्यस्य तदग्नितापितादि आदिग्रहणात् सच्चिज-  
 लहिशुलवणराजिकासन्मिश्रदध्यादिग्रहो विभक्तिलोपात्तेनाग्नितापितादिना गुडादिद्रव्येण किमित्याह- 'पुण'चि पुनः प्रथमस्वाभावि-  
 ककरणपेक्षया भूयोऽपि लङ्ङकादिपर्यायान्तरापादितं कृत्वा यदा चतुर्णामन्यतरस्मै दानायोद्दिशति तदा तन्मोदकचूर्ण्यदिकं तथा-  
 विहितं 'कर्म' ति कर्मोद्देशिकं भण्यते । यद्वेश्यं व्याख्यायते-अग्नितापितादिगुडादिद्रव्ययोगाद्भूयो मोदकादिपर्यायान्तरापादितं  
 तत्संख्येयुक्तोद्धारितं मोदकचूर्ण्यदियग्नितापिताद्युच्यते । तद् पुनः पुनः शब्दो व्यतिरेकार्थः तथाभूतं चतुर्णां दानायोद्दिष्टं, 'कर्म'ं  
 ति कर्मोद्देशिकं भण्यते । तथाहि- 'अचित्तमेव पञ्चह आहाकर्मं तयं भणियमि'त्येतल्लक्षणेनाथाकर्मणा, देयतो युक्तं कर्म गुडपाकादि  
 मोदकचूर्ण्यदिकं वा किञ्चिद्यथासम्भवं यावदर्थिकादीनां चतुर्णामन्यतरस्मै दानाय कल्पितमित्योद्देशिकमिति । कथं पुनरनयोः  
 कृतकर्मोद्देशिकयोः सम्भवः ? उच्यते यथा कश्चिद् गुह्यस्यः सङ्ख्येयां निवृत्तायां दध्यादिसत्करशाल्यादिभाजनस्य ग्रहणाय, मा वा  
 केवलः कुरो विगन्धितं ग्रहीष्यति, द्वयोरपि वा दध्यादिक्रयोरैकेनैव गमनागमनादिना दानाय निष्पत्त्यमानत्वाच्चिक्कष्टमेव दानं

उद्देश्यादि-  
भेदचतुष्क-  
स्य स्वरूप-  
निरूपणम्

सादेवं वा कृतमिष्टं स्यात्तेन च दत्तेन महापुण्यं भवतीत्येवं कारणैर्यदा स्यात्त्यादित्यगोरसतीमनतक्रादिभिः क्रूरादिकमुद्धरितं स्वार्थनि-  
 वृत्तं संमिश्रं कृत्वा निर्भङ्गनादिना सह लङ्ङकचूण्यादि वा पिण्डकतया वध्वा चतुर्णामन्यतरस्मै दानाय कल्पति तदा कुतोद्देशि-  
 कस्य सम्भवो यदा च गुल्पाकादिद्युत्पाजनरिक्तीकरणैरेव सङ्ख्यां निवृत्तायां भूयोऽपि लङ्ङकचूण्यादिकस्यनितानापितगु-  
 ङादिना मोदकारिरूपपर्यायान्तरेण कृत्वा प्रकरणोपयुक्तावशेषान् मुद्गादीन् वा पुनः संस्कृत्य, सच्चित्तजललवणप्रभृतिद्रव्यसम्मि-  
 श्रदध्यादिना कूरं करंवकतया वा कृत्वा चतुर्णामन्यतरस्मै दानाय सङ्कल्पयति, तदा कर्मोद्देशिकस्य सम्भवः । अत्र चोद्देशोद्देशि-  
 कादित्रये कल्प्याकल्प्यविधिरुच्यते । तत्र यावदधिक्रादीनां दातव्यमित्येवं दातुरविशिष्टे निर्देशे यतीनामपि मध्ये ग्रहणादुद्देशोद्-  
 शिकारव्यं प्रकरणोपयुक्तावशेषं यथास्थितमेव क्रूरादि दानायोद्दिष्टं गृहाद्गृहिव्यवस्थाप्य दीयमानं यतीनामकल्प्यं स्वोचितारम्भाद्  
 शिकारव्यं प्रकरणोपयुक्तत्वात्तत्र च यत्यर्थमपि कीटकादिसत्त्वव्याघातसम्भवात् न तु स्थापनादोषात्तस्य भिन्नदोषत्वात् ।  
 विभिन्नीकृत्य देयस्य दातुमभिप्रेतत्वात्तत्र च यत्यर्थमपि कीटकादिसत्त्वव्याघातसम्भवात् न तु स्थापनादोषात्तस्य भिन्नदोषत्वात् ।  
 अन्ये त्वाहुरुद्देशो(दिष्टो)द्देशदोषनिवर्तनात् स्थापनैव तेषां मतेन साध्वयाञ्ज्यायामपि सा स्यादितिष्यते । एवं चोद्देशो(दिष्टो)द्देशिकस्य  
 स्थापनायाश्चायं भेदो यथेदं साधुनाऽप्याचिते, स्थापना तु याचिते स्यात् । तथा सर्वास्मिन्नत्र यावदधिक्रादीनां चतुर्णामप्यर्थाय स-  
 ङ्कल्पः स्यात् स्थापनायां तु निर्ग्रन्थार्थमेव सङ्कल्पयति । नवरमुद्देशो(दिष्टो)द्देशिकमिदं दातुर्दानभावे निवृत्ते कल्पते आत्मार्थत्वात् ।  
 यदा च गृहस्थानां चरकादीनां वा निर्ग्रन्थरहितानां दातव्यमिति विशिष्टनिर्देशं कुरुते तदा साधुनामसङ्कल्पितत्वात्तेषां कल्पत एव ।  
 तथा कृतकर्मोद्देशिकयोरकल्पता मूलत एव हस्तधावनाधारमभादिदोषात्, नवरं चतुर्विधकृतौद्देशिकयवदधिकारव्यकर्मोद्देशिकाद्यभे-  
 दविययमशनादि यदा(स्थान)पितं यावदधिक्रादीनामन्यतरस्मै तदपीदं मा दास्यसि, तथा गृहादेरन्तर्बहिर्वा स्थितं मा दास्यसि, तथा

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
श्वेद्वरीया  
वृत्तिः

यत् प्रहरदयान्तं कालं यावदातुमिष्यं तदवनिगपि मा दास्यसीति यदि गृही भोयीदिः सम्भुखं वक्ति तदा तत्करं वकादि कल्पते, दान-  
परिणामापगमे स्वगृह एवैतदुपकरिष्यतीति दात्र्याऽऽत्माश्रित्वात् । कर्ममोक्षेयिकान्त्यभेदत्रयं दानपरिणामापगमादात्माश्रित्कृतमप्यकल्प्यं  
साधुनामविशुद्धिकोटिकृत्वात् । तथा भिक्षार्थं प्रविष्टं साधुं दृष्ट्वा यदा गृहस्थी भणति यथा अग्नेतेषु विहृत्य न्यावर्त्तमानेन त्वया  
मद्गोहे आगन्तव्यं येन भवदर्थं वकुलादे(वह्मकादे)रस्य संध्य(प)नं कृत्वेदं तुभ्यं प्रयच्छामीति, तदा यदि तद्यथाभणितं दात्र्या,  
तथाकृत्वा ददाति तदा तदकल्पं कर्मोक्षेयिकत्वात् । यदि च तथाकृत्वा दातुमभिलषितं दात्र्या, तथैवाकृतमेव ददाति तदा कल्पं  
साध्यं क्रियाविशेषस्याकरणात् सङ्कल्पमात्रस्य च क्रियाशून्यस्यादुष्टत्वात्, यदुक्तं—‘न खलु परिणाममेतं पयाणकाले असक्रिया-  
रहियम् । गिहिणयं(यंतं) तु जयं दूसइ आणाए पडिवळम्’ ॥१॥ इत्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥३१॥

उक्तमोक्षेयिकद्वारं, साम्प्रतं पूर्विकर्मद्वारं न्याचिख्यासुसतस्याः स्वरूपं भेदप्ररूपणं च वक्तुमाह—

उगमकोडिकणेण वि असुइलवेणं व जुत्तमसणाई । सुद्धं पि होइ पई, तं सुहुमं वायरं ति दुहा ॥३२॥

न्याख्या—उद्गमः—उत्पत्तिः । ‘कुद् कौटिल्ये’ इत्यस्यानेकार्थत्वात् कुड्यते छिद्यते इति कोटिराहारादिविषयविवक्षितदोषबुन्दस्य  
विनाशितोऽशुः । सा च वक्ष्यमाणविशुद्धिकोट्याविशोधिकोटिभेदाद् द्विधा । तदत्राविशुद्धिकोटिग्राहोत्पद्गमविषया कोटिरविशुद्धिको-  
टिलक्षणा वक्ष्यमाणोद्गमकोटिसत्स्या उद्गमकोटेरुपचारादुद्गमकोटिदोषयुक्ताहारस्य कणेनापि स्रक्ष्मलेशेनापि आस्तां प्राचुर्येणेत्यपे-  
रर्थः । ‘असुइलवेणं व’ चि वा शब्दस्येवार्थत्वाद्दशुचिलवेनेव विष्टालेशेन यथा । अशुचिश्च कुशितद्रव्यस्यान्यस्याप्युपलक्षणं द्रष्टव्या ।  
युक्तं मिश्रितं मिलितं, अशनादि अशनपानाधाहारचतुष्टयविषयं द्रव्यम् । तत्किमित्याह—पूर्वाविस्थायां शुद्धमप्युद्गमादिदोषरहितमपि



सत्, आत्माशुद्धमित्यपेक्षार्थी, भवति जायते, पूत्यपवित्रम् । अयमर्थो यथा सौरभ्यादिगुणैर्विशिष्टमपि शाल्यादिभोजनद्रव्यं क्वाथि-  
तव्राण्यशुच्यादिद्रव्यलवनेनापि युक्तमपवित्रं स्याच्छिष्टजनपरिहार्यं च तथा निरतिचारचारिणो यतेर्निरतिचारचारित्रस्य सातिचार-  
तयाऽपवित्रत्वकरणेनोद्गमादिदोषलेशेनापि संयुक्तः शुद्धोप्याहार उपयुज्यमानो भावपूतेः कारणत्वात् सोऽपि पूतिरित्युच्यते ।  
ततः पूतिकरणात् पूतिकर्मैत्यभिधीयते । अत्र च विशिष्टमपि भोजनमशुच्यादिकृथितद्रव्ययोगाद्यथापूतिभावमापन्नं शिष्टजनपरिहार्यं  
च जातं तथाऽऽख्यातकैनोच्यते ।

‘एयंमि नयरे पत्रपुष्पफलोववेयदुमनियररमणिञ्जे बाहिरुज्जाणे सभाकलियदेउलियाए एगो जकखो अहेसि । अन्नया तन्नयरनि-  
वासिएहि कइवयजणोहि विष्काडगरुवे असिवे उट्टियए तस्स उवाइयं इच्छियम् । जहा इमाउ असिवाउ अन्ह सकुडुंवा बुद्धि(छुद्धि)  
जामो(तहा) एयं वरिसं जाव अट्टमिसुं व चउदसिसुं उज्जाणिआउ तुह शुवणे करिस्सामो । तहेव बुद्धा (छुद्धा) तहिं तहेव पुजाकारओ  
भाडगदाणेण भणिओ जहा एयं वरिसं जाव अट्टमिचउदसिसुं पभाए चेव तुमं जकखसमं ऊगणेण सारवेज्जह जेणमहे तीए अबोद्धाए  
आगनुं उज्जाणि(आउ) करेमो सो तहेव करेइ । जाव एगाए अट्टमीए भोयणवेलाए उज्जाणिया भविस्सन्ति । सभाए उवल्लिपणत्थं  
अणुगए खरे एगस्स वणियस्स गोवाडए ऊगणनिमित्तं पविट्ठो । इओ तस्स कम्मकरो पउरं तीए चेव राइए मंडगवल्लसुरं भोतुं बाहिं  
सुत्तो । अजिनं जायं । पच्छिमराईए तेण तंमि गोवाडए अजिनं दुग्गंधपुरीसं वोसिरियम् । तस्स उवरिं एगाए महिसीए पोहो  
सुक्को । तेण तं पुरीसं ढक्कियं, तेण पुरीसं न लक्खियम् । तं पोहं सपुरीसं गाहेऊण सभा सारवििया । गोठिया (गोठिला य) णाणाविह-  
भोयणं आणिरुण भोयणत्थं या(जा)व तत्थ उवविट्ठा, ताव तेसिं अतीव दुग्गंधो आगओ धम्मिओ पुट्ठो । जहा कओ असुइग्गंधो

आगच्छद् तेण भणियं न याणामि । तओ तेहिं लिपणमज्जे मंडगधल्लगखंडाणि दिट्ठाणि । सुरागंधो य अग्घाहओ य नायं, जहा लिपणमज्जे असुह चिद्धह । तओ तं सव्वं भोयणं असुह ति काठं लुड्ढावियं, तं लिपणं उक्खवणावियं । अन्नेण लुगणेण सभा सारविया अन्नरसोर्धेए थुतं ति ।

स्वरूपमभिधायाथुना एतदेव भेदत आह—‘तं’ ति तत्पृति, पृतिशब्दः संस्कृतेऽपि स्त्रीलिङ्गो नपुंसकलिङ्गश्च दृश्यते क्वचिद् । सूक्ष्मं स्वल्पजोपवत्वेन श्लक्ष्णं, वादरमारंभतया बहुदोषवत्त्वेन स्थूलं, चः समुच्चयार्थो लुप्तो दृश्यः, इति स्वरूपप्रदर्शने, इत्येवं द्विधा द्विविधः स्यादिति शेष इति गाथार्थः ॥

अथुना यथोद्देशं निर्देश इति न्यायमाश्रित्य सूक्ष्मस्वरूपं द्वितीयभेदप्ररूपणं चाह—

**सुहुमं कम्मियगंधिग, धूमवक्केहिं तं पुण न दुटुं । दुविहं वायरमुन्नगरणभत्तपाणे तहिं पढमं ॥३३॥**

व्याख्या । सूक्ष्मं वादरविलक्षणं पृति भवति । कैरित्याह, कार्म्मिकगन्धान्निधूमवात्पेस्तत्र ‘कम्मिय’ चि आधाकार्म्मिका इह चात्रोच-  
रत्त च कार्म्मिकग्रहणेन सर्वेषामविशुद्धिकोटिदोषाणां ग्राहो द्रष्टव्यः । गन्ध आधाकार्म्मिकस्य प्राणिरनिराधाकर्म्मणो राक्ष्यमानस्य सत्क-  
इंगाररूपो वैश्वानरो नवरमन्न तदवयवास्तापादिरूपा अंशा ग्राह्या, व्याख्यानात् धूमोऽपि तस्यैव राक्ष्यमानस्याग्निनाकाष्टात्पन्नः प्रतीतो,  
वाप्यस्त्वाधाकार्म्मिकस्यैवोष्मा, ततो गन्धश्चाग्निश्च धूमश्च वात्पश्यति इन्द्रे, कार्म्मिकाश्च ते गन्धानिधूमवात्पश्च कार्म्मिकगन्धानिधू-  
मवात्पस्तैः । यद्वा ‘कम्मिय’ चि आधाकार्म्मिकसम्बन्धिगो गन्धानिधूमवात्प्रा इति समसनीयं । अयमर्थ आधाकार्म्मिकमक्कादिगन्ध-  
वात्पानिधूमैः सह मिलितं शुद्धमप्यशनादिकं सूक्ष्मं पृतिकर्म्म भवतीति । यद्येवं तर्ह्यपृति किञ्चिन्नास्त्येतैः सर्व्वस्यापि व्यापनादि-

त्याह-तत् पुनः सक्षमं पूतिकर्म, पुनः शब्दो विशेषणे न नैव दृष्टं दीपकत् स्यात् साधोश्चारित्रस्येति शेषः । पूतितया परिहार्यरूपं तत्र भवतीति तत्रमशक्यपरिहारत्वेनाचीर्णत्वात् । तथाहि लोके द्विधा प्रयोजनं दृष्टं साध्यमसाध्यं च । तत्र यत् साध्यं तदेतत्साध्ययितुं शक्यते, नासाध्यं, तद्धि साध्यम् क्लेशमेवासादयति, तदत्र वादरपूतेः परिहारः साध्यं कार्यं सक्षमपूतेस्त्वसाध्यं । यतोऽग्नेस्त्वापादि-रूपा अंशा धूमश्च तथा आधाकस्मिन्कान्तगन्धवाष्पावित्येते चत्वारोऽप्याधाकस्मिन्का विशीर्येतश्चेत्तश्च गमनेन सर्वं जगद् व्याप्नुवन्ति ततस्तत्स्थं शुद्धमशनादिकं सर्वं तैस्सृष्टं पूतिः स्याच्चद्रहणे च चारित्रनैर्मर्मल्याथात्रस्तस्मादेतैः सृष्टमपि शुद्धमशनादि न पूतिरिति । किञ्चिन्नोकेऽपि न सक्षमावयवं वस्तु दीपकदृ दृष्टं यथा अशुच्यादिकुश्चितद्रव्यावयवानामशुचिगन्धिनामप्यल्पगन्धीभूतानां दूरेदेशादा-गत्य नासिकायां प्रविष्टो गन्धो न दृष्यति । यथा वा दूरादागत्य गन्धितया जठरांतःप्रविष्टा विषांशा अपि नष्टमौलसामर्थ्यत्वेनाल्प-विषीभूता मरणं न जनयन्तीति । यद्येवं तर्हि किमर्थमियं प्ररूप्यते ? उच्यते न परिहार्यतया अस्या उपन्यासः किन्तु भेदप्ररूपणत-यैव । तदिह वादरपूतिमाश्रित्य प्रतिषेधो ज्ञेयः । प्रज्ञापनामात्रमाश्रित्य च सक्षमपूतेरुपन्यास इति स्थितं । द्विविधं द्विधा वादरपूतिकर्म पूर्वोक्तं स्यादिति शेषः । किं विषयं द्वैविध्यमित्याह । उपकरणभक्तपान इति उपकरणविषयं भक्तपानविषयं चेत्यर्थः । तत्र यद्द्रव्यं चुष्टीस्थालीदर्वाचटुककहदुलकोदृखलिकाप्रभृतिकं राध्यतोऽशनादेर्दाज्या साध्यादिभ्यो दीयमानस्य वा तस्यैवोपकाराय वर्तते तदुपकरणं इदं च प्रक्रमादायाकस्मिन्कमत्र ग्राह्यं । तस्मिंश्च रन्धनादिकरणतो गृहयोग्यंशुद्धाशनादिक्रमप्यशुद्धोपकरणमिलितत्वात् पूत्युपकरणपूति यद्वोपकरणमेव पूत्यविशुद्धिकोटिदोषयुक्तत्वाद्दुपकरणपूति । यथा कियताऽऽधाकस्मिन्केण कियता च शुद्धेन कर्दमेन मिश्रिता चुष्टीश्लिगलिकाद्यर्थमाधाकस्मिन्कर्मस्तवकयुक्ता स्थाली चटुकस्याप्यधस्ये चटुके उपरितने गंडे वा एकतरस्मिन् कस्मिंश्चिदा-

धाकर्मिके एकरस्मिश्च शुद्धे सति द्वयोर्योजनकृते उपकरणपूतितेति । एवमन्यस्याप्युपकरणस्य पूतित्वं ज्ञेयं । तस्मिन् प्रत्युपकरणे शुद्धं यदशनादि राद्धं तदपि प्रत्युपकरणयोगादुपकरणपूति ज्ञेयम् । तथा अविशुद्धकोटिभिरशनादिभिर्द्रव्यैर्मिश्रं शुद्धमप्यशनादिकं यद्द्रव्यनादिक्रियाविषयीकृतं तैः स्पृष्टं वा तद्भक्तपानपूति ज्ञेयम् । 'वहि'ति तयोर्वादर्शपूतिकर्मभेदयोरुपकरणभक्तपानविषययोर्मध्ये प्रथममाद्यष्टुपकरणपूतिलक्षणं भेदमाश्रित्य स्वरूपं कल्प्याकल्प्यविधिं च वक्ष्ये इति शेष इति गाथार्थः ॥३३॥

अधुना पूर्वार्धेन प्रस्तुतमेवार्थमुत्तरार्द्धेन तु भक्तपानपूतिद्वितीयभेदस्वरूपं किञ्चिदह ।

कस्मिन्मयचुष्टियभायण-डोवठियं पूद् कल्पद् पुढो तं । वीयं कस्मिन्मयवधारहिंशुलोणाद् जरथ हुहे ॥३४॥

व्याख्या—सूचनादाधाकर्मिका एव चुष्टीभाजनडोवाः—अधिश्रयणीस्थालीवृहत्कस्तोषु स्थितं रन्धनेन स्थापनेन वा विहितान्ध्रयं कास्मिकचुष्टीभाजनडोवस्थितं । इह डोवग्रहणेन दन्व्या अपि लघुचट्टकरूपाया ग्रहणं ज्ञेयम् । शुद्धमशनादीति सामर्थ्यगम्यम् । 'पूद्'ति उपकरणपूतिः स्यात् अत्र च चुल्लयुखे आधाकर्मणी आश्रित्य चत्वारो भङ्गाः स्युः । यथा चुल्लयाधाकस्मिकशुखा च, चुल्लयाधाकस्मिका नोखा, उखाऽऽधाकस्मिकी न चुष्टी, न चुल्लयाधाकस्मिकी नोखेति । तत्रार्धे भङ्गत्रये तावन्न कल्पते चतुर्थस्तु पूतिमाश्रित्य शून्यः । परं भङ्गत्रये चुल्लयुखयोरधाकस्मिकयोः स्थितस्याशनादेरकल्प्यस्यापि विषयविभागेन कल्प्यतामाह । कल्पते ग्राहं स्यात् । 'पुढो'ति पृथक् कृतं स्वयोगेन चुल्लयुखयोरपनीतं सत् तत् यत्तत्रैव राद्धमन्यत आनीय मुक्तं वा अशनादि । सामर्थ्याच्चुल्लयादस्थितं न कल्पते उपकरणपूतिदोषादाज्ञैवान्न प्रमाणमिति, न युक्तेरन्वेषणं कार्यं । एवं तावच्चुल्लयुखयोरधाकस्मिकयोः पूतिस्वरूपयोर्वा स्थितस्तस्याः कल्प्यत्वं प्रोक्तं । तथा आधाकर्मणा पूतिस्वरूपेण वा डोवेन तथाभूतया दन्व्या वा यच्चुद्धमशनादिकं दात्री साधुभ्यो

ददाति तदज्ञानादि तत्रस्थमुपकरणपूर्तित्वादकल्प्यं । यदि च ताभ्यां यच्छुद्धमज्ञानादिकं सञ्चाल्य राद्धं तदा ताभ्यां तन्मध्यस्थिताभ्यां तदकल्प्यम् । स्थाल्या वहिर्निष्कासिताभ्यां च ताभ्यां स्थालीभक्तं शुद्ध्यति । 'वीर्यं'ति द्वितीयं भक्तपानविषयं पूति भवति किं तदित्याह । 'कस्मिये'त्यादि कस्मिन्कमाधाकस्मिन्कं वाधारो हिंजादिदहनोत्थो धूमो हिङ्गुलवणे पतीते, आदिशब्दाद्राजिकाजीरक-तदुलीयकप्रभृतिशाकादेशाधाकस्मिन्कस्य वस्तुनो ग्रहः ततो वाधारश्च हिङ्गुलवणादि चेति विगृह्य कर्मधारये कार्मिकवाधारहिंशुलणवाधे-तद्यत्र शुद्धेऽपि मुद्राद्यज्ञानादौ स्थानिभित्तिविहितारहणे वा तत्रादिव्यथनरूपे क्षिपति संस्कारार्थं मध्ये निदधाति तन्मुद्राद्यज्ञानाद्याऽऽधा-कस्मिन्कवाधारादियोगात् द्वितीयं वादरं भक्तपानपूर्ति स्यान्नवरमाधाकस्मिन्कत्वं हिङ्गुद्रव्यस्य स्वार्थं निःपन्नमुद्रादिभक्तसंस्कारार्थं सचि-तोदकेन साधुनिमित्तं द्रवीकृतस्य लवणस्य तु तदर्थित(दर्थ)मेव चूर्णितपरिणामितस्येत्यादि भावनीयमिति गाथार्थः ॥३४॥ तथा-कस्मियवसेणधूमियमहवकयं कस्मत्वरदिष्ट भाणे । आहारपूड्य तं कस्मालित्तहत्थाद्विष्कं च ॥३५॥  
न्याख्या—आधाकस्मिन्कवसनेन तस्रष्टृतादिक्षिप्तस्फुटितकुस्तुभर्या उपलक्षणत्वादाधाकस्मिन्कराजिकादिभिश्च । 'धूमियं'ति संधूपितं यच्छुद्धयेयातीमनादि तदपि भक्तपानपूर्तिः स्यात् यद्वा वेसनस्योपलक्षणत्वादेव कार्मिकवेसनादेः सत्को निर्धूमानिनरूपाङ्गारोपरिन्व-स्त्वेसनजीरकहिंजादिदाहोत्थधूमो लोकप्रसिद्धः कार्मिकवेसनधूमः स सञ्जातो यत्र स्थाल्यादिभाजनेऽथोष्णुखीकृते धूमग्रहणाय भून्व्यस्त-वदने तत्कार्मिकवेसनधूमितं कृतधूमं भाजनं तद्योगात्तत्र शुद्धं यत्पीमनतक्रूरणादिकमज्ञानादि क्षिप्तं तदपि तथोच्यते तदपि भक्त-पानपूर्तिः स्यात्, नवरं वेसनादीन् प्रति कार्मिकविशेषणस्याप्युपलक्षणत्वादिहाङ्गारवेसनादिस्थालीनिमेकं द्वे त्रीणि वाऽऽधाकस्मिन्कानि ज्ञेयानि । अथवा शब्दः पूर्वोक्तप्रकारोपेक्षया विकल्पार्थः । कृतमात्मार्थं राद्धं स्थापितं वा यदज्ञानादि । क्वेत्याह कस्मत्वरदिष्टे भाजने

इति । अयमर्थो यस्मिन् स्थाल्यादिभाजने आधाकर्मिकं राद्धं तदन्यस्मिन् प्राक्षिप्य तस्मिन्नेवं च क्षीणी(रिक्ती)भूते कर्मखरणिटते आधाकर्मिकभक्ताद्यवयोपलक्षिते भाजने स्थाल्यादावकुतकल्पत्रये यद्दशनाद्यात्सार्धं राद्धं, यद्वा पूर्वोक्त एवाकुतकल्पत्रये भाजने यच्छुद्धमेवाशानाद्यन्यतो भाजनान्त्यसत् व्यवस्थापितमिति यावत्तद्दशनाद्याहारपूति भक्तापानपूति स्यादिति शेषः । तथा कर्मलिप्तहस्तादि-स्रष्टं चेति तत्र हस्तः करः स आदिर्यस्य वस्तुनस्तद् हस्तादि आदिशब्दाच्छुद्धडोवद्वर्वाकरोटिकादिपरिग्रहस्तत आधाकर्मर्षणा विलिप्तं खरणिटं यद्दस्तादिवस्तु तेन 'छिकं'ति छुप्तं स्रष्टमिति । अयमर्थ आधाकर्मभक्तादिवरणिटतेन हस्तेन करोटिकादिना वा स्थाल्यादौ स्थितं शुद्धमशानादि यत्संस्रष्टं तदप्याहारपूति स्यादिति । चः समुच्चये । इयं च सर्व्वोऽप्यकल्प्यैव यतीनामिति । अथाशुद्धाशनादीनां शुद्धाशनादेः पूतित्वकरणे किं परिणतमिति चेदुच्यते राद्धमुद्रादिच्छिविखरणिटतोखिकादेरारभ्य सिक्थकबलादिकं यावद्वि-ति । एवं यथाऽऽहारविषयमाधाकर्म दर्शितं स्वस्थाने पूतिश्च शुद्धाधाकर्मिकयोमिश्रितयोर्थाऽत्र दर्शितो तथोपधिवसत्यो-रपि ते द्वे अपि स्यातामतः शिष्योपकाराय ते अपि दृश्येते । अत्र पिण्डेनैव प्रकृतं, तत्र यत्पर्यया सुखवस्त्रिकाद्युपकरणोपाश्रयो विहितौ गृहिणा तावाधाकर्मिकौ, स्वार्थत्यर्थनिष्पन्नयोः शुद्धाधाकर्मिकयोर्द्वैक्योः सीविता प्रच्छादपटिका तथाभूतयोः, कर्द्मादिकयो-र्निष्पन्ना वसतिश्च पूतिरित्यादि, इयमपि साधुनामकल्प्यैव । एवं सर्वानविशुद्धिकोटिदोषानाश्रित्य पूतित्वं श्रेयमिति गाथार्थः ॥३२॥

अधुना दातृगृहं दातृस्थाल्यादिभाजनं साधुपात्रकं पूतिपरिहारविषयं कल्प्याकल्प्यविधिमाह ।  
**पदमे दिणस्मि कम्मं तिनित्तं पूइ कयकम्मपायधरं । पूइ तिलेवं पिडरं कप्पइ पायं कयतिकप्पं ॥३६॥**

व्याख्या—प्रथमे दिने आद्यवासरे यत्र दिने आधाकर्मणः पाकः कृतः । 'कम्मं'ति आधाकर्म पूर्वोक्तं । 'तिनित्तं'ति त्रीणि

पिण्ड-  
विशुद्धे  
श्रद्धासीया  
श्रुतिः

॥३०॥

पुनस्त्रिसहस्रानि दिनानि । 'पूह' चि, पूतिदोषस्तदाधाकर्मस्य (णः) संभवाद्भवतीति शेषः किं तदित्याह, कृतो विहितः कर्म आधाकर्मणः  
पाकः पचनक्रिया यत्र तच्च तद्गृहं जद्वेत्तम, कृतकर्मपाकगृहमिति । एवं चाधाकर्मदिने पूतिदिनेषु च त्रिषु न किञ्चित्त्रय गृहीतुं  
कल्पते इति प्रथमदिनेन सह चत्वारि दिनानि तद्गृहं परिहार्यमित्युक्तं भवति परं 'अतरंताह जोगासईए निणहंति तत्थ पविसेडं ।  
अन्तगहाणसुवखडजं वासावीमयं सुंजे' ॥१॥ यदा तु काश्चिद् गृही कतिचिदिनेषु सङ्घट्टी भविष्यति सङ्घभोज्यं वा दास्यामीत्यग्रतएव  
लहृहकादीनाधाकर्मिकान् कृत्वा धारयति तदा यावत्ते तिष्ठति, तदपणमेऽपि तदूर्ध्वं दिनत्रयं यावत्तद्गृहस्थितं शेषं भक्तादि स्पर्श-  
सम्भवात् पूतिः स्यादित्येवं बहुन्यपि दिनानि पूतिसम्भवः । तथा 'पूह' चि पूतिदोषवत् स्यादिति शेषः । किं तदित्याह त्रयस्त्रिसहस्रा-  
लेपाः शेषस्वरण्टयोर्यत्र तत्रिलेपं पिठरं स्थाल्यादिभाजनं । अयमर्थः स्थाल्यादिभाजने किल आधाकर्म राद्धमपनीतं च, शेषा-  
स्वरण्टरित्येको लेपस्त्रस्यामेवाकृतकल्पत्रयायां शुद्धं राद्धं पूतिरेवं वारद्वयमन्यदपि, चतुर्थलेपे तु न पूतिः । तदिहाधाकर्मपाकान-  
न्तरं स्वार्थं वारत्रयं भक्तरन्धनेन यत्स्थालिकायाः स्वरण्टनत्रयं सम्पद्यते तल्लेपत्रितयान्विता स्थालिका तदुपस्कृतमक्तं च पूति भव-  
तीति भावार्थः । यदि चात्मयोगेन गृहस्थ्या निरवयवीकृत्य तस्य भाजनस्येव तस्मिन्नेव दिने अपरापरेषु वा दिनेषु वारत्रयं जलेन  
प्रक्षालनं कृत्वा तत्र शुद्धमयानादि राद्धं तदा तत्कल्प्यमेव, तथा कल्पतेऽपूति भूतं सच्छुद्धाशानादिग्रहणायोचितं स्यात् । पात्रं पतद्गु-  
हरूपं यतिभोजनोपकरणविशेषः । कीदृशं सदित्यह कृता निवर्तितास्त्रयः कल्पाः जलप्रक्षालनानि यस्य तत् कृतत्रिकल्पं । अङ्गु-  
ल्यादिना सम्प्रोच्छ्रय वारत्रयं जलेन प्रक्षालितं सदित्यर्थोऽयं च पात्रकाश्रितः पूतिन्यायो यथारूपं सर्वेष्वव्यवित्तोधिकोतिभेदेषु श्रेय-  
स्त्रया सर्वोऽप्यवित्तोधिकोत्थाहारोऽकल्प्य एव वित्तोधिकोत्थाहारस्त्वन्तर्माथितः कल्पत इति च श्रेयमिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

पूतिपरिहा-  
रविषयं  
कल्प्याक-  
ल्प्यविधिम्

॥३०॥

उक्तं प्रतिद्वारमथ मिश्रजातद्वारमाह ।  
उक्तं प्रतिद्वारमथ मिश्रजातद्वारमाह ।

जं पदमं जावंतिय पासंडजईण अप्पणो य कए । आरभइ तं तिमिसं ति मीसजायं भवे तिविहं ॥३७॥  
न्याख्या—स्वगृहयोग्यजलकणादीनां मध्य अधिकतरजलकणादीन् मिश्रितान् कृत्वा 'जंति, यदशनादि प्रथममादावप्रिज्वा-  
लनाद्रहणकणदानादिप्रस्ताव एव आरभते तन्मिश्रजातं भवेदिति योगः । किमर्थमित्याह 'जावंतिय'ति सूचनाद्यावदर्थिकाः कार्पटिका-  
दयः समस्तायिनः, पाखण्डं द्रवं तद्योगात् पाखण्डाः सामान्यदर्शानिनो, यतयो निर्भन्था एतेषां द्वन्द्वस्तेषां कृते इति योगो द्वन्द्वोत्थपरं-  
पदं श्रूयमाणं (द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं) सर्वत्र सम्बध्यते तेन यावदर्थिककृते इत्यादि दृश्यं । तथाऽऽत्मनः स्वस्य, चः समुच्चये, कृते-  
अर्थाय स्वगृहार्थमिति यावत् आरभते प्रारभयत्युपस्कृतमिति शेषो, यावन्तोऽर्थिन आगमित्यन्ति पाखण्डा यतयो वा तेषां दास्यामि  
गृहे च भविष्यन्तीति सङ्कल्पेन यद्राहुमारभत इत्यर्थः । तदशनादि तदा निष्पन्नं सन्निभिर्यावदर्थिकपाखण्डयतिभिस्सह मिश्रं साधा-  
रणं त्रिमिश्रित्यनेन कारणेन मिश्रजातं पूर्वोक्तशब्दार्थं भवेत् त्रिविधं यावदर्थिकमिश्रजातं यतिमिश्रजातं पाखण्डमिश्रजातं चेत्यर्थः ।  
क्यापि तृतीयभेदस्य स्वगृहमिश्रजातमिति संज्ञान्तरं दृश्यते । तत्राप्ययमेवार्थ इति । श्रमणानां च पाखण्डिष्वन्तर्भावाच्छ्रमणमिश्रं  
पृथग् नोक्तम् । इह च यावदर्थिकाद्यर्थमधिकतरतंदुलादिप्रक्षेपदोषेण सर्वोऽप्याहारोऽशुद्धः स्यात् । [तथेति] प्रथममिति विशेषणेना-  
ध्यवपूरकदोषादस्य विशेषप्लुक्तवत्त्वात्, तथाहि—अत्र स्रपतंदुलजलफलादिकस्तुनो गृहयोग्यस्य माणकादिस्वस्वपरिमाणेन नियतमध्ये  
यावदर्थिकाद्यर्थमग्निप्रज्वालनादेरादावेवाधिकतरतंदुलजलादेर्मिश्रणं विधाय पाकः प्रारभ्यते, अध्ययपूरके च गृहिणा स्वार्थमग्निज्वा-  
लनाद्याद्रहणदानान्ते आरम्भे कृते सति पश्चात् कार्पटिकाद्यर्थं स्वार्थकल्पिततंदुलादीनां मध्येऽपरं तंदुलादीनां माणकादिकं प्राक्षिप्य



राध्यत इत्येतावता भेदोऽस्योक्तः । कदा पुनरिदं सम्भवतीति चेत् (उच्यते), इह कश्चिद् गृही स्वयं बुभुक्षाकष्टानुभवेनेन दुर्भिक्षम-  
तिक्रान्तः किञ्चित् सञ्जातवृत्तिको धर्मश्रद्धालुः दुर्भिक्षेण बुभुक्षापीडितप्रभृतसत्त्वान् दृष्ट्वा नैतावन्मानेन राध्यमानेनैतेषां सखियतीति  
दानसत्त्वालम्बनेन कान्तारादिनिर्गमप्रवेशयोः खिन्नभिक्षाचरालम्बनेन वा तीर्थबहुमानेनोज्जयन्तादिपर्वतयात्रायां श्रद्धावान् संबलितः  
प्रभूताशिनो दृष्ट्वादायार्जलम्बनेन मिश्रजातं करोतीत्येवमस्य सम्भवः । साधवः पुनः कथमिदं जानन्तीति चेदुच्यते, कदाचिद्  
भिक्षार्थं गृहे प्रविष्टान् साधून् दृष्ट्वा गृहस्थो भायदिः संभ्रुवं वक्ति यथा येः सह(येभ्यः)मिश्रमिदं राद्धं तैः क्वाप्यन्यत्र लब्धं  
भविष्यतीति नागतसत्ते, अत इदं परिपूर्णं यतिभ्यो देहि । यद्वा साधून् प्रचुरान् भिक्षाचरंश्चागतान् दृष्ट्वा गृही यावदर्थिकेनाज्ञान-  
दिना नैतेषां परिपूर्णं स्यादित्यन्यदपि राधुहि येनैतेभ्यो दीयते इति गृहस्थमेवं ब्रुवाणं श्रुत्वा गृहं यावदर्थिकमिश्रमिदमिति  
जानन्तीति गाथार्थः ॥३७॥

उक्तमिश्रजातद्वारमथ स्थापनाद्वारं व्याचिख्यासुस्तस्या एव भेदानभिधातुमाह—  
सद्धानपरदृष्टाणे परंपराणांतरं चिरन्तरियं । दुविहतिविहा वि ठवणाऽसणाद् जं ठवइ साहुकए ॥३८॥

व्याख्या—स्वस्थानं च चुल्ल्युखादि, परस्थानं च सुस्थितल्लव्वकादि, स्वस्थानपरस्थानं तस्मिन्नाधारे 'असणाह जं ठवइ साहु-  
कए ठवणां चि योगः । तत्राज्ञानाद्यशनपानप्रभृतिकं वस्तु यदित्यनिर्दिष्टस्वरूपं स्थापयति न्यस्यति धारयतीत्यर्थो दात्री (त्रीति)गम्यते  
साधुकृते यतेरर्थाय यत्तदोर्नित्ययोगात्तदज्ञानादि स्थापनोच्यते । तत्र साधवे इदं दास्यामीत्येवं विचिन्त्य कश्चित्कालं यावद् स्थापि-  
तत्वात् स्थाप्यत इति स्थापना स्थापनं वा न्यसनं, स्थापना तद्योगादज्ञानाद्यपि, कीदृशं सदज्ञानादीत्याह । 'परंपराणांतरं' ति अपरा-

परदध्यादिपर्यायसंतानः परंपरस्तत्संबन्धात् परंपरं क्षीराद्युच्यते । तथा न विद्यते अन्तरं पर्यायान्तरलक्षणो विशेषो यस्य तदन-  
 न्तरं घृताद्याभिधीयतं अनयोः समाहारद्वन्द्वस्तत् परम्परस्वरूपमनन्तरं स्वरूपं चेत्पर्यः । भावार्थो वक्ष्यमाणः । पुनः किं विशिष्टं  
 स्थापयतीत्याह 'चिरित्तरियं' ति, चिरं च दीर्घकालं इत्वरं चाचिरं स्तोत्रकालमित्यर्थश्चिरेत्वरम्, तदाश्चिरकालमचिरकालं च  
 यावद्दानाय दात्री यत् स्थापयति तच्चिराच्चिरकालावस्थापितत्वयोगादज्ञानाद्यपि चिरेत्वरमिति । भावार्थस्तु वक्ष्यमाणः । इत्येवं  
 'दुविदतिविद्वद् वि ठवण' ति, त्रिधाप्याधारद्रव्यकालोपाधिभेदात् त्रिप्रकाराणि, न केवलमेकधा द्विधा वेत्यपेक्षः । किमित्याह द्विविधा  
 प्रदक्षितस्वस्थानादिभेदेन द्विप्रकारा स्थापना भवति । 'असणाह जं ठवह साहुकण्' इत्यनेनाऽऽधारमात्रे सामान्याज्ञानादेः स्थापितत्वमाश्रित्य स्व-  
 रैत्वरभेदा(द्) द्विधा । तत्र 'सदृष्टाण परदृष्टाणे असणाह जं ठवह साहुकण्' इत्यनेनाऽऽधारमात्रे सामान्याज्ञानादेः स्थापितत्वमाश्रित्य स्व-  
 स्थापना परस्थानस्थापनेत्याधारोपाधिकं भेदद्रव्यमुक्तम् । तथा परम्परानन्तरमित्यनेन परम्परस्थापनाऽनन्तरस्थापनेति परम्परानन्तर-  
 रूपद्रव्योपाधिकं तदुक्तम् । चिरेत्वरमित्यनेन च चिरस्थापना इत्वरस्थापना चेति कालोपाधिकमित्येवं प्रकारत्रयेण द्वैविध्यं सकलस्था-  
 पितभेदसंग्राहकं स्थापनाया भवति । नवरमित्त्वरस्थापना प्रज्ञापनामात्रमेव न तु परिहार्येति वक्ष्यति । चिरस्थापना तु परम्परानन्तर-  
 स्थापनाभेदात्तर्वात्तिनी पृथग्भवतीति तेन परम्परानन्तरस्थापनयोश्चिरस्थापनात्वमेव ज्ञातव्यमिति गाथार्थः ॥३८॥

अथ स्वस्थानादिस्वरूपं व्याख्यातुमाह ।

बुल्लुक्त्वाद् सद्गुणं, खीराद् परंपरं घयाइयरं । दन्वाट्टिइं जाव चिरं, अचिरं तिघरंतरं कर्पुं ॥३९॥

व्याख्या—बुल्लुक्त्वे अधिश्रयणीस्थालीरूपे आदिर्षस्य आधारभूतवस्तुनः तच्चुल्लुक्त्वादि बुल्लुक्त्वादि उस्वादीति दृश्यं । तत्र

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
श्रद्धासरीया  
वृत्तिः

॥३२॥

प्रथमादिशब्देनावलहको ग्राह्यः द्वितीयेन चरुकपिठरादीनि तदिदं चुल्लुख्लादि, किमित्याह स्वस्थानं निजाश्रयो भण्यते । अयमत्र-  
भावाथोऽज्ञानादेः स्वस्थानं द्विधा भवति । स्थानस्वस्थानं भाजनस्वस्थानं च तत्र चुल्लयवलहकादिकम् तिष्ठत्यस्मिन् स्थाली-  
ति स्थानमाधारस्तद्रूपं स्वं निजमाहारपाकस्य स्थानं स्थानस्वस्थानमुच्यते । स्थाली चरुकपिठरादिकं च भाजनस्वस्थानमिति । तच्च  
स्वस्थानविलक्षणश्रयश्च परस्थानमिति सामर्थ्यादनुक्तमपि दृश्यम् । तत्र स्वस्थानात्परमन्यद्विलक्षणं स्थानमाश्रयः परस्थानम् । तच्च  
सुस्थितादिप्रदेशान्तराश्रयरूपं ह्यप्यकण्डलिकावारकादिरूपं च ज्ञेयमेतदप्याधारभाजनभेदाद् द्विविधमिति । स्थापनायोजना तु प्रागेव  
दर्शिता । अथुना परम्परस्थापनाऽनन्तरस्थापनाव्यं भेदद्वयं व्याख्यातुकामः परम्परानन्तरशब्दवाच्यमाह 'स्वीराह परंपरं यथाह-  
इयरं'ति, इह स्थापनाविषयाण्यज्ञानादीनि द्रव्याणि द्विधा भवन्ति विकारीण्यविकारीणि च, विकारोऽपि केवलानां सतां स्यात् इत्यादि-  
द्रव्यसंयोगे सति वा । तत्र केवलविकारिद्रव्यं स्वीरं दधिनवनीतमस्तुतक्रादिविकारयोग्यत्वात् । तथेशुरसश्च विकारिद्रव्यं द्रवगुड-  
पिण्डगुडखण्डशर्करादिविकारयोग्यत्वात् । इत्यादिद्रव्यसंयोगविकारिद्रव्यं करम्बादिकं, करंबको हि प्रथमे दिने मधुरः सन् द्वितीया-  
दिदिनेषु कोथाम्लादिकं विकारं भजते । तथा द्विज्यादिदिनसत्कानि नवनीतमस्तुतक्रादीन्यपि कोथाम्लादिरूपविकारभाजित्वाद्दि-  
कारीणि । अविकारिद्रव्यं च घृतगुडादिकं प्रकृतेरन्यथाभावरूपस्य विकारस्याभावात् । तद्धि दुग्धेशुरसादिकं सत्कर्त्ता स्वयोगेन  
दधिककक्वादिविकारैस्तावद्विकारं चानीतं यावद्घृतगुडादि स्थित्वा स्थितं, परतोऽपि विकारो नास्तीत्यविकार्युच्यते । तदत्र परम्परश-  
ब्दवाच्यं सर्वं विकारिद्रव्यं क्षीरादिकमनन्तरशब्दवाच्यं चाविकारिद्रव्यं घृतादिकं विज्ञेयम् । अत एवोक्तम् 'स्वीराह परंपरं यथाहइयरं'  
ति । तत्र स्वीरं दुग्धं तदादिर्यस्यादिशब्दादिशुरसादिद्रव्यग्रहस्तत्क्षीरादि 'परम्परं'ति दधिप्रक्षणकक्त्वादिघृतगुडान्तपर्यायरूपावस्था

॥३२॥

परम्परा परम्परः स च यस्यास्ति क्षीरादेस्तद्व्यादिपर्यायपरम्परान्वितत्वात् परम्परं भण्यते । इह च स्थापनया प्रस्तुतं ततः क्षीरा-  
 दिविकारिद्रव्येषु परम्परस्थापना स्यादित्यर्थः । इह प्रक्षणककवावस्थाद्रव्ययोः स्थापनाय घृतगुडत्वेन क्रियमाणयोस्तेजस्कायादि-  
 विराधनादाधाकर्मदोषोऽपि स्यात् परमत्र नासौ विवक्षितः । एवमुत्तरत्रापि । 'वयाइयरं'ति घृतं सर्पिस्त्वदादिर्यस्य गुडादेस्तद्घृतादि,  
 किमित्याह 'इयरं' ति द्वयोरुपात्तयोरेकस्यापेक्षया द्वितीयं प्रतियोगिवस्त्वतरदुच्यते । ततः परम्परानन्तरमिन्द्युपात्तत्वात् परम्पराव-  
 स्त्वपेक्षया श्वतरदनन्तरमनन्तरशब्दवाच्यं भवतीत्यर्थः । तत्र न विद्यतेऽन्तरं विशेषो विशिष्टावस्थानं विकारापादनेन ततोऽपि परतो  
 यस्य घृतगुडादेस्तदनन्तरम् । ततः स्थापनायाः प्रस्तुतत्वात् घृतगुडादिव्विकारिद्रव्येष्वनन्तरस्थापनाऽपि स्यादित्यर्थः । इह च  
 घृतगुडादेः सर्वस्य सामान्येनानन्तरशब्दवाच्यत्वेऽपि घृतगुडादिकमत्र यत् प्रथमादिदिनेषु प्रयूतेष्वप्येकस्वरूपमेव स्थापितं तदेव  
 ग्राह्यम् । यत्तु दुग्धेक्षुरमादिस्थापनपरम्परविकारेणागतं तद् घृतगुडाधापि तं ज्ञेयम् । ननु घृतगुडयोः सम्बन्धितानां पाश्चात्यपर्याया-  
 न्तराणां योग्यं यद् दुग्धेक्षुरसादि यस्मिन् दिने स्थापितं तस्मिन्नेव जातावस्थान्तरं साधुना गृहीतं तस्य का वात्तेश्चुच्यते । परम्पर-  
 स्थापितयोग्यत्वात्तदपि परम्परस्थापितमेव । तदेवं घृतगुडादेर्द्वेऽपि स्थापने दुग्धेक्षुरसादीनां तु परम्परस्थापनेव । कथं पुनः  
 क्षीरादिद्रव्यपरम्परस्थापनाः सम्भवतीति चेदुच्यते । केनचित् साधुना कस्याश्चिद् गृहस्थयाः पार्श्वे याचितं दुग्धं । तथा च क्षणान्तरे  
 दास्यामीति प्रतिज्ञातम् । साधुना त्वन्यत्र लब्धम् । ततो दुग्धसम्पत्तौ स तयोक्तो, यथा गृहाणेदं दुग्धं तेनोक्तं अन्यस्मिन् गृहे  
 मयाऽन्यल्लब्धम् । किन्तु ग्लानादिकार्ये त्वदीयं दुग्धं ग्रहीष्ये एवमाकर्ष्य च सा ऋणभीतैव चिन्तयति यथा अद्य तावत् साधुर्न गृह्णाति  
 दातव्यं चेत्तदस्मै अन्यथा साधुऋणं दुर्मोक्षमिह परत्र च भविष्यतीति तत्र चित्तेश्चरत्वादित्यमेव धर्तुं न शक्यते दुग्धं तत इदं दधि कृत्वा

शो दातास्मीत्येवं विचिन्त्य स्थापयति क्षीरम् । ततो द्वितीये दिने दधि दीयमानं साधुना नेष्टम् । ततो ब्रक्षणतक्रादितया कृत्वा स्थापयतीत्येवं परम्परस्थापनासम्भवः । एवमिशुरसादिष्वपि वाच्यम् । इदं चात्माश्रितं सत् सर्वपर्यायापन्नमपि शुद्ध्यतीत्याज्ञा । नवरं ब्रक्षणद्युने क्रियमाणेऽग्निविराधनाकृत आधाकर्मदोषोऽपि स्यात्तेन चात्माश्रितमपि तन्न शुद्ध्यतीति । एतदनुसारेण घृताधान-  
न्तरस्थापनासम्भवोऽपि वाच्यः । तथा 'द्वन्द्विद्ं जाव चिरं'ति द्रव्यस्य घृतगुहादेः साधुदानबुद्ध्या स्थापितस्य स्थितिर्विबक्षितप-  
यथिणावस्थानं स्वरूपाप्रच्युतिर्द्रव्यस्थितिसां यावन्मयर्दीकृत्य चिरस्थापितं स्यादेतच्चोत्कृष्टतो देशोनामपि पूर्वकोटिं यावत् सम्भव-  
तीति । तथाहि किल पूर्वकोट्यायुषा अष्टवार्षिकेण साधुना पूर्वकोट्यायुष्का काचिद् गृहस्थी घृतं याचित्वा । तयोक्तं क्षणान्तरे दास्या-  
मीत्यादिपूर्वोक्तप्रकारेण यावत्साथोरायुस्तावत्स्थापयित्वा घृतं मृते त्वन्यत्रोपयुक्तमिति गता स्थापना । तथा दधितक्रकरंबक्रादेश्च  
विनश्चरस्यैकद्वयादिदिनमाना स्थितिस्तावच्च चिरस्थापनात्वं तदूर्ध्वं कोथाद्यापत्तौ वहिरुद्भन्नादिना स्थापनाया एवाभाव इति ।  
अधुना अचिरस्थापनामाह 'अचिरं ति वरंतरं'ति, इह पङ्क्तिस्थानां भिक्षाग्रहणविषयाणां त्रयाणां मध्याद्यस्य गृहद्वारे भिक्षार्थं साधुस-  
ङ्घाटक आस्ते तस्य भिक्षागृहद्वयस्य च द्वितीयसाधोर्दृष्टिगोचरस्य यदन्तरं न्यवधानं तन्निरगृहान्तरं, तन्न यदशनादि तदापि, तथा  
ततस्त्रिगृहान्तरं यदशनादि, तत 'अचिरं'ति अचिरस्थापितं स्यादिति । अयमर्थो यावता कालेन गृहत्रयान्तराहायको हस्तव्यवस्थितभक्तो  
ग्राहकसाधुमपीपमाणञ्छति तावन्तं कालं यदशनादि साधुदानाय दायककरव्यवस्थितं वर्तते तद्यदि तदा लब्धं तदा इति स्तोत्रका-  
लविषयत्वादाचिरस्थापनावत्तस्यादेतच्च प्रज्ञापनामात्रेणैवाचिरस्थापनोच्यते न तु परिहार्यतया अत एवाह 'कल्पं'ति कल्प्यं ग्राह्यं  
स्यादाचरितत्वाद् गृहत्रयविषयाचीर्णभ्याहृतवत् । अथास्येत्वरस्थापितस्य गृहत्रयविषयाभ्याहृतस्य च वक्ष्यमाणस्य तुल्यलक्षणत्वात्

कः पतिविशेषः ? उच्यते, इह कालविवक्षा तत्र तु गृहत्रयापान्तराललक्षणक्षेत्रविवक्षेति विशेषः अनेन च त्रिगृहान्तरस्याशनादेरचिर-  
 स्यापनान्तरभणनेन गृहत्रयात् परतश्चतुर्थगृहादिषु यदुत्क्षिप्य दात्र्या हस्ते व्यवस्थापितं साधुदानायाशनादि तच्चिरकालं दायककर-  
 व्यवस्थितत्वाच्चिरस्थापना स्यादिति सामर्थ्यादुक्तं भवति । चतुर्थादिषु हि गृहेषु गुणपदुपयोगो दातुं न शक्यते किं तर्हि क्रमेण,  
 तंन चिरः कालो लगाति इति चिरस्थापना भवतीति गाथार्थः ॥३९॥

उक्तं स्यापनान्तरमथ प्राशुतिकान्तरमाह—

वायरसुहुमुस्सकणामोसकणमिइ दुहह पाहुडिया । परओकरणुस्सकणामोसकणमारओ करणं ॥४०॥

व्याख्या—वादरं वादरारमभविषयतया स्थूलं तथा सूक्ष्मं सूक्ष्मारमभविषयतया श्लक्ष्णं अनयोः समाहारइन्द्रे विभक्तिक-  
 लोपाद् वादरसूक्ष्ममिति दृश्यं । किं तदित्याह उत्पन्नकणं वक्ष्यमाणशब्दार्थं तथा अवन्नकणं वक्ष्यमाणार्थमेव चः समुच्चयार्थो  
 लुप्तो दृश्यः । वादरसूक्ष्ममित्यनुवृत्तिरितिरूपप्रदर्शने । इत्येवं वादरोत्पन्नकणावन्नकणयोगाद्वादरा । सूक्ष्मोत्पन्नकणावन्नकणयो-  
 गाच्च सूक्ष्मेति, द्विधा द्विभेदा, इह—पवचने । उद्गमादिषु मध्ये प्राशुतिका उक्तशब्दार्था भवतीति शेषः । अधुनोत्पन्नकणं व्याख्या-  
 तुमाह—‘परओ’ इत्यादि, तत्रोदिति परतोऽग्रतः स्वयोगप्रवृत्तिकालावधेः, वन्नकणमित्यारमभस्य करणं नयनमुत्पन्नकणमुच्यते उत्स-  
 र्णमित्यर्थः । तथा अव इति आरतोऽर्वाक् स्वयोगप्रवृत्तिकालावधेः वन्नकणमित्यारमभस्य करणं नयनं साध्वर्थमवन्नकणमुच्यते अवस-  
 र्णमित्यर्थः । तत्र गृही यथोत्पन्नकणरूपां वादरप्रशुतिकां करोति तथोच्यते । इह केनापि गृहिणा पुत्रपुत्रिकादेः परिणयनलज्जनिदिनं  
 ज्योतिष्काद्व्यवस्थापितं तच्च यतिजने तद्दिनसमयेऽनायात एव भवति अथ च कियन्निदिनैः साधवोऽप्याजिगमिषवः स्वविहारक्रमेण

पिण्ड-  
विशुद्ध-  
श्वद्रक्षीया  
वृत्तिः

॥३४॥

तत्र स्थाने वर्तन्ते । स च गृही चिन्तयति विवाहदिनं यत्प्रागमादर्वाक्, निवृत्ते च विवाहे समागतानां किं मया करिष्यते । तदे-  
वाशनादिकं सकलं यत्सुपत्रेषु विनियोगं च यत्प्रेवं च पुण्यमुपाजितं च स्यात् कल्याणं च सम्पद्यते । इत्येवं विचिन्त्य लग्नदिनं  
परतो यत्प्रागमनप्रस्तावेऽपराज्योतिषिकात्रियमयति ततः समागतैः सद्भिः सहृदीं कर्तुमारभते, येन भक्तपानादिकं प्रयच्छा-  
मीति । अत्र च विवाहलग्नदिनस्यार्वाक्वर्तिनो यत् परतो नयनं तत्र यद्शनादिप्राभृतिकाभिश्चा सोत्त्वक्कणवाद्रप्राभृतिका । द्वितीय-  
वाद्रप्राभृतिका त्वेवं सम्भवति । यथा केनापि श्रावकेण स्वपुत्रादेर्विवाहदिनं निश्चितमतश्च तदारतोऽपि यत्तिजनास्तत्रायातास्ततोऽसौ  
मयाऽस्मै विपुलं विशिष्टं च भक्तपानं पुण्यार्थं कल्याणार्थं च दातव्यं तच्च प्रायो विवाहादावेव स्यात् । मत्पुत्रविवाहस्तु यत्तिजनेऽन्यत्र  
विहृते भविष्यतीति विचिन्त्य यत्तिजने तत्रस्थे एव विवाहं न्यवस्थापयति । अत्र विवाहलग्नदिनस्य भविष्यत्कालभाविनो यद्दर्वाक्  
यत्तिजनावस्थाप्रस्ताव एवानयनं, तत्र या प्राभृतिका साऽवक्कणवाद्रप्राभृतिकेति । एतां च द्विरुपामपि ऋजुरजानानः साधूनामपि  
विदितत्वेन प्रकटामेव करोति, स हि न जानाति यदित्थं कृतं ज्ञाते साध्वो न गृहीष्यन्तीति । अनृजुस्त्विदं न कल्पते यतीनामिति  
जानाति परं मायया तथाकरोति पूर्वोक्तकारणाभ्यां यथा ते न जानन्ति । तत्र साधुभिरन्यतः कुतोऽपि ज्ञाते ऋजुना वा पुष्टेन यथा-  
वस्थिते कथितेऽनेषणीयमिति ज्ञात्वा परिहरणीयमिति । स्रग्भोत्त्वक्कणरूपा प्राभृतिका, यथा किल काचिद्गृहस्थी स्रक्कर्तनादि-  
न्यापारवती जनन्यादिका बालकेन रुदता भोजनं याच्यते यथा हे मातर्मह्यं भोजनं प्रयच्छेति । तत्र च प्रस्तावे पर्यासन्नगृहेषु  
पर्यटन् यतिस्तथा दृष्टः । सा च तं दृष्ट्वा स्रक्कर्तनादिलोभेन बालकं स्रङ्गन्तं प्रत्यवादीत् मा पुत्र प्रलप, मा रोदीश्व त्वमिह मद्गेहे  
नेहानुगेहक्रमेण विचरन् यतिराऽऽगमिष्यति तद्भिश्चादानयोत्थिता सती तवापि तत्समकालमेव भोजनं दास्यामीत्यतः प्रतीक्षस्व त्वं

कश्चित्कालं यावद्यतिरागच्छति । ततः सा साधात्रागते धर्मधर्मिर्मुत्थाय बालकभोजनदानसमं यतेभिश्चादानं करोति । इह च यत्र क्षणे याचितं भोजनं तत्रैव तथा कर्तुंमुचितस्य पुत्रभोजनदानस्य तदुल्लङ्घ्य भविष्यत्कालभाविना साशुभिक्षाकालदानेन समं यत्करणं तदुत्पन्नकरणम् । तत्र या प्राभृतिका सा दक्ष्मोत्पन्नकरणप्राभृतिका । तथा रूतग्रीणिकाकर्त्तनक्रियायां समासायां जनन्या कर्तुमीहितस्य पुत्रभोजनदानस्य साधात्रागते यत्समासायामपि तस्यासर्वाक् साशुभिक्षादानसममेव करणं तद्वचमर्पणम् । तत्र या प्राभृतिका सा दक्ष्मावपन्नकरणप्राभृतिकेति । इयमपि द्विविधायकत्व्या आरम्भदोषात् । तथाहि साध्वर्थमुत्थिता सती बालकस्यापि भोजनं दास्यति । तत्र च इत्सवधावनादिनाऽऽक्रयाद्युपमर्दः स्यात् कथं पुनरियं साधुना विज्ञायते, उच्यते, साधात्रागते तत्रापि दास्यामीति जननी जल्पन्ती श्रुणोति, साधात्रागते हिम्भो वा जननीं प्रति ह्यन्नं श्रुणोति किं नाद्याप्युत्तिष्ठस्यागतोऽसौ यतिर्यन्माहात्म्येनाहं भोजनं नीघतरं लप्स्य इति । यद्दान्यः कश्चिद्बालकोऽस्मै साधवे भिक्षादानेन सह मह्यं जननी भोजनं दास्यतीति विचिन्त्य समीपे गत्वाऽऽलिकायां गृहीत्वा स्वहस्तेन माधुं गुहाभेगुत्सवमाकर्षति ततो यतिना किमिति मामाकर्षणादिना नयसीति पृष्टेऽसावन्नतया कथयति भवद्भिश्चादानार्थमुत्थिता सती मह्यं जननी भोजनं दास्यतीति । एवं श्रुत्वा दक्ष्मप्राभृतिकां विज्ञाय तद्गृहं यतिर्न ब्रजतीति गाथार्थः ॥४०॥

उक्तं प्राभृतिकाद्वारमथ प्रादुक्करणद्वारं व्याख्यातुमाह—

पाउयरणं दुविदं पायडकरणं पयासकरणं च । सतिमिरघरे पयडणं समणट्टा जमसणार्इणं ॥४१॥

व्याख्या—प्रादुक्करणशब्दार्थं द्विविधं द्विधा स्यादिति शेषः । यथा प्रकटकरणं वक्ष्यमाणं, इह 'पायडं'ति प्राकृतत्वात्



पिण्ड-  
विशुद्ध-  
शुद्धसरीया  
वृत्तिः

॥३५॥

प्रशब्दस्य दीर्घता, तथा प्रकाशकरणं वक्ष्यमाणम् । चः समुच्चये भेदतया निरूप्य अशुना विषयकथनपुरस्सरं प्रादुक्करणस्य द्विरूप-  
स्यापि सामान्येन लक्षणमाह । 'सतिमिरवरे' इत्यादि सतिमिरगुहेऽन्धकारोपेते वेदमनि वक्ष्यमाणन्यायेन द्वाभ्यामपि प्रादुक्करणप्र-  
काराभ्यां श्रमणार्थं यतिनिमित्तं । साधवो हि सान्धकारे गुहेऽचक्षुर्विषयत्वाद्भिन्नां न गृह्णन्तीत्यतस्तेषां भिक्षाग्रहणनिमित्तमित्यर्थो  
यदशनादीनां भक्तपानप्रभृतिकानां वस्तूनां प्रकटनं प्रकाशनं सप्रकाशतया विधानमिति यावत् गुहिणा क्रियते तत्प्रादुक्करणं भण्यते  
प्रादुःशब्दस्य प्रकाशार्थत्वादिति गाथार्थः ॥४१॥

अथ प्रकटकरणप्रकाशकरणे व्याख्यानयत्नाह ।

पायडकरणं बहियाकरणं, देयस्स अहव चुल्लीए । वीयं मणिदीवगावक्खव कुह्वच्छिड्डाइकरणेण ॥४२॥

व्याख्या-प्रच्छन्नस्य सतः प्रकटस्य सप्रकाशस्य करणं विधानं प्रकटकरणं तदभिधीयते । तत् किमित्याह । बहिस्तात्करणं पूर्व-  
निष्पन्नस्य मोचनेन अभिनवस्योत्पादनेन वा, गुहाभ्यन्तराद्बहिर्विधानमित्यर्थः । कस्येत्याह । देयस्य दातव्यस्य अशनादेर्वस्तुनः ।  
अथवेति विकल्पे चुल्ल्या अधिश्रयण्याः । अयमत्र भावार्थः । इहान्धकारव्यवस्थितं भक्तादि यतयोऽचक्षुर्विषयत्वात् गृहीष्यन्तीति  
विचिन्त्य यद्गृहमध्यवर्तिन्यां चुल्ल्यां स्वगुहार्थं राद्धं भक्तादि वर्तते तद्बहवित्तिन्यां पूर्वमेव स्वार्थनिष्पन्त्यां चुल्ल्यां चुल्लिन्याति  
रिक्तान्यप्रदेशे वा सप्रकाशे आनीय मुञ्चति येन गृह्णन्ति । यद्वा तद्बह्वित्स्वचुल्लिद्वयसद्भावे गृहान्तवर्तिनीं परित्यज्य गृहाद्बहिर्वर्षि-  
न्यामेव शुद्धायां चुल्ल्यां साधूपकृतये आहारस्य प्रकटनाय प्रथमत एव स्वार्थं राध्नोति, इत्येवं देयस्य पूर्वनिष्पन्नमोचनेनाभि-  
नवस्योत्पादनेन वा बहिस्तात्करणमिति । एवं चुल्ल्या अपि द्विधा बहिस्तात्करणसम्भवे वाच्यः, यथा धर्मश्रद्धान्विता दानप्रियत्वेन

काचिद् गृहस्थी चिन्तयति यदुत यद् यस्यां चुष्ठ्यां राध्यते भक्तं प्राप्तु तस्या एव पार्श्वे मुख्यते तच्च गृहमध्यवर्तिन्यां चुष्ठ्यां  
 रादं तत्पार्श्व एव स्यात् । तस्मिंश्च साधुभ्यो दीयमानेऽन्तरालेऽन्धकारः स्यात्तत्र च व्यवस्थितं भक्ताद्येते न गृहीष्यन्तीति सा  
 स्वार्थनिष्पन्नां चुष्ठीं सञ्चारिणीं गृहान्तर्वर्तिनीं माध्वर्थमाहारस्य प्रकटनाय बहिरानीय मुञ्चति । नूतना वा स्वार्थं साध्वर्थं वा वहिः  
 करोति । तत्रैव च प्रतिदिनं स्वार्थं रन्धयति । इह च वहिःकृतचुष्ठयः शुद्धा आधाकर्मिकयश्च स्युः । तत्र यदि शुद्धास्तदा प्रकटकरण-  
 संज्ञितप्रादुर्गणलक्षण एव दीपः स्यान्न पूतित्वं, यदा त्वभिनवाऽऽधाकर्मचुष्ठ्यां राध्नोति तद्दीपकरणपूतित्दीपः प्रकटनदीपश्चेति दीपद्वयं  
 स्यात् नवरं चुष्ठ्याः पृथक्कृते भक्ते पूतित्वमुत्तरति परं प्रकटनदीपेण न कल्पते । इह पूतित्वं प्रासङ्गिकमेवोक्तम् । प्रकटनदीपेनैवान्न  
 प्रकृतमिति । अथ किमित्यसावाहारो न कल्पते, उच्यते स्वयोगेन प्रवृत्तोऽप्याऽऽहारपाकः साध्वर्थं वहिःकृतस्तत्र च पृथिव्याहुपमर्द्दिर-  
 न्यदोप इति । कथं पुनरसौ दीपः साधुना ज्ञायते, उच्यते क्वचिद्वाग्भिन्कगृहेऽन्धकारे एव राध्यमानं पूर्णं दृष्ट्वा पश्चात्तैव वहिस्ता-  
 दिति किञ्चित्सञ्जाताशङ्केन किमर्थमयमाहारोऽद्य गृहस्य वहिस्ताद्राद् इत्यादि प्रश्ने कृते ऋजुतया भवदर्थमिति यथाकथनतः पूर्व-  
 मन्धकारेऽकल्पयमासीदधुना सप्रकाशे रादं कल्प्यम्, गृह्यतामिति दात्रीवचनश्रवणतो वा विज्ञाय दीपं तदज्ञनादि न गृह्णाति । यदा  
 तु माध्वर्थमभ्यन्तराद्बहिःचुष्ठीं मुक्त्वा राद्धा चैवविधोऽभिप्रायो दात्र्या त्रिस्तुरति यथा गृहान्तर्मक्षिका घर्षो वाऽन्धकारो वा पाक-  
 स्थानान्द्रोजनस्थानं वा दूरवर्तिं, गृहस्य वहिस्ताच्च शीतलं सप्रकाशं पाकस्थानान्द्रोजनस्थानं चासन्नमत इदं स्वयमत्रैव भोक्ष्यत इति ।  
 तदित्यमात्मास्थितं कल्पत इति । तथा 'वीयं' ति द्वितीयं प्रकाशकरणलक्षणं प्रादुर्करणं स्यादिति शेषः । केनेत्याह मणिर्माणिक्यं  
 तैजस्वित्त्वनिवेशेपः, दीपोऽग्निकलिकारूपः प्रदीपः । गवाक्षो भित्त्यां जालिकारूपः प्रतीतः । तथा कुड्यस्य भित्तेः छिद्रं रन्धं तदादि-

र्यस्य वस्तुनः, आदिशब्दाद् गृहाच्छादनापनयनापरद्वारकरणं पूर्वकृतद्वारबृहत्करणदेः परिग्रहस्ततः कुड्याच्छिद्रादि, ततो मणिश्च दीपश्च गवाक्षश्च कुड्याच्छिद्रादि च मणिदीपगवाक्षकुड्याच्छिद्रादि तेषां करणं केनापि रूपेण विधानं तेन । अयमर्थः कश्चिद्विवेकिदायको मन्द-प्रकाशगृहमध्यस्थस्थानस्थितस्यैव देयद्रव्यस्य प्रकटनाय, तमिश्रादेश्चो साधुभिश्चाशुद्ध्यर्थं मणिं भास्वरं व्यवस्थापयति, अग्निप्रदीपो वा प्रकाशाय कुरुते, गवाक्षं वा विधत्ते, कुड्याच्छिद्रादि वा विदधातीत्यं यत्प्रकाशकरणं करोति, तत्प्रकाशकरणलक्षणं प्रादुष्करणं भण्यते । तदित्यमपि लब्ध आहारो न कल्पते, प्रवृत्त्या दीषात् । अयमपि च स्थानस्थ आत्माश्रितस्सन् स्वयोगेन बहिर्निष्कासितो वा कल्पते । नवरं अग्निप्रदीपप्रकाशकरणदीपशुद्धो न कल्पत एव तेजस्कायद्युतिस्पर्शसम्भवात् । परिज्ञानोपायादिकं चापि ऋजुगृहस्थकथनादिना जानातीत्यादिकं पूर्ववद्वाच्यमिति गाथार्थः ॥४२॥

उक्तं प्रादुष्करणद्वारमथ क्रीतद्वारं व्याचिख्यासुस्तस्वरूपं यथा तद्यावद्भेदं च स्यादित्येतदाह ।  
उक्तं प्रादुष्करणद्वारमथ क्रीतद्वारं व्याचिख्यासुस्तस्वरूपं यथा तद्यावद्भेदं च स्यादित्येतदाह ।  
उक्तं प्रादुष्करणद्वारमथ क्रीतद्वारं व्याचिख्यासुस्तस्वरूपं यथा तद्यावद्भेदं च स्यादित्येतदाह ।

किण्णं कीयं मुह्येणं चउह तं सपरद्वन्वभावोहि । चुन्नाइकहाइधणाइभत्तमंखाइरुवहि ॥४३॥

व्याख्या—क्रीयते यत्तत्करणं, कर्मणि युद्, क्रेयं वस्त्वित्यर्थस्तत् किमित्याह क्रीतमिति क्रीयतेसाधनादि साध्वर्थमिति क्रीतं क्रीतारव्यं तदुच्यते इत्यर्थो यद्वा भावे युद् निष्ठा प्रत्ययः, ततः क्रयणमन्यजनपार्श्वार्दशनादर्शहणं क्रीतं । ततः क्रयणयोगादशना-द्यपि क्रीतं, क्रीतार्थमुच्यत इत्यर्थः । केन क्रीयत इत्याह मूल्येन केतव्यवस्तुनो लाभकारकवस्तुना लोकप्रतीतेन, चतुर्द्धी चतुःप्रकारं, तत् क्रीतं स्यादिति शेषः यद्वा तदिति मूल्यं चतुर्द्धी चतुर्भिः प्रकारैर्वक्ष्यमाणैः सात्त्वयोगात् भक्ताद्यपि चतुर्द्धेति व्याख्येयं । कथं पुनरिदं चतुर्द्धेत्याह 'सपरद्वन्वभावोहि' ति तत्र स आत्मा यतिसत्को देहः परः साध्वेष्वेक्षयाऽन्यो गृहस्थादिः ततः स्वश्च परश्च स्वपरो

ततः स्वपरयोर्द्रव्यभावी ताभ्यां स्वपरद्रव्यभावाभ्यामिति । एतेन द्वन्द्वात्परस्य पदस्य श्रूयमाणस्य प्रत्येकं व्याख्याततः सम्य-  
 न्धात् स्वद्रव्यक्रीतं स्वभावक्रीतं परद्रव्यक्रीतं परभावक्रीतमिति क्रीतभेदचतुष्टयं वक्ष्यमाणार्थमुक्तं । किंस्वरूपाभ्यामित्याह, 'चुत्राह'  
 इत्यादि, इह चूर्णशब्देन निर्मात्यमुज्जयन्तादिप्रतिमाशेषितं चूर्णरूपं पुष्पादिकमभिप्रेतं चूर्ण आदिर्यस्य स्वकीयद्रव्यसमूहस्य स  
 चूर्णादिः । आदिशब्दात् पुटपाकादिगन्धमुखप्रक्षिप्तमनुजस्वरूपपरावर्त्तादिकारिण्टिकाकर्पूरादिमिश्रितचन्दनबालपोतकबल्लादिपरिश्रहः ।  
 'कहाह' सि कथा धर्मकथाकथनं धर्मदेशनाकरणमित्यर्थः । सा आदिर्यस्यात्मीयभावसमूहस्य स कथादिः । आदिशब्दात् पिण्डा-  
 दिलोभेन प्रमाणोपन्यासकरणमासादिक्षपणविधानपरोपश्लोकर्थकाव्यविरचनशीतोष्णाद्यातापनाऽऽदानादिपरिश्रहः । 'धणाह' चि  
 धनमिद घटिताघटितरूपसुवर्णद्रमरूपकई(पर्दि)कादिकमचेतनं ग्राह्यं, तदादिर्यस्य परद्रव्यसमुदायस्य स धनादिः । आदिशब्दात्  
 सचिचमिश्रद्रव्यग्रहः । 'मंखाह' चि भक्तो भक्तिमान् मंखः केदारपट्टिकसुकृतदुष्कृतफलहृत्कचित्रफलकोपजीवी भिक्षुविशेष इति  
 यावत् । भक्तश्चासौ मंखश्च स आदिर्यस्य भक्तिमत्तथाविधजननिवहस्य स भक्तमंखादिः । इह परभावस्य प्रस्तुतत्वात्, साध्वर्षमा-  
 धाराद्युपमार्जनां(र्गणां) संवलितो मंखादिसत्कविज्ञानरूपो भावोऽपि भक्तमंखशब्देनात्रोपचारादुक्तः । ततश्चूर्णादिश्च कथादिश्च धना-  
 दिश्च भक्तमंखादिश्चेति ते तथा वै रूपं स्वरूपमात्सीयलक्षणं ययोः स्वपरसत्कयोर्द्रव्यभावयोस्तौ तथोक्तौ ताभ्यां चूर्णादिकथादिधना-  
 दिभक्तमंखादिरूपाभ्यां । केचित्तु बहुवचनांततया व्याचक्षते । यथा द्रव्ये च भावी च द्रव्यभावाः स्वपरयोर्द्रव्यभावाः स्वपरद्रव्य-  
 भावास्तैः । किं स्वरूपैरित्याह । चूर्णादिकथादिधनादिभक्तमंखादयो रूपं येषां स्वपरद्रव्यभावानां ते तथा तेः, येषं प्राग्भवत् । (१५००)  
 अनेन च 'गाथोचाराद्धेन क्रीतभेदचतुष्टयमत्का मूल्यरूपा द्रव्यभावा विशेषणतया अभिहिताः । तत्रात्मद्रव्यं चूर्णादि, आत्मभावः

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
शंद्रक्षरीया  
श्रुतिः

॥३७॥

कथादि परद्रव्यं धनादिः परभावो भक्तमंखत्वादिरिति । तदयं प्राणुपात्रक्रीतभेदचतुष्टयस्यार्थो, यथा(द्) आहारादिलिप्सया स्वकी-  
येनात्मद्रव्येण चूर्णादिरूपेण गृहीणः(हिणा) प्रदत्तेन यदज्ञानादि साधुना लभ्यते तदा द्रव्यक्रीतमात्मनोऽर्थीयान्मद्रव्येण चूर्णादिना अहं  
क्रीतं साधुनोपाजितं भक्तादीति कृत्वा । अत्र चाप्सी दोषा, यथा निर्माल्यादिग्रहणानन्तरं तस्य दैवयोगेन मांघे जाते साधुना अहं  
भजनीकृत इत्यादिभजानजल्पनादिना शासनमालिन्यं स्यादथाग्रतो मन्दस्सन् निर्माल्यादि(ना)नीरोगः सम्पद्यते तथा चाटुकारित्वं  
कृतं स्यात्तथा मन्दस्यौपधादिदानेन प्रणुणस्य तु व्यापारादिप्रयोजकतया जीवाघातापत्तेः कर्मम्वन्धः स्यात् । तथाहाराद्यर्थमेव धर्म-  
कथावादिक्षपकातापककविभिः स्वस्वधर्मकथादिलक्षणेनात्मभावेन विनायमानेन धर्मकथाद्याधिसिचित्तेभ्यो लोकेभ्यो यदज्ञानादिकं  
लभ्यते तदारमभावक्रीतं आत्मनोऽर्थीय भावेन धर्मकथादिना क्रीतमिति कृत्वा । अत्र च दोषाः स्वानुष्ठानफलगुताकरणप्रभृतयो  
वाच्याः । तथा गृही सच्चित्तादिभेदेन द्रव्येण साध्वर्थं यदज्ञानादि क्रीणाति तत्परद्रव्यक्रीतं साध्वर्थं परेण गृहस्थादिना द्रव्येण  
धनादिसच्चित्तादिप्रकारान्यतरेण क्रीतमिति कृत्वा । पदकायविराधनादयो दोषाः प्रतीता एव । तथा परभावेन साधुभक्तमंखादि-  
भिधुसक्तविज्ञानलक्षणेन परयथेण क्रीतं यद्भक्ताद्युपाजितं साध्वर्थं तत्परभावक्रीतं । अत्र वृद्धदृष्टान्तो यथा-

एगंमि नामे एगो धर्ममपिओ मखो होत्था, अत्रया तस्स गिहेगदसे साहुपरिवारसंयु(जु)या सुद्वियायरिया तत्थ वासारत्ते  
ठिया । मखो दाणस्सं पद्दिणं साहुणो भत्ताहच्छं(यं) देह ते य सेज्जातरपिंढो त्ति काउं जेण तेण उवाएण पडिसेहंति । तेण चित्तिंयं  
जहा मम मेहे एए भत्ताइ न मेण्हंति अक्केसिं पि मेहे जह एत्थ द्वाविस्सामि तओ लविस्सन्ति, ता वासारत्ते वित्ते कयरीए दिसाए तुन्भे  
स्सन्ति तत्थ गत्तुण केणइ उवाएण द्वावेमि त्ति । वहु वासारत्ते गए ते पुट्टा । जहा भयवं वासारत्ते वित्ते कयरीए दिसाए तुन्भे

विहरिस्सह । तेहिं अविगप्येहिं कहियं जहा अमुगाए । तेण य विचे वेव वासारत्ते तीए दिसाए एंगंमि गोडले गन्तूण केदारपडि-  
 विनाणं लोगो आवञ्जिओ । धयदुद्धाहयं दाउं पयद्वो, तेण भणिओ जहा जया याएमि तया देज्जसु चि । ते य साहुणो वासारत्ते  
 विचे विहरन्ता तत्थेवागया तेण अलक्खावितेण पुव्वपडिसेहियं धयाहयं जाइउं एंगंमि नेहे मेलिऊण मुक्कं । ते साहुणो निमंतिऊण  
 सुद्धंति पच्चयं उप्पाहय पडिजाहिया ।

इत्यमूर्त्तिनमन्यदपि यदशनादि साधुना लभ्यते तत्परभावक्रीतमुच्यते । अत्र च परभावक्रीताख्योऽन्यतो गृहादानीतत्वाद-  
 न्याहृताख्यः, अवभाष्यावभाष्यैश्चमुक्तत्वात् स्थापनाख्यश्च दोषः स्यादिति नाशार्थः ॥४३॥

उक्तं क्रीतद्वारमथापमित्यकद्वारमाह ।  
 उक्तं क्रीतद्वारमथापमित्यकद्वारमाह ।

समपाठा उच्छिद्य, जं देयं देइ तमिह पामिच्चं । तं दुट्टं जइभइणी, उद्धारियतेल्लनाएण ॥४४॥

न्याख्या—श्रमणार्थं साधुनिमित्तमुच्छिद्य पुनर्दरियाभ्येतत्तवेत्यभिधाय कस्यापि पार्श्वद्वारे गृहीत्वा यद्देयं दातव्यं वस्तु,  
 एतेनाहारोपाधिशय्यालक्षणं वस्तु सर्वं क्षचितम् । नवरमत्राहारेणैव प्रकृतं, शेषं तु प्रसङ्गेनोपयोगित्वात् किञ्चिद्दक्षयते । ददाति  
 प्रयच्छति गृही श्रमणेभ्यस्तद्वस्त्रवाहारादि । 'इह' प्रवचने, एषु वोद्गमादिदोषेषु मध्ये, 'पामिच्चं'ति अपमित्यकं पामित्यकं चोक्तशब्दार्थं  
 भण्यत इति शेषः । एतच्च लौकिकलोकोत्तरभेदाद् द्विभेदं स्यात् । तत्र लौकिकं पृथग्जनभवमितरच्च जिनशासनोद्धवं । तदिह  
 लौकिकेन प्रकृतं । तत्रानालापरादिदासत्वप्रभृतिसर्वजनप्रत्यक्षदोषसम्भवात् । इतरदुपरिष्टादुपयोगित्वादेव वयं दर्शयिष्यामोऽतो लौकि-  
 कमाश्रित्य द्वाकरो निषेधं दर्शयन्नाह । तदपमित्यकाशनादि दुष्टं दात्र्यादेर्दासत्वभवनादिदोषकृत् । दुष्टत्वाच्च यतीनामकल्पं ।

पिण्ड-

विद्युद्-

श्रद्धासूरीया

श्रुतिः

॥३८॥

केन दुष्टत्वमस्य ज्ञातमित्याह यतेः साधो भगिनी स्वसा, तथा उद्धारितं मूल्याभावादुद्धारके गृहीतं यद्वणिक्त्तैलं तस्य ज्ञातं दृष्टा-  
न्वस्तेनेति । तन्वेदं—

एगंसि नामे एगो कुडुंविओ होत्था, तस्स य बहवे पुत्ता । बहुयाओ धूयाओ भविसु । अणया तत्थ समुद्दयोसो णाम स्सरिणो  
समानया । तेसिं सगासे यम्मं सोउं एगो तस्स कोडुंविंयस्स पुत्तो संजायतिव्वचरणपरिणामो पडिन्नो दिक्खं । कालेण य विन्नाया-  
सेसकिरियाकलावो अहिज्जियसयलमुत्तत्थो विन्नायपरमत्थो गीयत्थो संजाओ । सो य अब्बाया कोइ पव्वज्जं गिण्हिहिति गुरुणो  
आपुच्छिऊण सयणदंसणत्थं नियसन्नायगणामे गओ । तत्थ बाहिं कोइ पुट्ठो जहा अमुगस्स कोडुंविंयस्स पुत्तो हं, ता कोइ एत्थ  
अत्थि मम सयणो, तेण भणियं एगा तुज्झ भणिणी विहवा जीवइ । सेसं सव्वं कालेण कवलियं, तउ तीसे णिहे पविट्ठो, सा य तं  
सहोयराणगारं निज्जियदुज्जयवइरिमारं विहिउगच्छइमाइतवोदारं विसिट्ठणाणाइशुणगणगारं दट्ठण अतीव हरिसिया । भत्तिबहु-  
माणपुव्वं वंदिऊण पज्जुवासिऊण यं तच्चिमिच्चं किंचि आहारपाचं काउं पयट्ठा । साहुणा य वारिया जहा पाणे कए अरुहाणं न  
कपइ । तीए च्चिन्तियं पाणं विणा वयतेछाइयं होइ । तं च मम नेहे नत्थि चि मासे मासे दुगुणवुट्ठीए एगस्स सेट्ठिस्स सयासाउ  
उच्छिन्नो एगो करिसो तेछस्स गहेऊण साहुणो होइओ । तेण सुट्ठो चि गहिउं जीमिओ । तीसे नियमाइयं दाउं विहारो कओ ।  
तीसे तेछस्स असंपत्तीए अणेगे वडया रिणे जाया । सेट्ठिणा सा भणिया जहा मे तेछं देहि उदाहु गीहदासी भवसुत्ति, तेछस्स  
अभावाउ तस्स णिहे दासी जाया । कइवयवरिसेहिं पुणो वि सो साह तत्थागओ गामपरिसाए कोइ पुट्ठो जहा अमुगस्स कोडुंविंयस्स  
अमुगा तणया आसि सा किं चिइइ नत्ता, तेण भणियं चिइइ परं अमुगस्स सेट्ठिणो णिहदासी जाया रोवन्ती चिइइ, सव्वो विछ-

बह्यरो कहिओ । तेण चिन्तियं हा दुहु जायं मम दोसेण सा वराही(ई) दासतं पत्ता । इहिं मोयामिति । सो भणिओ जहा तीसे तं  
 कहंअत्तु जह सो तव भाया साहू समागओ चिहइ भणइ य मा रोवसु अचिरकालेण मेछावेस्सामि, तेण य तहेव तीए कहियं । साहू  
 य एसो चंय तीए मेछावणोवाओ चिन्तिऊण पढमं चंय भिक्खायरियाए तस्सेव सेट्टिस्स गिहे पविट्ठो । सेट्टिणी भिक्खादाणइ  
 हत्थं जत्तेण धोइउं लग्गा । साहुणा भणियं एवं अम्हं भिक्खा न सुज्झइ । समीवठिएण सेट्टिणा साहू पुट्ठो जहा को एत्थ दोसो,  
 साहुणा य जलविराहणाइदोसा कहिया सो य आउट्ठो भणइ, जहा कत्थ तुम्हाणं वसही जेणाहं आगनुं धम्मं सुणेमि । साहुणा  
 भणियं नत्थि । तओ तेण नियगेहे दिआ, पइदिणं धम्मं सुणेति, सम्मत्तमणुव्वयणिं य सेट्टिणा गहियाणि । तओ सो साहू अमुणेण  
 परिसो अभिगहो गहिओ जहा मए जावञ्जीवं पव्वञ्जं गिण्हन्तो नियपुत्तो वि न य धरियव्वो त्ति । एरिसयाइं कहणयाइ सेट्टिणी  
 कहंइ । सेट्टिणा य एसो अभिगहो गहिओ । एत्थंतरे सेट्टिपुत्तो सा य साहुभणिणी पव्वञ्जाए उवट्टिया । सेट्टिणा विसञ्जियत्ति ।

ननु तस्या निर्वाणसाधिकाराः प्रवज्यायाः कारणमेतज्जातमिति विशेषतः साधुना तद्ग्राह्यमित्यायातं, नैवं, स्तोका एवंविधवि-  
 श्वानवन्तो भविव्यन्ति, तस्मादेतन्न ग्राह्यम् । एवं तावद्दृष्टतैलाद्याहारविषयापमित्यके दोषा दासत्वप्राप्त्यादयः स्युः । यदा तु ब्रह्म-  
 पात्राद्युपकरणवसत्यादिविषयमापमित्यकं दाता कुर्याच्चिदाऽऽहारापेक्षया ब्रह्मादीनां बहुतममूल्यलभ्यत्वाद् दातुर्निगडादिनियन्त्रणयुत-  
 दासत्वभवनदायो ग्राहतरा विशेषतस्ते स्युः अतस्तदपि बज्ज्यमिति । लोकोत्तरापमित्यकं चतुर्धा(द्विधा) । तत्रैकं कश्चित् साधुः कुतोऽपि  
 साधोः सकाशात् कियद्दिनानि व्यापार्य पुनरिदमेव ते समर्पयिष्यामीत्युक्त्वा ब्रह्मादि शुक्राति । द्वितीयं तु कश्चिदिदं निर्जरियज्यामि  
 तत्वेतावद्दिनानामुपर्येतत्सदृशमपरं समर्पयिष्यामीत्युक्त्वा तद्दृष्ट्वाति तद् द्विरूपमपि पुरुषजल्पनेन सादिरूपणाक(णादि)दोषसम्भ-



वादकल्प्यम् । तथाहाथे ब्रह्माधापमित्यके यदा मलिनीकृतं पाटितं वा जीर्णपायं वा कृतं समर्पयति चौरादिना यद्गृहीतं क्वचित् पतितं वा स्यात्तदा कलहादिसम्भवो द्वितीयब्रह्माधापमित्यके तु यदा स्वकीयब्रह्माधापेक्षयाऽन्यब्रह्मादि तद्ग्राहकसाधोः सकाशात् साधुमर्णयति, तदा तेन साधुना गृहीतब्रह्मादेः (साधोः)सकाशात् सुन्दरेऽपि तस्य समर्प्यमाने दुष्करशुचित्वात्तेन सहासौ कलहानालापादिकं कुर्यादिति । यदा तु दुष्प्रापं ब्रह्मादिकं स्यादथ च कश्चित् साधुः सीदति तदा तस्यापसाधुनाऽधिकतरसद्भावे मुधिक्रया सामान्येन तद्दानं कर्तव्यं न तु विवक्षया यदा तु स्वर्णपूडो वा कुटिलयतिः स्यादलसो वा याञ्चाकष्टभयेन न प्रयच्छति मुधिक्रया तदाऽऽपमित्यकं क्रियते । नवरं तदपि ब्रह्माधापमित्यकं साधुना न स्वैरितया विधेयं किन्तु गुरोरग्रतस्तत् स्याप्यते । ततोऽसौ गुरुस्तदर्थिनः साधोरर्पयतीति । एवं च कृते दापकग्राहकयोः कालान्तरेऽपि परस्परं कलहानालापादिकं न भवतीति गाथार्थः ॥४४॥ उत्तमाद्यद्वारागान्तवस्पर्णमित्यकद्वारं, अथ 'परियद्विष्ट अभिहडे'त्यादि द्वितीयद्वारागार्थोपात्तं दशमं परिवर्तितद्वारमाह ।

**पल्लटियं जं द्रव्यं, तद्ब्रह्मद्रव्येहि देइ साहूणं । तं परियद्वियमेत्थं, वणिदुगाभइणीहि दिट्टंतो ॥४५॥**

व्याख्या—परिवर्त्यं विनिमयं विधाय यद्द्रव्यं भक्तादिकं परकीयं, काभ्यां परिवर्त्येत्याह, 'तद्व्यापद्वेहि'ति तच्चान्यच्च तदन्ये ते च तद् द्रव्ये च तदन्यद्रव्ये, ताभ्यां तद्द्रव्येणान्यद्रव्येण चारत्मीयेनेत्यर्थः । तत्र तत्परिवर्तिनी यद्द्रव्यापेक्षया तज्जातीयं द्रव्यं वस्तु तद्द्रव्यं, तेन परिवर्तितम् । यथा साधुगौरवनिमित्तमात्मलाघवपरिहारार्थं वा कुथितवृत्तेन सुगन्धितवृत्तस्य ग्रहणमित्यादि । अन्यद्रव्यं तद्विपरीतं तेन परिवर्तितं यथा तैलेन घृतस्य ग्रहणमित्यादि । पूर्वकालस्य चोत्तरक्रियासव्यपेक्षया तदुत्तरक्रियामाह, ददाति प्रयच्छति, 'साहूणं' ति साधुभ्यस्तददानादि । साधुभ्यो कृतपरवर्तं परिवर्तितमुच्यत इति शेषः । इदमपि लौकिकलोकोत्तर-

रिक्भेदात् द्विधा भवति । तत्र पूर्ववत् लोकोत्तरं पश्चाद्दक्ष्यते लौकिकं च सद्यः प्रभूतापायहेतुत्वाद्दिशेषतो सुशुश्रूणा परिहार्यमिति  
 क्षयकारस्तदाश्रित्य प्रत्यपायदर्शनार्थं दृष्टान्तमाह । 'एत्थं' ति अत्रैतस्मिन् परिवर्तिताशानादौ वणिग्द्विकस्य परस्परं ये भगिन्यो  
 स्वसारां तार्यां दृष्टान्तो निदर्शनं भणनीय इति शेषः । स चायं—

यसंतपुरं नाम नयरं आसि । तस्य एगस्स सेट्टिस्स खेमंकरो देवदत्तो य दुवे पुत्ता लच्छी दुहिया य । तत्थेवं अन्नस्स सेट्टिस्स  
 धणदत्तो बंधुमती य दुवे डिग्गाणि । सन्वाणि जीव्णं पत्ताणि । तस्य खेमंकरो समियायसियाण सगासे पव्वइओ । देवदत्तेण  
 वन्धुमती, धणदत्तेण लच्छी परिणीया । इओ य धणदत्तो लच्छी य दरिद्वाणि जायाणि । तेसिं धरे कोइवक्करो, इयराणि ईसरणि,  
 तेसिं तु सालिक्करो विज्जइ । अन्नया सो खेमंकरसाहू नियविहारेण विहरंतो तत्थागओ । तेण च्चितियं य(ज)इ देवदत्तभाउणो निहे  
 पविसिस्सामि ता लच्छी भणिणी अहं दालिदिणि चि खेमंकरेणवि परिभूयचि अद्धिइं काहिंति, अणुकंपाए तीए चैव निहे पविट्ठी ।  
 भिक्खावेलाए लच्छीए च्चितियं एकं भाया तथा साहू, अबं पाहुणओ सो, मसं धरे पुण कोइवक्करो रद्धो, ता कहं सो एयस्स दिज्जइ ।  
 सालिक्करो उण नत्थि ता नियभाउजाइयाए बंधुमतीए सयासाउ कोइवक्करेण पछट्टिय सालिक्करं आणिय देमि तहेव कयं । इओ य  
 तंमि पत्थावे देवदत्तो भोयणत्थं निहे आगओ बंधुमतीए पुट्ठी । जहा कोइवक्करं जेमिसि तेण य अविन्नायपरियट्टणवुत्तंतेण च्चितियं,  
 जहा किवणत्तेणेण अणाए कोइवक्करो रद्धो चि कुविण्ण सा पिट्टिया । तीए भणियं, किं मं पिट्टिसि ? तुह चैव भणिणी कोइव-  
 क्करपरियट्टणेण सालिक्करो नीउत्ति । धणदत्तो वि समिहे भोयणत्थमुवविट्ठी, लच्छीए खेमंकरस्स दिज्जमाणो जो सालिक्करो  
 उव्वरिओ सो गउत्तेण तस्स दिओ तेण सा पुट्ठा । कुओ अज्ज एसो ? तीए खेमंकरआगमणाइसन्वो वुत्तंतो कहियो । तओ तेण

पिण्ड-

विशुद्धे-

श्वद्रक्षीया।

श्रुतिः

॥१०॥

कुविण्ण पावे ! अप्पणयं पक्कमाणयं कुरस्स रंथियं तु कीस न दिवं ? जं परधराउ आणयणेण मम लहुत्त उप्पाहयं ति भणमाणेण सा वि पिड्डिया । साहुणा य सव्वं नायं । निसाए पडिबोहियाणि पत्थावे पव्वावियाणि चि ।

इह हि देवदत्तस्य भगिनी लक्ष्मीर्नदत्तेन परिणीता दरिद्रा चासौ । धनदत्तस्य भगिनी बन्धुमती देवदत्तेन यतिभ्रात्रा परिणीता इति । परस्परं वणिग्द्वयस्य भगिन्यौ-वर्त्तते । दृष्टान्तेन सदोषत्वात् परिवर्त्तितं यतिभिर्न ग्राह्यं । य(त)था यच्छ्रमणः श्रमणेन सह वस्त्रादिपरिवर्त्तनं करोति तल्लोकोत्तरपरिवर्त्तनं । तदपि तद्व्यन्यद्रव्यविषयं दृष्टव्यमेतदपि दुष्टं कलहादिसम्भवात् । तथाहि लडिबदं त्वदीयं वस्त्रादि, मदीयं तु मानशुक्तमभूत्तथाऽतिप्रलम्बमिदं जीर्णप्रायं वा कर्कशस्पर्शं वा स्थूलद्वानिष्यन्नत्वेन भारिकं वा, निष्पुष्कदन्तं (निष्पुष्पकं-खिन्नं) वा, मलिनं वा, शीतरक्षणाक्षमं वा एतन्मदीयं तु नैवमासीदिति स्वयं ज्ञात्वाऽन्येन वैतद्दोषजालं सत्यमसत्यं वा ज्ञापितो दृष्टोऽहमिति विचिन्त्य कलहादि कुर्यात् । अपि च तद्वस्त्रादि यस्य सत्कं तन्न स्यात् तस्य प्रावरणादि कुर्वतो मानशुक्तं स्यात् । द्वितीयसाधोश्च यत्सत्कं तत्तस्य न्यूनाधिकमानं, यद्वा यस्य दुर्बलमस्ति स बलिकं, यस्य तु बलिकमस्ति स दुर्बलमिच्छति तदा परिवर्त्तनं क्रियते, परं तदा तद्वस्त्रादि साधुभ्यां स्वं स्वं शुरोरग्रतो भोक्तव्यं, मुक्ते च स शुरुर्विनिमयेन द्वयोः साधोस्तत्समर्पयत्यन्यथा साधुभ्यामेव परिवर्त्तने कृते परस्परमनालापकलहादिकं स्यादिति गाथार्थः ॥५५॥

उक्तं परिवर्त्तितद्वारमथाभ्याहृतद्वारं व्याचिन्त्यासुराह ।

गिहिणा सपरगामाद्-आणियं अभिहृडं जईणटा । तं बहुदोसं नेयं, पायडल्लाइबहुभेयं ॥१६॥

व्याख्या—गुहिणा गृहस्थेन, स्वश्च परश्च स्वपरो तौ च तौ तथा स्वग्रामः परग्रामश्चेत्यर्थः । तत्र साधोर्निवासः संनिवेशः

स्वप्राप्तः । एतद्विपरीतः परप्राप्तः तावादिर्षस्य स्वपरदेशकपाटकगुहादिस्थानविशेषरूपस्य तद्गतभेदसमूहस्य स तथा तस्मात्, प्राक-  
 तत्यादत्र पञ्चम्येकवचनलोपात् स्वपरप्राप्तादेरिति दृश्यं । 'आदिशब्दः प्रत्येकं सम्बध्यते'(इति) व्याख्यानात् स्वप्राप्तादेः परप्रा-  
 मादेश्चत्यर्थः । आदिशब्द उभयथापि स्वगतानेकभेदसूचको द्रष्टव्यः । ते च भेदाः प्रकटछन्नादयो गाथाचतुर्थपादेन सूत्रकृतैव  
 विशेषणतया सूचिता इति तत्रैवाभिधास्यन्ते । आनीतमिति किञ्चित्स्थानं प्रापितं यदशनादीति प्रक्रमः । यतीनामर्थीय साधूनां  
 प्रतिलम्भनानिमित्तं । यत्तदीर्नित्ययोगात्तदशनाद्याभिहतं पूर्वोक्तशब्दार्थं भण्यत इति शेषः । तत् स्वपरप्राप्ताद्याभिहतं अशनादि, बहवः  
 प्रचुरा दीपाः संयमात्मविराधनादयो दूयणानि वक्ष्यमाणा यत्र तद्गुह्यदोषं ज्ञातव्यं । तथा तत् प्रकटं तद्ग्राहकसाधुशेषजनार्भ्यां  
 विदितस्वरूपं, तथा बहिरन्यथा जल्पितत्वेन तद्ग्राहकसाधुना लोकेन च यदलक्षितदातदानपरिणामं वस्तु तच्छब्दं । कोऽर्थो यथा-  
 ऽन्यो न कश्चिज्ज्ञानाति तथा यदाऽऽनीतं तच्छब्दमिति । ततः प्रकटं च छन्नं च प्रकटछन्ने, ते आदिर्षेणां अनाचीर्णादिभेदानां  
 ते प्रकटछन्नादयस्ते बहवो भेदा विशेषा यस्याभ्याहृतस्य तत्तथा । अयमत्र भावार्थः । इहादावनाचीर्णाभिदाव सामान्येन  
 द्विधाऽभ्याहृतं । तत्रानाचीर्णं, यस्य ग्रहणं गीतार्थेनाऽऽचरितं तदपि द्विधा स्वप्राप्तपरप्राप्तभेदात् । स्वप्राप्ताभ्याहृतमपि वाटकसाहि-  
 निवेशनगुहादिभ्यः पङ्क्तिस्थितगुहत्रयात् परतश्चतुर्थगुहादेर्वा आनीतं स्यात् । तत्र वाटको प्राप्तादेर्व्यवच्छिन्नः संनिवेशः । साही  
 ग्रामगुहाणामेकपाटी । निवेशनमेकनिक्रमणप्रवेशानि ज्ञादीनि गुहाणि । गुहं केवलमन्दिरमिति । एतच्च प्रकटछन्नतया द्विधा  
 स्यात् । तत्र प्रकटं स्वप्राप्ताभ्याहृतमित्थं स्यात् । यथा कश्चित् साधुभिक्षामटन् क्वापि गुहे प्रविष्टस्तच्च तदा बहिनर्गतामानुपत्त्वेन शून्यं  
 दात्री वा तदा सुप्ताऽश्वत्, साधुभिक्षापस्तावे राद्धं वा नासीत्, साधोर्वा तत्र विहृत्य निर्गतात् (गतस्य पश्चात्) प्राधूर्णकस्वज-

नादिभोज्यं जातं लाहणकं वाऽऽप्यातमित्येतैः कारणैः काचिद् गृहस्थी स्थालीतलिकाकरोटकादिभाजने कृत्वा भक्तादि साधोरूपा-  
श्रयमानयति । ततः किं त्वयेदमत्रानीतमिति साधुना पुष्टे सोपाश्रये भक्ताद्यानयनप्रयोजनं कथयति । यथा यदा त्वं मदीये गृहे भि-  
क्षार्थं गतस्तदा शून्यं गृहमासीदित्यादीति । तस्मादिदं मयाऽऽनीतं त्वं गृहाणेति जल्पति । तदिदं प्रकटं स्वग्रामाभ्याहृतं । प्रच्छन्नं  
च तदित्थं स्याद्यथा काचित्साधोः प्रतिलाभनाय प्रहेणकमिषेणोपाश्रये लङ्घुकाद्यानीय तत्संमुखमेवं वदति यथा मया आतृगृहादी  
संखड्यां वा गतया प्रहेलकमिदं लङ्घुकादि लब्धं । यद्वा स्वगृहानीतं प्रहेणकं स्वजनानां गृहे मया तैश्चदं रोषादिना न गृहीतं । संप्रति  
तु भवद्दन्दनार्थमिहायाताऽस्मि ततः किमनेन गृहं नीतेन त्वमेवेदं गृहाणेत्येवं भणनपूर्वकं, तथाभ्याहृतशङ्करक्षणार्थं स्वगृहाभिमुखं  
दत्तकतिचित्क्रमा, तद्गृहीतवहस्ता, भूयोऽपि तद्वानाय साध्वभिमुखमागता सती तत् साधवे ददाति । यद्वा मायया काचिद्भ्याहृतं  
मानीय साधोः श्रुण्वतो वसतिप्रत्यासन्नां शय्यातरीं प्रति साधुसमीपगृहवर्तिनीं प्रतिवेशिनीं वा प्रति गृहाणेदमिति वदति । तथा च  
पूर्वगृहीतसङ्केतया मातृस्थानेन सा निषिध्यते, यथा त्वयाप्यमुकत्र दिने मदीयं प्रहेणकं न गृहीतमित्यहमपि त्वदीयं न गृहीष्ये  
इति । ततो लाहणकनेत्री किञ्चिद् परुषं प्रत्युसरं ददाति, ततो द्वितीयाऽपि पुनः किञ्चिजल्पतीत्येवं परस्परमलीककलहे सति रोषवती-  
सम्भूय तद्गृहीत्वा स्वस्थानाभिमुखं चलति । ततो भूयोऽपि परावृत्य साधुपाश्रयं प्रविशत्यभिबन्ध च साधुं वदति । यथेदं नानया  
गृहीतं तथा त्वयापि श्रुतमिति त्वमेवेदं गृहाण इत्युक्त्वा साधवे तत्प्रयच्छति, इत्येवं प्रच्छन्नं स्वग्रामाभ्याहृतं भवति । तत्र स्वदेशः  
साधोर्निवासमण्डलस्वस्मिन् । परग्रामः साधोरनिवाससंनिवेशस्वस्माद्भ्याहृतमानीतं तत् । तथा परदेशः साधोरनिवासमंडलस्वस्मिन् ।  
परग्रामः पूर्वोक्तस्वस्माद्भ्याहृतमानीतं तत्तथा । एतत्सर्वमप्यभ्याहृतं सामान्यतो द्विधा, नद्यादिमार्गरूपेण जल्पयेत्, पृथ्वीमार्गरू-

पेण स्थलपथेन च । जलपथेनापि नौवप्यक(तपक)तुम्बकवाह्वादिभिर्जङ्घाभ्यां वाऽभ्याहृतं स्यात् । स्थलपथेनापि स्कन्धेन कापोत्पा-  
मस्वकेन करादिना स्थाल्यादिना वा भाजनेन गन्धीगर्भादिना वाहनेनाभ्याहृतं स्यादत्र च जलपथस्थलपथाभ्याहृते द्विविधेऽपि  
संयमात्मप्रवचनविराधनास्तिस्तः स्युः । तत्राद्या, द्विविधेऽपि चंक्रमणादिना पृथ्वीकायादिव्यापादना स्यात् । आत्मविराधना त्वाद्य-  
(त्वस्वाद्ये) पादादिभिरलभ्यमानाथोऽभूभागे नद्यादिजले प्रभूतपङ्के निमज्जनभावात्, ग्राहमकरमत्स्यकञ्छपपादवंचकतनुकादिभ्य-  
स्वदंश्राद्यपायसद्वावाच्च स्यात् । स्थलपथाभ्याहृते च कण्टकाहस्तेनव्याघ्रादिश्चापदेभ्यो वधादिरूपापायसद्भावात्, उवराष्टुत्पादक-  
परिश्रमादिभावाच्च स्यात् । प्रवचनविराधना तु प्रवचनमालिन्यजनकजनभाषणादिना स्वयमभ्युत्था इति । एवं भेदविशिष्टं प्रकटपर-  
ग्रामाभ्याहृतं भवति तथाहि यदा यतिजनरहिते ग्रामे श्रावकः कश्चिद् विवाहादौ जाते प्रभूतमशनष्टुद्धरितं दृष्ट्वा विचिन्त्य च  
यद्येतद्यतिभ्यो दीयते तदा महते पुण्याय स्यादिति भक्तिवशतो यत्र यतयस्त्वत्र तनीत्वा तथा कथञ्चिद् गोपनं विधाय तेभ्यो  
दद्याद्यथा ते न जानन्त्यभ्याहृतमिदमिति । तदा तस्य(त्) ह्यपराग्रामाभ्याहृतं भवति । अत्रारथ्यानकं यथा-

धक्वउरं नाम गामो आसि । तस्य य एगंमि कुडुंबे बहवे सावया बहुयाओ य सावियाओ चिट्टंति, अन्नया य तेसिं निहे विवाहो  
जाओ वित्तो य । तस्य पउरं कूरलद्धुगाहयं उव्वरियं । तेहिं चिन्तियं, जहा जइ एयं साहू दिज्जइ ता महापुन्नं भवइ । तत्तो य  
साहूणो दूरे चिट्टंति अहवा पच्चासन्ना परं अंतरे नई तो आउकाय विराहणाभयेण नागमिस्सन्ति, आगया वि पउरकूराइ अवलोयणेण  
आहाकम्मसंकाए न निण्हिस्सन्ति चि, पच्छन्नं जत्थ गामे साहूणो चिट्टन्ति तस्य कूरलद्धुगाहयं गहिऊण सव्वे सावया सावियाओ  
य आगया । तेहिं चिन्तियं जइ साहूणं चेव हक्कारिऊण देमो तो असुद्ध चि आसंक्रिय ते न निण्हिस्सन्ति, ता बंभूणाइणं किंपि

दिज्ञात तं गुण जह अन्नत्थ देवो तो साहुणो न पेच्छिस्सन्ति चि चिन्तिय अंमि साहुणो उच्चाराहकञ्जे निगच्छन्ता पेच्छन्ति तंमि  
 णणे एयस्स जक्खवदेवउल्लस्स वाहि बंभणार्हणं शीवं दाणं दाडमारद्धं । तथो उच्चाराहकञ्जे निगया केइ साहुणो तं दिज्जमाणं दह्दण  
 सुद्धं ति काउं तत्थागया पउरं लद्धं । तेहिं सेससाहुण कहियं ते वि गया तेसि एणे पउरं क्काइयं देति, अन्ने आहडसंकारक्खणत्थं  
 साइइणणेण कम्मकरं वारिंति, जाव ते तं गहिउण नियड्डाणे गया । तत्थ नवकारसहिया सुत्ता, अज्जिन्नवंता पुरिमिड्डियाइणो य  
 पडिवालंति पोरिसिया भुंजन्ता चिद्वन्ति । एत्थंतरे तेहिं सावगार्हहिं चितियं । एहिं साहुणो भत्तं सुत्ता भविससन्ति चि, वंदिय  
 नियड्डाणे गच्छामोत्ति समहीए पहरे साहुवसहीए आगया । निसीहियाइस्सत्त्वा सावयकिरिया कया, साहहि पच्चाभिन्नाया, नायं  
 च जहा सावएहिं हुन्तेहिं एएहिं महेसरूवहिंएहिं अमहं दाणं दिन्नं । ता आहडं एयं । तत्थ जेहिं सुत्तं तेहिं सुत्तं जे भुंजिउकामा  
 आसि तेहिं न भुत्तं भुंजंतेहिं गुण जे केवला उक्खितता ते भायणे केव निक्खित्ता । सुहपक्खितं तु पासडियखेलए पक्खितं तथो  
 सत्तं परिद्ववियं । सावया सावियाओ य स्वाभिउं गया । साहुणो य जेहिं पडिपुत्तं शीवं वा सुत्तं ते वि सुद्धा असहभावत्ति काउं ति ।  
 तदेवमभ्याहत्तं यतीनां ग्रहीतुं भोक्तुं वा जिनैर्निषिद्धमिति तत् परिहार्यमिति गाथार्थः ॥४६॥

उक्तमनाचीर्णाभ्याहत्तं सभेदमशुना आचीर्णाभ्याहत्तमाह ।

आइन्नं तुकोसं हत्थसयंतो धरेउ तिन्रि तहिं । एगत्थ भिक्खवाहादी वीओ दुसु कुणइ उवओगं ॥४७॥

व्याख्या—आचीर्णं गीतार्थसाधुभिर्ग्रहणे आचरितं अभ्याहत्तं पुनः क्षेत्रापेक्षया गृहापेक्षया च द्विधा स्यात् । क्षेत्रापेक्षयाप्यु-  
 ल्कृष्टमध्यमजनयभेदाच्चिविधम् । तत्रोत्कृष्टभणनेन जघन्यमप्युक्तप्रायमिति विचिन्त्योत्कृष्टं मध्यमं चैकवाक्येन । तत्र क्षेत्रापेक्षया

वायदाह 'उकोसं हृत्थसयंतो' चि इह च प्राकृतत्वादान्तशब्दस्य अन्तःशब्दस्य च, निर्देशस्य च समानत्वात्, उत्कृष्टं प्रत्यन्त-  
 यब्दो मध्यमं चाश्रित्यान्तःशब्दो दृश्यः । ततश्चोत्कृष्टं महत् क्षेत्रविषयमभ्याहृतमाचीर्णं वर्त्तते । कियदित्याह हस्तशतान्त इति ।  
 हस्तशतं प्रतीतमन्तः पर्यन्तो यस्य भूभागस्य स हस्तशतान्तः एतावद्दूरादागतमशानादीति तत्त्वं । अथ कदा पुनर्हस्तशतादिः  
 सम्भवः । उच्यते । यदा प्रचुरभोजकजनपङ्क्तिरुपविष्टा भवति तदा तस्या एकस्मिन् पर्यन्ते साधुसङ्घाटको द्वितीये तु देयं तिष्ठति ।  
 स च स्पृष्टास्पृष्टभयादिना देयस्य समीपे गन्तुं न शक्नोत्यतोऽस्य सम्भवः । तथा प्रलम्बगमनमार्गे छिण्डिकादी बंधशालारूपे  
 दीर्घप्रवेशभवेन वा हस्तशतादागतस्य भक्तादेः साधुभिराचीर्णं ग्रहणम् । समधिकहस्तशतादारभ्य पुनर्जिनैर्निषिद्धं । अयं चापवादः ।  
 स च स्थविरकल्पिकानामेव हेयो न तु जिनकल्पिकादीनां तेषां निरपवादित्वात् । तथा मध्यमक्षेत्राचीर्णभ्याहतं त्वाश्रित्येदमेव  
 याक्यमुत्कृष्टाभिधायकं हस्तशतेन प्रमितं क्षेत्रमपि तथा । ततो हस्तशतस्यान्तर्मध्ये हस्तशतान्त इति व्याख्येयम् । करपरिवर्त्ती-  
 दुपरि यावद्दस्तशतं किञ्चिन्न्यूनं तावन्मध्यमं स्यादित्यर्थः । सामर्थ्यात्करपरिवर्त्तो जवन्यक्षेत्राचीर्णमभ्याहृतमित्युक्तं भवति । तत्र  
 करपरिवर्त्तो नाम हस्तस्य किञ्चिच्चलनं यथा काचिद् दात्री ऊर्ध्वोपविष्टा वा स्वयोगेन मुष्टिगृहीतमण्डकेन प्रसारितेन चाहुना तिष्ठ-  
 ल्यग्रान्तरे साधुरागच्छति सा च तथैव स्थिता करस्थमण्डकैस्तन्निमन्त्रयते, स मुष्टेरथः पात्रकं धारयति सा च भुजमचलयती कि-  
 ञ्चिन्मुष्टिं शिथिलयति, ततो मण्डकाः पात्रके पतन्तीति । उक्तं क्षेत्रविषयमधुना गृहविषयं तदाह । 'घरेड तिर्नि' चि गृहाणि तु  
 भवन्ति पुनः पङ्क्तिस्थितानीति दृश्यं । ग्रीणि त्रिसहस्रानि यावत् गृहविषयाभ्याहृतमुत्कृष्टमाचीर्णमिति प्रक्रमः । तत्राप्येषणावि-  
 पयत्त्वावधानस्य गृहत्रयाभ्याहृतमनुज्ञावमिति । तद्विश्राग्रहणविधिमाह 'तेहि एगर्थे' चि तस्मिन् पङ्क्तिव्यवस्थितगृहत्रये-यदा साधु



सङ्घाटको भिक्षां गृह्णाति तदा तयोः साध्वोर्मध्यादेकस्तु धर्ममालाभिते गृह्यमाणभिक्षागृहे भिक्षाग्राही समुदानप्रतीक्षकसङ्घाटकाग्रतन-  
साधुरूपयोगं करोतीति योगः । 'वीओ' ति पुनरर्थचकारलोपात् द्वितीयश्च भिक्षाग्राहकादपरः पुनर्द्वयोरानीयमानभिक्षयोर्धर्म-  
लाभितगृहादितरयोर्गृहयोर्विषये करोति विधत्ते उपयोगं दायकहस्तादिव्यापारविषयमवधानमित्येवमुपयोगपूर्वकं गृहत्रयाश्रनादि-  
दीयमानमाचीर्णमिति । गृहत्रयारपरतोऽनाचीर्णमिति प्रागेवोक्तं इति गाथार्थः ॥४७॥

उक्तमभ्याहृतद्वारमथोद्भिन्नद्वारमाह ।

**जउछगणाइविलितं, उडिंभदिय देइ जं तमुडिभन्नं । समणहुमपरिभोगं, कवाडमुग्धाडियं वा वि ॥४८॥**

व्याख्या-इहोद्भिन्नं द्विधा-पिहितोद्भिन्नं कपाटोद्भिन्नं च तत्र पिहितोद्भिन्नमाश्रित्याह । 'जउ'ति, जत्वन्नितापोत्पन्नं श्रेष्ठद्रव्यं  
लाक्षाकिद्द इति लोकप्रतीतं । छगणं गोमयं । ततः छगणमादिर्यस्य द्रव्यस्य तच्छगणादि आदिशब्दाद्भ्रूसदईरकसंज्ञितकुतपादिमुख-  
बन्धकवत्खण्डश्रुतिकालक्षणास्यगतोपलेपनकारिद्रव्यग्रहस्ततो जतुछगणादि चेति विग्रहे तत्तथोक्तं, तेन विलिसमुपदिग्धं पिहितं जतु-  
छगणादिविलिसं । तथा उमरुक्रमणिन्यायेन 'समणहुमपरिभोगमि'ति गाथातृतीयपादोऽश्रोत्रत्र च सम्बन्धनीयः । ततः परिशुज्यते,  
प्रतिदिनं बन्धनच्छोटनादिना यद् व्यापार्यते तत्परिभोगं न तथाऽपरिभोगं प्रतिदिनमव्यापारमित्यर्थो यत् कोष्टिकादि खण्डतैलादि-  
भूतघटादिकं चोद्भिद्योद्भिद्य भ्रमणनिमित्तं ददाति प्रयच्छति साधुभ्यस्तन्मध्यदाशनादिकमिति शेषः । तत्कोष्टिकातैलादिभूतघटादि-  
कमुद्भिद्यत इत्युद्भिन्नं स्यात् ततो घटाद्युद्भिन्नभाजनसम्बन्धात्तन्मध्यस्थितं देयमपि तैलखंडादिकमुद्भिन्नाव्यमुच्यते । यद्वा जतुछग-  
णमृत्तिकादिविलिसं कोष्टिकाघटादिकमव्यापारं साध्वर्थमुद्घाट्य यदशनादि तन्मध्यस्थितं साधुभ्यो गृही ददाति तदशनाद्युद्भिन्नतापो-

नादुद्भिन्नाख्यमुच्यते इत्यक्षरघटना कार्या । द्वितीयं कपाटोद्भिन्नमाह 'समणदृमि'त्यादि श्रमणार्थं साध्वर्थमपरिभोगमपरिवहन् प्रति-  
दिनमुद्घाटयन्(टन)स्थगनादिना कपाटं लोकप्रतीतं । इह कपाटस्योपलक्षणत्वाच्छेषस्यापि प्रभूतपाण्डुपमर्दकारिणो द्वारपिधायकवस्तुनः  
कपाटार्गलादहर्कादिग्रहस्य ग्रहो द्रष्टव्यः । उद्घाट्य पश्चान्मुखं प्रेर्य सञ्चाल्येत्यर्थः । वापीति विकल्पे । यद्दशनादि ददाति तत्कपा-  
टादीनां प्रेरणकस्य मावोद्भिन्नतायोगात् कपाटोद्भिन्नमुच्यते । तदिदं द्विविधमपि यतीनामकल्प्यं पदक्रायोपमर्देन संयमविराधनादिदोष-  
दृष्टत्वात् । इह हि कोष्टिकादौ पिहितोद्भिन्ने तावत् पिधानं सचेतनाचेतनभेदात् द्विधा स्यात् तत्राविध्वस्तमृत्तिकादिकं सचेतनं । तत्र  
सचेतनेन पिहितस्योद्भेदकाले पृथ्वीकायादयो विराध्यन्ते । तथाहि-वस्त्र(खण्ड)मयदर्हरकोपरि पाषाणखण्डमिष्टकारखण्डं वा दत्त्वा  
तलादिभूतघटादिकं कोष्टिकादि वा गृहस्थेन तन्मध्यवर्तितैलादिरक्षणार्थं साधुदानकालापेक्षयाऽग्रतोऽपि कदाचिद् सच्चित्तजलाद्गीकृत-  
सच्चित्तमृत्तिकायाऽजलिप्तं स्यात् । तत्र च पृथिव्यादयः कायाश्चत्वारः स्मृत्सथाहि सच्चित्तपृथिवीलेपः सच्चित्तश्चिरमपि तत्र प्राप्यते । तल्ले-  
पमिश्रणजलं च सच्चित्तं तत्कालमेव लिप्ते तस्मिन्नावाप्यते, शुष्कप्राये तस्मिन्नुदकमपि न स्यात् किं पुनः सच्चित्ततेति तत्कालमेवे-  
त्युक्तं । तथा पृथिव्यादिसंध्ये वनस्पतिमुद्गादिः स्यात् । त्रसस्तु कीटिकादिरन्यत आगत्य चटतीति । ते चत्वारोऽपि साध्वर्थं पुनस्त-  
रुष्ण एव तस्मिन्नुद्भिद्यमाने विराध्यन्ते इति संयमविराधना । तथा कदाचिद्भस्मादिमिश्ररुष्णणादिना वा लिप्तं शुष्कं च स्यात् । तथा  
साधुदानकालात् पूर्वमपि केनाप्यपरिभोगस्य खण्डादिभूतघटादिकस्य स्थगानिकां दत्त्वा जतुना सन्धिपूर्णं विहितं स्यात् वस्त्रखण्डम-  
यदर्हरकोपरि वन्यनरूपदधरकग्रन्थिपर्यन्ते मनुजेन निजसाभिज्ञानेनाङ्कितो जतुस्ववको वा विहितः स्यादत्र पक्षे घटाद्यभ्यन्तरवर्ति-  
द्रव्यरक्षणादिसाम्यादिदमपि जतूपलेपनमुच्यते । ततस्त्वथोपलिप्तं घटादिकमुद्भिद्य तन्मध्यात् खण्डादिकं साधवे दत्त्वा शेषस्य तस्य

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
शुद्धस्त्रीया  
शुक्तिः

॥४४॥

रक्षणार्थं भूयोऽपि तस्मिन्नुपलेपनतः स्थग्यमाने तत्र पृथिवीलेपतीमनजलमुद्रादि वीजक्रीटिकादिब्रह्मरूपकायानामुपमर्दः सम्भाव्यते । तथाऽग्निना सेकयित्वा भूयोऽपि च जतुना सन्धिपूरणादौ क्रियमाणेऽग्निविराधना वायोस्त्वग्निप्रज्वालनार्थं कुंकरणेन । यद्वा यत्राग्निस्तत्र वायुरित्येवं षट्कार्यविराधनातः संममविराधना । तत्स्थगनाय जतुमुत्तिकादिकं भवेष्यन् दाता वृश्चिकादिना द्रव्यते । ततो भक्तादिलुब्धा एते दातुरनर्थं न गणयन्तीत्यादिप्रवचनमालिन्योरपादकवचनभाषणेन रोपवशातो यतिहननादिना च प्रवचनारम्भविराधने अपि स्यातामिति । तथा साध्वर्थमुद्राटितद्वारे तस्मिन्, घटादिमध्यवर्तितैलखण्डादिकं पुत्रादिभ्यो दद्याच्छेषयाचकादिभ्यो वा । तथा स्वद्रव्यं मूलेन गृहीत्वा तन्मध्ये क्षिपेत्तन्मध्यान्मूलेनान्येभ्यो वा दद्यात् तन्मध्येवर्तितैलादिनाऽन्यद्वा क्रीणियादिवं च गृहस्थान्यापारजनितः कर्मबन्धः साधोः स्यात् । तथोद्घाटितघटादौ कदाचित् क्रीटिकामूषिकादेर्जीवस्यान्यत आगत्य तन्मध्ये प्रविष्टस्य मरणे तद्वधजनितं पापं चेति । एवं कपाटोद्भिन्नमाश्रित्य कपाटेऽपि पूर्ववत्तैसाध्वर्थमुद्घाट्यमाने गृहमध्ये साधवे देयम् दत्त्वा भूयोऽपि तस्मिन् दीयमाने वा भूमिकाया अथ उपरि भागे वा गिरोलिकाकीटिकामूषिकादिर्जन्तुः पविष्टस्तथा चलन्त्या विराध्यते इति जीववधः स्यात् सा संयमविराधना । तथा साध्वर्थमुद्घाटिते तस्मिन् गृहमध्येवर्तितः पुत्रादिभ्यो दानादिना क्रयविक्रयादिना च यतेशिकरणमिति । यदा तु यन्त्ररूपाणि कपाटानि पायुद्घाट्यमानानि भित्तिपिड्डणिकादीनां मध्ये प्रविशन्ति । तानि तु प्रायोदर्शकोपरि पिड्डणिकाया एकदेशवर्तिनि मालप्रवेशरूपद्वारे स्फुस्तेषु चान्यापारेषूद्घाटयमानेषु भिन्यादिमध्येऽप्रत्युपेक्षिताप्रमाज्जिते क्षेत्रे धर्षणेन कुन्शुपिपीलिकाधाधिकतरजीवघातसम्भव इत्येवमुद्भिन्नं वर्जनीयमेवेति । यद्येवं तर्हि यतीनां भिक्षासम्प्राप्तिरेव न स्यात् सर्वत्र प्रायेण कपाटपिहितोद्भिन्नत्वादेर्भावात् । उच्यते अविद्यमानोच्छालकच्छिद्रे क्रेकारशब्दरहिते वा प्रतिदिनं प्रतिवहति च कपाटे

उद्घाटिते गृहमध्यवर्तिभक्तादेर्ग्रहणमनुज्ञातं एवं ह्युल्लोकप्रवर्षणे ऊर्ध्वादिभागवर्षणञ्च निरोलिकाकुञ्ज्यादिवधः परिहृतो भवति । तथा पिहितोद्भिन्नमाश्रित्य जतुसन्धिपूरणवर्जिते दवरकप्रन्थिप्रान्ते जतुस्त्ववकरहिते वा श्लथदवरकमयपाशनिबद्धे घटादाद्युद्घाटिते घटादिमुखवन्धनवद्धादिरूपडं वा यत्र प्रतिदिनं बध्यते छोट्यते वा तस्मिंश्चापनीते साध्वर्थं तन्मध्यवर्त्तिनोऽशनार्देर्ग्रहणमनुज्ञात-  
मेतेन कायपट्कवधे यतना कृता स्यादिति गाथार्थः ॥४८॥

उक्तस्मिन्नद्वारं, अथ मालापहवद्वारं व्याख्यातुमाह—

**उद्धमहोभयतिरिणसु, मालभूमिहरकुंभीधरणिठियं । करदुग्गेज्झं दलयइ जं, तंमालोहडं चउहा ॥४९॥**

व्याख्या—ऊर्ध्वं चाधश्चोभयं च तिर्यक्च तानि तथा तेषूर्ध्वाधीभयतिर्यक्षु ऊर्ध्वादिभेदस्वरूपेन्नित्यर्थः । केषु पुनस्तेभित्याह 'माले'ति मालं सीकरप्रसादोपरितलादिकमभिप्रेतं । भूमिगृहं गृहाधीभागवर्तिं शुषिरभूम्नदेशरूपं । 'कुम्भी' उट्टिका बृहत्कलशादेरुप-  
लक्षणमेवत् । भूमिरिथतपशुलभित्याद्याश्रितदीर्घगावक्षादिकं वस्तु धरणिशब्देनाभिप्रेतं ततो मालं च भूमिगृहं च कुम्भी च धरणि च तानि तयोक्तानि सप्तमीवह्वचनस्य लुप्तत्वात्तेषु स्थितमित्याश्रितं । अत एव मालादिस्थितं सत्, करो हस्तः तस्य दुर्गाह्यं दुष्प्रापं कर-  
दुर्गाह्यं, कष्टेन हस्तप्राप्यमित्यर्थो ददाति दात्री यद्देयमशनादि तदशनादि मालादूर्ध्वादिभेदस्वरूपादपहृतं साध्वर्थमानीतं मालापहृत-  
मुच्यते इति शेषः । एतच्च व्याख्यातमुपाधिभेदाच्चतुर्द्धा चतुष्प्रकारं यथोर्ध्वमालापहृतमधीमालापहृतमुभयमालापहृतं तिर्यञ्चाला-  
पहृतमिति । ननु मालान्मञ्चार्देर्यदपहृतं तदेव मालापहृतमुच्यते भूमिगृहाद्यानीतं तु यत्तत्कथं तदभिधेयमुक्तमिति ? उच्यते व्युत्पत्ति-  
मात्रमेवत्, पृष्टत्तिनिमित्तं त्वस्य शब्दस्य भूमिगृहाद्यानीतमप्यागमे रूढमित्यदोषः । अयमत्र भावार्थः । इहोर्ध्वमालापहृतं जघ्न्यो-

तृकृष्टमध्यममेदात् त्रिधा स्यात् । तत्रोच्चसीककादेश्चहीतुमशक्ततेनोत्पादिताभ्यां पाणिभ्यां पादाधोभाणरूपग्रेतनफणाभ्यां च भून्यस्ता-  
भ्यां दात्र्या दृष्ट्या दृष्टं गृहीतं यद्भुक्तादि तत्पाणिणउत्पादनमात्रस्त्वोक्तक्रियागृहीतत्वाज्जघन्यं लघु । ऊर्ध्वरूपाच्च मालादुच्चनिबद्धसिक्का-  
कादेश्चहृतं साधुदानाय तत्रत्यमशनाद्यानीतमिति कृत्वा जघन्योर्ध्वमालापहृतमिति । यच्च निश्रेण्यादिकमास्त्व प्रासादोपरितलाद्  
दात्र्या गृहीतं तन्निश्रेण्यारोहणादिगुरुक्रियागृहीतत्वादुत्कृष्टं महदूर्ध्वमालापहृतमिति । अनयोर्मध्यवर्त्ति मध्यमं ज्ञेयं । तच्च साध्वर्थमु-  
च्चतरसीककादेश्चदृष्टकादेश्चहृणाय मुडकारयमासनं ज्ञेयं गोमयमयाद्यासनरूपं पीठं वा, मञ्चोदूखले वा व्रीह्यादिदलकं यत्र वा सीक-  
कादेश्चो दत्त्वा तदास्त्व च सीककादिस्थितमशनादि यदा ददाति दात्री तदा भवति । इदं च सामान्येन मालापहृतं यतीनामकल्प्यं ।  
संयमविराधनादिदोषदुष्टत्वात्, तथाहि सीककादेश्चोदत्तेभ्यो मुडकादिभ्यः पाण्डुर्युत्पादनादिना वा दात्र्या अस्थिराधारस्थिततया  
अश्रयमानाया हस्तपादादिभङ्गः स्यात्, तथा पतन्त्या भूभ्यादिस्थितपृथ्वीकायादेश्च विनाशः स्यादिति संयमविराधना तथा तद्द्र-  
व्यान्यद्रव्यलाभनिषेधश्च स्यात् । यद्द्रव्यं हि गृह्णीती पतति तदेवान्यदपि न ददातीति तद्द्रव्यव्यवच्छेदः, अपरं न ददातीति  
इतरः । अनेन यतिनाऽहं परमार्थतः पातितेति विचिंत्य साधूपरि द्वेषं कलहादिकं धातादिकं वा विद्वंश्यादित्यात्मविराधना । जैना  
दात्र्या अनर्थकारणमप्याहारं न परिहरन्तीत्यादिजनस्विसासद्भावादेश्चविधमपि दात्र्यनर्थं नैते जानन्ति इति लोके अज्ञानिप्रवादाच्च  
प्रवचनविराधनेत्येवं त्रिविधा विराधना भवतीति । विशेषतश्च सीककादौ दृष्ट्याऽदृष्टे दीयमाने दात्र्या अहिदशनदयो दोषाः स्युः ।  
अत्रारथानकं ।

जयपुरं नाम पुरं आसी । तस्य य जक्त्वदिचो नाम निहवई । तस्स य वसुमई नाम भारिया । अत्रया य भिक्त्वायरियाए

हिडंती गुणरयणनिही एगो साहू तेसिं गिहे पविट्टो । जकखदिन्नेण वसुमईए सयासाउ तसस भिक्खा द्वाविया । सोय उच्च-  
 सिक्काठियवडमज्झनिहितं न गिण्हिहसामिति ताउ धराउ निगओ । तीए चैव वेलाए तत्थेव भिक्खटाणे एगो तच्चणिओ  
 आगओ जकखदिन्नेण पुट्टो जहा भो भो किमणेण भिक्खा न गहिया । तेण मच्छरित्तेण भणियं जहा अदिबदाणा एए वराया  
 तुम्हारिसाणं ईसराणं गिहेसु निदं महुरं भोयणं दइवाल सयासाउ भुंजिउं न लहन्ति किन्तु दालिहियगिहेसु अंतपंता चैव भिक्खा  
 लद्धा इमेहिं खाहयव्व ति । किं च सत्थयारेण एएसिं गलउ चैव न मोडिउत्ति । तओ गिहवहणी असंबद्धपलावी एसोत्ति किमणेण  
 संलत्तेण ति चिन्तित्तण तसस वि भिक्खा द्वाविया । तओ वसुमईए तंमि चैव घटए लद्धए गिण्हिहसामिति फणेहिं ठाउं करो  
 वृद्धो तत्थ य तेसिं सुगन्धेण राहए सप्यो पविट्टो आसि तेण य सा करे डक्का, डक्काडकत्ति पोकरन्ती जकखदिन्नेण कहवि गार-  
 छिएहिंती उठाविया । अनांमि दिणे सो चैव साहू भिक्खं अडन्ती तत्थागओ । जकखदिन्नेण उवालद्धो । जहा भयवं निहओ तुमं  
 जेण तंमि दिणे सिक्काठियवडयमज्झनिहियलद्धयाणं मज्झे सप्यं पविट्टं नाउं विसभएण सयं भिक्खा न गहिया । अम्हाणं पुण  
 सप्यपवेसो न कहिओ । तओ मे भज्जा वन्दग(तच्चणिअ)भिक्खटाए ताउ घडयाउ लद्धए गेणहन्ती सप्येण दड्ढा, साहुणा भणियं न  
 मए सप्यपवेसो नाओ किन्तु अम्हाणमागमे जहन्नमालोहडं एसा भिक्खा बुच्चइ । सा य साहुण गहणाय निवारियत्ति मए परिह-  
 रिया इच्चाइकहाए निउणो एसो धम्मो, भावित्ताणि दोवि संबुद्धाणि । गओ य साहू सद्धानं ति । अत्र देयवस्तु न दृष्टमिति ।  
 तत्रस्थसप्येण भिक्षार्थं व्यापृता दद्वेत्पदर्शनमाश्रित्य कथानकमिदं ।

तथा निःश्रेण्यादिकमारुह प्रासादोपरितलमक्षनाऽऽदानाय चटत्या दात्र्याः पतनादुदरस्फोटादिना मरणादिकमपि स्यादत्रारुहानकं-

यथा एगाए नयरीए एगस्स गिहवहस्स गिहे एगो साहू भिक्खवुदं पविट्ठो । तस्स य गिहवहणा नियमज्जासयासाउ लद्धुया दवाविया । सा य आपन्नमत्ता मोयगाणमाणढा कयनिस्सेणियारोहणाभिप्पाया मालाभिमुही चलिया । साहू पुण एयं भिक्खवं न गिण्हिस्सामि ति वारिऊण निगगओ । तीए चेव वेलाए भिक्खवुदं तत्थ उवागओ एगो परिन्नायगो, सो य गिहवहणा पुट्ठो । जहा भो किमणेण भिक्खवा न गहिया । तेण मच्छरित्तेण भणियं जहा अन्नजन्मे एएहिं वराएहिं धम्मो न कओ तेण एसणगवे- सणमिसेण विहिणा एसिमाउ सुभाउ सुभाउ आहाराउ वंचिउण अंतपंतभिक्खवां भुंजाविया । तस्स वि तेण भज्जासयासाउ, लद्धुया दवाविया । सा य मालट्टियलद्धुयाणणत्थं निस्सेणीं दुरुहमाणीं झड्ढत्ति पडिया, हेठा वीहियदलणजत्तयं हुन्तं । तस्स कीलएण तीसे कुच्छी फोडिया । गन्धो य फुरूरन्तो पडिओ मओ य सा य मया । अन्नम्मिस् दीयहे (दिवहे) सो चेव साहू भिक्खवं अडंतो तत्थेवागओ । गिहवहणा उवालद्धो । जहा भयवं अमुगंम्मि दिणे मालाउ आणिज्जन्तीए भिक्खवाए दायारीए पडणं नाउं जहा सयं भिक्खवा न गहिया तथा कीस अम्ह न कहियं । जेण तं माले ण चडावेन्तो तो सा न मरंती । साहुणा भणियं न मए तीसे पडणं नायं, किन्तु अम्हाणं आगमे उक्कोसमालोहडं एसिमा भिक्खवा वुच्चइ । सा य साहुणा गहणा य वारियत्ति मए परिहरिया । इच्चाइ कहणं कयं । अहो सुहुमो एसो धम्मोत्ति पडिबुद्धो पव्वहउत्ति । अत्र गुट्ठिण्या वृत्तांतवशेन दोषदर्शनं कृतमित्यगुर्विण्या अप्येतद्- दूषणजावं सम्भवतीति ।

उक्तं सीककप्रसादारोहणविषयमूर्ध्वमालापहवं तथा साध्वर्थं भूमिगृहादीं प्रविश्य तस्मिन्मालापहवं तदधोरुपभूमिगृ- हादेशपहवमिति कृत्वाऽधोमालापहवं । तथोद्विक्काकलयमञ्जुषाकोटिकादिरिप्यंतं किञ्चित्सकदं यदात्री ददाति तद्भयदाध्वर्षिधो-

गतव्यापारात् कुम्भादेरपहृतमिति कृत्वा उभयमालापहृतं । तथाहि—उच्चकुम्भादिकमध्ये स्थितस्य देयरय ग्रहणाय येन दाता पाण्ड्यु-  
 त्पाटनं करोति तेनोर्ध्वशिन्धव्यापारता, येन त्वयोमुखं चाहुं व्यापारयति तेनाधोगतव्यापारता, इत्युभयाश्रितव्यापारत्वं कुम्भा-  
 दिषु, यदा च दृशुलभिन्त्यादिस्थितं स्फुन्धसमोच्चप्रदेशप्राये दीर्घनवाक्षादौ तिर्यक्प्रसारितवाहुना क्षिप्त्वेन हस्तेन गृहीत्वा यद्दयं  
 प्रायो दृष्ट्याऽदृष्टं कष्टेन च दात्री ददाति तथा तत्तिर्यग्मालापहृतं स्यात्तिर्यग्मालाङ्घ्रित्यादिस्थितगवाक्षादिरूपादपहृतमिति कृत्वा ।  
 यदा च भिन्त्यादौ तथाविधादुच्चप्रदेशस्याद्गवाक्षादेर्भुल्लगपाङ्गिफला सती गृहीत्वा ददाति तदा देयमपि गृह्णीती प्रायो दृष्ट्या  
 पश्यति, तेन पूर्वोक्तदोषाभावात्तत्तिर्यग्मालापहृतं न भवति । दृष्ट्या अदृष्टदेयदाने सर्पभक्षणादितया विराधनादित्रयरूपा दोषा-  
 अधोमालापहृत्वादिष्वपि भावनीयाः । तथेह निरन्तरकाष्ठमयनिःश्रेणीविशेषरूपेण ददर्शेण इष्टकादिमयावतरणरूपसोपानैर्वा निश्चल-  
 महाशिलया वा निरन्तरशिलानिचयघटितनिश्रेणीविशेषेण वा प्रासादोपरितले समासह्य यदाता ददाति, प्रासादास्तदस्य साधोरप-  
 वादेन भृशस्य आनीय, तन्मालापहृतं न स्यात् । यदा वा साध्वागमनादन्नतः स्वयोगे(जेन) निश्रेण्यादिना तथाविधप्रमाणोच्चस्य  
 स्वयोगेन स्थापितं स्यात् । यथा स वरण्डिकादावुपविश्यानुत्पाटितपाण्डिकोऽधोमुखं प्रलम्बमानेन हस्तेन साधुपात्रके क्षिपति, साधु-  
 रपि तद्ग्रहणाय तथाविधप्रदेशे भूमौ स्थितो यदि तिरश्चीनप्रसारितवाहुना हस्तेन धृते पात्रके स्वमस्तकसमप्रदेशादधो न तु स्वदृष्टि-  
 पथमतिक्रम्य मस्तकस्य सममुपरि वा ऊर्ध्वमुत्पाटिते, देयमपीदं न समर्थादियुतं (?) भविष्यतीति ज्ञानार्थं दृष्ट्या पश्यन्त्यत् तत्र  
 गृह्णाति तदिदमपयादविषयं किञ्चिन्मालापहृतञ्छायमपि मालापहृतं न भवति दोषाभावाच्चिति गाथार्थः ॥४९॥

उक्तं मालापहृतद्वारमथान्छेद्यद्वारमाह—



अच्छिदिश्च अन्नोसिं बलावि जं देति सामिपहुत्तेणा । तं अच्छिज्जं तिविहं न कप्पए नणुमयं तोहिं ॥५०॥

न्याख्यः—आच्छिद्योदाख्य अन्येषां परेषां दरिद्रकौटुम्बिकानां गोपालादीनां दरिद्रसार्थिकादीनां च सम्बन्धि, ईश्वरादीनां च सम्बन्धि प्रायो बलादाच्छेत्तुं न शक्यते, इत्येतेषां प्रदर्शनं क्रियते, बलादपि दातुमनीप्सतामपि तेषां प्राणेनापि बलात्कारेणैवेति यावत् यदेयं दुग्धादि, सार्थिकप्रायेयादि च ददति प्रयच्छन्ति साधुभ्यो भद्रकादितया दानश्रद्धालवः के इत्याह स्वामिप्रशुस्तेनाः, तत्र स्वामी ग्रामादिनायकः स्वामिप्रायराजवल्लभादिश्च, प्रशुगृहादिनायकः स्तेनाश्वीरास्तेयमाच्छेद्यमुक्तशब्दार्थं स्यात्तच्च त्रिविधं त्रिप्रकारं त्रिविधदायकभेदाद् ज्ञेयमिति । अयमत्र भाषार्थो यदा ग्रामादिस्वामी साधून् दृष्ट्वा तन्निमित्तं भद्रकादितया कलहेनाकल-हेन वा बलादपि दरिद्रकौटुम्बिकेभ्यः सकाशादज्ञानाद्युदाख्य यतिभ्यो दद्यात् तदा तदज्ञानादि स्वामिविषयाच्छेद्यं । यदा सुरभीरक्षत्र-कर्म्मकराङ्कितदासपुत्रपुत्रिकावधूभायादिसक्तभेतेभ्योऽनीप्सद्भ्योपि सकाशाद् गृहीत्वा, गृही गृहनायकः साधुभ्यो दुग्धादिकं दद्यात् तदा प्रशुविषयमाच्छेद्यं स्यात् । यदा च चौराः साधुषु प्रीतिमन्तः स्वग्रामाभिमुखं मार्गे आगच्छन्तः कदाचित्तत्र दरिद्रसा-र्थिकसार्द्धमागतान् साधून् भोजनार्थं, कृतावस्थितिसार्थमध्ये भिक्षामटतः परिपूर्णां तां अप्राप्नुवन्तश्च दृष्ट्वा साधुनिमित्तमात्मनोऽर्थार्थि वा सार्थिकेभ्यो बलादाच्छेद्य यत्प्रायेयादि साधुभ्यो दद्युस्तत् स्तेनविषयाच्छेद्यं, त्रिविधस्याप्येतस्य कल्पकल्पत्रिविधमाह । न नैव कल्पते गृहीतुमुचितं स्यात् यतीनां त्रिविधमप्याच्छेद्यमाहारादि, इह पिण्डस्य प्रकृतत्वान्मुख्यत आहारादीरुच्यते । तेन मुखवस्त्रिका-द्युपकरणोपाश्रयादेरप्याच्छेद्यस्य वर्जनं द्रष्टव्यं । कीदृशां सदित्याह अननुमतमननुज्ञातं यतिभ्यो दातुमनाभिप्रेतं सदित्यर्थः । 'तेहिं' ति प्रस्तावाद्येभ्यस्तदुद्दालितं तैः कौटुम्बिकादिभित्तिरर्थः, कलहप्रदेषादिदोषसद्भावेन जिनेर्निषिद्धत्वात् । तथाहि प्रस्तुतकौटुम्बिकाः

स्तेनलुण्ठितसायिका वा साधोरुपरि प्रद्वेषं गालीप्रदानं च कुर्युः । तथा तेषामेवाहारादिलाभहानेः साधोरन्तरायदीपः, स्तेनाहृतं च गुरुतोऽदत्तादानं स्यात्, एकानेकद्रव्यव्यवच्छेदं वा स्रष्टास्सन्तस्ते विदद्युस्तत्र यद् द्रव्यं गृहीतं तदेव ते रोषेणान्यदपि यत्तेन दद्युरित्येकद्रव्यव्यवच्छेदः । एवमनेकेषां तेषां ग्रहणे एकस्य वा तस्य ग्रहणे सर्वनिषेधेनाऽनेकद्रव्यव्यवच्छेद इति । तथा पूर्वप्राप्तो-  
पाश्रयात्तद्गोस्त्रामितः प्रद्विष्टापत्तेनिःसारणं कुर्युस्ततोऽन्योपाश्रयालाभे कष्टेन लाभे वा साधुः क्षत्रार्थहान्यादिकं मानसिकदुःखं वा प्रा-  
प्तुयात् । तथा प्रभुत्रिपयाच्छेषेऽमी दीपा, यथा गोपालादीनां पूर्वोक्तानामधीतिस्तेषामेव प्रभुप्रभुतिकेन सह कलहोऽभिममानादा-  
त्मघातं च ते कुर्युः, गोपभायदिः दुग्धादिलाभहानेरन्तरायदीपश्च यतेः स्यात् । गोपालादिमध्यात् केचन साधोरुपरि रोषं च ग-  
च्छेद्युः । यद्वा दुग्धग्रहणेन गोपालः प्रद्वेषं गतः । अत्राख्यानकं यथा ।

एगंसि गोउले एगो सावगो आसि । तस्स य एगो गोवो गावित् चारेइ । सो य अट्टमे अट्टमे दिणे सन्वासि गामीणं दुद्धं  
वितीए लट्भइ । अन्नया भिवत्थइं एगो साहू तत्थागओ । इओ य तम्मि दिणे गोवस्स दुद्धगहणवारओ । तओ तेण सन्वाउ  
गावित् दुहेउण नरहू पारिया दुद्धस्स भरिया । सावएण साहुनिमित्तं सो दुद्धं मग्गिओ । तेण अणिच्छंतेणावि भयाइणा दिन्नं ।  
पारिया उणिया जाया । गोवो य क्विचि साहुस्सुवरि रोस्सुवगओ । सावएण तेण दुद्धेण साहू पडिलाभिओ । गोवो य तं पारियं  
गहिउण निषणेहे गओ । तट्भज्जा य तं उणपारियं दट्टण हयासा किं अज्जत्थेवं दुद्धमाणियं इच्चइ अक्रोसिसु लग्गा चेउरूवाणि  
रोवत्ताणि किं अम्हं एएण दुद्धेण भवित्थइ ति थणित्तं लग्गाणि । तओ सो, एणं सयं चेव साहुणा उचारि पउडो आसि । अन्नं  
वेहिं उत्ताविओ तउत्तम्मियवत्थलकोवानलरत्तच्छो तं साहुं मारणत्थं गवेसित्तं लग्गो । जाव साहू तेण दिट्ठो पिट्ठो थाविओ । साहुणा

वि कीवारुणलोपणो सो एन्तो दिट्टो नाओ नस्स भावो जहा णूणमेयस्स सयाप्माउ अट्टिदिक्का सावणण दुद्धं दिन्नं, तेण एस्स कुविओ मम माणत्थमागतो । तओ साहू तस्सेव सम्मुट्ठो चलिओ जाव समासन्नी भूओ । सो ताव साहूणा भणिओ । भो भो खीरहरिय तुहपहुनिवन्थेण एयं दुद्धं मए गहियं सम्पयं तुज्झ समप्पणत्थं चलिओहं, न य तुज्झ वरं जाणामि, ता मिण्ह तुमं । तओ तन्वयणेणोवसन्तकोवेण गोवेण भणियं । तुह मारणत्थमुवणओहं । परमणेण वयणेणोवसन्तो कीवो ता मिण्ह तुमं चेव एयं एण्हिं मुक्कोसि, मए । परं पुणो मा, एरिसं आट्टिदियं किंचि मिण्हदिसिचि नियत्तो गोवो चि ।

तदित्थमनेकदोपनिवन्वनमाच्छेद्यं न कल्पते । अत्र चाननुमतं तैर्न कल्पत इति भणनात् सामर्थ्यतिरनुज्ञात् सत्तदेवादातुं कल्पत इति व्यतिरेको गम्यत एव । नवरं स्तेनाच्छेद्ये इयं विशेषतो विधिः यथा यदा चौराः सार्थिकेभ्यः पार्थेयाद्याच्छिद्य ददति यतिभ्यस्तदा तद्यातिभिर्निषेध्य पूर्वोक्तदोषभावात् । यदि च तैस्तेभ्यस्तदीयमानं दृष्ट्वा पथिक्रा घृतसक्नुकदृष्टान्तेन सुन्दरतामनुमन्यते यथा घृतं सक्नुकानां मध्ये पतितं तथा, तथासंयोगवशाद्युक्तं स्यात्तथेदं पार्थेयाद्यापि तथैव तथैव साधुभ्यो दत्तं युक्तं सज्जातमिति । गुह्रीध्वमिति वचनेन वा मुक्तकल्पयन्ति, तथाविधभयविह्वलतया जल्पनशक्त्यभावादनुज्ञातत्वमाकारतो वा दर्शयन्ति तदाऽनुमतमिदं ममीषामिति कृत्वा तदभिगृह्य चौरापगमानंतरं भूयोऽपि तदप्रीत्यादिपरिहारार्थमस्माभिश्चौरमयादिना गुहीतमिदं साम्प्रतं स्वकीयं गुह्रीतेति जल्पनपूर्वकं पथिकेभ्य एव पुरतस्त्वर्चौरादत्तं मुञ्चत्येवं कृते यदि ते तद्गृह्णन्ति तदा समर्प्यते परमार्थतस्तदीयमेव, यदि च न गृह्णन्ति वदन्ति च भवन्त एवैतदुपपृञ्जतामिति तदा तैर्मुक्तकृतिवत्तद्गुहीत्वोपपृञ्जते यद्यप इति गार्थः ॥५०॥  
उक्तमाच्छेद्यद्वारमथानिमृष्टद्वारमाह ।

अणिसिद्धमदिन्नमणुमयं च बहुतुल्लभेणु जं दिज्जा । तं च तिहा साहारणचोह्लगज्झानिसठंति ॥५१॥

व्याख्या—अनिसुष्टं पुरोक्तशब्दार्थानिसुष्टदोषसंज्ञं तन्मोदकाद्यशनादि भवेदिति शेषः । यत्किमित्याह 'अदिचं'ति अदत्तं देय-  
वरतुस्यामिसमुद्रायेनाऽवितीर्णं, वचनेन साधुदानायामुत्कलितमित्यर्थस्त्वथाऽननुमतं स्वोपभोगादिना स्वामिसमुद्रायस्य दातुमनाभि-  
प्रेतं । वा विकल्पे, तथा बहुतुल्यं बहुभिः साधारणं बहुजनसत्कामित्यर्थः । एकः केवलो बहुजनसाहिकाऽस्वामी दाता यल्लङ्घक-  
क्षीरादिकं दद्यात् साधवे प्रयच्छेदिति स्वरूपमभिधाय भेदानाह तच्च तत्पुनः सामान्येनानिसुष्टं त्रिधा, उपाधिभेदात् त्रिविधं स्यात्  
केनोह्येत्त्वेनेत्याह साधारणचोह्लकज्झानिसुष्टमिति, तत्र साधारणं बहुजनसामान्यं, चोह्लकः स्वामिना पदातिभ्यः प्रसादीक्रियमाणं,  
कौटुम्बिकेन वा क्षेत्रादिरिथतकर्मकरेभ्यो दीयमानं, देशीयापया भक्तमुच्यते, ज्झो हस्ती, अमीषां इन्द्रस्वद्विषयमनिसुष्टमिति  
विग्रहः । इहाऽनिसुष्टशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् साधाणानिसुष्टं चोह्लकानिसुष्टं ज्झानिसुष्टमित्येवं त्रिभेदं भवतीत्यर्थः । इह च  
साधारणानिसुष्टं यंत्रददृशुदाद्याधारमप्यस्थितैलवत्तल्लङ्घकक्षीरादिदेयवस्तुभेदानेकवस्तुविषयं भवति तत्र घणकादियत्रे तिलकु-  
डिर्वैलादिकं ददृे वस्त्रादिकं क्वचिद्गृहे विभवाद्युपेते सङ्ख्यां वाऽशनादिचतुर्विधाहारादिकं बहुजनसाहिकं स्वाम्यननुज्ञातं यद्येको  
दद्यात्तसाधारणानिसुष्टं । अत्र च लङ्घकद्रव्यं प्रतीत्य साधारणानिसुष्टमाख्यानकेनोच्यते । (ग्रं० २०००)

खिदयद्दिय नामं नयरं आसि । तत्थ य माणिभदस्सालिभदपमुहा वतीसं तरुणा य अवरोप्परं मिता चिटिसु तेहिं अन्नया-  
कपाह उज्जाणियानिमित्तं बहवे लङ्घया साहियामोह्लेण काराविज्जा उज्जाणे नीया । तओ ते तत्थेणं रक्खवालं जुवाणं तेस्सि रक्ख-  
णटा मोत्तुं सेमा णईण पहाणनिमित्तं गया । एत्थन्तरे भिक्खानिमित्तं एणो साह तत्थागओ । तेण दिट्ठा मोयना धम्मलामं काउण

मणिओ जुवाणो तेण भणिय भट्टारया ! अन्नसिंपि एगतीसं जणणं सामन्ना एए, क्कहेग्गागीहं देमि, साहुणा भणियं ते कत्थ गया तेण भणियं नईए प्हाणनिमित्तं, साहुणा वुत्तं भो भो महाणुभाव ! मूढोऽसि तुमं जो परसंतिए ल्हइए मे दाउं अप्पणा एक्क-  
ल्लओ पुत्तं न गिण्हसि । किंचि वचीसेहिं वि दिवोहिं तुह भाए एको चेवागच्छिस्सह । ता एयं अप्पवयं बहुआयं दाणं जह जाणसि-  
तो मज्झ मोयगे देहि एवं पुणो पुणो भणिए तेण दिवा । सो य भायणं भरिऊण जाव तओ दाणओ निग्गच्छह ताव माणिभद्दा-  
इणो संमुहा आगच्छन्ति । तेहिं पुट्टो भट्टारया ! किं एत्थ लद्धं । साहुणा नायं जहा एते ल्हइयाणं सामिया तो जह ल्हइए लद्धं  
क्कहिस्सं, ता एए नियगेत्ति काउं उद्दालिस्संति चि चित्तिय भणियं न किंचि । तेहिं तं भारकंतं दहुं संकिएहिं वुत्तं पेच्छिमो भायणं  
दवेहि, साह न दवेह । बलावि पलोइयं जाव नियगा ल्हइया दिट्ठा । तओ तेहिं कोवारणलोयणेहिं सो जुव्वणो पुट्टो । जहा किं  
तए एए ल्हइया एयस्स दिवा तेण भीएण भणियं न मए दिवा । तओ तेहिं वुत्तं पावसाहुवेसेण चोरोसि तुमं एण्हिं सलीत्तो  
लद्धोसि कहिं गच्छिहसि गहिओ वत्थंचले । कहुओ नाहए भणिओ य, आगच्छेहि धम्ममाहिनारणे रहीहरणपत्ताइयं उद्दालिऊण  
नीओ धम्ममाहिनारणे, कहिओ तेहिं धम्ममाहिनारणियाणं वुत्तन्तो, साह वि तेहिं पुट्टो लज्जाइणा न किंचि जंपेह । तेहिं वि पारंतेहिं  
चोरो चि साह टाविओ परं लिगिउ चि काउं निविसओ काराविओ राइणा । तहेव कयंति ।

तदेवं यस्मादनायकाद्भक्तादर्पणे ग्रहणाकर्षणधर्माधिकरणनयनरजोहरणाहुद्दालनगृहस्थीकरणदेशनिक्रासनप्रवचनमालिन्यापा-  
दानादिलक्षणा एते दोषाः स्युः तस्मात्साधारणानिसुष्टं न ग्राह्यमिति । यदि च तत्कथञ्चिद् पूर्वमनज्ज्ञातं गृहीतं पश्चाद्भद्रकादितया-  
सर्वस्यामिभिर्मुक्कलितं तदा गृहीतं तु कल्पते । तथा चोच्छको द्विधा । छिन्नाच्छिन्नमेदात् । तत्र गृहादिसाधारणस्याख्याः पृथक्कृत-

चिन्मः । पृथगकृतथाश्चिन्मः । तथा किल कश्चित् कौटुम्बिको भक्ताहारकहस्तेन गृहात् क्षेत्रे हालिकानां भोजनाय चोष्कं स्थाप-  
 यति । तत्र गृहादिसाधारणया गृहे स्थितायाः क्षेत्रे नीताया वा स्थाल्या मध्याह्नालिकभोजनाय पृथक् पृथक् भाजनेषु परिवेषित-  
 श्चिन्मः स्यात् । तथा गृहस्थितः क्षेत्रे चानीयमानः क्षेत्रे नीतो वा हालिकशुक्तशेषो वा क्षेत्रान्नक्ताहारकहस्ते व्यावर्तमानो वा स्था-  
 लीस्थितोश्चिन्मः, स्यात्, तत्राप्यचिन्मो गृहसाधारणस्तेन कौटुम्बिकेन साधुभ्यो दानाय मुक्तकलितोऽमुक्तकलितश्च स्यात् । तत्र  
 चिन्मचोष्के यदर्थं छिन्मः स यदि हालिकस्तन्मध्यात् किञ्चित् साधवे ददाति, तदा स हालिकेन दीयमानः कौटुम्बिकेन पार्श्व-  
 स्थित्यावर्तित्वाभ्यां दृश्यमानोऽदृश्यमानश्च ग्रहीतुं कल्पते तेन छेदेन तस्य स्वकीयीकृतस्य दत्तत्वात् । अचिन्मचोष्के च भक्ताहार-  
 कहालिकयोर्मध्याद्यः कौटुम्बिकेन साधवे दानायाऽनुज्ञातः, स यदि ददाति तदाऽसौ कल्पते तथा छिन्मोऽपि कौटुम्बिकेनापि निसृष्टः  
 कल्पते ग्रहीतुं नवरं यदर्थं छिन्मस्तस्य यद्यप्रीतिरन्तरायकरणं वा न स्यात्तदा, नान्यथा । अचिन्मानिसृष्टश्च चोष्कः कौटुम्बिकेन  
 दृष्टोऽदृष्टो वा भक्ताहारकेण हालिकेन वा साधवे दीयमानस्तस्य ग्रहीतुं न कल्पते अदत्तादानदीपात् कौटुम्बिकस्य मच्छरादिस-  
 र्भवाच्च । प्रायः क्षेत्र एव हालिको शुञ्जते इति क्षेत्रे चोष्क उक्तः । यदि कश्चिद्गृहेऽपि शुक्ले तदा सोऽप्येतदनुसारतो भावनीयः ।  
 एवं तडागखननादिके उद्गादिष्वपि (?) भावनीयं । तथा जङ्गस्य हस्तिनः सम्वन्धि पिण्डरूपं वस्तु राज्ञा गजेन चाननुज्ञातत्वादिनि-  
 सृष्टं जङ्गानिसृष्टमुच्यते । इह कश्चिन्मेण्डः साधुभक्तो हस्तिस्तत्करस्याहारस्य मध्यादाहारं साधवे यदि ददाति, तदा स गजस्य  
 पश्यतोऽपश्यतो ग्रहीतुं न कल्पते तस्य गजपिण्डत्वात् स च साधूनां न कल्पते राजगजाभ्यां साधवेऽननुज्ञातत्वात्सावदत्तादानत्वेन  
 चाकल्प्यः । तथा तं पिण्डकं दीयमानेन असौ गजो दातुमिच्छति नवेति न ज्ञायते । ततो यदि नेच्छति तदा तद्गुह्याने तस्य

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
श्रद्धासरीया  
वृत्तिः

॥५०॥

मनोवाधा कृता स्यात् सा च साधूनां परिहार्या । तथा तद् पिण्डं गुह्यं साधुः प्रत्यासन्नया हस्तिना शुण्डया गुह्यते कदर्थयेते वा । यदासौ केनापि मदीयगजस्य वैरिणा राज्ञा हस्तिनां कवलनायानेन वेपेण प्रस्थापितोऽन्यथा कथं पिण्डग्रहणव्याजेन हस्तिनः प्रत्यासन्नः समागच्छतीति विचिन्त्य हस्तिराक्षकपुरुषैर्गुह्येत, ततो मरणाद्यापि प्राप्नुयात् । तथा हस्तिनस्तत्रमाणाहारस्य लाभच्छेदेनान्वरायिकं कृतं स्यादित्येवद्वेषदुष्टत्वादसौ न ग्राह्य इति । नवरामिह प्रथमैको गजभक्तपिण्डको राज्ञा गजेन चानुज्ञातः प्रतिदिनं मॅटो लभते । तं भक्तपिण्डकं मॅठेन स्वं दीयमानं गजेनादृष्टं यदि ददाति तदास्मै कल्पने । यदि च स्वपिण्डकमपि गजस्य पश्यतः प्रतिदिनमभीक्ष्णमसौ ददानि साधुश्च गुह्यति तदा यदयं शुण्डो मॅटारसकाशात् पिण्डं गुह्यति तं च मॅटो मदीयपिण्डमभ्यात स्वल्पं पिण्डोलकं स्यून्नतरं गुह्यातीत्यादि विचिन्त्य प्रद्वेषेणासौ गजः साधुपाश्रयस्य यतेर्वा विनाशमपि कुर्यात्, सकृद् ग्रहणे च न तथाविधो दोष इत्यनवरतमसौ न ग्राह्य इति गाथार्थः ॥५१॥

उक्तमतिस्पष्टद्वारमथाध्यायपुरकद्वारमाह ।

जावंति यजज्ञपासं डियरथमोपरइ तंतुले पच्छा । सद्धा(ट्टा) मूलारंभे जमेस अज्ज्ञोयरो तिविहो ॥५२॥

व्याख्या—सूचनाद्यावदर्थिकाश्च समस्तार्थिनः, यतपश्च निग्रेन्याः, पावण्डिकाश्चक्राद्यस्ते इदं तदर्थमेव विभिमि तमित्यर्थः । यद्यस्मात्कारणादवतारयति स्वगृहयोजयकगो(कल्मशा)दीनां मध्ये मिश्रितान् कृत्वा गृही स्यात्प्रां प्रतिक्षिपति । 'तंतुले'ति धान्यकणान् । उपलक्षणत्वादधिकतरजलरुणादीनीत्यर्थः कथमित्याह पश्चान्मूलारमभोत्तरकालं, यद्ग पश्चादुपरिश्च मनोलङ्घनेनेत्यर्थः । पश्चाच्छुद्धस्य समन्तिगच्छन्त्वात्पूर्वत्वमपेक्षते, अतोऽनुक्तमिति(मपि) पूर्वमिति विशेषणं दृश्यं । ततः क्रिमपेक्षं पश्चादित्याह स्वांर्थ

गृहय पूत्रं कर्पटिकाद्यागमनापेक्षयाऽप्रतो विहिते सतीति विशेषः । कस्मिन्नित्याह । मूलं प्रथमोऽग्निज्वालनाद्रग्रहणदानादिरूपारम्भा-  
 दिकर्तव्यव्यपारो मूलारम्भस्तस्मिन् । एतेन च मिश्रजातादध्यवपूरकस्य नानात्वं दर्शितं । मिश्रे ह्यादितेऽग्निज्वालनादिप्रस्ताव  
 एव स्वगृहयावदर्थिकाद्यर्थमुपस्कर्तुमारभते, अध्यवपूरके च गृहिणा स्वार्थमग्निनाद्याद्रहणदानमतो आरम्भे कृते सति पश्चात्स्वार्थक-  
 ल्पिततन्दुलानां मध्ये कर्पटिकाद्यर्थं तन्दुलादीनां माणकादिकं सङ्कल्पितं प्रक्षिप्य राध्यते इत्युभयोर्भेदः । यत्तदोर्नित्ययोगाद्यदि  
 व्याख्यातं तत्तस्मात्कारणाद् दीपोऽनन्तरोक्तः । स्वार्थत्वाद्ग्रहणे प्रथमं कृते प्रभूतमिक्षाचरसंदर्शनतत्त्वदर्शमपि पश्चादधिकतरं तंदुला-  
 दिप्रक्षेपकरणलक्षणोऽध्यवपूरक उक्तशब्दार्थस्त्रिविधो यावदर्थिकादिविघटितभेदाच्चिप्रकारः स्याद्यथा स्वगृहमिश्रशब्दयोः प्रस्तावा-  
 द्रम्यमानत्वात् स्वगृहयावदर्थिकमिश्रो निजवेदमकार्पटिकादिसाहिक इत्यर्थः । तथा स्वगृहसाधुमिश्रो निजगृहसाधुसाधारण इत्यर्थः ।  
 स्वगृहपात्यण्डिमिश्रो निजवेदमशाक्यादिसाहिक इति । इह स्वगृहश्रमणमिश्राध्यवपूरकोऽपि घटते परं श्रमणाः पात्यण्डिनां मध्ये  
 विवक्षिता इत्येवं त्रिविध्यं ज्ञेयं । इह यावदर्थिकाद्यर्थमधिकतरतंदुलादिप्रक्षेपदोषेण सर्वोऽप्याहारोऽशुद्धः स्यात् तथा स्वगृहयावदर्थि-  
 कमिश्राध्यवपूरके यावंतः कणाः कार्पटिकाद्यर्थं पश्चात् क्षिप्तास्तत्रमार्णै रंद्ध्यैर्वित् स्यादेतावत् प्रमाणं भक्तं यदि गृहस्थेन स्यात्पा-  
 उद्देशेन स्थानिकादौ क्षिप्त्या पृथक् कृतं स्यादुद्देशेन स्वगृहादौ वितीर्णं वा नतु सिकथादिगणनेन पलिमन्थादिदोषात्तदा शेषं स्यात्की-  
 भक्तं ग्रहीतुं कल्पते विशेषिभोक्तत्वादेवं मिश्रजाताद्यभेदेऽपि ज्ञेयं किञ्चित्तत्त्वत्वादनयोरिति । अन्त्यभेदद्वयं चाविशोधिकोक्तिक-  
 कतया वक्ष्यतीति तद्भक्तमकल्पयामिति गाथार्थः ॥५२॥

उत्कमध्यवपूरकदारं तत्रप्रतिपादनाच्च पीडयाप्युद्गमदोषाः प्रोक्ता अथैतेष्वेव कल्पयाकल्पव्यवस्थार्थं विषयविभागमाह ।



इय कर्ममं उद्देशियतियमीस्त्रज्ञायरंतिमदुभं च । आहारपूद्वायारपाहुडि अविस्सोहिकोडिति ॥५३॥

व्याख्या—अत्रोद्गमदोषसमूहोऽविशोधिकोटिविशोधिकोटिभेदेन द्विधा भिद्यते । तत्र 'इयं' च इत्येतेष्वामाकाकर्ममिदिषु षोडशो-  
द्गमदोषभेदेषु मध्ये । 'कर्ममं' ति सूचनाद् कर्माध्याकर्मपरिपूर्णं । तथोद्देशिकत्रिकामितिकिलीषोद्देशिकविभागोद्देशिकभेदाद्द्विधोद्देशि-  
कमुक्तं । तत्रेह व्याख्यानाद् वक्ष्यमाणान्त्यशब्दस्य सिंहावलोकनन्यायेनात्रापि योजनात् द्वादशविधस्य विभागोद्देशिकस्य कर्मभेद-  
सत्कर्मन्त्यमेव त्रिकं ग्राह्यं । तथा सूचनान्निमिश्रजाताध्यवपूरकयोरन्त्यद्विकं चरमभेदद्वयं । किल, मिश्रमध्यवपूरकश्च यावदर्थिकपा-  
खण्डनिग्रन्थार्थिभेदात्रिधा । अत्र च पाखण्डिशुहमिश्रसाधुशुहमिश्ररूपं भेदद्वयं ग्राह्यं । कापि ग्रन्थे मिश्रं समस्तमध्यवपूरकश्च  
सर्वोप्यविशोधिकोटितयोक्त इति चकारेण सूच्यते । तथाहारपूतिर्भक्तपानपूतिमित्यर्थः । किल पूतिः उपकरणपूतिभक्तपानपूतिभेदा-  
द्द्विधोक्ता इत्यत्र वादरभेदो ग्राह्यतयोक्तः । तथा वादरप्रभृतिका पूर्वोक्तरूपा किल प्राश्रुतिका दोषाः सूक्ष्मवादरभेदाद् द्विधोक्ता  
इत्यत्र वादरभेदो ग्राह्यतयोक्तः । एतद् किमित्याह अविशोधिरूपदूर(दूरकर)णादिनाप्यकल्पनीयताजनकत्वेन मलिना कोटिरुद्गम-  
दोषलेशोऽविशोधिकोटितित्येवमनन्तरमेवोपवर्णितरूपा भण्यते इति शेषः । यद्वा इति शब्दः परिमाणार्थस्तत इत्येतावती उत्तरभेदा-  
विवक्षणे मूलभेदापेक्षया भेदषट्कप्रमाणा स्यादिति शेषोऽपरनाम्ना उद्गमकोटिरपीयमेवोच्यते । अत एव पूतिदोषस्वरूपनिरूपणार्था  
'उगमकोडिकणेण वी'त्याहुक्तं । तेन सर्वैरविशोधिकोटिदोषैर्भुक्तस्याहारस्यावयवेनापि स्पृष्टस्य शुद्धस्याप्ययनादेः पूतित्वं भवतीति  
तत्र व्याख्यातमिति गाथार्थः ॥५३॥

अधुना अविशोधिकोटेरेव इति दुष्टताख्यापनार्थतया स्पृष्टस्य पात्रकस्य विधिमाह ।

तीए जुयं पत्तं पिहु, करीसनिच्छोडियं कयतिकप्पं । कप्पइ जं तदवयवो सहस्सधाईविसल्लवो ङव ॥५४॥

व्याख्या—इहाविशोधिकोटिद्रव्यं लेपकुदलेपकुच्चैति द्विधा पात्रके निपतितं स्यात् । तत्र तक्रतीमनजगायादिकं खरण्टकत्वाह्ने-  
पकुद् । वह्णचणकादिकं तद्विपरीतत्वादलेपकुद् । ततश्च 'तीए जुयं'ति तथा प्रदर्शितरूपयाऽविशोधिकोद्या उपचारादविशोधिकोटि-  
दोपयुक्तलेपालेपकुदाहारणेत्यर्थः, युतं खरण्टितं स्पष्टं वा, किञ्चि(किं त)दित्याह पात्रमपि साधुभाजनमपि । अपिः पात्रकस्याकल्पनीय-  
ताभणनेनातिशयद्योतकः । ह्यर्थाकपालङ्कारे, शेषशुद्धाशनादर्ग्रहणाय न कल्पते इति शेषः । यद्येवं तर्हि कीदृशं सत्पात्रकं कल्प्यं स्या-  
दित्याह—'करीसनिच्छोडियं' ति करीषेण शुष्कगोमयचूर्णेनोपलक्षणत्वाद्भ्रूसादिना च निश्छोटितं घृष्टमुद्धर्त्तमित्यर्थः । करीषनि-  
श्छोटितं सत् उपलक्षणत्वाह्नेपकुद्शुद्धाहारावयवापनोदाय करीषवर्षणार्त्पूर्वमङ्गुल्यादिप्रोञ्छितं चेत्यपि दृश्यं । पुनरपि किं विशिष्टं  
सदित्याह, 'कयतिकप्पं'ति कृता दत्ता त्रयस्त्रिसह्याः कल्पा जलप्रक्षालनरूपा यत्र तत्कृत्वन्निकल्पं । इत्थं कृतं सत्, किमित्याह  
कल्पते साधुनां परिभोक्तुं युज्यते । इतरथा पूत्य(ति)दोषत्वादकल्प्यमिति भावः । तथा कृतन्निकल्पमप्यातपादिना शुष्कं कल्प्यं स्या-  
न्नान्यथा । चतुर्थकल्पे दत्ते जलाद्रमपि पात्रकं शेषग्रहणाय कल्पत इत्याद्युपलक्षणत्वाद् दृश्यं । तदुक्तं बृद्धैः 'निच्छोडिए करीसेण वा-  
वि उव्वट्टिए तए कप्पा । सुक्खाविता गिण्हइ अत्ते चउत्थे असुक्खे वि'॥१॥ तदेतेन एतस्या अतिपरिहार्यतां दर्शितवान् । तथाहवि-  
शोधिकोद्याहारं ग्रहीत्वोच्छ्रितेऽपि तथा ह्यसमकृतन्निकल्पं तं पात्रकमपि तावन्न कल्पते । किं पुनः साक्षादविशोधिकोद्याहारोपभोगः  
कर्तुमिति सामर्थ्यादुक्तं भवति । अथ किमेत्येवं महता यत्नेन एतस्या निषेधोऽपदिश्यते इत्याह यद्यस्मादर्पणम्यमानत्वात्स्याऽवि-  
शोधिकोदिदृष्टाशनादेः सम्बन्धी अवयवोपि सिकथाद्यपि आस्तां कवलादिरित्यपेरर्थः । किमित्याह सहसाणि हन्तुं शीलमस्येति सह-

स्वपाती, क इवेत्याह विपलव इव प्रधानगरलेखो यथा । इदमुक्तं भवति । किल तीव्रविपलवोपभोगात् कश्चिन्मृतस्ततो विपत्वपरिण-  
ततत्प्रिशिताशानादन्यो मृतस्तत्प्रिशिताशानादन्यो यावत्सहस्रसङ्ख्याः प्राणिन इत्यन्यान्यविधिना परंपरया, यथाऽतिप्रधानविपलवोऽपि  
प्राणिसहस्राणि भक्ष्यसहस्राणि वा विनाशयत्येवं भेन कृतोऽविशोधिकोटयशानाद्याहारस्तेन पाककारकेणान्यस्मै गृहस्थाय दत्तस्तेनाप्य-  
न्यस्सायित्याद्यान्यगृहसंवरणेन परम्परया गृहसहस्रमपि गतोऽविशोधिकोटिलवोऽपि गृहसहस्रसत्कशुद्धभक्तसहस्राण्यपि पूतित्वक-  
रणेन दृष्यति । स चैवं शुज्यमानो निर्मलमपि चरणत्सकं भावजीवं साधोर्हन्तीति विपलवत्वेनोपमित इति । तथाऽविशोधिकोटि-  
प्रस्तावं प्रतीत्य मुग्धाश्लेष्यः कश्चिदाचष्टे, ननु साधुसङ्कल्पेन यत् क्रियते तदेवाथाकर्म स्यादतः कूर एव केवल आथाकर्म भवति  
तस्यैव साध्वर्थं सङ्कल्पितत्वात् तु तन्निष्पन्नान्यपि सौवीरावश्चावणतंदुलोदकानि तेषां साधुसङ्कल्पं विनाप्युपजायमानत्वाद्दत्तसद्ग्रहणं  
कर्तुं यतैर्युज्यते नवा ? नैवं, तान्यप्याथाकर्मिककाण्येव । तत्राथाकर्मिककूरावयवरूपावश्चावणादिनिष्पन्नत्वेन सौवीरे कूरावयवरूपत्वे-  
नावश्चावणे तदर्थधीततंदुलावयवमिश्रितत्वेन साध्वर्थं निष्ठितत्वेन वा थावने आथाकर्मता भवति । तस्यां वसत्यां उद्गमकोटिरूपैः  
काञ्जिकादिभिरपि ह्युप्तं शुद्धमप्यशनादिकं पूतिरपि भवतीति ज्ञेयमिति गाथार्थः ॥५४॥

अविशोधिकोटिरुक्ताऽथ विशोधिकोटिं तद्गतां विधिं चाह ।

असदा पासद् तं चिय तथो तथा उद्धरे सममं ॥५५॥

सेसा विसोहिकोडी, तद्वयवं जं जहिं जया पडियं । असदा पासद् तं चिय तथो तथा उद्धरे सममं ॥५५॥

न्याख्या—शेषाऽविशोधिकोटेरन्याऽविशोधिरूपोद्धरणादिना कल्पनीयताजनकत्वेन निर्मला कोटिः पूर्वोक्ता विशोधिकोटि-  
विशुद्धय (द्र)कोटिरित्यर्थः, स्यादिति शेषः । सा चानेकविधोद्देशिकादिभेदेन भवति । यद्वा शेषाः षोडशानामुद्गमदोषाणां मध्यादवि-

योधिकोऽद्या गृहीतेभ्य उद्धरिता उद्गमदोषस्ते विशोधिकोऽतिशब्दवाच्याः स्युः, यथोर्वादेशिकं, विभागीदेशिकस्याद्यं भेदनवक-  
 योपकरणपूर्तिभिश्चस्याद्यो भेदः, स्थापना, सङ्गमप्राप्तिका, प्रादुर्करणं क्रीतमापमित्यकं, परिवर्तितमभ्याहृतमुद्भिन्नं मालोपहृतमा-  
 न्द्वेद्यमानिसुष्टमध्यवपूरकस्याद्यो भेदश्चेति । उपलक्षणत्वाद्ब्रह्ममाणोत्पादनैपणदोषाश्चेति व्याख्येयं । तत्र शुद्धस्य मध्ये विशोधिकोऽति-  
 दोषवतो भक्तादेः पतितस्योद्धृत्य त्यागः कार्यो अकल्प्यत्वात् स च यदिपयो भवतीत्येतदाह । 'तद्वयवमि'त्यमिदं इह द्रव्यक्षेत्रकाल-  
 भावानाश्रित्य तस्यागो भवति तत्र तद्वयवं यत्पतितं पश्यतीति योगः । इह चातिशयोक्त्या एतस्याः परिहारस्यापनार्थमवयवशब्द-  
 उपात्तस्ततोऽत्रावयवशब्देन द्रव्यं ग्राह्यं ततो यत्किमपि तद्वयवं विशोधिकोऽतिदोषात् क्सादिद्रव्यं पतितं दात्र्या क्षिप्तं पश्यत्यवलोके  
 'तं चिय उद्धरे' इति वक्ष्यमाणेन योगस्तत्र चिय शब्दस्यैवकार्थत्वात्तदेवाऽशुद्धद्रव्यमुद्धरेत् पृथक् कुर्यात् परिष्ठापयेदिति यावत् ।  
 अनेन द्रव्यविषयस्याग उक्तः । तथा यच्छब्दस्यावृत्त्या योजनात् यत्कुरादिद्रव्यं, 'जहि'ति, यत्र पात्रकैकदेशे शुद्धभक्तमध्ये वा  
 पतितं तत्रतस्वस्मात् पात्रकाच्छुद्धभक्तमध्येद्वा उद्धरेदिति क्षेत्रविषयः स उक्तः । तथा यद्यदा यस्मिन् क्षणे पतितं प्राक्षिप्तं  
 दात्र्या तत्तद्वैव शीघ्रमुद्धरेत् । वृहद्धेलया हि शुद्धं भक्तमितरेण व्याप्यते । तत्रतदप्यशुद्धप्रायं स्यादिति कालविषयः स उक्तः ।  
 सथाऽशुद्धस्वस्मिन् मनोहोऽस्कोऽमनोहोऽस्वद्विष्टश्च मास्य विकल्पः स्यात् यदोदनादिकं द्रव्यं पश्यति विशोधिकोऽतिदोषवदिद-  
 मिति प्रत्यभिजानाति । ज्ञात्वा च 'सम्भं'ति सम्भक् निर्वाहविषयविज्ञानविषयनिजशक्त्यनुरूपयतमानतानैपुण्येन शुद्धभक्तादि,  
 धृतपतद्ग्रहात्तदुद्धरेदित्यनेन च भावविषयस उक्तः । तथाऽप्रोद्धिते शुद्धाहारे सति के(पात्रके) तस्मिन्नशुद्धावयवेषु सस्व-  
 प्यऽकृतकल्पेऽपि शेषं गृह्णन् दोषभागस्य शुद्धकोटिकत्वात् निजभक्तस्त्वौलिनत्वात्तद्वयवपरिमोगाय तं(तत्) प्रापश्चित्तमपि न

स्यादिह चाशुद्धं यद्यत्र यदा पतितं पश्यति तत्तत्सदा सम्यगुद्धरेदशठः सन्नित्युक्तम् । अशुनाऽशठ एव विशोधिकोत्तिदोषवत्  
आहारस्य समुद्धरणविधिरुच्यते । तत्र च यत्पात्रकेऽग्रगृहीतं तच्छुद्धं यत्तु पश्चात्तन्मध्ये पतितं तद्विशोधिकोत्तिदोषवद्द्रव्यं, ततश्च  
निव्वहि सति शुद्धं विशोधिकोत्तिदोषवच्च सर्व्वं त्याज्यमनिव्वर्हि तु चतुर्भङ्गिकया कल्पनीयता वक्तव्या । यथा शुष्के शुष्कं  
१ शुष्के आर्द्रं २ आर्द्रं शुष्कं ३ आर्द्रं आर्द्रं ४ पतितमिति । तत्र शुष्कं वल्लचणकादि रूक्षद्रव्यं । आर्द्रं तु तक्रतीमन्त्रेष्वा-  
दिकं । ततश्च यदि शुष्कस्य पुरागृहीतस्य शुद्धस्य मध्ये शुष्कं वल्लादिकमेव विशुद्धिकोत्तिदोषवत्पतितं तदा तद्रल्लकादिकमशुद्धं  
वक्ष्यमाणन्यायोक्तजलप्रक्षेपादिकष्टं विनापि विविकतुं शक्यत्वाद्दुक्त्य तस्यज्यते । उच्यते च शेषं वल्लकादिकं कल्प्यं स्यादिति  
प्रथममङ्गः । यदा च पतद्गृहे शुद्धस्य शुष्कप्रायवल्लादेर्मध्ये यदि विशोधिकोत्तिदोषवत्तीमनाद्यार्द्रं पतितं तदा तन्मध्ये काञ्जिकादि-  
जलं प्रक्षिप्य धूल्यादेरुपरि नामितस्य पात्रकस्य भूप्रत्यासन्नकर्णकदेशे लज्जं शुद्धभक्तस्य पात्ररक्षणार्थं तिर्यग् सहस्रं विधाय तत्र  
क्षिप्तजलं विविकप्रदेशे गत्वा निष्काशयन्ति । येन तज्जलेन सह तदशुद्धतीमनादिकं निरसरति । ततः शेषं वल्लादिकं कल्प्यं स्यादिति  
द्वितीयमङ्गविधिः । यदि चार्द्रस्य शुद्धस्य तीमनादेर्मध्ये शुष्कप्रायं क्लृप्तुद्रादिकं विशोधिकोत्तिदोषवत्पतितं, तदा तदाधारपात्रक-  
मध्ये सहस्रं प्रक्षिप्य तीमनादेर्मध्याद् यच्छक्नोति निष्कासयितुं हस्तेन तन्निरसारयति । ततः शेषं तीमनादि कल्प्यं स्यादिति  
तृतीयमङ्गविधिः । यदि च दुर्लभद्रव्यस्यार्द्रस्य मध्ये आर्द्रमेवाशुद्धं पतितं तदस्मिन् तावत् प्रमाणे उच्यते शेषं कल्पयमिति चतुर्थ-  
मङ्गविधिः अयं च सूत्रकारेणाप्यभिधायते इति गाथार्थः ॥५५॥

अशुना पदर्शितमेवार्थं सूत्रकारः संक्षेपतोऽभिधत्सुराह ।

तं चेव असंशरणे, संशरणे सञ्चमवि विगिंचंति । दुल्लहद्वे असदा, ताचियमेसं चिय चयंति ॥५६॥

व्याख्या—‘तं चेव’ चि । चः पुनरर्थः भिन्नक्रमश्च तदेव विशोधिकोटिदोषदुष्टमेव, असंशरणे तद्विनाऽनिव्वीहे विगिंचंतीति योगः । संस्तरणे पुनस्तद्विनापि निव्वीहे सत्यपेरेवकारार्थत्वात् सर्वमपि समस्तमेव सर्वं विशोधिकोटिदोषवच्च वल्लादिकं विगिंचन्ति परित्यजन्ति परिष्ठापयन्तीति यावत् । अयमत्र भावार्थः । साधुना हि भिक्षामटता पूर्वं पात्रके शुद्धं भक्तादि गृहीतं ततस्तत्राप्यनाभोगादिनाऽज्ञातं विशोधिकोटिदोषदुष्टं गृहीतं । पश्चाद्ज्ञातं ततो यदि तेन विनापि निव्वीहति तदा तत्सर्वमपि विधिना त्याज्यं । अथ न निव्वीहति तदा प्रत्यभिज्ञाय निजविज्ञानेन तदेव दोषदुष्टं त्याज्यं न शेषम् । यदि च श्लथद्रवरूपस्य विशोधिकोटिदोषवत् स्तकलीमनादेः शुद्धतज्जातीयमिलितस्य व्यक्त्या परस्परं मिलितत्वेन शुद्धाशुद्धविभागो न लक्ष्यते, तदापि समस्तत्यागः कायः । चतुर्थभङ्गकाश्रितं विधिविशेषमाह । ‘दुल्लहेत्यादि’ दुर्लभमन्यत्र दुष्प्रापद्रवं श्लथरूपं घृतादिकं द्रव्यं तस्मिंस्तु पुनः शुद्धे यद्यपरं विशोधिकोटिदोषवत्पतितमथ ग्लानाद्यर्थं अवश्यं दुर्लभत्वाद्य(द्यद)र्थं तत्तदा तावन्मात्रमेव यावन्मात्रं विशोधिकोटिदोषवद् घृतादिकं पतितं तत्प्रमाणमेव कलत्रय सर्वस्यापि मिलितस्य मध्यान्त्यजन्ति उद्धरन्ति साधवः । कीदृशाः सन्तः ? इत्याह । अशठा निजशत्पनवगृहनेन यतमानतयाऽप्यायाविनस्ततः शेषः किञ्चिन्नुद्धं किञ्चिद्विशोधिकोटिदोषवच्च भवति । परं तत् सर्वज्ञाज्ञाकरणात् कल्प्यस्यात् । इह दुर्लभशब्दोपादानात् सुलभे द्रव्ये सति सर्वमपि त्यजन्तीति दृश्यम् । तथाऽशठः सन् यदेवाचरति तदेव तस्य चारिष्र्मर्भल्यहेतुतया कर्मवन्धाभावाय स्यात् । शठस्तु तदप्याचरन् चारिष्र्मालिन्योत्पादनेन कर्मर्षणा श्लिष्यते इत्यावेदयतीति गाथार्थः ॥५६॥

सांप्रतमुद्गमदीषनिगमनमुत्पादनादीषप्रस्तावनां चाह ।  
पिंडुमवि ते य ॥५७॥

भाणिषा उद्गमदीषा, संपद् उत्पायणाष्ट ते वोच्छं । जे णज्जकज्जसज्जो, करेज्ज प्रतिपादिता उद्गमदीषा आहारोत्पत्तिदृषणानि इति-  
व्याख्या—भाणिषा भेदप्रभेदादिकथनेनादित आरभ्येतावता ग्रन्थेन प्रतिपादिता उद्गमदीषा आहारोत्पादनमुत्पादना तस्या-

निगमनं । सम्प्रति साम्प्रतमथुनेत्यर्थः । 'उत्पायणाष्ट' ति तत्र धाज्यादिप्रकारैर्वक्ष्यमाणैर्यज्व्याया प्रयोजनमाहारादिलौल्येन तदु-  
स्तरस्यां वा विषये तान् दीषान् वक्ष्ये-अभिधास्ये । यान् दीषान् । अनार्यं जघन्यजनोचितं यत्कार्यं चिन्तयेत् प्राज्ञो धर्ममेकं हि

पाञ्चन्या(न)करणरूपमथवेत्तमजनाचरणीयं धर्मलक्षणमेव कार्यं नाहारादिकं । तदुक्तं, "नाहारं चिन्तयेत् प्राज्ञो धर्ममेकं हि  
चिन्तयेत्, आहारो हि मनुष्याणां जन्मना सह जायते" ॥१॥ इति तत्र सज्जः प्रगुणस्तदुत्पायनिरतः कुर्वीत विदधीत लौल्ययुक्तः

काश्चित् साध्याभासः यदर्थमसौ तान् कुर्वते तदर्थयित्तुमाह । पिण्डार्थमपीति आहारनिमित्तमपि न केवलं दुर्लभवस्तुन उत्पादना-  
देरर्थयित्यपेरर्थोऽनेनार्यकार्यमेव व्यक्तीकृतं परमिह पिण्डेनैव प्रकृतमिति मुख्यतस्तदुत्पादानं । यद्वा अनार्यकार्यं क्रोधादिशुतस्य

साधोधीनीत्वादिकरणम् । अथ च क्षमधात्रितत्वमेव वृत्तेः प्रशस्यं कार्यं । तत्र सज्जः प्रगुणः, श्रेष्ठं प्राणवत् तत्र क्रोधयुतो धात्रीत्वं  
करोति । यथा केनापि साधुना क्वापि गृहे भिक्षायं गतेन लङ्कुकादीन् दृष्ट्वा गृहस्थी याचित्वा एतान् मह्यं देहीति तयोदरिको भवा-

नित्यादिवचनैर्निर्भस्तिवो यतिः ततः कुपितश्चिन्तयति यथा इयं पापा तथा कार्या, यथा मदायत्ता स्यादिति । मानयुतस्त्वभ्युत्था-  
नाद्यर्चया, मायायुतस्त्वेकस्या धाज्याश्चावनायान्यस्याः स्थापनाय बालस्य गृहे गत्वा कूटश्लोकपाठकरणादिना, लोभयुतस्त्वहार-

लोभादिना धात्रीत्वं करोतीति । 'ते य' चि ते दीषा पुनरमी भवन्तीति गरयते इति गाथार्थः ॥५७॥

पिण्ड-  
विशुद्ध-  
श्रंद्धसरीया  
वृत्तिः

अथ तान्त्रं प्रस्तावितोत्पादनादीषान् नामतः सङ्ख्यातश्च गाथाद्वयेनाह ।

थाइ दृइनिमित्ते, आजीववर्णमिगे तिगिच्छाय । कोहे माणे माया लोभे अ ह्वंति दस एए ॥५८॥

पुटिं पच्छा संथवविज्जा, मंते य चुन्नजोगे य । उत्पायणाए दोसा, सीलसमे मूलकस्मे य ॥५९॥

व्याख्या—धात्री बालपालिका स्त्री । इह च धात्रीति निर्देशेऽपि दोषशब्दसामान्याधिकरण्यात् सूचनाच्च धात्रीत्वकरणमिति तदयं । एवं यथासरभ्रवमन्यत्रापि । १। तथा दूती परस्परसन्दिष्टार्थकथिका स्त्री, दूतीत्वकरणमित्यर्थः । २। 'निमित्ते' चि निमित्त-करणमतीताद्यर्थसूचनं । ३। तथा आजीवो जात्यादीनां गृहस्थात्मसमानां कथनादिना आजीवनं । ४। 'वर्णमिगे' चि वनीपकत्वकरणं । तत्र वनुते दायकाभिमतेषु श्रवणादिव्यात्मनो भक्तस्य दर्शनात् पिण्डं याचते उत्पादयतीत्यर्थः । वनयति वा पिण्डार्थमात्मानं दायिकाभिमतेषु श्रमणादिषु संभक्तं दर्शयतीति निरुक्तिवशाद्धनीपकः । यद्वा वनीं दायकाभिमतजनप्रशंसोपायतो लब्धार्थरूपां पाति पालयतीति वनीपः । स एव वनीपकः । तस्य भावस्वतन्त्रं तस्य करणं विधानं तत् । ५। तथा चिकित्सनं चिकित्सा रोगप्रतीकारः चः समुच्चये । ६। तथा क्रोधः । ७। मानो गर्वः । ८। माया वञ्चना । ९। लोभो लुब्धता । १०। चः पूर्ववत् भवन्ति जायन्ते दय प्रतीताः । एते अनन्तरोक्ता इति ॥५८॥

तथा पूर्व्वं दानात् सूचनाद्विद्याप्रयोग इति । तत्रं विद्या स्त्रीस्वरूपदेवताधिष्ठिता ससाधना वा ओमित्याद्यक्षरपद्धतिस्तस्याः प्रयोगो व्यापारणं सः १२, एवं मन्त्र इति मन्त्रप्रयोगः किन्तु मन्त्रः पुरुषरूपदेवताऽधिष्ठितोऽसाधनो वा । चः समुच्चये । १३। तथा चूर्णस्तिरोधानादिफलो नयनाञ्जनादियोग्यो द्रव्यक्षोदः । १४। योगः आकाशगमनसौभाग्यादिफलो द्रव्यसमूहः । चः पूर्व्ववत् । १५।



पिण्ड-  
विशुद्धे-  
श्रद्धसूरीया।  
श्रुतिः

॥५५॥

एते किमित्याह उत्पादनाया दीषाः पिण्डोपाजनस्य दूषणानि एते पञ्चदश । तथा षड्भिरधिका दशपरिमाणमस्येति षोडशं मूल-  
कर्म चेति मिलिताः षोडश भवन्ति तत्र मूलमालोचनादीनां दशानां प्रायश्चित्तानां मध्ये हृष्टमेतत्प्राप्तिवन्धनं कर्मव्यापारो गार्भ-  
घातादिमूलानां वा वनस्पत्यवयवानां कर्मौषध्याद्यर्थं छेदादिक्रिया मूलकर्म चः समुच्चये १६। एतेषां मध्याद्येन कृतेन य आहारो  
लभ्यते स तद्दोषवानिति द्वारागथाद्यर्थः ॥५९॥

अधुनाद्यं धात्रीद्वारं व्याख्यानयन्नाह—

बालसस स्वीर मज्जण, मंडणकीलावणंकथाइत्तं । करिय कराविय वा जं, लहइ जइ धाइपिंडो सो ॥६०॥  
व्याख्या—बालस्य शिशोः सम्बन्धि किमित्याह । क्षीरं च सान्यं मज्जनं च स्नानं मण्डणं च भूषा क्रीडापनं च रमणं, अङ्क-  
श्रोत्रसङ्गः । उपलक्षणत्वात् कथ्यादिग्रहस्ते तथा तद्विषयं धात्रीत्वं क्षीरमज्जनमण्डनक्रीडापनांकथात्रीत्वमिति । तत्र धारयति क्षीरपाना-  
दिनाऽवष्टंभयति बालकमिति धात्री निपातनात् । धयन्ति दुग्धपानादिना पिबन्ति बालकास्तामिति वा धात्री बालपालिका स्त्री । सा  
च रूढ्या क्षीरादिभेदाद् पञ्चविधाः, तस्या भावो धात्रीत्वम् । एताश्च क्षीरादिविषयाः पञ्चधात्र्यश्विरन्तनकाले बालपितृविभवानु-  
सारत आसन् । साम्प्रतं तु दुःषमातुभावान्नैतास्तादृश्यो दृश्यन्ते इति । तदेकैकं क्षीरादिधात्रीत्वं कर्मर्तायत्तं, 'करिय' चि कृत्वा स्वयं  
विधाय । 'काराविय' चि कारयित्वा अन्यसकाशाद्विधाप्य, वाशब्द एकां प्रच्याव्यान्यस्यास्तत्स्थाने व्यवस्थानरूपं वा क्षीरादिधात्रीत्वं  
कृत्वेति समुच्चयार्थः । यं पिण्डं लभते—प्राप्नोति यतिः साधुः धार्मीत्चकरणाच्छब्धः पिण्डो मध्यपदलोपाद्धात्रीपिण्डः । सोऽनन्तरोक्त  
उच्यते इति शेषः । तत्र यथा क्षीरधात्रीत्वं कारयति करोति वा स्वयं तथोच्यते । किल कश्चित्साधुर्भिक्षार्थं पूर्वपरिचितपुहे प्रविष्टो

रदन्तं बालकं दृष्ट्वा तज्जननीं प्रत्याह, यथा महं शीघ्रं भिक्षां प्रयच्छ तेऽसौ बालको रोदिति पश्चादेनं स्तनं धापय । अहो ते अति-  
 प्रमादिता किं सुलभानि पुत्रभाण्डानि ? यद्वा पर्याप्तं मम भिक्षया तावदेनमेव तर्पय । भूयोऽपि वाऽहं भिक्षार्थमागमिष्यामि । तथा  
 यतिमानऽसौगी दीर्घायुश्च स्तनं पायितो बालः स्यादिति क्षीरधात्रीत्वं कारयति । यद्वा वक्ति तिष्ठ त्वं निराकुलाऽहमेवाम् कुतोऽप्या-  
 नीय क्षीरं दास्यामीति वचनतः स्वयं धात्रीत्वं करोति । अत्र च प्रभृता दोषाः स्युर्यथाऽसौ बालकमाता भद्रकतयाऽऽवर्जितचित्ता  
 सत्याधाकर्मदिपाकं कुर्यात्तथा बालकसजना अन्यो वा मातिवेश्यादिर्बालकमात्रादिना सह सम्बन्धं भावयेच्चाटुकरणदर्शनात् ।  
 यदि च प्रान्ताऽसौ तदा प्रदेशं विदध्यात्तथा वेदनीयकर्मविपाकवशाद् बालस्य मान्द्ये जाते त्वया मत्पुत्रो ग्लानीकृतइत्यादि सा-  
 धुना सह कलकलादिभवनान्त् प्रवचनमालिन्यं स्यात् । चाटुकारिण एते इति जनेऽश्लाघा स्यादेवं शेषास्त्रापि धात्रीष्वमी द्रष्टव्याः ।  
 अधुनेकां प्रच्याव्यान्यस्याः स्थापनेन यथाऽसौ तत् करोति तथोच्यते । भिक्षाचर्यायां प्रविष्टेन साधुना महिलां सशोकां दृष्ट्वा कि-  
 न्त्वमद्याधृतिपरा दृश्यसे ? इत्यादि पृच्छयते, तथा चोच्यते । धार्मिक यते ! दुःखं दुःखमहायस्यैव कथ्यते, साधुः प्राह को दुःख-  
 सहायो भण्यते, सा प्राह यः कश्चितो दुःखविषयं प्रतिकारं करोति । साधुनोक्तं मां मुक्त्वा कोऽन्यस्तथाभूतः, सा प्राह तर्हुद्दालितम-  
 परयाज्या मम धात्रीत्वमिति । ततः साधुरूपत्वाभिमानो यावन्न त्वं तत्रैव स्थापिता तावन्नाहं त्वदीयां भिक्षां ग्रहीष्यामीत्यभिधाय  
 ज्यावयितुमिष्टाया धात्र्या अदृष्टत्वात् स्वरूपं जानाय तस्या एव पार्श्वे पृच्छति यथा सा किं तरुणी मध्यादिवयस्का वा, प्रतनुस्वती  
 स्थूलस्वती वा, शरीरेण वा मांसला कृशा वा कृष्णा गौरा वेत्यादि । ततो ज्ञाते तत्स्वरूपे यदि ज्यावयितुमिष्टा धात्री स्थितिरा,

दृष्टिं निवेशय वदति यथा वृद्धा धान्यऽबलस्तन्या स्यात्तां धयन्बालोप्यबलः सम्पद्येत, कुशा च धान्नी स्तीकस्तन्या स्यात्तां च धयन्बालोपि कुशो भवेत् । रथूलस्तन्यास्तनौ धयन्बालः कोमलाङ्गत्वात् कुचचम्पितवक्त्रप्राणः सन् चिपिटनासिकः स्यात् कूर्पराका-  
रस्तनीं च धयन्बालः स्तनाभिमुखमुखप्रसारणतो दीर्घीकृतमुखतया सूचीसदृशवदनः स्यात् कोमलाङ्गत्वादिति । अत्रार्थे स्वकृतश्लो-  
कान् पठति । यथा 'निस्थामां स्थविरां धान्नीं सूच्यास्यः कूर्पस्तनीं । चिपिटः रथूलवक्षोजां धयंस्तनीं कुशो भवेत्' ॥१॥ इत्यादि ।  
यद्वा न्यावयितुमिष्टायां वर्णमाश्रित्य तत्समक्षं स्यामिनः शृण्वतः स्वकृतश्लोकपठनेन दोषान् वक्ति यथा 'कुणा अंशयते वर्णं, गौरी  
तु बलवर्जिता । तस्माच्छस्या भवेत् धान्नी बलवर्णैः प्रशंसिता' ॥१॥ इत्यादि । इह यश्चान्यावयितुमिष्टायां वर्णः कुणादिरुक्तटीऽस्ति  
तेन तां दूषयति । यदि च स्थापयितुमिष्टापि न्यावयितुमिष्टसदृशवर्णा स्यात्तदा तां विशेषतः श्लाघ्यवर्णामपरगुणसम्पर्कादिना वक्ति ।  
न्यावयितुमिष्टां च निन्द्यवर्णामिति । तदिह न्यावयितुमिष्टा स्थविरादिवयस्त्वेन रथूलस्तनादित्वेन कुणादिवर्णत्वेन वा युक्ता  
वर्तते इति न सम्यग् योगः । स्थापयितुमिष्टा च तरुणीत्वेन लक्षणयुक्तस्तनतया नातिकृष्णागौरवर्णतया च सम्पन्नेत्यतस्तद्गृह-  
स्वामी साध्वभिप्रेतां धान्नीं पुनरप्यङ्गीकरोतीतरां मुञ्चतीति । अत्र चैवं विधानेऽपी दोषाः स्युः । यथा या क्षीरधान्नीत्वन्याविता सा  
साधूपरि विद्वेषं कुर्यात् । प्रद्विष्टा च सती चौरोऽयमित्यादिक्रमचतुं लोभकं दद्यात् । यद्वा अनया धान्या सह तिष्ठतीति भ्रूयात् ।  
वधादिकं वा तस्य कुर्यादधिकरणं चेत्यं महत्साधोः स्यात् तथा या स्थापिता सापीदृशं व्यतिकरं दृष्ट्वा ममापि धान्नीत्वविधामित्यमसौ  
करिव्यसीति विचिन्त्य विषादि तन्मरणाय दद्यात् । मा कदाचिद्यथा मया अभ्यर्थितेनेतरा न्याविता तथाऽन्ययाऽभ्यर्थितो मां  
न्यावयिव्यतीत्येवं शेषास्वपि । उक्तं क्षीरधान्नीत्वमाश्रित्यकरणकारणादिस्वरूपम्, अथमज्जनयान्नीत्वमाश्रित्य तदुच्यते । यथा भिक्षाथ

गृहं गतो यती रममाणं बालं दृष्ट्वा तज्जननीं प्रत्याह । तथा महापसौ बालो लुठति धूल्या वा अवगुण्ठितशरीरस्त्विष्टल्यनः स्नाप्य-  
 नमिति । जलं ग्राहयित्वा बालमातुः पार्श्वत्तस्य मञ्जनविधापनं कारयति । यद्वा अहमेनं मञ्जयामीत्यभिधाय स्वयं जल गृहीत्वा बाल-  
 स्य मञ्जनविधानं करोति । तथाऽत्राप्यनी(भिम)तथात्र्याः स्थापनाय सुतजनन्याः पुरतो जल्पति । यथा भवदभिमता धात्री सर्वथा न  
 मञ्जति । अतिवद्बुद्धकेन वा मञ्जति तत्र सर्वथा अस्त्रपितो बालो दुर्बलदृष्टिरेव स्यादतिशयबहुम्बुक्षेपणेन स्वप्यमानोऽसावबलनयनी  
 रक्ताक्षी जलभीरुश्च स्यात् । स हि बालत्वेऽसहितजलप्लावनतया श्वासनिरोधाद्ब्याकुलीभवत्स्वस्य यज्जलभयं समुत्पद्यते, तेन  
 गुरुरपि जातो नद्यादिषु प्रविष्टः पूर्वभयाऽभ्यासेन जलाद् विभेदिति । भवदभिष्टा च धात्री प्रचुरजलेनैव स्नपयतीति न सभ्यग् योगाः ।  
 अथ मण्डनधात्रीत्वं करणादिभेदत उच्यते । गृहे गतो बालजननीं प्रत्याह । खेलाक्षुरिकादिरूपैस्त्रिलककटककुण्डलादिभिश्चाभरणैरेनं  
 मण्डयेति कारणम् । यद्वा अहमेनं मण्डयामीति प्राहेति स्वयं करणं । न्यावायितुमिष्टायाः सत्यानि वा दूषणानि वदति । यथासौ  
 भवत्स्थापितमण्डनधात्री बालस्य हस्ताभरणानि कटकदीनि कण्ठसत्कानि च नक्षत्रमालादीन्यपि पादयोः परिदधाति चरणसत्कानि  
 च घुघुरादीनि कण्ठादाविति । हृदं च श्रुत्वा बालजनकेन तामशोभनामिति विचिन्त्यापनीय च, पूर्वधात्र्येव क्रियते । क्रीडनधात्रीत्वं  
 करणादिभेदतो यथा, भिक्षार्थं प्रविष्टः साधुर्बालं रुदन्तं दृष्ट्वा तज्जननीं प्रत्याह यथैनं बालं क्रीडनककार्युल्लापनकार्यमुन्मयहस्त्या-  
 दिभिर्वा क्रीडां कारय । अहं वा एनं रमयामीत्येवं मातुः सकाशात् स्वयं वा क्रीडनकधारीत्वं कारयति करोति वा । अभिप्रतायाः स्था-  
 पनार्थं तन्मातुरग्रतश्चावयितुमिष्टधात्र्या दीपोद्भट्टनं च करोति यथा-कटिनध्वनयुतधात्र्या रमितो बालोऽपि कर्कशध्वनः स्यात् ।  
 मृदुस्वराया च रमितो बालो मृदुस्वरोऽन्यत्रस्वरो वा स्यात् इति स्वमत्या दीपान् घटयति । एतद्दीपान्यतरस्मिंश्च भवद्भात्री वर्त्तते ।

अङ्गधात्रीत्यकारणादिकं यथा, मिश्रार्थं गृहे गतो बालं भूसौ रुदन्तं दृष्ट्वा अङ्के गृहाणैनमहं वा गृह्णामि इति तज्जननीं जल्पतीत्यङ्गधा-  
त्रीत्वं कारयति करोति वा । च्यावयितुमिष्टधात्र्या दीपोद्घट्टनं च कुरुते । यथा स्थूलशरीर्या धात्र्या कट्यां बालको गृह्यमाणोऽन्योऽन्यं  
विस्तीर्णन्तरपादः स्यात् । वक्रीभूतकट्या निर्मासत्वेन शुष्कशरीर्या धात्र्या कट्यां भ्रियमाणः कष्टेन तिष्ठति । निर्मासकठिनहस्ता-  
भ्यां च धात्र्या गृह्यमाणो भयवान् भवति । भवदभ्रिप्रता चैतेषामन्यतरस्मिन् वर्तते । इह कटीधरणादिकमप्यंसकठिनहस्ताभ्यां च  
धात्रीत्वं ज्ञेयं । इह सर्वास्त्रपि च्यावयितुमिष्टसु धात्रीषूज्जावितदीषाणां मध्याद् घटमानोऽघटमानश्च दीपः स्यात् । परमसौ स्वमतिवि-  
कल्पितत्वात् दृष्टाभिसन्धित्वात् सर्वज्ञनिषिद्धत्वाच्चासत्य एव ज्ञेय इति गाथार्थः ॥६०॥

उक्तं धात्रीद्वारमथ दूतीद्वारमाह ।

**कहियमिहो संदेशं, पयडं दृन्नं च सपरगामेसु । जं लहइ लिंगजीवी, स दूइपिंडो अणहा(ट्ट)फलो ॥६१॥**

व्याख्या—कथयित्वा निवेद्य मिथो मात्रादिसम्बन्धिनं पुत्र्यादेशप्रतः पुत्रादिसत्कं च मात्रादेशरित्येवं परस्परसुभयोरपीत्यर्थः । कं क-  
थयित्वेत्याह 'संदेशं'ति सन्देशकं अभीप्सितायाभिधायकनिवेदितवचनकथनरूपं प्रतीतं । किं विशिष्टं तमित्याह । प्रकटमन्येषामगुप्तं  
सर्वजनविदितमित्यर्थः । तथा छन्नं बाह्यजनालक्षिततया गुप्तं बाह्यजनश्च लोकलोकान्तरभेदाद् द्विधा । तत्र लोकः पार्श्ववर्ती पृथग्जनः ।  
लोकान्तरः सङ्घाटीयसाधुः । तत्र कदाचिदुभयोरपि प्रच्छन्नः । कदाचित्सङ्घाटीयसाधोरेव गुप्तो ज्ञेयो यस्याश्च सन्देशको नीयते तस्याश्छ-  
न्नो न भवत्येव । तदित्थं छन्नो द्विधा भवति । एतत्स्वरूपं च गाथार्थादुपरि वक्ष्यामः । वा विकल्पे क्व कथयित्वेत्याह स्वपरग्रामयोः  
स्वग्रामे परग्रामे च । तत्र स्वग्रामः स्वनिवासग्रामस्त्विपरीतः परग्रामः । कोऽर्थः ? स्वनिवासग्रामस्यैव सत्कंऽन्यस्मिन् पाटकादी परग्रामे

वा सन्देशकं नीत्वेति । ततः क्रिमिस्त्याह यं पिण्डमाहारादिलक्षणं लभते प्राप्नोति क इत्याह लिङ्गं रजे हरणादि साधुवेषरूपं चिह्नं तेन  
 जीयति निर्वहतीत्येवंशीलस्स तथा इत्थं निर्वर्हिं प्रवर्त्तयन् लिङ्गमात्रोपजीवक एव भवतीति विशेषणं स इत्थन्भूतो दूरीत्वकरणोपयेन  
 तन्धः पिण्डो मध्यपदलोपे दूरीपिण्ड इत्युच्यते । स च क्विविशिष्ट इत्याह अनर्थाः प्रभूता ऐहिकामुष्मिका अपायाः फलं कार्यं यस्या-  
 सौऽनर्थकलोऽनेकदोषघातहेतुरित्यर्थः । अयमत्र भावार्थः किल कश्चिद् व्रती भिक्षावज्जाद्यर्थं व्रजन् विशेषस्तज्जाभ्यर्थं तस्यापि ग्रामस्य  
 मत्कं पादकांतरे ग्रामान्तरे वा जनन्यादेः सत्कं पुत्र्यादेरग्रतस्तद्वचनं नीत्वा कथयति । यथा सा तव माता स तव पिता च त्वयाऽद्या-  
 न्नागन्तव्यमित्यादि त्वत्संमुखं वक्तीत्येवं स्वपक्षपरपक्षयोः शृण्वतो निर्ःशङ्कं कथनात् प्रकटः सन्देशः । तथा कश्चिद् व्रती दुहित्वा  
 मात्रादिकं प्रति स्वग्रामे परग्रामे वा सन्देशकनयनापारभ्यर्थितस्ततस्तत्सन्देशकमवधार्य तज्जनन्यादिपार्श्वे गतः सन् द्वितीयसङ्घाटकी-  
 यसाधोः दुहितुः सत्कमवलभकमसौ तन्मातुर्ददाति इत्यध्यवसायोत्पत्त्यर्थमित्थं तज्जननी संमुखं ब्रूते । यथा अतिमुग्धा सा तव दुहिता,  
 यंत्रमस्मान्प्रतिवदति यथेदं मयोजनं मदीयागमनादिकं मम मात्रे त्वया निवेद्यमिति । सापि दक्षा तद्भिप्रायं ज्ञात्वा तत्सङ्घाटकीय-  
 साधुप्रत्यापनाय प्रतिभणति । यथा वारयिष्याम्यहं तां तत्राभिमुखं पुनरेवं जल्पन्तीमित्येवं सङ्घाटकीयसाधोरसौ गोपयितुमिष्टो  
 न लोकरयेति लोकोत्तरप्रच्छन्नसन्देशक इति । तथा कस्याश्चित् पिता व्रती समभवन् माता तु तस्यापि ग्रामस्य सत्केऽन्यस्मिन्  
 पादकादौ ग्रामान्तरे वा गृहस्थभूततस्तत्र भिक्षाद्यर्थं व्रजन्तं निजपितरं साधुं दृष्ट्वा मातुः सन्देशकं ददाति यथा हे ताव मज्जन-  
 न्यास्त्वमेवं कथयेयंथा तत्कार्यं तव भतीतं यथा त्वं जानासि तथैव सम्पन्नं यथा वा जानासि तथा वा तत्त्वया विधेयमित्येवमसौ  
 स धुसदाटकस्य शेषलोकानां चार्थान्वगमादुभयच्छन्नपन्देशक इति । इह च सर्वत्र दोषा गृहस्थव्यापारणादिना जीवोपमर्दादयो

त्रेयाः । प्रकटसन्देशकं चाश्रित्य विशेषतो दीषा आख्यानक्रेनोच्यते । तच्चैदं  
एगंसि गामे उज्जुओ नाम कोडुंविओ, तस्स य देवई नाम दुहिया । सा य-तरगामवासिणा एणेण कोडुंविपपुत्तेण परिणीया । एत्थन्तरे  
तीये कालंतरे एगो पुत्तो दुहिया य जाया । सा धूया पच्चासन्नगोउल्लगामवासिणा एणेण कोडुंविपपुत्तेण परिणीया । एत्थन्तरे  
उज्जुयभज्जा पंचत्तमुवगया । तओ उज्जुओ संसारभयभीओ धम्मवोसाणं थेराणं सगासे पव्वहओ । विहरमाणो तत्थेव गामे निय-  
दुहियाए देवईए वसहीए सपरिवारनियगुरुसहिओ ठिओ । तम्मि पत्थावे ताणं दीणहवि गामाणं परोत्परं वेरं आसि सेज्जायरि-  
नियासिगामेण एयस्सुवरि च्छन्ना धाडी सज्जिया । सो य उज्जुयसाह गोउल्लगामे भिक्खवडु चलिओ । देवईए दुहियानेहेण भणिओ ।  
जहा जणय तुमं गोउल्लगामे वच्चिहिसि । तत्थ मे दुहियाए णियदीहित्तियाए कहेज्जसु, जहा तुह जणणीए कहावीयं, जम्हा अम्ह  
गामो तुज्झ गामस्सुवरि पहाए छन्नाए धाडीए आगामिस्सह ति । तुमं परवक्खरं ठवेज्जसु ति । तेण तहेव कयं । तीए नियभ-  
त्तुणो, तेण य गामस्स कहियं । गामो सन्नद्धवद्धकवओ, जुज्झसज्जो जाओ । इयरो य पभाए आगओ । महाजुज्झं जायं । तत्थ  
देवईए भत्ता पुत्तो य धाडीए सहगया । जामाओउ गोउल्लगामेण सह हुंतो । तिन्निवि जुज्झे मया । धाडी वलिया । देवई  
जामाहयाणं मरणं नाउं रोहउं पयट्टा । तीसे सयासे अणुणयवहणत्थं लोगा आगया भणंति य जह गोउल्लगामो धाडी एंती न  
जाणन्तो तो असन्नद्धो न जुज्झंतो, तेण तुह जामाहणो न मरता । ता केण पावेण सो जाणाविओ, तं सोऊणं तीसे पिउणो उवर्णि  
कोवो जाओ । जहा जह मए अयाणंतीए तस्स सयासाउ दुहियाए कहावियं तो किं साहुवेसविडंबण साहियंति चित्तिय रोयं-  
तीए भणियं । जहा मे जामाहपुत्तमारएण जणएणं सिट्ठं लोणेण सो साह चित्तियओ उट्टाहो य जाउ चि गाथार्थः ॥६१॥

उक्तं दृतिद्वारं, अथ निमित्तद्वारमाह—

जो पिंडाहनिमित्तं, कहइ निमित्तं तिकालविसयं पि । लाभालाभसुहासुह—जीविअमरणाइ सो पावो॥६२॥

व्याख्या—यः कश्चिद् वती पिण्डादिनिमित्तमाहाराद्यर्थमादिशब्दादुपध्यादिपरिग्रहः । भक्तवत्त्वादिलिप्सयेत्यर्थः । कथयति गृहिणां निवेदयति व्यापारयतीति यावत् । निमित्तं ज्ञानविशेषरूपं त्रिकालविषयमपि अतीतादिकालत्रयगोचरमपि । न त्वेककाल-विषयमेवंत्यपरर्थः । यथा हे श्राद्धा ! अतीतदिने तवैतज्जातं इदं भवित्वा, साम्प्रतं च्चेदं भवंते वर्चते इत्यादीति । किं विषयं पुनस्तदित्याह 'लाभे'त्यादि तत्र लाभोऽभिलषितावासिस्ताद्विपरीतोऽलाभः । आह्लादरूपं सुखं, तद्भावोऽसुखं दुःखमित्यर्थः । जीवितं प्राणधारणं, मरणं प्राणत्यागरूपं, असीषां द्वन्द्वे लाभानीनि मरणान्तां(न्तान्या)दिर्वस्य तत्तथा । लाभोदिविषयमित्यर्थः । आदिग्रहणाच्चिन्तादृक्राष्टिभेदवन्धुममागमसुभिष्वदुभिंक्षादिग्रहः । यश्चेदं कथयति सोऽनन्तरोक्तः साधुः किमित्याह पापः पापीपदेशकत्वात्पापीयान् । तदित्यं लाभोदिविषयकालत्रयगोचरनिमित्तव्यापारणाच्छिष्यः पिण्डो निमित्तपिण्ड इत्युच्यते । दृष्टश्चायं यत्त्रिविधेऽप्येवस्मिन् कल्पमाने आत्मोभयपरविषया वधादयोऽनर्थाः सम्पद्यन्ते । तत्रात्मविषये साधुर्वधादिकं प्राप्नोति । उभयविषये साधुर्वधादिकं प्राप्नोति जीवोपमर्दव जायते । परविषये जीवोपमर्द एवेति । वार्त्तमानिके च सद्य इहलोकेऽपि प्रत्यर्पाया जायमाना दृश्यन्ते । तत्रालयानकं यथा—

एतांमि सन्निवेशे आसि पुरा नामभोहओ एगो । सोहभाहगुणजुया भज्जा से सुंदरी होत्या ॥१॥ देसंतरंमिय गओ रआएसेण अक्षया सो उ । भज्जं मोतुं नामे तत्थ य नेमिचिओ निउणो ॥२॥ एगो साह पत्तो भिक्खवट्ठा सो गओ तीए नेहे । तं दट्ठणं



पुष्टो निमित्तमिह जाणसे किं पि ॥३॥ तेणुत्तं सुद्धुत्तरं जाणामि तीए जंपियं तत्तो । कहहि मम किंचि समणग जं ते रोयइ तयं पुच्छ ॥४॥ ततो निमित्तकहणेण सुंदरी तेण हियहिअया । पकया विउलासणपणाइ दिन्नं तो तीए हिट्ठाए ॥५॥ देसन्तराड बलिओ अह अन्वया बहु अकालता(जाया) । जाव स चणुपत्तो, नियगाम अदूरदेसंमि ॥६॥ तो तेण भोइएणं, निययगामस्स नियडपत्तेण । भज्जाणुरत्तएणं निययमणे चिंतियं च जहा ॥७॥ एगामी पच्छत्तो गत्तणं वेट्टियं नियवरस्स । किं सुंदरी सुमीला उय निस्सीला व जोएमि ॥८॥ एत्थावसरे पुष्टो महदइओ एइही कया इइइं । तेणुत्तं अज्जेव य वारे गामस्स आयाओ ॥९॥ साहु सयासाड तओ, तीए य तयागम गुणेऊण । संमज्जाणोवत्तेवणचंदणमालाइ गिहिकिच्चं ॥१०॥ काऊणं सव्वंचिय हरिसवसुल्लसियबहलपुलयाए । नियपरिजणो य सव्वो तदभिसुहं पेसिओ पत्तो ॥११॥ तं पत्तं दट्ठणं पुष्टो सो तेण परियणो मज्झ । कओ नायं तुब्भेहि आगमणं परियणो भणइ ॥१२॥ पट्टविया किल अन्हं सुंदरीए ण पायमग्गेहि । एत्थंवरंमि तो कोउणेण तीए य सो पुष्टो ॥१३॥ पुब्बा-णुय्यमत्तं सट्ठिं जं भोइएण संजायं । ता जाव इमं पकइइ तो पत्तो भोइउ गेहे ॥१४॥ दिट्ठो सो उवविट्ठो, तीए समिबे सो वि उवविट्ठो । कयनियजणोवहासो 'सा पुट्टा जइ कहं नायं ॥१५॥ मम आगमणं तुमए, तीए वुत्तं अणेण मम सुणिणा । पच्चयपुब्बं कहियं' भइ को पच्चओ कहसु ॥१६॥ तीए वुत्तं निसुणसु, तुमए सह, जं मए पुरा विहियं । जं पि य हसियइयं, सुमिणो वि य जो मए दिट्ठो ॥१७॥ तं सव्वमणेण ममं कहियं जो गुड्ढदेसतिलओ वि । सो वि य एयं सोडं, ईसावसविप्पुरियकोवो ॥१८॥ जहा एयाए ताव वडवाए पुच्छिमो गन्धं । जइ जाणिही निमित्तेण, गुड्ढतिलउ विईयाए ॥१९॥ तो नाओ तेणं चिय होही, तो हं न किंचि एयस्स । उववायं पकरिस्सं, अह नो जाणिही इयं गन्धं ॥२०॥ तो तिलओ विहु नाओ अकज्जापरणओ न नाणेण ।

तो एयं भारिसं निम्भंत भणइ तो एसो ॥२१॥ रोसेण फुरफुरितो भो भो पव्वइयग ! मह इमीए । वडवाए जं गन्भं चिउइ तं कहसु नाऊणं ॥२१॥ तेण भणियं किसोरो पंचहि पुंउेहि संजुओ अत्थि । पच्चयहेडं तीए पोइं फालावियं तेण ॥२२॥ दिंइ तारिस उच्चिय जारसिओ अक्खिओ सो किसोरो । तं द्दट्ठं तस्स तओ कोवोवसमो समणुजाओ ॥२३॥ भणिओ साहु तेणं जइ एयं सव्वयं जर न हुन्तं । तो तुह उदरं एयं फालावितो अहं नियमा ॥२४॥ तग्हा जाईण(णीय)मेयं इहपरलोए अणत्थकरणवमं । नो कहवि अनुआयं जिणेहि काठं(?)हिएसीणं ॥१॥ ननु साधोर्वधादिकं न किञ्चिज्जातमिति तस्य करणे को दोषः ? उच्यते वडवादिघातादयो दोषा अत्रापि जाता एव । तथा ये च पञ्चगुण्द्रकेशोरकादिपरिज्ञानेन परस्य प्रत्ययमुत्पाद्य स्वस्य मारणादिकरणं पारदारिकादिदूषण-मुसारयित्वन्ति ते क्रियन्तो भविष्यन्ति, विरला एवैते स्युः । एवमतीतादिनिमित्तेऽपि भावनीयमिति गाथार्थः ॥६२॥

उक्तं निमित्तद्वारमथाजीवनाद्वारमाह ।

**जच्चाइधणाण पुरो, तग्णुणमप्यं पि कहिय जं लहइ । सो जाईकुलगणकरम्म—सिप्पआजीवणापिंडो ॥**

व्याख्या—जात्यादीन्येव धनं स्वोत्कर्षादिहेतुतया वित्तं येषां ब्राह्मणादीनां ते जात्यादिधनास्तथा च विप्रादेर्जातिरेव ब्राह्मण-त्वादिका धनं तथा ह्यसौ सर्व्वजनोत्कृष्टमात्मनं प्रख्यापयति, निर्वाहति च । आरक्षकादीनां कुलमेव धनं तेन तेषां निर्व्वाहादिभावात् । मङ्गलादीनां बाहुमुष्टियुद्धादिक्रियैव धनं । कृषीवलादीनां हलवाहनादिना कुर्यादिकर्ममेव, चित्रकरादीनां चित्रकरणादिशिल्पमेव धनमिति तेषां जात्यादिधनानां दातॄणां ब्राह्मणानां पुरतोऽप्रतः 'तग्णुणं'ति तेषां जात्यादिधनानां सम्बन्धी गुणो जात्यादिधर्मो यस्यात्मनः स तद्गुणस्तं दातॄसमानजात्यादिधर्मकमित्यर्थः । आत्मानमपि न केवलं परमित्यपेरप्यर्थः । कथयित्वा तत्सत्कहवनादि-

क्रियाविज्ञातत्वसूचनव्याजेन स्फुटवचनेन वा प्रकाशयत्यर्थः । यं पिण्डमशानादिरूपं लभते स्वजात्यादिपक्षपातरञ्जितेभ्यो ब्राह्मणा-  
दिभ्यः सकाशात् प्राप्नोति साधुः, सोऽनन्तरोक्तः पिण्डः । किमित्याह जातिश्च कुलं च गणश्च कर्म च शिल्पं च तानि यथा एतानि  
वक्ष्यमाणार्थानि तेषामजीवना सा तथा, तथा लब्धः पिण्डो जातिकुलगणकर्मशिल्पाजीवनापिण्डः । जात्याजीवनापिण्डः, कुला-  
जीवनापिण्ड इत्यादिनामाभिधेयाऽसौ भवतीत्यर्थः । कथं पुनरसौ तद्गुणमात्मानं प्रकाशयतीत्युच्यते । यथा कश्चित्साधुर्भिक्षामटन्  
भिक्षार्थं ब्राह्मणगृहे प्रविशति । ततस्तत्सुतं होमादिक्रियाः सम्यगकुर्वन् दृष्ट्वा तत्पित्रभिमुखं जल्पति, यथाऽवितथवितथहवनादि-  
क्रियाकरणाद् ज्ञायते, यथैष विज्ञातवेदादिशास्त्ररहितस्य द्विजस्य सुत इति, वेदादिशास्त्रज्ञपार्श्वस्थितो वासाविति तत्पितुः कथयति  
यद्वा निजसुतं क्रियां कुर्वन् साधुमवलोकयन्तं दृष्ट्वा द्विजः पृच्छति यथा साधो ! त्वया किं हवनादिक्रिया सम्यगसम्यग् वा विज्ञा-  
यते येनेत्यं निरीक्षते ततः साधुर्ब्रूते, यथा समिन्मन्त्राहुतिस्थानयागकालघोषादीनाश्रित्य सम्यगसम्यग् वा क्रिया स्यात् । तत्र समिधः  
पिप्लानामार्द्रप्रतिशाखादिवण्डस्वरूपा यत्र यथावत् प्रयुज्यन्ते, एवं मन्त्रा ओमित्याद्यक्षरच्छन्दरूपा, आहुतिरर्घो घृतादेः प्रक्षेपाख्या,  
स्थानमुत्कुटादिरूपं, यागोऽश्वमेधादिकः, कालः प्रभातादिः, घोषो ध्वनिरूपो, यत्र यथावत् प्रयुज्यते सा सम्यक् क्रियेति । तदित्यमाहारादिलिप्सया  
समिधादयो न्यूनतया अधिकतया विपर्ययेण वा प्रयुज्यन्ते, न यथावत् सा त्रिविधा असम्यक् क्रियेति । तदित्यमाहारादिलिप्सया  
व्याजेन तत्समानजातिकस्यात्मनः प्रकाशनं विधीयते । तत्र च स ब्राह्मणस्तच्छ्रुत्वा गार्हस्थ्ये ब्राह्मणोऽयमित्यध्यवस्य भद्रकः सन्  
स्वजातिपक्षपाताद्यदाहारादि दापयति तदाजीवनादौषवत्स्यादथ प्रांतस्तदाऽस्माकमयमुपहासं करोतीत्यादि विचिन्त्य गृहनिस्सारणादि  
कुर्यात् । यदि ब्राह्मणः(णोऽ) सन् कुतोऽपि किञ्चिद् ब्राह्मणक्रियादिकं ज्ञात्वेत्यं ब्राह्मणत्वं प्रकटयति तदा अपरोऽपि भावतो मुषावादः

स्यादिति । यदा पृष्टोऽपृष्टो ब्राह्मणोऽहमित्यात्मनं जातिमन्तं साक्षादेव कथयति तदा स्फुटवचनेनैव तदुणात्मनः प्रकाशनाज्ञान्युपजीवनं भवति । तत्रापि मायामुपवादादयो दोषा वाच्याः । एवं क्षत्रियादिजातिरेष्युपजीवनं ज्ञेयम् । कुलोपजीवनं यथा उग्रकुलेषु भिक्षार्थं प्रविष्टः माधुर्यप्रभुं हृदिप्रभृतीनि समारचयंतं दृष्ट्वा तरिपतरमाह, यथा हृद्यादीनामवितथाऽकरणान् ज्ञायते यथा सुशिक्षितशक्रियस्योग्रप्रभुश्रेयमित्यादि एवं भोगादिकुलेष्वपीति । गणोपजीवनं यथा मञ्ज्यादिगृहे भिक्षार्थं प्रविष्टः साधुस्त्वान् युद्धादिक्रियानिरतान् त्यवलोक्य कथयति । यथा मञ्जानां युद्धप्रस्तावे वासुदेवादिप्रतिमाप्रणमनखड्गबाहुयोधनादिव्यवस्थाभाषणं तथा कलाह(अक्षयाट)के प्रविष्टस्यैकस्य मङ्गस्य निजभूम्याक्रमणेन प्रतिद्वन्द्विमङ्गघाताय पार्श्वे गमनं ग्रीवावन्धादि च स्यात्, धरणिपातलुप्तांकयुद्धादिप्रकटनं च भवतीति । ततो मङ्ग एवासौ गार्हस्थ्य आसीदिति स्वगणपक्षपातादाहारान्दि दापयन्तीत्यादिपूर्ववत् । कर्मजीवनं यथा कृषीवलस्य गृहं भिक्षार्थं प्रविष्टः कृषीवलस्य पुरतः साधुर्भणति यथा यदि प्रभूतं द्रव्यं कृषिकारपकाद्वणिगादेः कृषीवलो लभते तदा हलादीनि शुभानि करोति । अथ स्तोकं तदा अन्यथापीति । कृषिकारपकोऽपि यदि प्रभूतद्रव्यवान् स्यात् तदा तानि शुभानि कारयति । अथ स्तोकद्रव्यवान् तदा अन्यथापीति । तच्छ्रुत्वा गार्हस्थ्ये कृष्यादिकर्म निपुणोऽसावासीदित्यादि पूर्ववत् । शिल्पाजीवनं यथा शिल्पिनो गृहे प्रविष्टः शिल्पिनः शिलावर्तकादेः पुरतो जल्पति यथा यदि प्रभूतं द्रव्यं शिल्पी लभते तदा शुभानि देवकुलादीनि कारयति । अथ स्तोकं तदा इतरथा । एवं कारापकेऽपि वाच्यमिति । ततः शिल्पिकोऽसौ पूर्वमासीदिति संभाव्य स्वशिल्पित्वपक्षपातात्तस्यासावशानादि दापयतीति । एवं च यदुपजीवनेन यः पिण्डो लभ्यते स तेन व्यपदेश्यो ज्ञेय इति गाथार्थः ॥६३॥

अधुना जात्यादीन्यन्तरगाथोत्तरार्द्धोपात्तानि व्याख्यातुमाह ।

पिण्ड-  
विशुद्धे  
श्रद्धासूरीया  
इतिः

॥६१॥

माइभवा विप्याइ व जाइ उगाइ पितृभवं च कुलं । मल्लाइ गणो कितिसमाइ कर्मम चित्ताइ सिप्यं तु ॥६१॥  
 व्याख्या—मातृभवा जननीसमुत्थेत्यर्थः । यद्वा विप्रादिका ब्राह्मणशत्रिवैश्यप्रभृतिका, वा विकल्पे जातिलोकप्रतीता हेयेति  
 शेषः । तथोग्रादि उग्रभोगश्वश्रेष्ठाकादिकं । तत्रोग्रभोगावादिदेवेनारक्षकत्वेन गुरुत्वेन च व्यवस्थापितौ वंशविशेषौ, शत्रियाः प्रतीता,  
 इश्वराकरो नाभेयवंशजा इति । यद्वा पितृभवं जनकसमुत्थमित्यर्थी, वा विकल्पे कुलं हेयमिति शेषः । तथा मल्लादिर्मल्लमारस्वत-  
 लक्षणी चाहुस्वन्नयोऽङ्गप्रभृतिसमुदायो गण उच्यते इति शेषः । मह्यगणमारस्वतगणस्वरूपं तु लोकरूढितो हेयं । तथा 'किसिसमाइ'  
 चि मकारस्य लाक्षणिकत्वात् कृष्यादिकर्मणवाणिजज्यप्रभृति 'कर्म' चि कर्म विज्ञेयम् । तथा चित्रादि आलेख्यलेपादिकं तूर्णनसीव  
 नादिकं वा शिल्पं शिल्पशब्दवाच्यं स्यात् तु शब्दश्च कर्मशिल्पयोर्लक्षणान्तरद्योतको यथा अनाचार्योपदिष्टं कर्म आचार्योपदिष्टं  
 शिल्पमित्यनयोर्भेद इति गाथार्थः ॥६१॥  
 उक्तमाजीवनाद्वारमथ वनीपकद्वारं व्याख्यातुमाह ।

पिंडट्टा समणातिहि—माहणाकिविणसुणगाइभत्ताणं । अप्पाणं तद्धमतं दंसइ जो सो वणिमो ति ॥६२॥  
 व्याख्या—पिण्डार्थमुपलक्षणत्वात् भोजनवस्त्रादिनिमित्तं भक्तादिलिप्स्येत्यर्थः । आत्मानं तद्भक्तं दर्शयतीति योगः । केपा-  
 मित्याह श्रमणातिथिब्राह्मणकृपणशुनकादिभक्तानाम् । इह च निर्ग्रन्थशाक्यतापसरैरिकजीवभेदात् पञ्चधा श्रमणाः स्युः । तत्र  
 निर्ग्रन्था यतयः, शाक्या वन्दकाः, तापसा वनवासिपाखण्डिनः, गैरिकाः परिव्राजकाः, आजीवा गोशालमताजुमारिण इति । तथा  
 अतिथयोऽव्वचिन्नप्रार्थुर्णकादयः, ब्राह्मणा विप्राः । उपलक्षणत्वादन्येऽपि च दुर्मनोऽवान्धवातंकवज्जुंभिताः कृपणप्राया द्रष्टव्याः ।

तदुर्मनस इष्टविद्योगादिविशुराः । अवाग्भवाः स्वजनादिरहितः । आतङ्कवन्त आकस्मिकज्वराद्युपेताः । जुङ्गिताङ्गाः कर्चितरहस्त-  
 पादाद्यवयवा इति । शुनकाः श्वान आदियेषां ते शुनकादयः आदिशब्दात् कायशुक्रयक्षप्रतिमादिग्रहः । ततः श्रमणाश्चातिथयश्चे-  
 त्यादि इन्द्रस्तेषां भक्ता बहुमानपरा ये गृहस्थास्तेषां पुरतः आत्मानं स्वं, किमित्याह (ग्रं० २५००) तद्भक्तं तेषु श्रमणादिषु विष-  
 येषु भक्तं बहुमानवन्तं दर्शयति प्रकाशयति यः साध्वाभासः स 'वणीमो'त्ति प्राकृतत्वाद्दनीपक इत्युच्यते । कथं पुनरात्मा तद्भक्ती-  
 दृश्यते ? उच्यते श्रमणादिप्रशंसाकरणत इति । यथा कश्चित् साधुः भिक्षार्थं गृहे प्रविष्टो निर्ग्रन्थानाश्रित्य वक्ति यथा भो श्रावक-  
 तिलक ! तत्रैते गुरवः सातिशयश्रुतोपेताः शुद्धक्रियानुष्ठानपालनपरा अत्यन्तं मोक्षाभिलाषिण इति । तथा शाक्योपासकगृहं प्रविष्टः  
 शाक्यांस्तत्र भुञ्जानान् दृष्ट्वा तद्भक्तानां पुरतस्तत्प्रशंसां कुरुते, यथा अहो शाक्याश्चित्रलिखिता इव निश्चला भुञ्जते । युक्तमित्थं  
 भोवतुं । तथा दयालवो दानशीलाश्चेते । तथा रासभवदत्यन्तं मैथुनप्रसक्तेषु द्विजेष्वप्यशनादि दत्तं न निष्फलं भवति किं पुनः शा-  
 क्यमुनिव्यति । एवं शेषानपि तापसादीनाश्रित्य तत्प्रशंसाकरणेन वनीपकत्वं ज्ञेयम् । अतिथिभक्तेषु (क्तानां) पुरतोऽतिथिदानं प्रशस्य-  
 वदति यथा प्रायेण लोक उपकारकेषु प्रत्युपकाराय यतते, सर्व्वदा परिचिते वा, तत्रिथया आश्रिते वा नतु मार्गपरिश्रान्तातिथि-  
 रूपप्रावृर्णकैष्वतस्तेषामशनादि दत्तं महते पुण्याय, तस्यैव च दानं प्रशस्यमुच्यते इति । ब्राह्मणभक्तानामश्रतस्तत्प्रशंसाद्वारेण तद्दान-  
 माहत्स्यं ख्यापयति । जातिमात्रोपजीवेष्वापि द्विजेषु दत्तं भक्तादि बहुल स्यात् । किं पुनर्यजनादिपट्कर्मनिरतेषु धर्मकथादिना  
 जननिस्तारकेषु तदत्तं हि प्रभूतकालवेद्यस्वर्गादिसुखफलकदिति । कृपणभक्तानां पुरतस्तद्दानोपबृंहणं कुरुते । यथा अयं लोकः  
 पूजितपूजकस्ततो य एवं पद्मम्बन्धनीनहीनाङ्गेभ्योऽशनादि दद्यात् स एव दानपताकां जगति गृह्णातीति तत्प्रशंसां कुरुते । यथा किल

पिण्ड-  
विशुद्ध-  
श्रद्धाश्रीया  
शक्तिः

॥६२॥

वलीवर्दीनीनां जगत्यकष्टलभ्यस्तावत्तृणाद्याहारः, ये च ङ्छिद् छिदित्येवं शब्दपूर्वकं लगुडादिहताः श्वानः सर्वर्दैव वर्तन्ते, न तेषां सुखलभ्योऽशनाद्याहारोऽतः कष्टं सहते, तथैते यत्र कैलासे गौरीमहेश्वरौ किल त्रैलोक्यप्रधानौ निवसतस्तस्थाननिवासिनः परं तस्मादायाता गुह्यकदेवविशेषा एते श्वाकृत्या मह्यां चरन्ति तथा अशनादिदानेन पूजकानामीप्सितकारिणः, तद्दायकानामनीप्सित- कारिणश्च स्युरतः पूज्या एते इति । एवं काकशुकादिषु शुभाशुभादिनिवेदनपठनादिकं बहु तं प्रशंसति । यथादिभक्तेषु(कानां) पुरतः साधो ! कीदृशोऽयं किं गुणो वा यथादिरिति पृष्टोऽपृष्टो वा तत्प्रशंसादिकं कुरुत इति । तदित्थं वनीपकत्वकरणेन कृपणभावद- र्शनेनोत्पादितः पिण्डो वनीपकपिण्ड इत्युच्यते । बहुदोषदृष्टथायं यतोऽत्र धार्मिकेऽधार्मिके वा पात्रे दानं दत्तं निष्फलं न भवती- त्येवमप्युक्तेऽपात्रदानप्रवर्तनां समाश्रित्य मिथ्यात्वस्थिरीकरणदोषः स्यात् । यदा तु कुपन्ने शाक्यादिके प्रशंसारूपं वनीपकत्वं कुरुते तदा विशेषतो दोषास्तस्य स्युस्तथाहि शाक्यधर्म एव शुभ इति विपरीतबोधस्य लोके दाहर्षोपादानानिमथ्यात्वं स्थिरीकृतं स्यात् । तथा यदि शाक्यसत्कोपासका भद्रकाः स्युस्तदा स्वगुरुवर्णनारञ्जितास्सन्त आधाकर्मध्याहारं दद्युर्गृहादि सत्कपर्णालोचनं च विदधु- रिति संयमविराधना । यद्वा शाक्यप्रशंसाभावितान्तःकरणस्तथाविधाहारलुब्धश्च स एव च कदाचिच्छाक्यत्वं प्रतिपद्येत । तथा सृष्ट- वादश्च तत्प्रशंसया कृतः स्यात् । तथाहि हस्तमुख्यादिचलनाच्चित्रलिखिता इव भुञ्जते इत्यलीकं । सच्चित्तजलपानादिना तु दयालव- इति व्यभिचारि । तदर्थपाकनिष्पन्नाहारस्याभ्यवहारेण तु प्राणातिपातानुमतिर्तोऽभयप्रदानाभावादानरुचित्वमसत्यमिति । अथ प्रा- न्ताः स्युस्तदाऽन्यजन्मन्येभिर्न दीनादिभ्य आहारादिदत्तमित्याहाराद्यर्थं श्वान इव दीनारस्यं दर्शयन्तीति स्वोपासकाग्रतः शाक्या जल्पे- युरिति प्रवचनविराधना तथा प्रत्यनीका अस्माकमेते वर्तन्तेऽतोऽस्मदुपासकगृहेषु भैते भूयोऽप्यागच्छन्तिवति विचिन्त्य विषादि

दाप्येयुरिति साधोरात्मविराधना स्यात् । एवं ब्राह्मणादिव्यपि प्रशंसायां मिथ्यात्वचिस्थीकरणमुषावादादयंश्च दीषाः स्युरिति गाथार्थः ॥

उक्तं वनीपकदारमथ चिकित्साद्वारमाह ।

भैसज्जवेज्जसूयण—सुवसामणवमणमाहिकरियं वा । आहारकारणेण चि दुविह, तिगिच्छं कुणइ मूढो ॥६६॥

न्याख्या—सूक्ष्मवादरभेदाद् द्विविधा चिकित्सा स्यात्तत्राप्याद्या द्विविधा सां वक्तुमाह 'भैसज्जवेज्जसूयणं' ति तत्र भैषज्यं त्रिफलाद्यौषधविशेषो, वैद्यो भिषक् तयोः सूचना उच्छिङ्गना अनभिज्ञस्य रोगिण एतद्द्रव्यावबोधनेत्यर्थस्तां करोतीति योगः । यथा कश्चिद् रोगार्तो गृही भिक्षाद्यर्थं गृहे प्रविष्टं साधुं दृष्ट्वा भगवन् । एतस्य मदीयव्याधेर्जाग्नीषे कसपि प्रतिकारम् ? इति पुच्छति स प्राह भो श्रावक । यादृक् तवेदं गंडादिकं वेदनाहेतुरस्ति तादृशं ममाप्यासीच्चामुक्तेनौषधिना मम नष्टवेदनमभूदिति ततोऽस्य(स्थान-भिन्नस्य)सतो भैषज्यकरणाभिप्रायोत्पादनाद् भैषज्यसूचनं कृतं । यद्वा रोगिणा चिकित्सां पृष्टो वक्ति किमहं वैद्यो येन रोगप्रतीकारं जानं ? इति । एवं च वदता रोगिणोऽनभिज्ञस्य सतो वैद्यं पुच्छामीति परिणतिविधानाद् वैद्यसूचनं कृतमिति । इयं च द्विरूपापि सूक्ष्मचिकित्सेत्येको भेदोऽथ वादरचिकित्सामाह । 'उवसामणवमणमाहिकरियं वर्त्ति तत्र शर्करादिभक्षणेनोदीर्णपिचान्देरुपशम उपशमनं, पटोल्यादिकटुकौषधसंयोगनिष्पन्नकाशथानादिनोर्ध्वशुद्धिरणं वमनं आदिग्रहणात् काशकरणस्वेदनविरेचनसिरोवेधक्षारोमि-कर्मणादिक्रियाग्रहः । गोऽलाक्षणिकस्त्व उपशमनं च वमनं च ते आदिर्यस्याः सा चासौ क्रिया चोपशमनवमनादिक्रिया तां, वा विकल्पे, इत्येवं द्विविधचिकित्सां करोतीति योगः । उपलक्षणत्वादन्येन वा कारयति । किमर्थमेतां करोतीत्याह आहारस्य तुच्छग्रास-मात्ररूपस्य कारणेनापि तच्चिसित्तमपि न केवलमुपकरणादिकारणेनेत्यपर्यां द्विविधचिकित्सां सूक्ष्मवादरभेदाद् द्विप्रकारप्रतीकारं



करोति सूत्राद्वारेण साक्षाद्वा विधत्ते मूढः संयमनिरपेक्षत्वान्मूढधीरिति । तथाहि चिकित्साकाले चिकित्सां कुर्वन्ती यतः कन्दमूला-  
दिजीववधेन काशकथनादिपापव्यापारकरणादसंयमः स्यात् । तथा नीरुक् कृतो गृहस्थस्वसायोगोलकवत् प्रशुणीकृतदुर्वलान्धव्या  
प्रवञ्जीवघातं कुर्यात् । यथाह्यटव्यामान्धयेनाहारग्रहणशक्तेरभावात् दुर्वलः सन् व्याघ्रः केनापि वैद्येनान्ध्यापनयनेनाहारग्रहणशक्तेर्ज  
ननाहलीकृतो बहूनां सत्वानामुपघाते वर्तन्ते एवं गृही नीरोगः कृतस्सन्निति संयमविराधनोक्ता । तथा यदि दैवदुर्योगात् साधुवि-  
हितक्रियानन्तरं रोगिणो व्याधेरधिक्वं जायते तदा कुपितस्वत्पित्रा दिर्वाह्यादवाक्कथ्य राजकुलदौ साधुं नयेदित्यात्मविराधना ।  
एवं सति एते आहारादिलुब्धा एवंविधानर्थपरं कुर्वन्तीति जनापवादः स्यादिति प्रवचनविराधनेति । तत् चिकित्साकरणेनो-  
त्पादितः पिण्डश्चिकित्सापिण्ड इत्युच्यते इति भाथार्थः ॥६६॥

उक्तं चिकित्साद्वारमथक्रोधपिण्डद्वारं व्याख्यातुमाह ।

**विज्जातवप्यभावं निवाइदूप्यं बलं न से नाडं । दद्रूणा व कोहफलं, दिंति भया कोहपिंडो सो ॥६७॥**

व्याख्या—विधा च ओंकाराद्यक्षरवृन्दरूपा प्रतीता उपलक्षणत्वान्मन्त्रयोगादिग्रहः । तपश्च मासक्षणगादि तयोः प्रभावः  
उच्चाटनादिमाहात्म्यं विद्यातपःप्रभावस्तं । तथा नृपादिपूजां राजामात्यप्रभृतिसन्माननीयतां राजादिदृष्टमन्त्रमित्यर्थः । बलं सहस्र-  
योश्चादिशरीरसामर्थ्यं । वा विकल्पे से तस्य साधोः सम्बन्धिनं ज्ञात्वा अवबुध्य तथा दृष्ट्वा साक्षादवलोक्य वा विकल्पे किं तदि-  
त्याह क्रोधस्य रोपस्य साधुसक्तस्य फलं शापदानेन कस्यचिन्माराद्यनर्थकरणरूपं कार्यं, यं पिण्डं गृहिणः साधवे इति शेषः ।  
ददति यच्छन्ति कस्मात्कारणादित्याह भयाज्जासाद्यथा किलायं यतिभिश्चयाऽदत्तया कोपं गतो विद्यामन्त्रयोगादिभिरुच्चाटनादि,

तपसस्तु ग्रापदानादिना राजवाङ्मन्यात् नगरादेर्निस्सारणदण्डादिना, शरीरसामर्थ्यनिष्ठिप्रहारदानदिना मामनर्थं प्रापयिष्यतीति ।  
 अत्र च सर्वत्र कोप एव पिण्डोत्पादने मुख्यं कारणं द्रष्टव्यं कोपपिण्डस्य प्रस्तुतत्वात् विद्यातपःप्रभृतीनि तु तत्सहकारिकारणान्ये-  
 वेति न विद्यापिण्डादिभिः सहास्य लक्षणसांकर्यमाशङ्कनीयमिति । स किमित्याह । क्रोधादुत्पादितः पिण्डः क्रोधिपिण्डः, स उक्त-  
 रूपो विज्ञेयः । इह चोदाहरणं सन्नकारो लाववार्थं 'कोहे वेवस्ववर्गो' इत्यग्नेतनगाथांशेनाग्रे वक्ष्यति । वयं तु स्वस्थानत्वाद्नैव  
 द्रुमस्तच्चेदं, क्रोधे क्षपकज्ञातं यथा-

इह आसि भरहवासे नयरं नामेण हन्थकप्यति । तस्य य एगो विष्पो अ क्षीसि सद्धमकम्मरओ ॥१॥ तस्स य गेहे जायं  
 अहन्नया मयगभत्तकरणं ति । तस्य य भिक्खमडन्तो विगिगुत्तवओ महास्ववओ ॥२॥ मासस्स य पारणए संपत्तो तग्गिहे तओ  
 तेण । दिज्जन्ते दट्ठणं वयपुत्ते भूमिदेवाणं ॥३॥ तेणावि जाइया तो पडिसिद्धो वंभणेहिं तो कुविओ । अन्नाहिं दाहिदत्थेवं, भणमाणी  
 निग्गओ स सुणी ॥४॥ अह अन्नं माणुस्सं पंचम्मि दिणे चेव दिव्वजोएण । पंचत्तमुवगायं तस्स मासिए सो पुणी पत्तो ॥५॥  
 पुणरावि तहं व तेणं दिज्जन्ते वंभणाण वयपुत्तो । दट्ठणं तेणाविय, विमग्गिया तेहि पडिसिद्धो ॥६॥ कुविओ नीसरिओ सो तहं व  
 वयणं सुहेण पभणन्तो । अन्नंमि दिज्जह ति य जावन्नमाणुसमतीयं ॥७॥ तस्स वि मासियभत्ते, समानओ कहवि दिव्वजोएण ।  
 पुणरावि तहं व तेहिं पडिसिद्धो निग्गओ कुविओ ॥८॥ दिज्जह अन्नंमि अन्नं (य तं) सुहेण वयणं भणन्तओ स सुणी । तं सोउं  
 धेरेणं एगेण दुवारवात्तेण ॥९॥ चिन्तियम्मिमेण सुणिणा, जहञ्चहिं दाहिदत्तिययणेण । पुत्तओवि दीन्निवारा साव (सो अ) दिन्नो ति  
 तस्स फलं ॥१०॥ दोमणुयमरणरूवं दिट्ठं संपयं तइयवारं । एसो दिन्नो निसि(सर)उ, ता मा सव्वाणि वि मरंतु ॥११॥ गिहवइणी

गंतुं कहेह तेणावि मरणभीण्ण । हकारिय लामित्ता पउरा दिक्का य धयपुत्ता ॥१२॥ एवं जो हह लब्धह स कोहपिंडो बुद्धह जिणेहिं । परहरियव्वो एसो, हियमिच्छंतेहि सयकालं ॥१३॥ इति गार्थः ॥६७॥

उक्तं क्रोधपिण्डद्वारं, अथ मानपिण्डद्वारमाह ।  
लक्ष्मिपरसं(सउ)त्तिइउ परेण उच्छाहिओ अवमओ वा । निहिणोभिमाणकारी, जं मगइ माणपिंडो सो ॥

व्याख्या—लक्ष्मिप्रशंसाभ्यां लामश्लाभाभ्यां आत्मनो लक्ष्मिभवं प्रशंसां वान्यतः श्रुत्वेत्यर्थः । 'उत्तिइउ'त्ति, उत्तानः गच्छित्तो अहङ्कारवानिति यावत् । यद्वा अयं लक्ष्मिमानिति केनापि कश्चित्श्लाघितस्तां प्रशंसांमात्मनः श्रुत्वा, 'उत्तिइ' उत्ति अहमेव शोभन इति तथा गच्छित्तः सन्निति व्याख्येयं । यद्वा परेणान्येन साध्यादिना उत्साहितस्त्वमेवास्य कार्यस्य करणे समर्थ इत्यादिवचनेन प्रेरितः । यद्वा अवमतोऽपमानितस्त्वया न किञ्चित् सिद्ध्यतीत्यादिवचनेन परेणैव तिरस्कृतो, वा विकल्पे । तथा गुहिणो गृहस्थस्याभिमानमहमनेन साधुना याचितस्त्वतोऽस्मै स्वकीयकलात्रादिकमदित्सुं तिरस्कृत्यापि मया दातव्यमस्येत्येवंरूपमहंकारं करोतीति जनयतीत्येवं शीलोजभिमानकारी यतिरिति शेषः । पुरुषाधम एवासौ योऽभ्यर्षितः प्रयोजनं न साधयितुं समर्थ इत्यादिवचनोत्तेजनकर्त्ता इत्यर्थः । यं पिण्डं सेवतिक्कारूपं. मार्गयति गवेपयति याचत इत्यर्थः, स मानादुत्पादितः पिण्डो मानपिण्डः स्यात् । अत्राप्युदाहरणं 'माणे सेवइयखुइओ नायं' ति वक्ष्यमाणगाथावयवेन वक्ष्यति । तदपि स्वस्थानत्वादनैव ब्रमस्त्वेदम्, माने सेवतिक्काशुद्धकज्ञातं यथा ।

गिरिकुच्छिय नाम नयरं आसि । तत्थय इंददत्तो नाम इन्धो, तस्स य पियंगुमइया नाम भारिया । तत्थ य सुसाहुजणपरि-

यरिया के वि धरिणो समीसदा । इउ य तत्थ एंगंसि पत्थावे सेवइयाऊसवो उवाडिओ । तत्थ पभाए चैव तरुणसमणाणं परीएपरं  
 केलीए उछावा पवसा । तत्थ एणेण खुड्डएण भणियं । जहा भो समणा अञ्ज भोयणवेलाए घरे घरे सेवइयाउ लडिभदिति किन्तु  
 पभाए चैव जो ताउ अन्हं सव्वेसिं जहिच्छाए भोयणकरणजोगाउ आणेइ सो नाम लडिसंतो । तउ एणेण खुड्डएण वुत्तं जहाउहं  
 आणेसि । इयरेहि भणियं आणेदिसि परं न वयगुलसहियाउ ताहिं न अन्हं कञ्जं । खुड्डएण भणियं । जारिसियाउ इच्छह तारि-  
 पियाउ जइ न आणेसि ता, नियनामं पि न वहेमिचि गरुयं नंदिभायणं गहिउं निगओ इंददत्तइभस्स निहं पविट्ठी दिट्ठाउ  
 य पउराउ सेवइयाउ रद्धाउ । वयगुलाणि पउणीकयाणि चिदंति । बहुपयारं पियंगुमइया सयासाउ जाइयाउ । तीए बाहं पडिसिद्धो ।  
 तेण संजायाहंकारेण वुत्तमवस्सं मए एयाउ गिण्हियव्वाउ । तीए भणियं जइ तुमं किं पि लहिसि ता, मम नासउडियाए मुत्ति-  
 छसु चि । तएणं गेहाउ निगंतूण कोइ पुट्ठो जहा कस्स सन्तियं इमं गिहं ? तेण भणियं, इंददत्तइभस्स । खुड्डेण भणियं इण्हिं सो  
 कत्थ ? तेण वुत्तं परिसाए, तत्थ नंतूण परिसाजणा पुट्ठा । जहा को एत्थ इंददत्तो इभो ? तेहिं भणियं, तेण किं कञ्जं ? खुड्डएण  
 वुत्तं तं किंचि जाइस्सामि, सो य तेसिं महणिवइओ हवइ चि तेहिं वुत्तं अन्हं जायसु सो किविणो न किंचि दाहिसी । इंददत्तण  
 मम उहावणा भविसइ चि चितिय पुरओ ठाउं खुड्डगो वुत्तो जहा-अहं इंददत्तो इमे केलीए एवं जंपंति, जं तुमं मग्गसि तं दा-  
 हासि । खुड्डएण तस्स वभिचाररक्खणत्थं वुत्तं । जहा एएसि छुहं पुरिसाहमाणं समो महिलियासुमणिसो(माणसो)हवासि ता । न  
 मग्गोमि, अह न एरिसो ता इमीसे महालियाए परिसाए मज्जे किंपि तुमं मग्गोमि, तेहिं भणियं के छपुुरिसाहमा ? । सो भणइ  
 निसुणह । सडंगुलि १ बगुडावे २ किंकरे ३ तत्थणहायए ४ । निद्धावरिद्धिय ५ हदनए, य ६ पुरिसाहमा छओ ॥१॥ तत्थ सडं-

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
श्वद्रक्षीया।  
श्रुतिः

॥६५॥

गुलि चि जहा एगो नामो आसि तत्थ य भज्जाहंटाणुयत्ती एगो कोहुंविचयपुत्तो, तरस य मणोरमा नाम पिया । अन्नया य सीय-  
काले भत्तारसस पभाए चेव हुहा जाया । तेण सा पछंने ठिया भणिया, जहा पिए इण्हि चेव अहंवे खुए, रंथेहि, तीए वुत्तं जह  
एवं, ता अवाणेहि चुल्लीए छारं आणसु इंधणं, पज्जालसु जलणं, देहि अहहणं, कोट्टाउ कड्डिय सोहिय थालीए त्रिवसु तंदुले मुग्गे  
य जाव रंथिऊण कहिज्जासु जेणाहमुट्टिऊण परिवेसेयि तेण पिया जं आणवेह चि भणिऊण तहेव कयं । जाव तीए परिविहुं । एवं  
पइदिणं चुल्लीय(ए) छारं संवरंतस्स सट्टाउ अंगुलीउ पभाए लोया पेच्छंति तेहि हेरिऊण नाओ सडंगुलित्ति विस्सुए(ओ)य? तह वयु-  
डावेत्ति जहा एगंमि ग्रामे भज्जासुहजोयओ, भज्जापेसपरवसे एगो कुलपुत्तओ होत्था । अन्नया भज्जाए सो भणिओ । जहा पइदिणं  
तलायाउ पाणियं आणेहि, सो य पिया जह अहसह चि भणिय दिवसे मा लोया पेच्छिस्संति चि राहंए पच्छिमपहरे पइ-  
दिणं जलं आणेह चि । तत्थ तरस गमणागमणं करंतस्स तलायतडरुक्खेसु पसुत्ता वगा रुड(इ)त्ति भएण उडुंति । गामिएहि  
चित्थियं को राहंपच्छिमपहरे तलाए वगे उट्टावेह चि हेराविओ नाओ वगुट्टावेत्ति विस्सुओ २ । तहा किंकरे चि जहा किल  
एगंमि नामे एगो कुलपुत्तगो नियमहिलाए अखंतं गाहाणुयागरत्तो होत्था । सो य पइदिणं पभाए उट्टिऊण आएसं मगाह ।  
जहा दइए ! आइससु किं करोमि भणइ तलायाउ उदयं आणेहि पिया जं आहसह चि भणिऊग तहेव करेह । पुणो वि भणइ  
किं करेमि । सा भणइ तंदुले छडसु एवं जाव मे भोयणं देहि, उडक्खसु उच्छिडु सोहेहि भायणाणि ठाणे नेऊण ताणि सुयसु तहा  
ममं पाए पक्खालिय घएण कीणसुत्ति, जणेण नाओ किंकरो चि विस्सुओ ३ । तहा तत्थण्हायए चि जहा एगो भज्जायत्तो आसि  
वाणियपुत्तो तेणन्नया नियमज्जा भणिया । जहा पिए अहं ष्हाउमिच्छामि तीए भणियं जह एवं ता आमलए वट्टिऊण गहसु, ष्हा-

णपोत्तियं परिहसु, नियसरीरं चोप्यडसु षडयं गेणहसु, तलाए णहाइउं जहिच्छं देवच्छणं कुणसु षडयं च जलस्स भरिउं आगच्छसु  
 त्ति । तेण पिययमा जं आहसइ त्ति भणिऊण तहेव कयं, एवं निक्खंपि । जणेण नाओ तत्थणहायउत्ति विस्सुओ ४ । तथा गिद्धव्व-  
 रिद्धित्ति । जहा एगो तरुणपुरिसो भञ्जावयणनिदेसवरो होत्था अन्नया तन्नभञ्जा रसोइए उवविट्ठा । तेण भोपणं जाहया । तीए  
 भणियं थालं गहिऊण मम समीवे आगच्छसु सो पिययमा जं आहसइ त्ति भणिऊण तहेव आगओ । तीए परिविट्ठं भणिओ य जहा  
 भोयणट्ठाणे इउं भुञ्जसु । गओ य तओ तेण लुक्खमिणं ति काउं षयं जाहयं । तीए रंधंतीए तह ट्टियाए चैव भणियं । मम  
 ममीवे थालं गहिऊण आगच्छसु तेण सो गिद्धोविव उक्खुट्ठओ रिखति त्ति गिद्धरिह्वत्ति विस्सुओ ५ । तथा हदनओत्ति,  
 जहा एणस्स कुलपुत्तयस्स नियभञ्जाए समं विसयसुहमणुहवंतस्स दासो जाओ । सो य खट्टलियाए चैव ट्टिओ मुत्तपुरीसं  
 वोत्तिरइ । तउ मुत्तपुरीसेण बालओ खट्टुहियाबालपोत्तयाइं च खरट्टियाइं दट्ठण भञ्जाए भण्णइ इमस्स बालस्स पुरीसं धोविऊण  
 केडहि । तेण पिययमा जं आणावेइ त्ति भणिऊण तहेव कयं । एवं निक्खंपि जणेण नाओ हदनउ त्ति विस्सुओ ६ । ए एते  
 छपुत्तिसाहमा कहियात्ति । तउ तेहिं एककालं सअट्टइहासं हसन्तेहिं भणियं, एयस्स छपिपदोसा संति । ता मा एयं महिलि-  
 यामुणिसं(माणसं)जायसु । इंददत्तेण सुट्टुगो भणिओ जहा जायसु जं ते रुच्चइ । न एएसिं सारिच्छोहं । सुट्टुणेण भणियं जइ एवं,  
 ता वयगुलजुत्ताउ पत्तभरणपमाणाउ सेवइयाउ इण्हहिं देहि सो य देमित्ति भणन्तो सुट्टुगं(गहिय) गहाभिमुहं चलिओ । जाव  
 गिहट्टुचारे आगओ एत्थंतरे सुट्टुएण जं भञ्जाए सह जंपियं आसि तं सव्वं कहियं । तेण भणियं जइ एवं ता तुमं एत्थेव गिह-  
 ट्टुहारे चिट्ठसु । हकारिओ आगच्छसु पविट्ठो इंददत्तो पुट्ठा सा जहा रद्धाउ सेवइयाउ वयगुलाणि पउणीकयाणि ? तीए भणियं

आमं त्रेण तीसे वंचणस्थं गुलं पलोहऊण भणियं । जहा-श्रीवो एसो गुलो अचो वि मालाउ उत्तारेहि जेणं दिए शुञ्जावेमि । सा आरूढा माले, त्रेणावणीया निस्सेणी हकारिओ खुड्डगो, सेवइयाण पत्तं भरिउमाहत्तं, जाव नेहिणी मालमञ्जाउ गुलं गहाय उत्तरिउं लग्गा, ता निस्सेणी नत्थि त्ति विन्धिया चिड्डह । ताव तं चेव चेळ्यं सेवइयाउ ययगुलजुत्ताउ लहंत्तं पासइ । अहो अहं अभिभूआ चेळ्ळण त्ति अभिमाणा क्षरियहियया मा देहि २ इच्चाइ कोलाहलं काउं लग्गा । खुड्डण तीसे सम्भुहं ट्टिएण मए तुह नासियाए मुत्तियं त्ति कहणस्थं अंगुलियाए य नासियाउडं पसारिय दंसियं । पत्तयं भरेऊण गओ चेळ्ळओ । ते सव्वे साहूणी भुंजावियत्ति । एवं यो लभ्यते स मानपिण्डो दीपाश्चात्र वनितादेः श्रद्धेयात्प्रवथादयः प्रवचनोपधातादयश्च ज्ञेया इति नाथार्थः ॥६८॥  
उक्तं मानपिण्डद्वारं अथ गाथापूर्वाद्धैन मायापिण्डद्वारमाह ।

### मायाए विविहरत्वं रूवं आहारकारणे कुणइ ।

व्याख्या—मायया परवञ्चनात्सिकया बुद्ध्या मन्त्रयोगाद्युपायकुशलस्सन् रूपपरवर्त्तनेन विविधरूपं काणत्त्वकुब्जत्वदीपित्वा-  
द्यनेकस्वभावमन्यान्याकारमिति यावत् । तत्र काणत्वमेकस्याऽऽक्ष्णो निमीलय सङ्घोचनेन, कुब्जत्वं तु शरीरनमनात्, दीपित्वं त्वङ्गुली-  
नां दुंदुलीकरणादाकुञ्चनादि वा ज्ञेयमितिरूपं निजशरीरसंस्थानं आहारकारणे मोदकादिनिमित्तं करोति विदधाति यः साधुस्त्वस्यैवं  
लब्धपिण्डो मायापिण्डः स्यादाधाहभूतियतेरिव यद्वक्ष्यति 'मायाए साहभूई'त्ति । तद्ज्ञातं च स्वस्थानत्वादत्रैव दूमस्त्वत्त्वेदं यथा-  
इहेव जंबुदीवे दीवे दाहिणद्धुभरहे धणधनसमाउले मगहाजणवए पमुइयजणसंकुलं अइव रमणिज्जं रायगिहं नाम नयरं होत्था ।  
तत्थ य पड्विक्खमयंगकुंभन्तिब्भेयणकेसरी पणयसामंतमणिकिरीडमसणियचलणो सीहरहो णाम राया । तत्थय विस्सकम्मो नाम

नदो, तस्स य जयसुंदरीतिहुयणसुंदरी नामाड दुवे दुहियाड । अन्नया ये नामाणुगामं विहरमाणसमणगणपरियारिया धम्मरुइणी नाम  
 स्सरिणो तत्थेय नाणादुमसंकिञ्चे परमरमणिज्जे गुणशिले चेइए समोसदा, अन्डइ य तेसिं आसाडभुई नाम सीसो वेसभासाइअणेण-  
 विखाणकुसलो, सो य भिक्खकञ्जेण वसहीड नीहरिओ । संपत्तो भिक्खदं विस्सकम्मणो णिहं । तत्थय पहाणो एणो मोयगो लद्धो ।  
 द्वारे निगण्ण तेण चित्तिं जहा एसो आयरियाण भविस्सइ चो अण्णट्टा रूवपरावत्तं काडं अन्नं मणोमि चि काणप्परूवं काडं  
 पुणो पविट्ठो, पुणो मोयगो लद्धो चित्तिंयमेस उवञ्जायाणं भविस्सइ चि अण्णट्टा अन्नं मणोमि चि कुञ्जप्परूवं काडं पुणो पविट्ठो  
 पुण उ मोयगो लद्धो चित्तिंयमेस संघाडाइल्लसहुस्स कारणवसेण अज्जं वसहीए वेव टियस्स भविस्सइ चि । तदोसियरूवं काडं  
 पविट्ठो, तहेव मोयगो अण्णट्टं लद्धो । इउय लोयणट्ठिएण विस्सकम्मणो सो रूवपरावत्तं कुणंतो दिट्ठो । तउ असरिसत्तवित्राण-  
 संतुट्ठेण अणेण चित्तिंयं । जहा सोहणो एस अम्हाणं मज्झ नडो होइ । परं केण उवाएण घेतव्वो चि चिंततेण लद्धो उवाओ जहा  
 दुहियाहि खुहिय घेतव्वो चि हकारावेऊण लद्धुगपत्तभरणेण पडिलाभिओ भणिओ य तुब्भेहिं पइदिणं भत्तपाणगहणेण अम्हं  
 अणुगहो विहेयव्वो चि । तट्टाणाड गओ सो नियवसहिं । तउ नडेण रूवपरावत्तइयं जाणाविऊण भज्जा भणिया । जहा एसो तए  
 मोयगाइदाणेण तहा उवयरियव्वो दुहियाड य रवोभणत्थं भणियव्वाड जहा अम्ह वसे हवइत्ति । तउ दिणे दिणे विउलं दाणं  
 तए सो लहेइ । विस्सकम्मणो भज्जाए रूवपरावत्तकहणपुव्वयं ताड दुहियाड भणियाड । जहा दाणसेणेहहासाइणा तुब्भेहिं तहा  
 कायवं, जहा एस तुम्हाणं वसे वइइ । ताहिं तहेव कयं । तउ स विलासविपोक्खियाईहिं सवियारचेइहाहिं नागदमणीहि भुयगामिव  
 तस्स माणसं ताहिं तहा आगारिसियं जहा सो उच्चियमज्जाओ अणुरायवसओ ताहिं समं परिरंभणपरिहासाइयं काडमाइत्तो । तउ



पिण्ड-  
विशुद्ध-  
संद्रक्षरीया  
शक्तिः

॥६७॥

अन्वदिणे तेहि एगंते भणिओ जहा तुङ्गाणुरत्ताउ अम्हे परिणियं भुंजसु ति । इत्थंवरै उइवं तस्स चारिचावरणिञ्जं गलिओ गुरु-  
वप्सो पणट्टो विवेगो, दूरीहओ कुलाभिसाणो ति । भणियं एवं हवउ । परं लिंगं गुरुणं समप्पेमि । गओ गुरुसगासं । पणमिऊण  
कहिओ निययाभिपपाओ । गुरुहिं भणियं वच्छ ! तुम्हारिसाणं उभयकुलविसुद्धाणं विवेगरयणायारणं अवगाहियसयलसुत्तथाणं  
नहु एरिसं उभयलोगगरहणिञ्जं समायरिउं भुत्तं । तथा हि-उत्तमकुलसंभूओ उत्तमगुरुदिकिदओ तुमं वच्छ ! । उत्तमपगईय तुमं  
कह सहसा ववसिओ एयं ॥१॥ अविच्य दीहरसीलं, परिवालित्तण विसएसु वच्छ मा रमसु । को गोपयंसि बुद्धइ उदहिं तरिऊण  
बाहाहिं ॥२॥ हत्थाइ, तेण भणियं भयवं ! एवमेयं किंतु-विहुरीकयं मे हिययं ताहिं उचट्टहरिणनयणाहिं । तउ गुरुहिं तन्निबंधं  
नाउ भणियं जहा-जिणसाहूवेहयाणं भत्तिपरो सम्मत्तनिच्चलो य हवेज्जासि ति । तउ रओहरणमुहपोत्तियं अण्णए मोत्तुं पाए नमिउं  
पुज्जाणं कहं पिट्टी दिज्जइ ति पच्छिमसुहेहिं पाएहिं वसहीए निग्गंत्तण गओ विस्सकम्मभवणं, परिणीयाउ ताउ, विस्सकम्ममुणा  
भणियाउ जहा जेण एयावत्थंगण्णावि गुरुणो सुमारिया सो उत्तमपगई एसो ता मज्जापाणाइ असुइपरिहारेण तुन्भेहि अन्धेयव्वं ।  
अक्खहा विरञ्जिहिई । सो य आसाढाइभूई वाहत्तरीकलकुसलो अपणेहिं विक्काणेहिं सव्वेसिं नट्ठाणं मउहे पहाणो नट्टो जाओ ।  
पभूयदविणवत्थाभरणाइयाइ लहेइ । अन्नया य अज्ज निम्महिलं नाडयं नच्चियव्वं ति आइट्टा नट्टा राइणा, तउ इरिययाउ सव्वनाउ  
निहे मोत्तुं नट्टा सव्वे आसाढभूयपमुहा राउलं गया । आसाढभूइभज्जाहि अज्ज विरहीचि मज्जं पीयं  
पडियाउ चिट्ठंति । इउ य राउले परराइणी दूओ आगओ ति गहाणे ति

सट्टाणेसु आगया । आसाढाभइ य ज्ञान

लावाड य सरियदुग्गंधाड वमियमयगंधायडिय भिणिभिणितमच्छियछन्नसरीरदुपेच्छा विडंविद्यदुविक्रवत्तचरणधाहाड । तउ गरुय-  
 संवेगमुवगओ चितितं पवत्तो । जहा अहो मे मूदया ! अहो मे निविवेवया ! अहो मे दुवलसियं ! जं एयारिसाणं असुईभूयाणं  
 नरगहंडणं कए तारिसं सुईभूयं निव्वाणसुहजणयं चारिचइयमुडिअयं, अमयभूओ सुयधम्मो पणासिओ । सयलसोकवाधासो मुक्को  
 गुरुकुलवासो । अविद्य 'निव्वर्णादिसुखप्रदे नरभवे जैनेन्द्रधम्मो'निते, लब्धे स्वल्पमचारुकामजसुख नो सेवितुं युज्यते । वैदुष्यादि-  
 मधोपलौघनिचिते प्राप्ते च रत्नाकरे, लातुं ह्रस्वमदीप्तिकाचशकलं किं सांप्रतं साम्प्रतम् ॥१॥ इत्यादि । परं अज्जवि अणुकुला मे  
 भवियव्वया । अज्जवि न किंपि नहुं जउ नट्टोवि सुहजोवि णिअत्तिऊण पुणरवि परवलं जिणह । ता इण्हि चैव गुरुणं सगासे गंतूण  
 चारितं सेवेमिति चितिय नीहरिओ मालाड । दिट्टो विसकम्मणा इंगियागारेहिं लविसओ । जहा विरत्तो एसो तउ आसंक्रियचित्तेण  
 तन्वासभवणे गएण गयवत्थाड ताड दट्टण उट्टविऊण निभाच्छियाड धूयाड निह्ववत्तणाड किमेवं तुब्भेहि विलसियं । निधा-  
 णभूओ तुब्भाणं भत्ता विरत्तो गच्छइ ति । ता जह नियत्तावेउं सकह ता नियत्तावेह । अह न सकह ता पजीवणं मगाह ति । तउ  
 ताड ससंभंताड परिहियनियवसणाड गच्छंतस्स तस्स पाएसु लणाड । सामिय ! एगं अवरहं खमिऊण नियत्तह मा अग्हे अणु-  
 रत्ताड भत्ताड अणाहाड चयसु । जउ दोसपरे वि जणे साहुणो खंतिपरा हवंति ति इच्चाइ भणितमाहत्ताड । तेण भणियं मा किंपि  
 भणह विरत्तो हं । न इमं पाणसए वि इण्हि हवइ ति । जउ जइ सरिससहइदलं विंडझगिरि उडिअऊण करिकलहो । अत्थत्तज्जु-  
 न्नावासं पि कहावि पासरगिहं पत्तो ॥१॥ ता किं तत्थेव रइं सो बंधइ, सुमरिऊण विंडझं च । चलिओ किं विणियत्तइ बहुयाहि वि,  
 परथणाहिं तहा ॥२॥ तउ निबंधं नाडं ताहिं एवं, जइ एवं ता, पजीवणं कुणसुत्ति दवखन्नयाए एवं हवउ ति पडिबज्जिय नियत्ति-

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
भद्रसरीया  
, श्रुतिः-

॥६८॥

ऊण भरहचक्रवट्टिरस चरियपसाह(यासगं)रट्टवालं नाम नाडयं रहयं सत्तरत्तेण । विन्नत्तो तब्भणिएण किरसकग्गुणा सीहराया जहा-देव ! आसाढभूहणा रट्टवालयं नाम नाडयं अपुव्वं रहयं । तं नच्चियव्वं । रत्ता वुत्तं सिग्घं तं मह पुरउ नच्चेह, नडेण वुत्तं । देव महासामग्गीए तं नच्चेयव्वं । रत्ता वुत्तं जं किंपि भणह तमहं संपाडेमि । नडेण भणियं देव तत्थ दहपइत्तेहि आयरियविभूसि- एहि पचाहि रायउत्तसयेहि कज्जं ता, पसाई किज्जंतु, ताणि राहणा दिन्नाणि । ताणि आसाढभूहणा भणियाणि जहा जं अहं करोमि तं तुब्भेहि वि कायव्वं । तहत्ति तेहि पडिव्वं ते सिक्खविद्या नट्टविहा । तउ अप्पणा इक्खवाणुवंसुब्भवो भरहचक्रवट्टी ठिओ राय- पुत्ता पुण तस्स पाइक्का कया । तउ जहा भरहेण सट्टीवाससहस्सेहि छवंडभरहं साहियं । जहा चोइसरयणाणि नवमहानिहीउ य पत्ताउ । जहा वारवरिसिओ महाराज्जाभिसेओ । जहा अणुत्तरा कामभोगा भुत्ता । जहा समिद्धं रज्जं परिपालियं, तहा सव्वं दरिसियं तं च कहक्कहवि साभिनयंतेण सच्चवियं । जहा राहणा पउरलोणेण य दहं हयहियएण परिहाणं एणं मोत्तुं सेसाणि वत्थाभरणाणि सव्वाणि वि बह्वावाडए खित्ताणि । जाओ य अइमहएप्पमाणी कणयस्स रासी । तं च वत्थाभरणाइयं सव्वं जयसुंदरीतिहुयणसुंदरीण पजीवणं जायं । तउ पुणो वि सो नडो अइअक्खित्तचित्तं सपरियणं रायाणं पासिय जहा भरहो आयंसणिहं पविट्टो तत्थ सरीरं पलो- यत्तो जहा अंगुलीए रयणपडणेण विसोहो दीसिउं पव्वत्तो- तउ सव्वाभरणविमोक्खणेण उच्चिणियपउमं पउमसरं पि व विसेसउवि- च्छायसरीरं पासिय संवेगमुव्वणयस्स केवलनाणे समुएत्ते । जहा कयपंचमुट्टिलोओ गहियदन्वलिंगो रायपुत्तविंदपरिवुट्टो निहाउ निग्गओ । तहा अप्पणा पंचहि पत्तस्सएहि सहिओ समणलिंगं वेत्तण पंचमुट्टियं लोय काऊण रत्तो धम्मसलाभं दातुं रंजमउञ्जाउ निगन्तु पयट्टो । तउ किमेयं ति उंपमाणेण राहणा अच्चं विट्ठियाहिं देवीहि य वारिउमाहत्तो । तेण भणियं किं भरहो गयदिक्खो

नियतो जेणाहं नियतामि चि । तउ भावं नाऊण मुक्को, गाओ सपरिवारी गुरुसमीवं । ते वि पंचरायपुत्तसया लज्जाए कुलाभिमाणेण  
सञ्चपहसत्तणउ गहियटिकत्वा ठिया । पच्छा सन्वेसिं भावओ वि परिणया । अन्ने भणंति ते पंचसए सिस्सत्तेण काऊण सयमेव गुरु-  
त्तेणं पडिवच्चित्तु अणुट्टाण काउं पयट्टो चि । तउ सो तिव्वसंवेगवसाउ अणुट्टाणं काऊण सुणइं संपत्तो चि । तं च नाडयं विस्सक-  
रुण्णा । कुसुमपुरं नच्चियं । तत्थवि अणेजे लोणा पव्वइया । मा एवं पव्वयता वच्चंतेहिं दिणेहिं सन्वे पव्वइस्संति चि । ता अम्हाणं  
रक्खणा न भविस्सति चि नागरएहिं तं नाडयं दडुंतिचि । अयं मायापिण्हो यतीनामकल्प्यो, मलानक्षपकप्राधूर्णकस्थविरसइकार्यि-  
दिप्रयोजनोत्पत्तौ चापवादंन गृह्यते । यद्यपि चात्र लोभवशादेव मायया विविधरूपकरणाल्लोभव्यापारोप्यस्ति, तथाप्यत्र प्राधान्येन  
मायाया एव विवक्षितत्वात्तद्व्यपदेशेनेदं ज्ञातं दर्शितं ।

उक्तं मायापिण्डद्वारमथ लोभपिण्डद्वारं गाथापश्चाद्धंनानाह ।

**निणिहस्समिमं निद्धाइ, तो बहु अडइ लोभेण ॥६९॥**

व्याख्या—अद्याहं ग्रहीष्ये आदास्ये लभ्यमानस्तु लोभशृष्टाद्यपेक्षया, इदं हृदयं कल्पनाप्रत्यक्षमपरं शोभनास्वादं तदेवाह ।  
स्त्रिधादि, सिंहकेसरमोदकघृतपूर्णप्रभृतिकमेवावधारणमध्याहार्यं, ततस्तस्मात्कारणादेतद् विचिन्त्येत्यर्थः । बहु प्रचुरं निजोदरपूर्वैर्वाधि-  
कमटति गृहेषु आभ्यति केनेत्याह लोभेन रसगुह्या, ततो लोभाध्यावसायवता साधुना यदीप्सितं लभ्यते तल्लोभपिण्डः स्यात्  
सिंहकेसरयतेस्त्रि, यद्वक्ष्यति 'लोभे केसरयसाहु' चि । तदुदाहरणमपि स्वस्थानत्वादेन्नैव दूमः, तच्चेदं यथा—

'चंपाए खडगरिसी अहन्नया, मोयगूसओ जाओ । तं ददुं पारणए सो साह निण्हइ पहन्नं ॥१॥ जह अज्ज मया सन्वं सेसं अस-

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
शंद्रसरीया  
शक्तिः

॥६९॥

गाहयं परिहरित्ता । विउलं पि लब्धमाणं, वेत्तन्वा मोयगा चैव ॥२॥ ते वि सिंहकेशर-नामा जे मोयगा इह पसिद्धा । सुबहुं पि भूमिउं, ते वेत्तन्वा न उण सेसा ॥३॥ हियएण संपथारियमेवं लोलायाए सिग्घयरो । भिक्खवट्टमणुपविट्ठी, पुरिमहुं जाव परिअडिओ । ॥४॥ तेसिं अट्टाय सुणी, तहवि न लद्धा इमेण ते कहविं । तो न य नियत्तिओ सो, गिहाणुगेहं परिब्भमइ ॥५॥ नेहंमि तउ पत्ते, तस्स दुवारे भणिज्जमाणस्स । ठाणे, उ धम्ममलाभस्स सिंहकेशर य इइ भणइ ॥६॥ सयलं पि दिणमईय, परिभमंतस्स जाव रयणीवि । संपत्ता नो नाया, पणट्टचित्तेण किं बहुणा ॥७॥ रयणीए पहरदुणे, एवमडंतो कमेण संपत्तो । सावयणिहंमि एसोऽसत्थचित्तो (सोअण)त्ति ॥८॥ सुणिणो चोयणहेउं, वुत्तं तो सावगेण जह भयवं । पुत्तो नवत्ति एसो, जो पुरिमट्ठी मए य पकओ ॥९॥ कहसु तुमं जइ पुत्तो गंठिस्सहियं करेमि तस्सुवरि । जेणाहमिइ वुत्ते, पलोइयं साहुणा गयणं ॥१०॥ तो तारागणजुत्तो दिट्ठी गयणंमि निम्मलो चंदो । पच्चाणयचित्तेण तो नायं कालपरिमाणं ॥११॥ जइ अट्टरत्तसमओ, वट्टइ उवदतो यत्ततो जत्त विलसियं जायं (?) । लक्खियमेयं जइ मम चोयणदाणत्थमेएण ॥१२॥ मणिगयमेयं पच्चक्खणं तो मिच्छादुक्कडं देइ । भणियं च सात्रया ! संतिया, उ मे चोयणा दिक्का ॥१३॥ तट्टाणाउ नियत्तिय गंतूणं सुद्धथंडिले तओ । आगमभणिगयविहीए परिट्टवितस्स समियस्स ॥१४॥ सुद्ध-उह्ववसाणपरस्स तस्स निदह्हुवाइकम्मस्स, सयलजगुज्जोयकरं केवलणाणं समुप्पन्नं ॥१५॥ इत्येवं लोभपिण्ड इति गाथार्थः ॥६९॥

अथ क्रोधादिपिण्डचतुष्टये उदाहरणसङ्गाहिर्णो गाथामाह ।

कोहे वेवरखवओ, माणे सेवइय खुड्डओ नायं । मायाएऽऽसाढभूई, लोभे केसरयसाहु ति ॥७०॥

व्याख्या—क्रोधे क्रोधापिण्डे, मृत्तकायंकृताः घृतपूर्णः पक्वान्विशोपास्त्वरूपलक्षितः क्षपको मासक्षयणतपोविनायी यतिर्जातमिति

लोभपि-  
ण्डदारम्

॥६९॥

योगः । तेषामप्राप्तौ तस्य क्रोधभावात् । तथा माने मानपिण्डे सेवतिका राद्धाः श्लक्ष्णसेवा(वतिका)स्तदुपलक्षितः शुद्धको लघुवती  
 ज्ञातं निदर्शनं वाच्यः । तामामलाभे तस्य मानभावात् । तथा मायायां मायापिण्डे आषाढभूतिनामा यतिज्ञातं । तेन मोद्रकलाभमा-  
 श्रित्य मायाकरणात् । तथा लोभे लोभपिण्डे सूचनात् सिंहकेसरिकलङ्कुकविशेषास्तत्र श्लक्ष्णीकृतेन गोदुग्धसिकतेन रविकरशुष्कपिण्डेन  
 परिशोधितवण्डसुरभिष्टुतयुक्तेन शृङ्गाटकफलचूर्णेन ये निष्पन्ना मोदकारते सिंहकेसरकशब्दवाच्या इत्याभ्यायस्तदुपलक्षितः साधुर्यति-  
 ज्ञातं वाच्यस्तानुद्दिश्य तेन लोभविधानादिति ज्ञातचतुष्टयवक्तव्यतासमाख्यर्थं, इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्तु कथानकगम्यस्त्वानि तु  
 पूर्वं स्वस्थान एव कथितानीति गाथार्थः ॥७०॥

उक्तं क्रोधादिपिण्डचतुष्टयं सोदाहरणमथ संस्तवकरणद्वारमाह—

**शुण्णे संबंधि संश्वो दुहा सो, य पुठ्व पच्छा वा । दायारं दाणाड, पुठ्वं पच्छा व जं शुणइ ॥७१॥**

व्याख्या—इह संस्तवशब्दः श्लाघायां परिचये च वर्तते, इत्यर्थद्वयवृत्तिरपि गृह्यते, इत्याह 'शुण्णे संबंधि'त्ति तत्र स्तवने  
 गुणस्तुतौ, 'संबंधि' ति विभक्तिलोपात्सम्बन्धिनि मात्रादिनात्रकघटनया स्वाजन्यकरणे इत्येवं श्लाघापरिचयभेदात् संस्तवो द्विधा  
 द्विभेदः स्यात् । गुणसंस्तवः सम्बन्धिसंस्तवश्चेत्यर्थः । स च पुनरेकैकः संस्तवो द्विभेदः स्यात् । कथमित्याह । 'पुठ्व पच्छा व'त्ति  
 विभक्तिलोपात् पूर्व्वं पूर्व्वसंस्तव इत्यर्थः । तथा पश्चादिति पश्चात्संस्तव इत्यर्थः । वा विकल्पे । अथ पूर्व्वपश्चाद्भेदेन द्विविधमपि  
 गुणसंस्तवं व्याख्यातुमाह । 'दायारमित्यादि' दातारं दायकं दानादेयवितरणात् पूर्व्वं प्रथमं देयेऽलब्धे सतीत्यर्थः तथा पच्छावत्ति  
 दानात् पश्चादानोत्तरकालं देये लब्धे सतीत्यर्थः । वा विकल्पार्थो, यत् स्तौति वर्णयति स पूर्व्वसंस्तवः पश्चात्संस्तवश्च । तत्र भिक्षार्थे

पिण्ड-  
विशुद्ध-  
श्रद्धसरीया  
इति:

॥७०॥

प्रविष्टः साधुरीश्वरादिकं कमपि दानारं यद्दानात् पूर्वं सत्यासत्यैरौदायादिभिर्गुणैः स्तौति यथा अहो ! योऽस्माभिर्दानिपतिः  
पूर्वं वार्त्तामित्रेणैव श्रुतः सोऽद्य प्रत्यक्षमवलोकितस्तथा नेदृशा औदार्याद्यो गुणा अपरस्य श्रूयन्ते । तथा धन्यस्त्वं यस्ये-  
दृशा गुणाः सर्वत्रापतिस्त्वलिता दिग्बलयव्यापिनः प्रसरन्तीति स पूर्वगुणसंस्तरवः । तथा दाने दत्ते यत्संस्तौति यथा निज-  
दर्शनेन त्वयाथास्मल्लोचने विमलीकृते यतो गुणिदर्शने किल प्रतीतिजनकत्वेन चक्षुषी निर्म्मले स्यातामिति नेदमद्भुतं तथा तव-  
गुणश्रवणं सत्यतया सञ्जातं । यत्त्वदर्शनात् पूर्वमेवंविधगुणः स श्रूयते तत् किं सत्यमसत्यं वेति शङ्का ममासीत् , साम्प्रतं त्वद्-  
शान्नाद्यथाभूतः श्रुतस्तथाभूतस्यैव दर्शनाभिःशङ्कितं सम्पन्नमिति स पश्चाद्गुणसंस्तरव इति । उभयरूपेऽपि चात्र मायागुधावादासंयतानु-  
सोदनाद्यो दोषा वाच्या इति गाथार्थः ॥७१॥

अथ सम्बन्धिसंस्तरं पूर्वपश्चाद्भेदेन द्विविधमिति वक्तुमाह ।

**जगणिजगगाद् पुढ्वं, पच्छा सासुससुरयाद् जं च जर्द् । आयपरवयं नाडं, संबंधं कुणद् तदगुगुणं ॥७२॥**

व्याख्या—जननीजनकौ मातापितरावादी प्रथमौ यस्य भगिनीश्राव्रादिसम्बन्धस्य स सम्बन्धसम्बन्धिनोरभेदोपचाराञ्जन-  
नीजनकादिसम्बन्धः स किमित्याह । ‘पुढ्वं’ति, पूर्वसंस्तरवः स्यात् जनन्यादीनां पूर्वकालभावित्वात् । तथा ‘पच्छं’चि, पश्चात्संस्तरवः  
स्यात् क इत्याह श्वश्रुश्वशुरादिः इहापि सम्बन्धतद्वतोरभेदात् श्वश्रुश्वशुरौ भायादिर्मतापितरौ तावादीर्यस्य कलत्रपुत्रशालकादिस-  
म्बन्धस्य स तथेति । एवं पूर्वपश्चाद्भेदेन सम्बन्धिसंस्तरवस्वरूपमभिधाय यथा यतिस्तं द्विविधमपि करोति तथाह—‘जं चे’त्यादि, च-  
शब्दः सम्बन्धद्वयापेक्षया समुच्चयार्थः । ततश्च यं कश्चन सम्बन्धं करोतीति योगः यतिः साधुः । किं कृत्वेत्याह आत्मपरी प्रतीतौ

तयोर्वयस्तारण्यद्वयादिलक्षणकालकृता शरीरावस्थान्मपरवयस्तज्ज्ञात्वा अवबुध्य, किमित्याह सम्वन्धपरिचयं, पूर्वकालभाविभात्रा-  
 दिनात्रकघटनां पश्चात्कालभावित्रश्रादिनात्रकयोजनां वा कुरुते भिक्षार्थं गृहे गतो गृहिणा सहाहारादिलिप्सया विधत्ते । कीदृशं  
 सम्वन्धं करोतीति आह 'तदनुगुणमिति तयोरात्मपरवयसोरनुगुणमनुरूपं स जनन्यादिनात्रकघटनारूपः सम्वन्धः पूर्वसम्बन्धसंस्तवो  
 ज्ञेय इति प्रक्रमः । श्वश्रादिसम्बन्धश्च पश्चात्सम्बन्धिसंस्तव इति । कथं पुनरसौ स्वपरवयो ज्ञात्वा तदनुगुणं सम्वन्धं कुरुते ? उच्यते,  
 यथा कश्चिद् साधुभिक्षार्थं कस्मिंश्चिद् गृहे प्रविशति, ततः काञ्चिन्नजमात्रादिसमानामुर्ध्वीं दात्रीमवेक्ष्याहारादिलभ्यतवया मातु-  
 त्वादघटनार्थं मातृस्थानेनाद्यतिपूर्वकं गलदश्रूणी लोचने कर्तुमारभते ततस्तया किं त्वमीदृशो दृश्यसे इति पृष्टः सन् सम्वन्धघट-  
 नार्थं सगद्गदं वदति यथा मम त्वत्सदृशी मात्राद्याऽभ्युदिति । तत्र यदि स्वयं तरुणो दात्री तु मध्यवया वृद्धा वा तदा ममेदृशी माता  
 श्वश्र्वाऽस्ति स्मेति जल्पति यदि च स्वयं सा च समानवयास्तदा ममेदृशी स्वसा भार्या वा बभूवेति वदति, यदि च स्वयं मध्यम-  
 वयाः सा तु तरुणी तदा ममेदृशी पुत्र्यभ्युदिति भाषते । यदि स्वयं वृद्धः सा च तरुणी बाला वा तदा ममेदृशी दौहित्री पौत्रिकादि-  
 र्वासीदिति जल्पति । तदत्र संस्तवकरणेनोपाञ्जितः पिण्डः संस्तवपिण्ड इत्युच्यते । इहापि च मायामृषावादादयो दोषा वाच्याः ।  
 तथा परस्परं स्नेहदृष्टिवशात् मृतपुत्रस्य स्थाने अयमपि स्यादित्यभिप्रायेण मातृभावप्रतिपन्ना दात्री तस्मै विधवानिजबधूमन्यां दास्या-  
 दिकां (वा) कदाचिद्दद्यादिति भद्रकदाशीं प्रति दोषः । यदि च प्रत्यनीका सा स्यात्तदाऽयं कार्पटिकप्रायोप्यस्मान् जनन्यादितया  
 कल्पयतीत्यस्मदपश्चाजनाकार्यसाविति विचिन्त्य ग्रामादेर्निकासनादि कुर्यादिति । तथा या तेन श्वश्रूः प्रतिपन्ना सा तस्मै स्नेहवशात्  
 मृतादिजामातृकस्थानेऽयमपि भवतिवत्यभिप्रायेण विधवानिजपुत्रीं कुराण्डां वा दद्यात्, या च तेन भार्यात्वेन कल्पिता तस्या यदि



भर्ता समीपस्थः कथञ्चित्तद्वचः शृणुयात्तदा मम भार्याऽनेन स्वभार्या कल्पिता तत्तथैव भवत्विति विचिन्त्य (श्रुत्वा) तयाप्यात्मना  
सहासौ सम्भोगं कार्यत इति गाथार्थः ॥७२॥

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
शंद्रक्षरीया  
वृत्तिः

उक्तं संस्तवपिण्डद्वारमथ विद्यामन्त्रचूर्णपिण्डालयद्वारत्रयं तल्लक्षणकथनद्वारेण व्याचिख्यासुराह ।

**साहणजुत्ता थीदेवया व विजजा विवज्जण् मंतो । अंतद्भाणाद् फला जुत्ता नयणंजणाइया ॥७३॥**

व्याख्या—साधनयुक्ता करादिजपवलयक्षतादिपूजोपचारान्विता यद्वा स्त्री प्रज्ञस्यादिका देवताऽधिष्ठात्री यस्याः सा स्त्रीदेवता ।

॥७१॥

स्त्रीस्वरूपदेवताधिष्ठितेत्यर्थो, वा विकल्पे । ओमित्याद्यक्षरपद्धतिः । किमित्याह 'विज्जे'ति विद्याशब्दद्वयपदेशादिति शेषाज्यापारणं च(?)  
दोषस्तेन लब्धः पिण्डो विद्यापिण्ड इति । तथा 'विवज्जण् मंतो'चि । तत्र विपर्यये साधनस्त्रीदेवतायुक्तत्वस्वरूपविद्यालक्षणवैपरीत्ये  
भावे सतीति यावन्मन्त्रः स्यात् कोऽर्थोऽसाधनः पुरुषरूपदेवताधिष्ठित उक्कारादिवर्णात्मिक एव मन्त्रो भवतीति तत्प्रयोगेण लब्धः  
पिण्डो मन्त्रपिण्डः तथान्तर्द्वानिमदश्चयभवनमादिशब्दात् वशीकरणादिग्रहस्ततोऽन्तर्द्वानादिकलं कार्यं तेषां ते तथोक्ताः । चूर्णा द्रव्य-  
क्षोदरूपाः । के पुनस्ते इत्याह । नयनाज्जनादय इति द्रव्यसमूहनिष्पन्ननेत्रोपलेपनललाटतिलकादिक्रियाहेतवस्तद्व्यापारणेन लब्धः  
पिण्डश्चूर्णपिण्डः स्यादत्र च विद्यापिण्डे भिक्षुपासकदृष्टान्तो वाच्यो यथा—

नाथसमिद्धं नाम नयरं होत्था । तत्थन्नया सद्धम्मकप्पतरुणो केह आयरिया समोसदा । तत्थ एणो भिक्खूवासओ, ईसरो  
सो य साहुण भिक्खद्धा निहाणयाणं न किंचि देह । अन्नया य साहुणमेगतथभिलियाण समुल्लाओ जाओ । जहा एसो भिक्खू-  
वासओ ईसरो वि साहुणं न किंचि देह । ता अत्थि कोई जो एयं वयाइयं द्वावेह । तेसिं मज्झाउ एणेण साहुणा भणिपं । जहामं

आणह जेणाहं दन्वावेमि । अणुण्णाओ गओ तस्स नेहं अभिमंतिओ सो विज्जाए तेण वयणुलाइयं पउरं साहुणो दिअं, साह वि  
 विअं संहरिता मट्टाणमागओ विज्जाए पडिसाहरियाए सहावत्थो जाओ नेहे वयणुलायाइ येवाहं पासइ, जाव केण हियं मे वयाह  
 केण सुट्टोमिति पलविउं विलग्गोति ।

मञ्चपिण्डे शालिवाहनराजप्रदी(पादलि)सकाचार्यदृष्टान्तो वाच्यो नवरं पाथो बहुजनप्रसिद्धाद्विनेयजनानुग्रहाय यथाश्रायमादितः  
 पादलिशाचार्यचरितं किञ्चिदिदोच्यते । तच्चेदम्—

जिणवयणरहस्सज्जणकुसला कोसलापुरी नाम नयसी हीत्था । तत्थ य जिणवयणसवणजायहरिसुफुल्लो फुल्लो नाम सेट्ठी । तस्स  
 य अणणपडिमा पडिमा नाम थारिया इउय सव्वमत्थि तेसिं न उण पुत्तो । तदत्थं च वहरोदं देवयं सा पोसहसालाए गंतूण चच-  
 सयलवावारा पोसहेण धम्मजागरियं करेमाणी आराहिउं पयट्टा । तउ सा देवी तन्भत्तिरंजिया समागया पुत्ते देहि चि भणिए भणइ  
 य वच्छे ! वहवे तुज्झ होत्थाहि चि परमज्जेव विभवविग्घायणत्थं विसुद्धभावेण तए इहेव नयरे विहरमाणाणं नागहत्तिस्सरीणं वहिया-  
 समागयाणं पायपक्खालणजलं पिवेयव्यं ति भणिऊण गया सट्टाणं देवी, तउ गोसकिच्चं काऊण पडिमा पढमपहरसमए तेसिं वसहीए  
 संपट्टिया एगो वसहीमाणीए य साहू वहियागयाणं स्सरीणं पायसोयजलपरिट्टवणत्थं निगओ दिट्ठो । सो तीए पुट्टो किमेयंति ।  
 तेण य भणियं स्सरियायजलं, तीए तं से मणिऊण तत्थेव पीयंति । तओ वसहिमज्झे गया स्सरीण वंदणवडियाए । तत्थ य ते दसासु-  
 यत्वं परावत्तयती दिट्ठा वंदिया य परमयत्तीए तेहिं सा धम्मलाभेहिं बुत्ता केण निमित्तेण तुममेत्थ एगाणिणी समागया ? । तीए  
 सत्वं देवयाउवइदं सुयभवणहेउयं पायसोयजलपाणाइयं कहियं । तउ स्सरिहि सुओवओणं दाऊण बुत्तं भविरसति तुज्झ वहवे पुत्ता

‘परं पदमो पुत्तो दसण्हं वरिसाणसुवारिं जउणानदीए परउ चिद्धंतो जीविही न अब्बहा । एवं निसम्म तीए बुत्त जेद्धपुत्तमहं तुब्भं दाहामि ति । सरीहि बुत्तं जइ एवं तो अग्गे चिरजीवियं करिस्सामो । ततो सा एवं हीउ ति भणिऊण नियोहे गय।, सेट्ठिणो य तं सत्त्वं साहियं । तउ तीए चैव रयणीए रयणमओ नागो सुमिणे पविस्संतो सुहे दिट्ठो । पडिबुद्धाए य सो सुमिणो दइयस्स साहिओ तेण बुत्तं गुणप्पवरो पिए । तुह पुत्तो होही गन्धे य परिवट्ठमाणे इमो दोहलो तीए जाओ जहा जइ हं, ससण्हिद्धसेलकाणणाइट्ठणे सुवहुं दीणाणाहइयणं दाणं देमि ति । सेट्ठिणो य तीए कहिओ, तेण य सविसेसतरो सो पुरीओ । तउ नियसमए सत्त्वंगलक्खणो ववेयं पुत्तं पडिमा पइया । सेट्ठिणा अ वद्धावणाइयं कारियं । तउ मासे संपुत्ते सुमिणाणुसारेण जहा एयमि गन्धमए सुमिणो नागो दिट्ठो तग्गहा एसो नागिंदोत्ति तस्स नामं कयं । तउ सरीवसहीए नेऊण इमं सीसं निण्हत्ति भणिऊण सो तेसिं समप्पिओ तउ तं सत्त्वलक्खणगुणोववेयं दट्ठण बुत्तं सरीहिं । जहा एस जुगप्पहाणो पवयणपुरिसो होहित्ति । ता तुब्भेहिं एस महाजत्तेण रक्खेयन्वी जाव अट्ठवरिसो होइ ति । तेहिं तहेव तं सत्त्वं कयंति । तं च पइदिणं साहुवसहीए माया नेह । पढंते गुणंते य साहुणो निसुणेइ अब- धारेइ य । इउ य सा पडिमा अब्बेवि बहूपुत्ते सत्त्वलक्खणधरे देवकुमारोवसे कुल्लुद्धरणे पइया । सो य नागेंदो अट्ठवरिसिओ संतो सरीहि सोहणदिणे विहिणा पन्नाविओ । तउ सो अब्बदिणे खुट्ठओ आसन्नणिहाउ चउत्थरसियं वेत्तुं समागओ । गुरूणं पुरो ठिओ तेहिं बुत्तो इमं आलोइयं जाणसि नव ति । तेण बुत्तं अ(त्तु)उत्तपसाएण जाणामि । जइ एवं ता भणसु, ततो तेणिमं बुत्त, जहा अंबं तंबरथीए अपुत्तिकयं पुत्तदंतपतीए । नवसालिकंजियं नववहूए कुडएण मे दिन्नं ॥१॥ इमं गाहं सुणिऊण सरीहि बुत्तं भो भो सुणिणो पेच्छह पेच्छह अहो एसो खुट्ठो सिगारणिगणा पलिचो ति । तउ खुट्ठएण नामिउं बुत्तं । भयवं काणेण पसायं कुणह जेण पालितो

होमि चि एयं तेण तुत्ते गुरुमहत्तमकिरणेण गुरुणा आसणे निवेशिय सो सायरमेवं पुट्टो, किं तुमं किपि छंदाहयं जाणसि चि ।  
 तउ तेण बालभावताउ आरन्ध्र साहसुसेवापरेण वागरणच्छंदलंकाराहयं सन्धमवधारियं गुरुणो निवेशयं । अवि य-जं किंचि सुयं दिडं,  
 पण्हामेहागुणेण तं सयलं । साहह सनिम्मियं पिव पालित्तो सुकयसंपुन्नो ॥१॥ तउ खरी समुदायं मेलिऊण तस्स इणमेव नामं  
 पहादियं, जेण एसो गुणपगारिसेण आलित्तो तेण होउ इमस्स नामं पालित्तो चि । तहा भणियं अन्हवयणाउ अज्जपभिह तुम्भेहि  
 सन्धायरंण उवयरियव्वो । समुदायेण वि तं खरिवयणं तहाचि पडिवज्जियं । तउ गुरुणा जोग्गो एस सयलसुत्तथाणं ति नाऊण  
 भावोवहाणरूवेण उस्मारणकप्पेण सन्धाणि तस्स ताणि अणुत्तायाणि । तउ खरीहि अट्टवरिसो वि सो संघसंमएण महापमोएण निय-  
 पए ठाविओ कयं च से नामं पालित्तयखरि चि । संघो भणिओ जहा अन्हे जंघावलपरिहीणा अन्नत्थविहारं काउमसमत्था । एसो बालो  
 वि पालित्तखरी अहं व संघपुरीट्टो जउणा नईए आराया एयस्स संपय अकुसलं । ता एयस्स विहारं अणुजाणे संघो । जेणेमं महु-  
 राए देववंदणत्थं पेसेमि । एवं च खरिवयणं निसुणिय संघेण चितियं जहा न एए पवयणपुरिसा निकारणमन्नहा जंपंति । तउ खरि-  
 पस्सिणाउ अकहियं पि किलेयं नज्जइ, जत्थेसो पालित्तखरी विहारिस्सइ तत्थ नृणं संघस्स परा समुज्जइ भविरस्सइ चि । ता जामोऽन्ह  
 वि अपेण सट्ठि तत्थ जत्ताए । तउ इणमत्थं खरीणं निवेशऊण वडतरो संघो तेण समं संपट्टिओ । तउ खरीहि पालित्तखरी भणिओ  
 जहा समयमप्यमाइणा होहयव्वं, संघकजेसु पुण विसेसउ वच्छल्लपरेण भवियव्वं । तउ सो संघजुओ संपत्तो महुरापुरीए । वंदेइ य  
 दंयनिम्मियं रस्सं धूमं अण्णे य वेइयं ति । तउ खरी संघेण समं चलिओ । पत्तो क्रमेण चोकारपुरे टिओ खरी तत्थ कहवयदि-  
 णाणि । संघो य सट्टाणं गओ । अह अन्नदिवसे भिक्खासरीरचित्ताइकज्जे गएसु सन्धसाहसु तव्वेलं च सावयाइविरहे य बालभावत्त-

णव डिभे ददृण समुत्पन्नरमणवंछो चिलिमिलि कडीए गोविंसुं वसहीपच्चासन्नाठिएहि डिभेहि समं रमिउं लग्गो । एत्थन्तरं  
 अब्बभुयगुणपसरं तस्स सोऊण कुओ वि ठाणाउ तस्स वंदणत्थं के वि सावया अप्पुन्ना आगया तेहि ते डिभा पुट्टा जहा भो कत्थ  
 पालित्तस्सरिस्स वसाहि चि । तेण य ते विजाया जहा एए सावयत्ति । तउ तेसिं स्सरिणा भमण्डेणं वसहीमग्गो कहिओ । जाव ते  
 आगच्छंति तावत्पणा आसन्नमग्गेण भंतूण आयारं संवरिऊण निययासणे उवविट्ठो । तउ समागया ते सट्ठ्ठा । वंदिऊण स्सरिं पूच्छिय  
 सुहविक्षारहं विभिहयचित्ता विजाय तच्चेट्ठा तत्पुरओ उवविट्ठा । चित्तियं च तेहि कहं तं डिग्गभचारियं कहं च एरिसं पहुत्तणं  
 ति । एं तेसिं स्सरिणा भावं नेऊण भणिया ते भो एयं बालत्तणवेद्धियं न कोट्टए छोट्टुं पारिज्जह । चंचलं च च्चित्तं जीवाणं,  
 कीसण्णहा परिणयवयाणवि तुम्हाणं सया निक्कलंको नियओ धम्मो एसो न निव्वहह । ता मा एयं चोच्चं मन्नह चि । तउ  
 ते, उवलविलवओ स्सरीहि अभ्भ भावो चि, हिट्ठमणा केच्चिरं कालं तं पडजुवासिऊण सट्ठ्ठाणं गया । पुणो वि कयाह स्सरी जंतस-  
 गडभरं पिच्छिऊण निव्वियणं च नाऊण उत्पन्नरमणवंछो वसहीउ निग्गंतूण डिभेहि समं सगडपिणोसु चडणउयरणकीलाए  
 कीडिउ माहत्तो । एत्थंतरे केहिं वि अपुच्चपुरिसेहिं आगंतूण ते डिभा पुट्टा जह कत्थ भो पालित्तयपंडीअस्स वसाहि चि ।  
 ततो केह एए विउसत्ति स्सरिणा लक्खिऊण भमण्डेण तेसिं वसहिमग्गं कहिउं पच्चासन्नमग्गेण सयं सट्ठ्ठाणमागओ । तउ निय-  
 यासणे पच्छयपडयं लुलंतं पंगरिऊण अलियनिदाए ठिओ । एत्थंतरे ते पत्ता वसहिट्ठवाररे, तं ददृण उवलक्खिऊण य, तस्स  
 धरिसणत्थं कुक्कुडसदं करेमाणा वसहीए पविसिउमारद्धा । स्सरिणा वि तेसिं धरिसणत्थं तस्सद्दविरोही विरालियाए सद्दी  
 माउंति तस्सद्दणंतरे सिग्गं पकओ तउ नायं तेहिं इट्ठरिसो एसो । तउ स्सरिचलणे पणमिय ठिया ते पंडिया, गोट्टीए इमं च पुट्टो,

जहा पालित्य ! कहसु फुडं सयलं महिमंडलं भमंतेण । दिट्ठो सुओव कत्थ य, चंदणरससीयलो अग्गी ? ॥१॥ तन्वयणाणंतंरं  
अग्निणो सीयलत्तं दिट्ठं सुयं च अणुहवपमाणसिद्धं, भणियं स्रणिण, जहा—अयसाभिओगसंतुमियस्स पुरिसस्स सुद्धहिययस्स ।  
होह वहंतस्स फुडं चंदणरससीयलो अग्गी ॥१॥ (ग्रं० ३०००) । तउ तेहिं वुत्तं अहो स्रणिणो जए निरुवमा कीत्ती निरमलं च  
जसो विप्पुरह । जोग्गं च तेसिं नाऊण स्रणिण संसारा निव्वाइया सद्धम्मदेसणा कया, जहा—दीहरफणिंदनाले महिहरकेसरदिंसासुह-  
दलिह्हे । उप्पियह कालभमरो जणमयरंदं पुहहपउमे ॥१॥ तउ संसाराउ निविन्ना केह सपणा जाया, केहं सावयत्ति । एवं सो स्ररी  
सेतुंजयउञ्जिताहणि तित्थाणि वंदिऊण कमेण विहरंतो सिरिमन्नयखेडनयरे पत्तो । साहसयमहप्पनरिसवसा तत्थ सो चउसु पाहु-  
डेसु कुसलो संपत्तो ताणीमाणि, जोणीपाहुडं निमित्तपाहुडं विज्जापाहुडं सिद्धपाहुडं । तत्थ पढमे सव्वदन्वसंयोगेण जीवाजीवुपत्ती  
वन्नज्जह । वीए पुण सउणजोहस—केवललियामाहयं (?) निमित्तं सुत्तिज्जह । तहए उ, रायविज्जाउ मंताउ य निरुविञ्जंति । चउत्थे सि-  
द्धाइवियारो त्ति । एएसु चउसु वि सुरी कुसलो जाओ, सो तहरिसावणं विना णिव्वुइं न लहह । तत्थ मन्नयखेडपुरराया दुरासाहो  
वि स्ररिणुणावञ्जियहियओ मंवस्स अवगारं न किंपि करेह । तउ तयनयरसंधो तेसिं अन्नत्थ विहरिं न देह । तउ अत्थि सोरद्धदेसे  
धाउव्वायसिद्धो ढंकणगोपरि ढंकनगरनिवासी नागज्जुणो नाम वंदओ । तेन य सोरद्धदेसवासी रायामच्चाहओ लोगो दाणसंभाणाइणा  
वसीकओ । सेसदरिसणाइ निप्पभावाह सो अभिमन्नह । तन्मिय समए भरुयच्छे महुरापुरीए जिणंदणहवणपूयाइणं धिज्जाइया विग्गं  
करेत्ति । इमं च भरुयच्छाइसंवेण वासात्तमज्जे गंतूण सव्वं स्ररीणं निवेइयं । तउ स्ररीहिं आइहं, कायन्वो तुन्भेहिं दीवुस्सवादिणाउ  
वीए सुद्धकत्तियपडिवयदिणे भरियरियापव्वाभिहाणंमि महामहसवो चेइयहरेसु । तन्मि दिवसे अम्हे संवं आपुच्छिऊण अमुगाए

याए जांपियं । जहा देव ! ताव ससिन्धव सन्वे विउसा अहंमाणिणो नियगुण्कारिसविफुरियपयावा रेहंति जाव खरोन्धव पालित्यक्षरी  
निरुवमगुणकिरणो न अज्जवि विफुरइ, पढियं च तीए-तत्तावदेव शशिनः स्फुरितं महो यावन्न तीक्ष्णश्चिर्मण्डलमभ्युदेति । अभ्युद्गतं  
सकलधामनि धौ तु तस्मिन्नित्तदोः सिताभ्रशकलस्य च को विशेषः ॥११ । ततो सुणिऊणंमं राहणा भणियं भदे ! को एस खरोवभो  
पालित्यक्षरी तए वन्निओ । तउ तीए सावित्थरो सन्वो खरिवुत्ततो तस्स कहिओ । तं च सोऊण विम्हिओ राया भणइ कत्थ सो चि-  
इइ । तीए जांपियं सिरिमन्नयखेडे नयरे, तं निसुणिय खरिसमाणयणत्थं राहणा संकरो नाम संधिविग्गाहिओ तत्थ आणत्तो जहा मन्नय-  
खेडे गंतूण कणहरायं भोकळावेऊण पालिताभिहाणं खरिं एत्थ सिग्गमाणेसुत्ति । तउ रत्ता पेसिओ तत्थ गंतूण कणहरायस्स समीवे निय-  
सामिसमाइदुं सन्वं निवेएइ । तउ तेणावि राहणा हरिसनिब्भरेण खरी नियपुरसंघजुओ नियपरिवारसमिओ पट्टविओ । पत्तो य कर्मेण  
वाहिं पइइहाणपुरस्स । तउ संकरेण गंतूण राहणो खरीणमाणमणं जाणावियं । तउ राया हरिसियचित्तो हइसोहाइयं नयरे महूसवं कारा-  
ऊण सपरिवारो खरिसंमुहं जाव किल गमिस्सइ ताव एत्थावसरे राहणो समीवे विहफई नाम विउसो आगंतूण मच्छरवसा भणइ । जहा  
देवा! अहं अजेवस्स खरिस्स बुद्धिं परिकखस्स । तउ रत्ता भणिओ य परिकखस्स, ता तउ भणइ देव ! तुम्ह परिवारे अत्थि एत्थ कोवि पुरिसो  
जो गच्छंतो आगच्छंतो य हत्थडियाउ उदगाइभरियभायणाउ बिहुमेत्तं पि न छडुइ रत्ता भणियं अत्थि हीरओ नाम थिरहत्थो नरो ।  
जइ एवं ता एत्थ तं आकारइ । आकारिऊण निवेण पयंसिओ सो विहफईस्स । तेणावि सबहुमाणं सो पयत्तेण सम्माणिऊण  
भणिओ भो मइ ! तुममिणं विलीणवयपुरियं वट्टयं खरिस्स गंतूण दंससु, इयं च भणेज्जसु जहा तुम्ह मंगलकए इमं विउसेहिं पे-  
सियं । एवं भणिय सो सिग्गं पेसिओ । तेण तहेव कयं ति । तउ वियजुत्तणउ खरिस्स तस्स परमत्थो तेण विन्नाओ, जहा मे मह-

परिकल्पणस्थं विउसेहि एवं कथं चि । तस्थ वद्वयवद्वलागारतुल्लं नयरमेयं । तं च धयतुल्लेण पंडियजणेण परिपुत्रं । तउ जहा एस्थ  
वद्वए अन्नस्स वरंशुस्स कस्सइ अवगासो नत्थि तथा विउसजणपुत्ते एयंमि नयरे तुल्लवि नो भविस्सइ, तउ दायगपडिदायणस्थं  
सुभरेवि एयंमि स्सरितुल्लो विउसो नियसुहसवेहगाइशुणत्तणाउ संमाइ चि चित्तिऊण स्सरिणा साहुसयासाउ स्सइं सुहुमतरिमभिगाहिय  
तम्मज्जे थारिणिविजाए तं ठविऊण सो नरो बुत्तो । तेसिं विऊसाणं भंतूण एयं दंससुत्ति तेणावि तहद्वियं नेऊण निवपुरउ तं मुक्कं,  
ततो मज्जे तं स्सइं दहुं विहक्कइं नियमणे विसणो अहो ! महामहमं एसो चि । तउ रत्ता नियनयरे पमुहएण महया वित्थडेण  
सो स्सरी पवोसिओ । सपत्तिजणेण य रत्ता विसिद्धपडिच्चत्ति(उ) संमाणिओ । निसुया य बहुमाणपुत्वं पालित्तयस्सरिविरइया बहुकव्वर-  
ससंकिन्ना तरंगवइया कइह, विम्हिओ य तीए सवणेण सव्वो विउसयणो राया य । एत्थंत्तरे मच्छरवसा अवधारणासंपन्नो महमं  
पंचालनामा विउसो जंपिउमारत्तो । देव ! इयं कइह अणेण स्सरिणा अत्तेहि य मम कव्वाउ य चोरिय चि । रत्ता भणियं कइमिणं  
नजइ । तउ तेण नियजुत्तीए रायाहलोयाणं पच्चयनिमित्तं अणेगभावोहि तरंगवइया कइह कविया । मणयं च संघो लज्जिओ । तउ  
स्सरीहि संकेयं काऊण सहसा, मयगत्तेइं विहियं । एत्थंत्तरे मउत्ति काऊण कुक्कुहियाए पविट्टो जाव बहि निजइ ताव सव्वो वि  
नयरजणो बहुतरा पसंसा करेइ । ततो वणमज्झाट्टिओ पच्छायावविहुरिओ वा विहुदंडं लब्भेऊण महयासदेणं पंचालो इमं गाहं भणइ ।  
जहा 'सीसं कइ व न पुट्टं, जमस्स पालित्तयं हरंतस्स । जस्स सुहनिज्झाराउ तरंगवइया नईं ह्खत्ता' ॥१॥ तउ स्सरिशुणुकट्टिए सय-  
लजणे इमं तन्मणियं सोऊण एवं जंपतो स्साडित्ति उत्थिओ, भो भो पंचत्तमुवगओ वि अहं अणेण पंचालविउसस्स सच्चवयणेण ओस-  
हतुल्लेण सुहसुवगएण जीविउ चि । तउ सो विमणहुम्मणो संघो य अइपहिट्टमणो जाओ चि । इमं च रत्ता सोऊण सो पंचालो नि-



पिण्ड-  
विशुद्ध-  
श्रद्धस्त्रीया  
श्रुतिः

॥७६॥

निसओ आणत्तो । स्वरिणा य रायाणं भणिय उद्धरिओ । तउ सो संतारियबहुं दह्ण नियकम्मविवरदाणाउ तस्सेव समीवे सावग-  
धम्मं पवन्नो । अबया य केणइ वियङ्गेण सालिवाहणस्स रण्णो वीयन्तामेणं मुरुडनामस्स सभाए मयणोदयभाविंयं सुत्तं समप्पियं  
तस्स छेओ लहेयव्वो । न य सो केणावि लद्धो तउ रत्ता पालित्तयस्सरी आहूओ, तं सुत्तं दसिसियं, तेण य उण्होदगमज्जे तं पक्खित्तं ।  
तउ निम्भयणत्तणउ तस्स सो छेओ लद्धो । तउ समवहुलदंढो मूलजाणत्थं तस्स नरवइणो सम्मप्पिओ । न य मूलं तस्स केणावि  
णांयं स्वरिणा पुण सो नीरमज्जे तराविओ । मणयं एगादिसाए सो नमिओ, ततो तेण तस्संतमूलं कहियं । पुणरवि समुग्गओ जउ-  
योत्तिओ तस्स समप्पिओ जस्स ढक्कणयसंतिया संधी गुत्तिलत्तणउ न नज्जइ । सो उण्होदए स्वरिणा छद्धो । तउ वियलिया जउक्क-  
णयसंतिया संधी, या तेण नियमइमाहर्पेण पर्यसिया । तउ स्वरिणा तन्मइपरिक्खणत्थं तुंबयं फाडेऊण मज्जे रयणाइं पक्खिवविय  
महुए सीवणीए तं सीवित्ता रत्तो दंसियं । भणिओ य राया इमस्स संधिं को वि जाणेउ चि । रत्तावि य तुम्बं सित्तियं दंसियं न उण  
संधी तस्स विनाय चि । अहन्नाया तस्स मुरुडरत्तो सिरो वेयणा तित्वा पाउब्भया, सा य नो कहवि विज्जासंततंताइएहि उन्नसमिया ।  
तउ रत्ता निओ मंती वुत्तो । जहा मज्जेमं सिरोपीडं पालित्तयस्वरिसयामाउ गंतुमुवसामेसु । एत्थ व वो(आ)हरसुत्ति । तउ मंतिणा  
गंतूण स्सरी भणिओ जहा तुब्भे रायसमीवे आगच्छइ रत्तो महई सिरोवेयणा न केणावि उन्नसामिउं तीरइ चि । तउ स्वरिणो मंति-  
वयणाउ तित्थस्स पभावणा भवउ चि मन्नामाणा रायसमीवे गंतूण उवविट्ठा । ते हि य तत्थ जहा लोगा न जाणन्ति तहा पाउरणस्स  
मज्जे पच्छुब्बं मंतं झयंतेहि नियदाहिणजाणुमत्थयपासेण दाहिणदत्थपएसिणीं अंगुठसमीववत्तिणीं अंगुली भामिऊण भामि-  
ऊण रायस्स सिरोवेयणा पणासिया । अण्णे भणंति सट्ठणट्ठिहि नेव जाणुवरि करंगुलिभामणेण तेहि राया पउणीकउ चि । तहा

॥७६॥

य तस्त्रियसूहया इमा गाहा आगमे पटिञ्जह । 'जहा जहा पयसिणिं ज्ञाणुगमियालित्तउ भमाडेह । तहा तहा से सिरवेयणा य, णस्सह  
 मुहंउरायस्सम' ॥१॥ तउ पणट्टियसिरोवेयणेण राइणा अहिययरं परितुट्टेण सूरिणो विउलेणं असणाइणा पडिलाभिया । अणुदियहं च  
 टंमणभत्तीए ममुज्जुओ जाओ । एवमणेगसो राया सूरियुणावञ्जियमाणसो संबुत्तो त्ति । एत्थउत्ते पाडलिपुत्ते नयरे सुरंडो नाम राया  
 माल्लिवाहणाउ विभिन्नो होत्थ त्ति भणंति । एवं वहुहा पवयणुत्तइं विहेऊण कुन्देन्दुधवलजसेण तिहुयणं धवलीऊण दीहपञ्जायं  
 परिपालिऊण वहुविहे य सिससे वायणाइणा निष्काइऊण चूडामणिमाहनिमित्तसत्थाईहिं निययाउयपमाणं जाणिऊण संघसमकवं  
 आराइणापुण्ययं कालमासे कालं काऊण सूरी देवलोगं गउ त्ति । पसंणेण सन्वमेव भणियं । एत्थ पुणो रन्नो सिसरोवेयणोवसमे भत्त-  
 पाणाइणा पडिलाभणमेत्तमरूवेण संतपिडेण वेव पगयं ।

तथा चूर्णपिण्डेऽन्तर्द्धानं प्रतीत्य चाणिक्यमंश्री निदर्शनं यथा-पाडलिपुत्तं नाम नयरं आसि । तत्थ य चंदपुत्तो नरवई तस्स य  
 चाणकी नाम महामंती । तत्थ य जंघावत्तरिहीणा संयूहविजयाभिहाणा सूरिणो परिवसंति । अणया य दुब्भिकखं जायं । आयरि-  
 एहि चित्तियं । जहा एयं सूरिपयजोगं नियसीसं आयरियसए ठाविउं सयलगच्छसहियं सुभिकखे देसंतरे पट्टवेमि । सयमेत्थेव  
 एगागी चिहुमि ता ताव एयं जोणिपाट्टुं सिकखवेमि त्ति रहे तं सिकखविउं पन्वत्ता । तत्थ य पच्छत्ताट्टिएहिं दीहिं खुइएहिं अंजणं  
 कहिञ्जंतं सुयं । जेण अंजियाहि अच्छीहिं न केणइ दीसिञ्जह । आयरिएहिं तहेव आयरियत्तणे सो ठाविओ सयलगच्छसहिओ  
 पेसिओ ते खुइया आयरियणेहेण पुणो वि वलिया, सेसो गच्छो निहिट्टाणे संपत्तो । गुरुहिं ते भणिया । दुइइ तुब्भेहिं कयं जे  
 समागया संपयं एत्थेव मंतोसनिरया संता विहरह । तउ सयमेव हिडिऊण समुदाणडा आयरिया जंकिचि भिकखाए आगच्छइ तं

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
शंद्रधारीया  
श्रुतिः

॥७९॥

तेहि समं विरिचिय शुजंति चि तेसि ओमोयरिया पवत्ता । दोहिवि मंतियं जहा किं आयरियाण ओमोयरियं करिसो । पुत्रसुयं  
अंजणं काठं चंदगुत्तेण सह शुंजामो चि तहेव शुंजितमारद्धा । चंदगुत्तस्स ओमोयरियाए दुब्बलं जायं, चाणक्रेण पुच्छिहयं, जहा  
देव । किं दुब्बलो सि । तेण भणियं ओमोरिया हवह । चाणक्रेण चितियं जहा नूणं एयमि दुब्बिमक्खे अंजणसिद्धो कोइ अणेण सह  
शुंजह । अन्नहा एवहएण आहारेण कहं ओमोरिया । तउ तेण अंजणसिद्धगहणत्थं भोयणमंडवे इट्टगच्चनो खिवाविओ । दिट्ठाणि  
तत्थ मणुयपयाणि निच्छहयं जहा अंजणसिद्धा दुवे एत्थगया चिट्ठंति । दुवारं पिहाविया । मउञ्जे धूमो कारिओ, नीहरिउमस-  
कंठाणं धूमेण नयणंसुएहिं सह विगयमंजणं । दो वि दिट्ठा । चंदगुत्तेण दुगांछा कया । जहा एएहिं विट्ठालिओ अहं । चाणक्रेण  
तस्स समाहाणनिमित्तं उट्टाहरक्खणत्थं च पसंसिओचि । जहा धनो सि तुमं जो रिसिक्कमारोहि पविचीकउत्ति । वंदिउं विसाज्जिया  
चाणक्रेण आयरियकहणपुव्वयं ते उवालद्धा । जहा किमेवशुट्टाहं कुणह । आयरिएहिं सो चेव उवालद्धो । जहा तुमं चिय दोस-  
वतो जो दुण्हं पि खुट्टयाणं निव्वाहं न चितेसि, तेण तहचि पडिवन्नं, निव्वाहो अ कउत्ति । इह च विद्यादयो योगान्ता आहारा-  
द्यर्थं न व्यापारणीया इत्थुत्तरगाथायां वक्ष्यति । यतो विद्यादिसु व्यापार्यमाणेष्वमी दोषा यथा-यमुद्दिश्य विद्यादि प्रयुक्तं साधुना  
स भिक्षुपासकादिस्तत्पश्चात्यन्यो वा भिक्षुकादिः साधुप्रयुक्तविद्याया नृपादिसमक्षं साधोः स्तम्भनमारणादि कुर्यात् । तथैते एवं  
व्यापारोपजीवनार्थमिष्टाः परवञ्चनाकारिणश्चेति प्रवचनोपघातः । तथा रुष्टो राजादिर्विद्यादिप्रयोक्तुः सर्वयतीनां वा वधं कुर्यादिति  
साधार्यः ॥७३॥

अथ योगपिण्डद्वारं योगलक्षणकथनद्वारेण व्याख्यातुमाह ।

सोहमगदोहमगकरा, पायपलेनाइणो य इह जोगा । पिंडदुमिमे दुट्टा, जईण सुयवासिणमईण ॥७४॥

व्याख्या—सौभाग्यदीर्घायकरा जनप्रियत्वाप्रियत्वविधायकाश्चन्दनगन्धधूपपादयो द्रव्यविशेषा योगाः स्युरिति योगः, तथाहि क्रिञ्चिच्चन्दनादि जलादिना घृष्ट्वाऽभिमन्थ्य च दुर्भगाः पाययते, शरीरं वा अभिमन्त्रितधूपेन धूयते, गन्धा वा शिरसि निक्षिप्यते ततः सुभगाः स्यादिति, एवं दुर्भगात्वेऽपि वाच्यं । तथा पादप्रलेपादयश्चरणखरणदनप्रभृतय आकाशगमनजलाग्निस्त्रभादिफला द्रव्य-समूहक्षोदरूपा औषधविशेषाः, चः समुच्चये । इह जगति योगा योगशब्दवाच्याः स्युः । ननु चूर्णयोगयोर्द्वयोः क्षोदरूपत्वेऽपि परस्परं कौ विशेषः ? उच्यते, देहस्य बहिरुपयोगी चूर्णा, बहिरन्तश्च योगी, यतोऽसावाहार्यानाहार्यभेदाद् द्विविधः स्यात्तत्र जलपानादिना

अभ्यवहार्य आहार्यः, (तदितरोऽनाहार्यः) पादप्रलेपादि । तत्र पादप्रलेपरूपे योगपिण्डे आख्यानकं यथा—

आभीरविसए अयलउरं नाम नयरं आसि । तस्स आसणाउ कण्हाविनाभिहाणाउ दुवे नईउ । तासिं अंतरे बंभो नाम दीवो । तस्थ य पंचहिं ताऽससएहिं सहिओ एणो तावसकुलवई परिवसइ । सो य संकंताइपव्वेसु सतिस्थुऽभावणाहनिमित्तं सव्वेहिं तावसेहिं सहिओ पा-यलेव्वेणं कन्हमुत्तरित्तु अयलउरं आगच्छइ । तस्थ लीगो आउट्टो भोयणाइसकारं करेइ । सावयाणं पुण खिसं करेइ, जहा तुमइ गुरूणं ए-पारिसी सत्ती नत्थि । सावएहिं वहरसाभिणो माउलगाणं अज्जसमियायरियाणं अक्खियं, तेहिं भणियं य, शेवमेयं जं माइट्टाणेण पाय-लेवं किञ्चा सो नइं उत्तरइ । तउ सावएहिं तस्म माइट्टाणपयइणत्थं सपरिवारस्स भोयणेण निमन्तणं करं । गिहे उव्वेसिय पाय-धोयणं दोहयं । तेन भणियं न धोवावेमि सावएहिं अयोविएहिं पाएहिं भुंजावन्ताण लोए अविणओ होइ चि भणंतेहिं बलावि धोइया पाया । भुंजाविओ य णियट्टाण गमणाय चलिओ सावया य सरिसा चालिया । जाव कण्हं उत्तरइ ता सपरिवारो बुडिउं

पिण्ड-  
विशुद्ध-  
ध्वंस्त्रीया  
वृत्तिः

॥७८॥

लग्णो । एश्वतरे बहुल्यसहियस्स पडिवोहणत्थं तन्थेवागया समियायरिया । चण्डियं दाउं भणियं कण्हे । परं पांरं गन्तुमिच्छामि ।  
 क्वडत्ति मिलियाइ दीवि कुलाइ । विन्दिओ सपरिवारो कुलवई, तउ नयरजणसहिया तावमासमे गया, खरिणा पारद्धा तन्थ धम्म-  
 कहा, लोगो पडिवोहिओ पंचसयसहिओ कुलवई वि पव्वञ्जं गहिओ । ध्वी गओ नयरं ति । जाया य वंभदिवगसाह ति । यद्य-  
 पीदं लौकिकयोगिण्डे उदाहरणं, तथापीत्थं कृते यो लोकोत्तरेऽपि लभ्यते स योगिण्ड इति विश्वायां दक्षितम् । अर्थेते विद्या  
 मञ्चादयः किं सर्वदैव न प्रयोक्तव्या उत कदाचिदेवेत्याह 'पिण्डमिमं दुद्धत्ति' पिण्डार्थमाहारनिमित्तमुपलक्षणत्वादुपकरणादिग्रहः ।  
 इमे एते अनन्तरोक्ता विद्यामन्त्रचूर्णयोगा व्यापार्यमाणा इति शेषः दुष्टा दोषकारिणः स्युः सावद्यत्वेन कर्मवन्धहेतुत्वात् । इह  
 पिण्डार्थमित्यनेन महति कुलगणसङ्घैत्यदि कार्यपुष्टालभ्यने व्यापार्यमाणा अपि न दोषाय स्युः प्रवचनोत्सर्प्यणाहेतुत्वेन जिनादि-  
 भिरनुज्ञातत्वादित्याचष्टे कथञ्चिद् दुष्टा (केषां) इत्याह यतीनां साधूनां कीदृशानामित्याह श्रुतवासितमतीनां उत्सर्गापवादबहुलागमप-  
 रिकर्मितदुद्दीनां । अनेन चागीतार्थ एव तुच्छत्वात् स्वल्पेऽपि कार्ये तद्व्यापारणं कुरुते न गीतार्थो गम्भीरत्वादित्यावेदयति । इह च  
 पूर्वसंस्तवपश्चात्संस्तवाभ्यामेक एव संस्तवाख्यो दोष उक्तश्चूर्णयोगी तु भिन्नौ द्वौ दोषावुक्तौ । कत्रापि ग्रन्थे व्यत्ययो दृश्यत इति  
 गाथार्थः ॥७४॥

उक्तं विद्यादिपिण्डद्वारचतुष्टयमथ मूलकर्मपिण्डद्वारमाह ।  
 भववपणमूलकर्ममंति मूलकरमं महापावं ॥७५॥

मंगलमूलीणहवणाइ गल्भवीवाहकरणघायाइ । भववपणमूलकर्ममंति मूलकरमं महापावं ॥७५॥  
 व्याख्या—मङ्गल्यमूलिका मङ्गलकृदनस्पत्यवयवस्व भावौषयो लोकप्रतीतास्ताभिः स्तपनं, त्रयादिजनस्य सौभाग्यपत्यादिनिमि-

॥७८॥

तं मूलिकाकल्कमिश्रजले स्नानविधापनं, तदादिर्व्यस्य धूपनक(का)ण्डकरणादेस्वन्मङ्गलमूलिस्त्रपनादि । तथा गर्भविवाहकरणघातादि, तत्र  
 गर्भ उदरान्त्वर्त्ती मनुष्यादिसत्त्वः, विवाहः परिणयनं, तयोः प्रत्येकं करणघातौ विधापनविनाशौ, तावादिर्व्यस्य तत्तथा गर्भकरणं,  
 गर्भघातस्वत्परिश्राटनरूपः तथा विवाहकरणं विवाहप्रतिघातश्चेत्यर्थः । आदिशब्दात् स्त्रीणामक्षतयोनिक्षतयोनिस्त्वकरणग्रहः । तत्रौ-  
 पधप्रयोगेण सततमथान्यदेशरक्तक्षरणं क्षतयोनित्वं तद्विपरीतमितत्त्व(त्वं रक्त)स्यागम्यमानत्वात् । भक्ताद्यर्थं प्रति(क्रिय)माणं वा साधुना  
 मूलकर्मोच्यत इति योगः । अस्य शब्दार्थनिरूपणयाह । 'भववणमूलकर्ममिति' भवन्ति नारकादितयोत्पद्यन्तेऽस्मिन् जन्तव इति भवः  
 संसारः, स एव वनमतिगहनत्वात्तरुखण्डरूपं काननं तस्य मूलं कारणं प्ररोहहेतुः कर्म ज्ञानावराणादिकर्मनिचयहेतुकाऽशुभा व्यापा-  
 रक्रिया इति हेतोर्मूलकर्मोच्यते । यद्वा सूचनाद्विभक्तिलोपाच्च 'भववन्'ति भववनस्वत्योः मूलं कारणं कर्म क्रिया इति कृत्वा मूलं च  
 तत्कर्म च, मूलं वा प्रतीत्य कर्ममिति विग्रह्य मूलकर्मोच्यते । तत्र भवस्य मूलं कर्म तत्प्राप्तिनिवन्धना गर्भघातादिक्रिया तथा  
 जातिविक्षया वनस्वतेर्मूलं तत्प्ररोहकारणीभूतपविष्टोऽवयवस्तस्य औपधाद्यर्थं हेतुदिक्रिया मूलकर्ममिति । इदं च कीदृशमित्याह  
 महापापं चिरकालवेद्यक्लिष्टाशुभकर्मनिवन्धनं शिष्टजननिन्धम् पापवहुलजनाचरणीयं चेति । अत एव भववनमूलमित्युक्तं । तत्र गर्भा-  
 धानशाटरूपे मूलकर्मणि राजपत्न्या दृष्टान्तो यथा—

वसंतपुरे जियसत् राया । तस्स दी देवीउ । अणया विसयसुहमणुहवंताणं एणाए गन्धो पाउब्भुओ । इयसी इमीए पुचो भविस्सइ  
 न मउक्ख सि ईसानेलेन उउञ्चंती अधिईए चिइइ । एत्थंतरे एवो साह भिक्खवं अउंतो तीए गिहे पविट्ठो । तेण भणिया जहा भइ ! किं  
 विच्छापमुही दीससि ? तीए जुचं जहा मम सवती आवणसत्ता, पुत्तो तीए आइट्ठो नेमिचिएणेति । तेण भणियं भइ ! ओसहएपया-

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
धंद्रवरीया  
श्रुतिः

॥७९॥

णेण तुञ्जवि गन्भाहाणं करिस्सामि मा अधीहं कुणसु । तीए भणियं भट्टारया ! जइवि मे सुओ होही तुमहोसहप्यभावाउ तहवि सो पच्छासमुन्भूयगन्भजायत्तणेण कणिट्ठो त्ति न जुवराया भविस्सह । ह्यरीए पुण पढमसमुन्भूयगन्भजायत्तणेण जेट्ठो त्ति जुवराया भविस्सह । तउ साहुणा तीसे एकं ओसहं दिवं, अन्नं तीसे सयासाउ च्चैव ह्यरीए गन्भपाडणं द्वावियं, दिने ज्ञायं गन्भसाडणं, ह्यरीए य स्रओ जाओ । जाओ य जुवराय त्ति । विवाहकरणरूपे तस्मिन् दृष्टान्तो यथा—

एगंमि कुले एगा बहुकुमारी अस्थि । तउ एगो साहू भिक्खमडंतो तम्मि मिहे पविट्ठो तं दह्ढण पिंडलोभेण साहुदा-  
णसीला तज्जणपी भणिया । जहा भदे ! एसा दुहिया जोव्णं पत्ता अपरिणीया संती केणावि सह अकज्जं समायरिय कुलं मह-  
लिस्सह । किं च लोए वि सुव्वह जहा जइ कुमारी उच्चिट्ठा हवह तो जत्तिया विट्ठणो रुहिरस्स नीहरंति तत्तियाउ वाराउ माया नर-  
एसु वच्चइ त्ति । तदुक्कतं लौकिकैः 'तावन्तो नरका वोरा, यावन्तो कथिरविन्दव', इति । तउ मा परिणावियत्ति । तहा एगस्स कोडु-  
वियस्स पुत्तो अस्थि । पत्तो य सो जोव्णं । इउय भिक्खवापविट्ठेण एणेण साहुणा तं पुत्तं वयपत्तं पासिय तम्माया दाणपियया  
असणाहलोभेण भणिया । जहा कुलस्स गोत्तस्स कित्तीए संतर्हए य सुओ कारणं हवह । तो एयं जुव्णत्तपत्तं पि किं न परिणावेयञ्चो  
कलत्तनेहेण थिरो थिओ चेट्टइ । अपरिणाविओ पुण काएवि सच्छंदचारिणीए सह उट्ठिउं गच्छिहिइ । किं च पच्छावि परिणावेयञ्चो  
(तउ संपहवि किह न परिणावेसि ? त्ति) । तउ तन्नयणाउ सो तीए परिणाविओ त्ति । अक्षतयोनित्त्वादिकरणरूपे तस्मिन्  
दृष्टान्तो यथा—

एगंमि नयरे एगस्स सेट्ठिस्स धूया भिन्नयोनिया अस्थि, माया तं च जाणइ न उण पिया, सा य तन्नयरवासिहन्भपुत्तस्स प-

रिणयणत्थं दिश्रा । आसन्नो आगओ वीवाहो । एसा मे दुहिया परिणिया समाणी भत्तुणा भिन्नयोनियत्ति जाणियं उज्झिज्झिहि चि  
 चिंताए तन्माया अधिइमंता चिद्धइ । एत्थंतरे भिक्खवट्टं भमन्तो एगो साह भिक्खवट्टं तीसे गिहे पविट्ठो, दिट्ठा य सा, मणिया तेण  
 जहा भद्दे ! क्रिमेरिसी दीससि । तीए दुहियावहयरो कहिओ । साहुणा आयमणोसहं पियणोसहं च दिननं अक्खयजोणिया जायत्ति ।  
 तहा एगाए नयरीए एगो सत्थवाहो आसि । तस्स य अन्नया नियभज्जाए समं रक्कलहो जाओ । अउ अभिनिवेसवसा सत्थवाहेण  
 तन्नयरनिवासिणो एगस्स सेट्ठिस्स धूया परिणयणत्थं वरिया । तं वहयरं परिजाणिय भज्जाए सत्थवाहो खमाविओ । वारिओ वि न  
 चिद्धइ सवत्तीचिंताए विहाणमुही सा चिद्धइ । महाचिंता एसा इत्थीणं, मणियं जेण वरि दालिहिउ, वरि अणाहु, वरि वरुड्ढनालिउ,  
 वरि रोगाउरु, वरि कुस्सु, वरि निग्गुणहालिउ वरि करचरणविहीणदेहु, वरि भिक्खभमंतउ ण पुणावि सवत्तिज्जुत्तुथइपत्ति(जुत्तपत्ति)संप-  
 तउ । एत्थंतरे जंघापरिजिओ एगो साह तीसे गिहे भिक्खवट्टं पविट्ठो पुट्ठा य सा जहा भद्दे ! किं अधिइमंता दीससि । तीए वुत्तं-  
 'जो य न दुक्खं पत्तो, जो य न दुक्खस्स निग्गहसमत्थो । जो य न दुहिए दुहिओ न हु तस्स कहिज्जाए दुक्खं' ॥१॥ साहुणा वुत्त  
 एवमेव नवरं 'अहयं दुक्खं पत्तो, अहयं दुक्खस्स निग्गहसमत्थो । अहयं दुहिए, दुहिओ ता मज्झ कहिज्जाउ दुक्खं' ॥२॥ तउ तीए  
 सवत्तीवहयरो कहिओ । साहुणा ओसहं समप्पियं । मणिया य एयं केणह पओणेण तीसे भत्तस्स पाणस्स वा मज्झे दायन्वं जेण  
 सा भिक्खजोणिया हवह । तउ भिक्खजोणिया सा इह भत्तुणो कहिज्जसुत्ति सो न परिणेही । तीए तहेव कयं जाव भत्तुणा न  
 परिणीयत्ति । विवाहघातरूपमप्यत्रैव जातामिति न पृथग् दृश्यते ।

एतेषु च मूलकर्मरूपेषु स्वपनगर्भाधानतद्विनाशविवाहकरणतद्विधातादिषु पिण्डार्थं यतिना क्रियमाणेषु कार्यमाणेषु वा षड्जी-



गवेषणादी-  
षनिगमनं  
ग्रहणैषणा-  
दोषप्रस्ता-  
वना च

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
भद्रसरीया  
वृत्तिः

॥८०॥

वनिकायवधमैशुनप्रवृत्तिभोगान्तरायप्रदेषादयो दोषाः सञ्जायन्ते । तथाहि विवाहकरणरूपे तरिभन् साधुना प्रवर्तकत्वेन पृथिव्यादयः  
काया विराध्यन्ते । अक्षतयोनित्वे, गर्भकरणरूपे च तरिभन् यावज्जीवं मैशुनप्रवृत्त्या अधिकरणं यतोऽक्षतयोनित्वे सति पुरुषस्य  
सततं कामया स्यात्तथा पुत्रोत्पत्तौ प्राय इष्टा स्यात्ततः काम्येति । यत उक्तं 'रतिपुत्रफला नासीति' । अक्षतयोनित्वगर्भकरणरूपे वा  
भजादिना ज्ञाते सति प्रदेषात्मविनाशप्रवचनखिंसादिकं स्यात्तथा क्षतयोनित्वे कृते यावज्जीवं परिहार्यत्वेन कामसेवाविधातकरणान्क्रो-  
गान्तरायोपार्जनमिति गाथार्थः ॥७५॥

उक्तं मूलकर्मद्वारमधुनोद्गमोत्पादनादोषसङ्ख्याभणनेन समुदितगवेषणासंज्ञितदोषवृन्दस्य निगमनं ग्रहणैषणादोषप्रस्तावनां चाह  
इय तुत्ता सुत्ताड, बत्तीस गवेसणेसणादोसे । गहणेसणादोसे दूस्, लेसेण भणासि ते य इमे ॥७६॥

व्याख्या—इत्यशुना प्रदर्शितप्रकारेण उक्ता अभिहिता मयेति गम्यते । कुतः स्थानादुद्धृत्येत्याह सत्रात् पिण्डनिर्गुक्त्याद्याग-  
मात् । क इत्याह उद्गमोत्पादनादोषषोडशकद्वयेन द्वात्रिंशत्सङ्ख्या, गवेषणैषणा दोषा इति । तत्र गवेषणं गवेषणा, अन्वेषणं एषण-  
मेवणा, ततो गवेषणायामशानादेर्मर्निर्णयकाले एषणा उद्गमोत्पादनादिभिः सद्दोषत्वनिर्दोष(त्व)पर्यालोचनं गवेष(णैष)णा द्वात्रिंशद्दो-  
षवृन्दरहिताहारान्वेषणमित्यर्थः । तद्विषया दोषा दूषणानि प्रदर्शितरूपा गवेष(णैष)णा दोषा उक्ता इति पूर्व्वेण योगः । इह किलैषणा  
त्रिविधोक्ता सत्रे । यथा गवेषणा गहणैषणा प्रासैषणा चेति । तत्रोद्गमोत्पादना(दोष)शुद्धाहारविषयाऽऽद्या, शङ्कितादिदोषशुद्धाहारविषया-  
द्वितीया, संयोजनादिदोषपञ्चकरहिताहारभयवहरणविषया तृतीयेति । तथा किल क्रमोपि त्रिविधया अप्येवमेव यतो नाऽगवेषितस्या-  
शानादर्ग्रहणं स्यान्नचापुहीतस्य भोजनकरणं सम्भवतीति तदियथा(त्वा) ग्रन्थेनाद्याऽभिहिता, सांप्रतं द्वितीयां चकतुमाह । ग्रहणेत्यादि

॥८०॥

ग्रहणपादोपानिति । तत्र ग्रहीतिग्रहणं एषणमेषणा । ततो ग्रहणेऽशनादेर्ग्रहणकाले एषणा शङ्कितादिभिः प्रकारैरन्वेषणं ग्रहणेषणा  
 तद्विषया दीपा ग्रहणेषणादीपास्तान्, दशेति दशसङ्ख्यान् लेशेन संक्षेपेण भणामि कथयामि । तत्रस्तावनामाह, ते च ते पुनः दीपा  
 रमे एतेऽनन्तरमेव वक्ष्यमाणस्वरूपा इति गाथार्थः ॥७६॥

तानेव यथानामग्राहमाह ।

संकियमविव्ययनिविवत्त-पिहियसाहरियदायशुभमीसे । अपरिणयलित्तछडिय, एसणदीसा दस हवंति॥  
 व्याख्या—‘संकिय’ति विभक्तिलोपाच्छङ्कितं सम्भाविताधाकर्मर्मादिदीपं भक्तादि । एवमुत्तरत्रापि । मिश्रं मुक्त्वा शेषपदेऽ  
 विभक्तिलोपो दृश्यः । तथा दीपवतो निर्देशोपि दीपदीपवतोरभेदाच्छङ्कारूप एषणादीष उक्तोऽवसेयस्तस्यैव विवक्षितत्वादेवं सर्वत्र ।  
 प्रक्षितभारुषितं । निक्षिप्तं न्यस्तं । पिहितं स्थणितं, संहतमन्यत्र क्षिप्तं । ‘दायग’ति क्ष्वचनाहायकदुष्टं । ‘उम्मीसे’ ति उन्मिश्रं पुष्पादि-  
 मिलितं, अपरिणतमप्राप्तुकीयुतादि । लिप्तं दुग्धादित्तरणितं, छर्दितं परिसाटिमत्, समुष्यार्थश्वकारो लुप्तो दृश्यः । इतलोपादित्येवभेदे  
 एषणादीपाः पिण्डग्रहणदूषणानि । दशेति सङ्ख्या भवन्ति जायन्ते इति गाथार्थः ॥७७॥

अथ शङ्कितद्वारं व्याख्यातुमाह ।

संकियगहणे भोए चउभंगो तरथ दुच्चरिमा सुद्धा । जं संकइ तं पावइ दीसं सेसेसु कम्ममाई ॥७८॥

व्याख्या—शङ्कितस्य (सं)भाविताधाकर्मर्मादिदीपस्य भक्तादेर्ग्रहणे आदाने, तथा भोगो भोजनं शङ्कितस्येत्यत्रापि योज्यं । चशब्दः  
 समुच्चयार्थो लुप्तो दृश्योऽत्र पदद्वये ‘चउभंगो’ ति चतुरूपी भङ्गः चतुर्भङ्गो भङ्गत्वदुष्टयं स्याद्व्यथा ग्रहणे भोजने च शङ्कितः भक्ता-

दप्रहणकाले भोजनकाले च यदि पुनरमुकदीपवदिति शङ्कावानित्यर्थः । तथा ग्रहणे शङ्कितो न भोजने २ भोजने शङ्कितो न ग्रहणे ३ न ग्रहणे न भोजने च शङ्कित ४ इति । एतेषां चैवं सम्भवो यथा-किल क्वापि गृहे भिक्षार्थं प्रविष्टः माधुः प्रचुरां भिक्षां भिक्षाचरभ्यः स्वस्मै वा गृहस्थेन दीयमानां दृष्ट्वा चिन्तयति, यथेयं भिक्षा किं स्वगृहार्थं प्रचुरोपरस्करतया गृहिणैतेभ्यो मह्यं वा प्रचुरा दीयते, उत भिक्षाचरादिनिमित्तराद्वत्येति चेत्तसि शङ्कितस्ततः केनापि लज्जासंक्षोभादिना कारणेन किं निमित्तमेतत् प्रचुरं राक्षामिति गृहिणं प्रश्रयितुमशक्नुवन् शङ्कितो गृह्णाति । गृहीत्वा च स्वस्थानमगत्य तथैव शङ्कितस्तद्गुह्ये इति प्रथमः १ । तथा भिक्षार्थं गृहं गतः प्रचुरां भिक्षां लभ्यमानां दृष्ट्वा चेत्तसि शङ्कितस्ततो लज्जादिना निषेधयितुं तां प्रश्रयितुं वा गृहस्थमशक्नुवन् गृहीत्वा स्वोपाश्रये समागतस्ततो भोजनसमये तं दीलायमानचेतसं दृष्ट्वाऽपरसाधुस्त्रिंशानिःशङ्कीकृतग्राही तद्भिप्रायं ज्ञात्वा वदति । यथा साधो ! यत्र बह्वी त्वया भिक्षा लब्धा, तत्र तद्गृहे प्रकरणं प्रवर्तते लाहणकं वा समायातमित्येवं तद्वचः श्रुत्वा शुद्धमेतदिति निश्चित्य विगतशङ्कापरिणामस्तद्गुह्ये इति द्वितीयः २ । तथा कश्चित्साधुरीश्वरगृहानिःशङ्कितः प्रचुरां भिक्षां गृहीत्वा वसतावायातोऽन्यान् साधून् गुरोः पुरतः स्वभिक्षातुल्यभिक्षामालोचयतः श्रुत्वा सज्जातशङ्कया चिन्तयति यथा यत्स्वरूपा बह्वी मया भिक्षा लब्धा अमु- कस्मिन् गृहेऽन्यैरपि साधुभिस्तत्र तत्स्वरूपैव बह्वी च लब्धा ततो मा कदाचिदियमशुद्धा भविष्यतीति, ततस्तथैवासौ शङ्कितचित्तरतां शृङ्गे इति तृतीयश्वतुर्भङ्गस्तु सम्भवं प्रतीत्य सुगम एवेति । अत्र चतुर्थीपि शुद्ध्यशुद्धिमाह । तत्र तेषु चतुर्षु भङ्गेषु मध्ये द्वितीय- श्वरमश्व तीपलोपात् द्विचरसौ द्वितीयचतुर्थौ भङ्गौ वा शुद्धावशुद्धाहारदोषायातकर्मबन्धदोषविकलौ । चरमस्तावदुभयथापि शङ्काया अभावाच्छुद्ध एव । द्वितीयोऽपि भङ्गो ग्रहणापेक्षयैव सदीषः परमार्थतस्त्वशुभपरिणामेन शङ्कितग्रहणदोषस्य निर्वाचित्वाच्छुद्ध एव ।

तृतीयो बहुतरदोषः । आद्यश्च बहुतरमदोषः, उभयप्रापि भोजनस्य शङ्कितत्वेनाऽशुद्धत्वात् । अथ तृतीयप्रथमावाश्रित्याशुद्धतामाह । यं कञ्चन दोषं 'कम्माह' त्ति सूचनादाधाकम्मादिकं दूषणं । भक्तादर्पहणकालेऽभ्यवहारकाले वा शङ्कते अमुकदोषदृष्टमिदमशनादीत्या-  
 रेकते सम्भावयतीत्यर्थः । तमेव दोषं, व्याख्यानादाधाकम्मादिपञ्चविंशतिदोषमध्यार्देकरं कञ्चन पिण्डग्राही साधुः प्राप्नोति आप-  
 द्यते शेषयोरुद्धरितयोसाध्यतृतीयभङ्गयोरित्यशुद्धावेताविति । तत्राधाकम्मादयः षोडशोद्गमदोषाः शङ्कितस्य साध्यत्वात्तद्दर्जा नवैषणा-  
 दोषा आश्रितादप्यश्नति समुचितताः पञ्चविंशतिः । अत्र हि ननु यदि शङ्काऽकल्पनीयताविधायिनी, एवं शुद्धमपि भक्ताद्यशुद्धं स्यात्  
 यद्वाकरणात्, अशुद्धमपि शुद्धमेतदिति निश्चित्य गृहीतं शुद्धं स्यादित्यत्रोच्यते, सत्यमेव तच्छङ्कापरिणाम एव शुद्धेशुद्धश्च कार-  
 णम् । यदि हि शङ्कायुक्तपरिणामस्वदा शुद्धमप्यशनादिकमशुद्धं करोति । शुद्धमेतदित्येवं निश्चित्य गृह्णन् भुञ्जानो वा विशुद्धपरिणा-  
 मोऽशुद्धमपि शुद्धं करोति । तदिहाशुद्धमपि छद्मस्यपरीक्षया निःशङ्कीकृतं शुद्धमेव स्यात्तथाहि श्रुतबलेनामायाविना प्रयत्नपरेण छद्म-  
 स्थेन संशोध्य यद्गृहीतं तदशुद्धमपि तेनानीतं केवल्यप्युपभुङ्क्ते इतरथा श्रुताप्रामाण्यं कृतं स्यात्तदप्रामाण्ये तदर्शितज्ञानादित्रयाभाव-  
 स्तदभावे ज्ञानादित्रयसाध्यमोक्षाभावस्त्वदभावे तदर्थं गृह्यमाणायामा दीक्षयाश्च नैऋत्यमिति गाथार्थः ॥७८॥

उक्तं शङ्कितद्वारमथ आश्रितद्वारमाह ।

सच्चित्ताचित्तमक्खियं दुहा तत्थ भूदगवणेहिं । तिविहं पढमं वीयं गरहियइथरोहिं दुविहं तु ॥७९॥

व्याख्या—सह चित्तेन चैतन्येन वर्तत इति सचित्तः सजीवः पृथिव्यादिः, चकारस्य द्विरुक्तिः क्षेत्रे प्राकृतलक्षणत्वात्, यद्वा  
 सद्विद्यमानं चित्तं यस्य स सच्चित्तः । तथा अचित्तो निर्जीवः पृथिव्यादिरेव । इह च पृथिव्यादिः पूर्वं सचित्तः स्यात्ततः स्वकाय-

शस्त्रादिभिः प्रासुकीक्रियमाणः कियन्तमपि कालं मिश्रः, स जीवाजीवरूपस्ततोऽचित्त इत्ययं क्रमः । परमत्र मिश्रस्य भेदेनाऽविवक्ष-  
णात् तदुपादानं । अत्र च शिष्यहितार्थं सचित्तादिस्वरूपं किञ्चिद्बुद्ध्यते । तत्र स्वकायशस्त्रादिनाऽविध्वस्वरूपः शुशिव्यादिः सचित्तः ।  
परिणतापरिणतरूपश्च मिश्रः । तथा लवणमृत्तिकादिरूपः पृथ्वीकायः स्वकायपरकायशस्त्रोपहतोऽचेतन इति । तत्र मधुरपृथ्वीकायस्य  
मृत्तिकादेः क्षारलवणोषादिः स्वकायशस्त्रं, शीतोष्णाग्निकाञ्जिकसाञ्जिकतैलादिकं च तस्य परकायशस्त्रं । तथाऽष्काये क्षारादिरष्कायो मधु-  
रादेः स्वकायशस्त्रं पृथ्वीकायादिषु तस्य सर्वस्यापि परकायशस्त्रं । वनस्पतिस्तु कन्दादिः सचित्तः स्वकायपरकायशस्त्रेण छेदेन पच-  
नादिना च विध्वस्तोऽचित्तस्तथाह्वन्ते शुष्के कोमलाभ्रादीनि फलानि व्रीहिकादीनि हरितानि पत्रपुष्पाणि वाऽचित्तानि स्युरिति अलं  
प्रसङ्गेन । प्रकृतमुद्ध्यते । तदिह सचित्तशुशिव्यादिभ्रक्षितयोगात्करमात्रं देयमपि च सचित्तं अचित्तयोगादचित्तं ततः सचित्तं चाऽचित्तं  
च सचित्ताऽचित्तं । सचित्तभ्रक्षितमचित्तभ्रक्षितं चेत्यर्थः । इतैर्लोपादित्येवं सचित्ताचित्तभेदान्भ्रक्षितं शुशिव्यादिना स्वरणितं भक्तादि-  
द्विधा द्विविधं भवति मिश्रस्य भेदेनाविवक्षणात् । तत्र तस्मिन् द्विविधे भ्रक्षिते प्रथममाद्यं सचित्तभ्रक्षितं त्रिविधं त्रिधा स्यात् । कैरि-  
त्याह 'भूद्गवणोहिं'ति शुशिव्यन्वनस्पतिभिः प्रस्तावात् सचित्तैः पृथ्वीकायभ्रक्षितमित्यादीनि तत्त्वं । 'वीयं'ति, द्वितीयमचित्तभ्रक्षितं  
पुनर्द्विविधमेव द्विप्रकारमेव भवति । तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । काभ्यामित्याह गहितैतराभ्यामिति तत्र गहितं लोकनिन्द्यं वस्तु इतर-  
मगहितं लोकानिन्द्यं ताभ्यां द्रव्याभ्यामचेतनाभ्यां गहितवस्तुभ्रक्षितमगहितवस्तुभ्रक्षितं चेत्यर्थ इति गाथार्थः ॥७९॥

अधुना अचित्तभ्रक्षितं चाश्रित्य कल्प्याकल्पयविधिमाह ।  
संसत्तभ्रचित्तेहि, लोगागमगरिहिषहि य जर्दण । सुकहसचित्ते हि य, करमत्सं मक्वियमकप्यं ॥८०॥

रिदारेण यतनया ग्राह्यमपीति भजना । तत्र विनेयानुग्रहाय प्रतिकायमचित्तस्यानन्तरपरपरतया निक्षेपसंभवा दृश्यन्ते यथा-सचिच्च-  
 मिश्रपृथ्वीकाये यत् पक्वान्नमण्डकादिकं व्यवस्थापितं तदनन्तरनिक्षिप्तं यच्च पक्वान्नादिकमेव प्रावृडक(?)च्छपकादावपि तं पिठरादि  
 च सचिच्चमिश्रपृथ्वीकाये तत्परम्परानिक्षिप्तं । तथा यन्नवनीतस्यानीभूतवृतादिकं सचिच्चमिश्रे उदके न्यस्तं तदनन्तरनिक्षिप्तं । यच्च  
 घृतपक्वान्नादिकं तरिकात्रप्यकादौ स्थापितं नावादि च जले तत्परम्परानिक्षिप्तं । तथा विध्याताद्यन्यतरभेदेऽथौ मण्डकादिनिहितमन-  
 न्तरनिक्षिप्तं । तदेव यदा स्थाल्यादौ स्थात्यादि चाग्नावुपरि तदा परम्परानिक्षिप्तम् । अत्र च तेजस्काये परम्परानिक्षिप्तस्य ग्रहणमाश्रित्य  
 विशेषोऽभिधीयते । यथेश्वरसपाकस्थानेऽग्नावुपरि स्थिते पिठरकटाहादौ मृत्तिकया पार्श्वेषु लिप्ते इक्षुरसः स्थितो यदि स्यात्तदपि च  
 यदि विस्तीर्णमुत्तयाऽघट्टितकर्णं स्याद्विशालमुखवाद्धि तस्माद्धारकादिना कृष्यमाणे दानाय रसादौ तत्कर्णा न घट्टन्ते, तथा वहिरिक्षु-  
 रमच्छर्त्तनाभावाद्यपरिशाटिमांस्तरस्याद्रसोऽपि च तत्क्षण एव क्षिप्तवान्नात्सुष्ण तदा गृह्यते । एवं यत्र पिठरादौ गुडः पूर्वं कथितोऽभू-  
 तत्र जलं कथनाय क्षिप्तमीपत्तमपि गुडरसेन भावितत्वाच्छीघ्रं प्राप्तुकीस्यात्ततो नात्सुष्णमघट्टितकर्णपार्श्वविलिप्तकटाहस्थमपरिशाटि-  
 मद्रुष्णोदकमपि स्यात्तदपि गृह्यते । एवमन्नादिवरणिटतशेषपिठरस्थेषत्तमजलादेरपि ग्रहणं ज्ञेयम् । इह चेश्वरसस्य दीयमानस्य यदि  
 कश्चिद्रिन्दुर्वहिलंगति स लेप एवावर्तते नत्वधश्चुल्लीमध्यस्थिततेजस्काये पततीति पार्श्वविलिप्तमिति कटाहस्य विशेषणं । घट्टितकर्णाच्च  
 तस्माद् गुह्यमाणे इक्षुरसादौ मूह्येषस्य क्षरणाच्छुलीस्थप्रिविराधना स्यादित्यघट्टितकर्णत्वं विशेषणं । अत्सुष्णे चेश्वरसादौ गुह्यमाणे  
 दाज्या स्थाल्यादेर्भाजनस्य दानाणोरुपाटितस्य, साधुना तु वसतावानयनायोरुपाटितस्य पतद्ग्रहस्य दाहकतया ङगिति भूमौ क्षेपा-  
 ङ्गः स्यात्तथा कटेन ददती दात्री साधुपतद्ग्रहे देयं प्रक्षिप्तुमशक्नुवती वहिरुज्ज्ञेव । एवं च पृथिव्यादिविराधना स्यादिति ।

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
श्वद्वित्रीया  
श्रुतिः

॥८५॥

वातेऽनन्तरनिक्षिप्तं वातोत्पाटिताः शुक्लवल्गुमूत्रादिकोशरूपा पर्पाटिकाः स्युः शालिपर्पाटादि च यद्येनोत्पाद्यते तत्राननिक्षिप्त-  
मुच्यते इति विवक्षया वाते शुक्लपर्पाटिकादीनां निक्षिप्तता । वाते परम्परनिक्षिप्तं वातोद्धूतावातभृत्तद्व्याहृपेरिस्थितं मण्डकादि-  
वायोरुपरि वस्त्रिचर्म तदुपरि मण्डकादीतिकृत्वा । वनस्पत्यनन्तरनिक्षिप्तं सच्चित्तव्रीहिकादिहरितफलादिष्वपूपादि न्यस्तं, पिडुरखण्ड-  
कादौ मण्डकापूपादि न्यस्तं पिडुरादि च वनस्पताविति परम्परनिक्षिप्तं । बलीवद्दीदिष्टुषु न्यस्ता अपूपाद्यन्नसानन्तरनिक्षिप्तं ।  
बलीवद्दीष्टुषु वस्त्रादिस्त्रव(क)रूपो भरकः कुतपादिर्वा न्यस्तस्त्रव च मण्डकादिकं निक्षिप्तमिति परम्परनिक्षिप्तमिति गाथार्थः ॥८१॥

उक्तं निक्षिप्तद्वारमथ पिहितद्वारमाह ।  
सच्चित्तचित्पिहीष्ट, चउभंगो तस्थ दुट्टमाइतिगं । शुरुलहुचउभंगिल्ले, चरिमे वि दुचारिमगा सुद्धा ॥८२॥

व्याख्या—इह पिहितस्य साध्यत्वात् परिहार्यपरिहार्यविभागं विना सामान्येन सच्चित्तेऽचित्ते वा पिहिते वस्तुनीति गम्यते ।  
कीदृशे इत्याह । सच्चितं सजीवमचितं निर्जीवं पृथिव्यादि, ततः सच्चितं चाचितं च ताभ्यां पिहितं स्थगितं, करिमन् किमित्याह—  
'चउभंगो' चि सच्चित्ताचित्तपदद्वयेन चतरूपो भङ्गश्चतुष्टयं स्यादित्यर्थः । सच्चित्तेन सच्चितं चित्तं, अचित्तेनाचितं पिहितमिति । अत्राप्यन-  
कादिना सच्चितं सृत्तिकादिकमवष्टब्धमित्यर्थः । तथा अचित्तेन सच्चितं, सच्चित्तेनाचितं, अचित्तेनाचितं पिहितमिति । अत्राप्यन-  
न्तरपरम्परपिहितता अनुकतापि दृश्या । (ग्रं० ३५००) तेन तृतीयभङ्गं प्रतीत्याचित्तदेयद्रव्यभावात्सच्चित्तेनाऽनन्तरपरम्परपि-  
हितसम्भवो विभाव्यते । यथा सच्चित्तसृत्तिकादिनाऽवष्टब्धमण्डकादिकं सच्चित्तपृथ्वीकायानन्तरं पिहितं, सच्चित्तसृत्तिकागर्भलज्जिकादिना-  
दिनाऽवष्टब्धं तु सच्चित्तपृथ्वीकायपरम्परपिहितं । तथा हिमादिनाऽवष्टब्धं तदेव सच्चित्ताक्कायानन्तरपिहितं, हिमादिगर्भलज्जिकादिना-

वष्ट्वं तु रात्रिचाक्रायपरम्परपिहितं । तथा यद् हड्डरिकाष्टपरिन्यस्तदह्यमानहिङ्गवादिकेनाङ्गारेण वास्यते मण्डकादिकं चोपरिस्थि-  
 ताङ्गारं तत्तेजस्कायानन्तरपिहितं । यन्मण्डकादि भाजनस्थमुपरिस्थिताग्निकशरावेणान्यद्वोपरिन्यस्ताङ्गारद्विकरिकादिना यत्स्थानितं  
 तत्तेजस्कायपरम्परपिहितं । तथा यदिद्वुरिकाष्टपरिन्यस्ताङ्गारं तद्वायुनाप्यनन्तरपिहितं यत्राग्निस्तत्र वायुरिति वचनादिह स्पर्शमात्रे-  
 णैव विवक्षया पिहितत्वं ज्ञेयम् । यद्भाजनस्थं मण्डकादि वायुभुतवसितना पिहितं तदथो मण्डकादि तदुपरि बसितचर्म तदुपरि वात  
 शक्तिकृत्वा परम्परवायुपिहितं । तथा मण्डकादि पत्रवीजपूरकादिकलादिना स्थानितं वनस्पत्यनन्तरपिहितं । तथा मण्डकादि मध्य-  
 स्थितफलादिशरावच्छञ्जिकादिना पिहितं परम्परपिहित, तदेव मण्डकाष्टुपरि सञ्चरत्कीटिकाकुन्थयुक्तं त्रसानन्तरपिहितं । तदेवोपरि-  
 स्थितकीटिकादिकशरावादिना पिहितं परम्परपिहितं । अत्र परिहार्यापरिहार्याविधिमाह । तत्र तेषु चतुर्भङ्गेषु मध्ये दुष्टं दीषवदकल्प-  
 मित्यर्थः । किं तदित्याह आदित्रिकमाद्यं भङ्गत्रयं । (दुष्टम्) ग्राह्यमेव सचित्तं स्यादिति दोषात्सचित्तसङ्घट्टादिदोषाच्च । नवरं यद्यपि  
 सामान्येन दुष्टमादित्रिकमित्युक्तं, तथापि तृतीयभङ्गेऽप्यनन्तरपिहितमेव, परम्परपिहितं तु यतनया ग्राह्यमिति ज्ञेयम् । तथा  
 सामर्थ्याच्चतुर्थी ग्राह्यस्वत्रापि गुरुलघुपदद्वयेन चतुर्भङ्गः स्याद्यथा गुरुकं गुरुकेण, गुरुकं लघुकेन, लघुकं गुरुकेण, लघुकं लघुकेन  
 पिहितमिति । तत्र गुरु भारिकं देयं जलद्रव्यव्यभाजनं वा गुरुणा भारिकेण प्रहेडकादिना पिहितमित्यर्थः १ ।  
 तथा गुरुकमुक्तरूपं लघुकेनाल्पभारेण स्थानिकादिना २, तथा लघुकं मण्डकादि स्तोकभारं देयद्रव्यभाजनं वा गुरुकेण पूर्वोक्तेन ३  
 तथा लघुकमुक्तरूपमेव लघुकेन स्थानिकादिनैव पिहितमित्यर्थः ४ । अत्र च ग्रहणं प्रति भजना । अत एवाह-गुरुलघुपदाभ्यां  
 चतुर्भङ्गो विद्यते यत्र स गुरुलघुचतुर्भङ्गवान् प्राकृते इह्यप्रत्ययस्य मतुबर्थत्वाद् तस्मिन् । चरमेऽपि अचिन्तेनाचित्तं पिहितमित्ये-



पिण्ड-  
विशुद्ध-  
श्रद्धासीया  
वृत्तिः

॥८६॥

तस्मिंश्चतुर्थेऽपि भङ्गके इत्यर्थः । न केवलं सच्चिदाचित्तपदोत्पत्तचतुर्भङ्गे आदित्रिकं दृष्टं चतुर्थश्च शुद्ध इत्यपर्यर्थः, यद्वा किल चरमः शुद्धस्वतस्त्रापीति शुद्धशुद्धिर्विषयद्योतकोऽपिशब्दः । द्वितीयश्च चरमकश्च तीयलोपात् द्विचरमकौ द्वितीयचतुर्थौ शुद्धौ भक्तादि-ग्रहणं प्रति निर्दोषौ । लघुपिधानोत्पादनेन दातुरनर्थाऽसम्भवात् । पारिशेष्यात्प्रथमतः तीयमङ्गावशुद्धावेतयोर्ग्राह्यं भक्तादित्यर्थः, गुरुद्वयस्योत्पादितस्य पातेन पादादिभङ्गसम्भवादिति गाथार्थः ॥८२॥

उक्तं पिहितद्वारमथ संहतद्वारं व्याचिख्यासुः पूर्वार्द्धेन संहतलक्षणमुत्तरार्द्धेन तद्भङ्गादिकं चाह ।

**स्विवियन्नस्थमजोभंगं, मत्ताड तेण देइ साहरियं । तत्थ सच्चिदाचित्ते, चउभंगो कएइ उ चरमे ॥८३॥**

व्याख्या । येन केनचिन्मात्रकेण दात्री साधवेऽशनादिकं दास्यति, तत्र यदि साधोरयोग्यमकल्पनीयतया सचितं पृथिव्या-दिकं दानानुचिततया तुषादिकं वा स्यात्तद्योग्यं तस्मान्मात्रात् करोटकदादिस्रभाजनादन्यत्र पृथ्वीकायादौ सचितेऽचित्ते वा स्थाल्या-दिभाजनादौ वा क्षिप्त्वा मध्ये निधाय यदशनाद्यन्यदवधारणयोजनात्तेनैव मात्रकेण रिक्तीकृतेन ददाति साधवे यच्छति तदशनादि-संहतं स्थान्मात्रकस्थभक्तादेरन्यत्र संहतरधर्मयोगस्तद्द्व्योगादीयमानमपि संहतं स्यात् मात्रकस्थमयोग्यं संहत्य तेनैव दत्तत्वादितिकृत्वा । तत्र तस्मिन् संहते येन भाजनेन दास्यति तत्रस्थस्य भक्तादेरन्यत्र क्षेपणे, सच्चिदाचित्ते सजीवनिर्जीव-वस्त्वभिधायके द्वे पदे आश्रित्य सच्चिदाचित्तपदाभ्यामित्यर्थः, मिश्रस्य सच्चित्त एवान्तर्भावाच्चतुर्भङ्गो भङ्गचतुष्टयं स्याद्यथा-सच्चित्ते सचितं १ अचित्ते सचितं २ सचित्ते अचितं ३ अचित्ते सचितं ४ संहतमिति । तत्र सचित्ते पृथ्वीकायादौ सचितं पृथ्वीकायादि-संहतमित्यर्थः, अचित्तं चायोग्यं तुषादि ज्ञेयं । इह चाद्यभङ्गत्रये ग्राह्यवस्तु सच्चित्तभावात्सच्चित्तसङ्घट्टादिदोषाच्चाकल्पनीयतैव नवरं

प्रस्तुतसंहतदोषस्य तृतीयभङ्गेऽवतारो ज्ञेयस्तथाऽनन्तरपरम्परताऽत्र न व्याख्येया, संहरणस्य परम्परतया अषट्नात् । तथा कल्पते तु, भक्तादिं श्लाघम् पुनः स्यात्, 'चरमे' चतुर्थभङ्गे इति गाथार्थः ॥८३॥

नगर चतुर्भङ्गेऽपि भजनया कल्पनीयतेत्याह ।

तत्थवि य थोवबहुयं, चउभंगो षट्मतर्यैयगाहणगा । जइ तं थोवाहारं, मत्तगमुक्खिवि य विरजेज्जा ॥८४॥  
व्याख्या । तत्रापि तस्मिन्नापि चरमभङ्गेऽचिंचं चिंचं संहतमित्येवंरूपे, चः पुनरर्थे, न केवलं सामान्यसंहते, सचिंचाचिंचपदी-  
त्थचतुर्भङ्ग इत्यपरार्थः । किमित्याह । स्तोत्रकबहुलक्षणे ये षट् शब्दरूपे ताभ्यां चतुर्भङ्गो विकल्पचतुष्टयं स स्यात् । यथा स्तोत्रं स्तोत्रं,  
स्तोत्रं बहुलं, बहुके स्तोत्रं, बहुके बहुकं संहतमिति । तत्र स्तोत्रं स्वल्पं, बहुक प्रचुरमुच्यते । तथा यत् संहियमाणं यन्मध्ये संहियते  
च ते द्वे अपि वस्तुनी शुष्के वा स्यातामाद्रं वा तत्र शुष्कं पर्युपितं कूरादि, आद्रं तीमनादि । तत्रेह स्तोत्रकबहुत्वे शुष्काद्रद्वयविशे-  
षणतया दृश्ये । यथा स्तोत्रं बहुकं वा शुष्कं तथाद्रमपि । अधुनैतेषु कल्प्याकल्प्यभजनामाह । 'षट्मतर्यैयगाहनं' चि स्तोत्रं स्तोत्रं  
षट्के स्तोत्रं संहतमित्येतां प्रथमतः तीर्या भङ्गावाचीर्णां भिक्षाग्रहणे शुद्धतयाऽङ्गीकृता । तेन स्तोत्रे बहुके वा शुष्के स्तोत्रमाद्रं संहतं ।  
स्तोत्रं बहुके वाद्रं स्तोत्रमाद्रं संहतमित्याचीर्णाग्रहणं । संहियमाणस्याद्रत्वेऽपि स्तोत्रकत्वेन दात्र्याः प्रज्ञापनया हस्तधावनादिदोषस्य  
रक्षयितुं शक्यत्वात् । तथा स्तोत्रं बहुके वा शुष्के शुष्कं स्तोत्रं संहतं । तथाद्रं स्तोत्रे बहुके वा शुष्कं स्तोत्रं संहतमित्यपि कल्पते  
उक्तदोषाभावात् । पारिशेष्यात् स्तोत्रे बहुकं, बहुके बहुकं संहतमिति द्वितीयचतुर्थविशुद्धाविति दृश्यं । तेन स्तोत्रे बहुके वा शुष्के,  
स्तोत्रे बहुके वाद्रं षट्कमाद्रं संहतमित्यनाचीर्णाग्रहणं । संहियमाणस्य बहुत्वेन दात्र्याः प्रज्ञापनया हस्तधावनादिदोषस्य रक्षितुमशक्य-

पिण्ड-  
विशुद्ध-  
श्रद्धाशरीया  
शक्तिः

॥८७॥

त्वात् । अनुज्ञातप्रथमतृतीयभङ्गयोरपि विशेषमाह । 'जइ तमि'त्यादि, यदीत्यभ्युपगमे तन्मात्रकमिति योगः । ततस्तद्देयं संहतसक्तं  
स्थाल्यादिभाजनमुत्क्षिप्योर्ध्वमुत्पाद्य भूमौ स्थितेन हि भाजनेनावनम्य तन्मध्यस्थिते वस्तुनि दात्र्या दीयमानेऽथोभूमिभाजनयो-  
रन्तरे कीटिकाद्युपमर्दः सम्भवति । कथंभूतं तन्मात्रकमित्याह । स्तोको हस्तग्रहणमात्र आधारः साहाय्यं यस्य, स्तोर्कं वा वस्त्रा-  
समन्ताद्धारयति यस्तत्स्तोकाधारमभारिकमित्यर्थः । अनेन स्तोकमित्येतल्लब्ध एवार्थो विशेषितः । उत्पाटनानन्तरं पुनः किं कुर्यादि-  
त्याह । वितरेद्वात्री दधान्मात्रकमध्यस्थं, संहतं प्रकान्तं वस्तु तदा तत्संहत कल्पयामिति श्लेषः । एतेन स्तोकसंहतत्वेप्यन्यद्वस्तुदा-  
नाय यद्यभारिकं मात्रकमुत्क्षिप्य तद्वदाति तदा कल्पते । यदि च प्रचुरसंहियमाणद्रव्ययुक्तं गुरुस्थाल्यादिकं रिक्तीकृत्यान्यद्वस्तु-  
दानाय तद्देवोत्पाट्यावनम्य वा तत्स्थमन्यद्रव्यं तेनैव ददाति तदा अकल्पयामिति दीपसम्भवात्तथाहि तस्मिन् महाभाजने उत्क्षिप्य-  
माणे भूमौ निक्षिप्यमाणे च दातुः पीडा, भाजनभङ्गे च मदीयमनेन साधुना परमार्थतो भजनमित्यादि । पद्वेपान्द्रव्यान्यद्रव्यव्यव-  
च्छेदं कुर्यात्तथा तद्भङ्गे तन्मध्यस्थतभक्तादिविक्रमे भूमिस्थजीववधः । उष्णभक्तादिभ्युत्तद्भङ्गे च साधोर्दातुश्च तन्मध्यस्थत-  
भक्तादिना भूमौ विकीर्यमाणेन पादादिदाहः स्यादाहारलभ्यटोऽयमिति साधोर्जनापवाद्श्चेति त्रिविधा विभावनेति गाथार्थः ॥८४॥

उक्तं संहतद्वारमथ दायकद्वारं विवरीषुर्दीपदीपवतोरभेदाहायकान् गाथाचतुर्केणाह ।  
उक्तं संहतद्वारमथ दायकद्वारं विवरीषुर्दीपदीपवतोरभेदाहायकान् गाथाचतुर्केणाह । ॥८५॥

श्वरपहुंपंडवेविरज रियं धवत्तमत्त उरुमत्ते । करचरणालिन्नपगालिय-नियलंडु य पाउयारूढो ॥८५॥

व्याख्या- 'श्वर'सि । तत्र स्थविरो वृद्धः स च सप्ततेः षष्ठेतिन्यये वर्णाणामुपरिवर्ती तस्मिन्, सर्वत्र विभक्तिलोपात् स्थविरे  
ददति मुनयो भिक्षां न गृह्णन्तीति वक्ष्यमाणचतुर्थगाथाखण्डेनात्रोत्तरत्र च योगः, अनेकदोषभावात्, तथाहि स्थविरो मुखनिर्वनि-

॥८७॥

ढुीवनलललः कम्पमानहस्तश्च स्यात्ततोऽसौ ददत् स्वयं पतेत् देयं मात्रं वा भूमौ पातयेत् , तत्र च कीटिकावधादयो दीपा ज्ञेयाः । तथाऽयमनादेयवाक्यत्वात् , देयस्यास्वामीति विचिन्त्य तस्मिन् ददति तत्पुत्रादयः साधो बद्धे वा उभयस्मिन् वाऽपीत्यादि कुर्युः । तथेह चतुर्थाथान्तपादे ओवेन वक्ष्यति । ओषध्नोत्सर्ग उच्यते । तत्र उत्सर्गेण स्थविरादिदायकेष्वयं दूर्यमाननिषेधो ज्ञेयोऽपवादेन तु यतनया केषुचिद् ग्रहणमप्यनुज्ञातमतो निषेधानन्तरं स्वे स्वे स्थानेऽपवादोऽपि दर्शयिष्यते । तत्र स्थविरमाश्रित्यायं ग्रहणविधि- र्गथा स्थवरोऽपि पुत्रादिमध्ये यथादेयवाक्यः स्यात्तत्रापि यद्यसौ कम्पमानदेहस्तदा अन्येन पुत्रादिना हस्ताद् गुहीतोऽन्यथा कम्प- मानदेहत्वाद्भूमिपाताद्यनर्थान् लभते अवेपमानदेहश्चान्येनादृतोऽपि पतनाद्यभावादगलल्लालो यदि ददाति तदा भिक्षा गृह्यतेऽन्यथा निषेधः । १ । 'अपहृत्ति' । अपभृदीयमानभक्तादेरस्वामी भृतकादिस्त्वस्मिन् । अपभृत्वाहीयमानं तेन न कल्पत इत्यर्थः । स्वामिना तु तद्गस्तेन दाप्यमानं कल्पते एव । २ । 'पंड'त्ति । पण्डो नपुंसकस्त्वस्मिन् दीषाश्चाभीष्टं तद्गस्ताद्भिक्षाग्रहणेऽन्योन्याभिलाषादयः । स हि अतिपरिचयात् क्षोभणेन कामोत्कटकत्वात्साधोर्हिङ्गधावनादि कुर्यात्ततः कर्मबन्धः, सकृद्ग्रहणे च न तथादोषस्तथाऽहो एते नपुंसकादपि गृह्णन्ति इत्यादि लोके जुगुप्सा स्यात् । अपवादस्तु वह्निवचिषितमश्रोपहतौपध्नुपहतश्रुपिग्रसदेवयसादिषु केषुचिदप्रतिसेविनपुंसकेषु ददस्तु भिक्षा ग्राह्या । ३ । 'वेविर'त्ति वेपमानः कम्पमानः कम्पमानकायस्त्वस्मिन् । स हि देयमान यन्भूमौ परिखाटयेत् तथा साधुभाजनाद्गृहिर्भिक्षां क्षिपेत् देयमात्रकं वा पातनेन स्फोटयत्तथा यद्यसौ दृढभिक्षाभाजनग्राही स्यात् , इतरथा माघादि भूमौ पातयेत् , तदा ग्राह्या । ४ । 'जरि'त्ति उवरित आगततापस्त्वस्मिन् , दीषाश्चाप वेपमानस्तथा जैना आहार- लम्पटा ये उवरिणमपि न परित्यजन्तीति जने खिन्ना स्यात्तथा विस्फोटकाद्यपिबन्धवरस्य संक्रमोऽपि साधो स्यात् । यदि सौचा

पिण्ड-  
विशुद्ध-  
शंद्रसूरीया  
शक्तिः

॥८८॥

विरफोटकाषाशिवज्वरेत्वरज्वरान्वितस्तदा यतनया ग्राह्या । 'अंध'ति अन्धो विगतदृष्टियुग्मस्त्वस्मिन् । अन्धो ह्यपश्यन् पादाभ्यां  
भूस्यकीटिकादिघातं कुर्यात् लेब्धादौ च पादाभ्यां स्वलितो भूमौ पतेत्तथा पततो हस्तगृहीतस्थाल्यादेर्भङ्गः स्यात् । साधुपात्र-  
काद्बहिः क्षेपणे परिशाटिर्जने उद्ग्राहश्च । तथा तस्यापि देयं यदाऽन्यः पुत्रादिर्हस्ते समर्पयेद् , अन्यथा तत्स कथं युज्जाति, सोऽपि  
पुत्रादिना धृतो यदि ददाति, अन्यथा सोऽपश्यन् लेब्धादिस्वलितो भूमौ पतेद्देयं वा साधुभाजनाद्बहिः क्षिपेत् , तदा ग्राह्या ।  
'अवत्'ति अव्यक्तः स्पष्टज्ञानाभावाज्जन्मतो वर्षाष्टिकाभ्यन्तरवर्ती बाल उच्यते, तस्मिन् बाले हि देयमानमजानति सति मात्राद्यसमक्षं

ददति अहो ! लुण्टाका एते इत्युद्ग्राहो, मात्रादेः प्रद्वेषादिकं च स्यादत्राख्यानकं यथा-

अणोमकोडुंबियसंकिन्ने एणंमि गांमे एणा भदिया नाम अगारी होत्था । तीए उहरिया, एणा दुहिया अहेसि । अबया  
तत्थ समुहयोसो नाम खरिणो विहरंता आगया । तेसिं च एणो सीसो अईव लोभिह्लो भदियाए निहे निबुं भिक्खुद्दा एइ, अबया च  
तुमं साहुस्स भिक्खवं देज्जसु ति नियसुयं पत्तविय भदिया खेतं गया । आगओ सो साहु जावइओ ओयणो जणणी देंती तावइओ  
तीए तस्स दिवो । तेण लोभवसा भणियं, पुणो वि देहि, तीए मुद्धत्तणेण पुणो वि सो दिवो । एवं मुग्गकरंवाहयं दिबं जाव सव्वं  
कंजियं ति । आगया भदिया भोयणट्टमुक्खविट्ठा य भणिया य तीए सुया । जहा पुत्ते ! ओयणं देहि ? । तीए भणियं से सव्वो साहु-  
स्स दिवो । भदियाए भणियं सुट्टं कयं मुग्गं आणेहि, तीए वुत्तं तेवि सव्वे साहुणो दिवो । एवं जाव सव्वं कंजियं दिन्नं । भदि-  
याए भणियं कीस सव्वं दिन्नं ? तीए दाणवुत्ततो कहिओ तउ भदिया अभदिया जाया । साहुस्स उवरि पउट्ठा । आगया आयरिय-  
स्स समीवं भणियमणाए जहा एसो तुम्ह सीसो अईवल्लोहिओ ल्हिऊण, अण्णाइयं सव्वं मउद्धगेहाओ आगओ । ता किं धाडिदा-

यगो एसो इषाद्, लोको मिलिओ उद्वाहो जाओ । लुटागा एए हवंति चि लीए वाओ जाओ । तउ आयरिएहिं तीए कोवोवसमण-  
 र्यं प्च्छंतीए खेव उवगरणं उद्वाल्लिउण सकोवं सो साह भणिओ, जहा जो तुमं एवंविहास्नीहंकारओ तेण अम्हाणं न किंचि  
 कञ्जं, नीहरह चि, तउ तीए उवसंतो कोवो । प्च्छत्तावाऊरियहिययाए भणिया क्षरिणो भयवं ! एयमवराहं मम खमह । ते खमा-  
 विउण गया सा सगिहंति । तथा बालोऽपि यद्यसौ दक्षः स्यात्, मातुः परोक्षं स्लोकं च ददाति, तदा त्वं मात्रेदं दापित इत्यादि  
 पृच्छं विना तद्गस्ताद् गृह्यते स्लोकदेयतयोक्तदोषाम्भवात्, स्लोकदानेऽपि दोषसम्भवेऽसौ (पृच्छा) कार्या । यदि च मातुः परोक्षं  
 प्रचुरमसौ ददाति तदाऽवश्यं सा (पृच्छा) कार्या । ततो मातृसत्का प्रचुरमुक्तलना चेत्तदा गृह्यते नान्यथा । पार्श्ववर्तिन्या मात्रा पुत्रि !  
 याधवे देहीत्युक्ते च यद्यसौ तत्समक्षं स्लोकं प्रभूतं वा ददाति (तदा) पृच्छं विनापि गृह्यते । ७। तथा मत्तो मदिरापानोत्थमद्  
 विह्वलस्तस्मिन् । अयं हि साथोरालिङ्गनमाहननं पात्रभेदं वा कुर्यात् । तथाऽशुचित्वात्साङ्घिक्षाग्रहणे जनस्त्रिंसा स्यात् । तथा यद्यसौ  
 मनगमत्तोऽन्यथाऽतिविह्वलः सन् दातव्यादातव्यविभागं न जानाति, सोऽपि चेच्छ्रद्धः, हतरो ह्यस्यार्थस्य लोके प्रकाशनात्प्रवचने  
 त्रिसकः स्यात्, सोऽपि चेच्छुचिहस्तोऽसमयज्ञजनरहिते स्थाने च दद्याद्, अन्यथा प्रवचनस्त्रिंसा, तदा तद्गस्ताद् गृह्यते नान्यथा ।  
 ८। उन्मत्तो महासङ्ग्रामादिजयादूर्णाध्मातो ग्रहगृहीतादिश्च तस्मिन् । इहापि आलिङ्गनाहननभाजनभङ्गकरणगालीप्रदानादयो दोषा  
 न्नेषाः । तथा यद्यसौ धर्मप्रिया शुचिश्च स्याद्, अन्यथा प्रवचनस्त्रिसकः स्यात्, तदा ग्राह्या । ९। तथा करचरणौ हस्तपादौ छिन्नौ  
 कर्चितौ यस्येति विग्रहे वाऽऽहितान्यादेराकृतिगणत्वान्निष्ठान्तस्य पूर्वनिपाताभावे करचरणच्छिन्न इति स्यात् । करच्छिन्नक्षरणच्छिन्न-  
 श्चेति द्वयं तस्मिन् । तत्र छिन्नकराङ्घ्रिक्षाग्रहणे मूत्राद्युत्सर्गादौ जलग्नौ चाभावेऽशुचित्वाच्छ्लोकनिन्दत्वाच्च जनस्त्रिंसा, दानासमर्थत्वाद्-

यमात्रकयोः पातं च कुर्यात् । छिन्नपादश्च स्वयं पतेत् जनस्त्रिंसा च, तथा छिन्नकरोप्यपरिश्राटिमदशावदसागारिकस्थाने दद्यात् । १० ।  
छिन्नपादोऽप्युपविष्टोऽसागारिकस्थान एव वा चेत्तदा गृह्यते । ११ । प्रगलितो गलत्कुष्ठस्तस्मिन् अत्यर्थं गलदूर्ध्वपकरुधिरे रशुटितदेहे च  
ददति साधोरपि कुष्ठसंक्रमः स्यात् । तदीयोच्छ्वासत्वक्संस्पर्शस्वेदमलमूत्रोच्चाराहारलालादिभिः शरीरान्तरे तत्संक्रमस्य शार्ध्रेऽभि-  
हितत्वात्ततो न ग्राह्या । तथाऽत्रापि त्वग्दोषिणि यदि वृत्तदद्गुरूपस्त्वग्दोषः स्यात्, सोऽप्यसागारिकस्थाने, तदा ग्राह्या । १२ । तथा 'निय-  
लंड्य' ति सूचनान्निगडहस्तान्दुकवद्ध इति । तत्र निर्गडैः पादविषयलोहमयबन्धनैर्हस्तान्दुकेन वा करविषयकाष्ठमयबन्धनेन बद्धो  
नियञ्चितस्तरिमन्, पादनियञ्चितो हीतश्चेतश्च पर्यटन् बाध्यते पतद्वा जनस्त्रिंसा च । हस्तबद्धस्तु भिक्षां दातुमपि न शक्नोतीति तत्र  
प्रतिषेधः सिद्ध एव, केवलं स्वरूपविशेषणतया बद्धप्रसङ्गादेत्तद्ग्रहः । अत्रापि यदि निगडबद्ध इतश्चेतश्च पर्यटनसमर्थः पर्यटनाशक्त-  
श्चोपविष्ट एव असागारिके चेद्दद्यात्तदा ग्राह्या । १३ । तथा पादुकयोः काष्ठमयोपानहोमारूढश्चटितः पादुकारूढः तस्मिन् ददति न  
गृह्णतीति, अयं हि दुःस्थिततया ददद् भूर्मो पतेत् पतंश्च कीटिकादीन् विराधयेत् । तथा यद्यसौ स्थानस्थो ददाति, स हि चलन्  
कदाचिद् पातयेत्, तदा ग्राह्येति गाथार्थः । १४ ॥ ८५ ॥

खंडइ पीसइ भुंजइ, कत्तइ लोढेइ विक्रिणइ । पिंजे दलइ विरोलइ, जेमइ जा गुठिचणि बालवच्छा य ॥ ८६ ॥  
व्याख्या—अत्र वक्ष्यमाण—'पा' शब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । ततश्च या कचिद् स्त्री कंडयति उदुखले करटयादिकं छडयति,  
तस्यां ददत्यां भुनयो भिक्षां न गृह्णन्तीत्युत्तरेण सर्वत्र योगः । इयं हि उदुखलक्षिमशालयादिवीजसङ्घट्टनादि करोति भिक्षादानात्पू-  
र्वमुत्तरकालं वा जलेन हस्तधावनान्त् पुरःपश्चात्कर्मर्मादीपं चेति । इह च कण्डनादिव्यापारस्य स्त्रिया उचितत्वाद्दानप्रवृत्तौ प्राय-

स्तासां मुख्यत्रास कण्ठतीत्यादिक्रियाः प्रतीत्य यच्छब्दे स्त्रीलिङ्गनिर्देशं कृतवानिति । एवं उत्तरत्रापि दृश्यं । तथाऽत्रापि यदा कण्ठना-  
 योत्पाटितं मुखलम्बान्तरे साधुरायातस्तच्च यदि मुखदत्तलोहमयकुण्डलिकारूपायां काञ्चामलप्रकरत्र्यादिवीजं पाताद्यनर्थरहितगृह-  
 कोणादौ तु मुक्त्वा ददाति तदा कल्पते । १५। तथा पिनाष्टि शिलायां जलार्द्रसच्चिन्मुरादिसत्कदात्यादि तिलामलककुम्भुसुल-  
 वणजीरकादि वा मुद्राति वर्त्तयतीति यावत् । तत्र च काचिन्नत्विका मुद्रादिर्वा तिलादिर्वा सच्चितः सम्भवतीति तत्सङ्घट्टो, भिक्षा-  
 खरण्टितहस्तयोश्च जलेन प्रक्षालने पुरःकर्म्मदिदोषश्च, तथा पिप्यन्त्यामपि जलार्द्रसच्चिन्मुरादिसत्कदात्यादिपेपणसमाप्तौ यदि ददाति,  
 त्रिच्छटं तंदुलादि वा पिप्यन्ती यदि स्यात्तदा ग्राह्या । १६। तथा 'मुंजह'चि भुञ्जति रतितुल्यं (चुल्ल्यां) कडिल्लकादौ चणकगोधूमा-  
 दीन् स्फोटयति, भर्जमानाया हि भिक्षां दत्त्वा वेलालजना(गनेन) कडिल्लकादिप्रक्षिप्तचणकगोधूमादेर्दहिऽप्रीत्यादिभावात्,  
 तथैतस्यामपि यत्सच्चितं गोधूमादिकं कडिल्लके क्षिप्तं तद्भुञ्जोत्तारितमन्यन्नाऽद्यापि हस्ते गृहीतमेतस्मिन् प्रस्तावे साधुरायात-  
 स्ततो यद्युत्तिष्ठति तदा गृह्यते । १७। 'कर्त्तयति कृणोति वा' चक्रेण रूतप्रोणिकां सूत्रतया विदधाति । १८। 'लोठयति' लोठिन्यां  
 कृणकेन(शलाकया) कर्पासं रूततया विदधाति । १९। 'विकृणोते' विकीर्णयति वा रूतं कराभ्यां पौनःपुन्येन श्लक्ष्णयति । २०। 'पिञ्जयति'  
 पिञ्जनेन रूतं मृदु करोति । इह कर्त्तनादिकर्त्री देयलिप्तहस्ता सती हस्तधावनरूपं पुरःकर्मादि कुर्यात् । तथा लोठयन्त्या हस्ते सच्चित-  
 कर्पासः स्यात्कार्पासिकांश्च पादादिना सहृद्ध्यति । तथा चतसृष्वपि चायं ग्रहणविधिस्तत्र कर्त्तयत्यां यदि श्वेतताऽतिशयोत्पा  
 दनाय शङ्खचूर्णेन हस्तौ न लिप्तौ स्यातां, लिप्तौ वा चूर्णेन यदि निःशूकतया शुन्यर्थं जलेन न धावति पुरः पश्चाद्वा, तदा गृह्यते ।  
 लोठयन्त्यां च यदि हस्ते धृतः कर्पासो न स्यात्कार्पासिकान्वा यद्युत्तिष्ठन्ती न घट्टयति तदा गृह्यते । विकृण्वन्त्यां पिञ्जयन्त्यां च



यदि हस्तधावनादिना पुरःकर्मणादि न स्यात्तदा गृह्यते ।२१। तथा 'दलयति' धरद्वे सच्चित्तमुद्रगोधूमादींश्चणयति पिनष्टीति यावत् । दलयन्त्यां हि धरद्विश्विषयीजसङ्घट्टादि, हस्तधावनं जलविराधना वेति । तथा दलयन्त्यामपि सच्चित्तमुद्रादिना दलयमानेन सह धरद्वौ मुक्त एतद्वप्रस्तावे साधुरायातस्ततो यद्युत्तिष्ठति, अत्रेतनं वा भञ्जितमुद्रादिकं दलयन्ती यदि स्यात्, पुरःकर्मणादि च न कुर्यात्तदा ग्राह्या ।२२। तथा 'विरोलयति' मन्थानकरादिना दध्यादि मन्थनाति । तद्धि कदाचिद् संसक्तं स्यात्ततश्च तद्विरोलने उच्छीरूप-केन्द्रियादियुक्तलिप्तकरत्वात्तद्विधः स्यात्तथा विरोलयन्त्यामपि यदि दध्याद्येकेन्द्रियाद्यसंसक्तं मन्थनन्ती स्यात्, तद्धि क्वचिद्देशे-ऽतीव संसज्यते, तदा गृह्यते ।२३। तथा 'जेमति' अभ्यवहरति, जेमन्ती हि यदि भिक्षादानार्थमुत्थाय जलेन शौचं करोति तदाऽष्क्राय-विराधना, हस्तोत्सृष्टा ददाति तदा लोकगर्हा उत्सृष्टमप्येते न त्यजन्तीति तत्र च महादोषो, यत उक्तं- 'हक्रायदयावंतो वि संजउ दुल्लहं कुणइ वोहि । आहारे नीहारे दुर्गच्छिष् पिंडगहणे य' ॥१॥ तथा अत्रापि यद्यनुत्सृष्टा सती यावन्मुखे कवलं नाद्यापि क्षिपत्येतत्प्रस्तावे साधुरायातस्तदा गृह्यते ।२४। तथा या काचित्स्त्री गुर्विण्यापन्नमत्वा स्यात्तस्यां हि भिक्षा-दानार्थमुर्ध्वीभवत्यां भिक्षां दत्त्वाऽऽसने उपविशत्यां च गर्भस्य बाधा स्यात् । तथा गुर्विण्या अपि मासाष्टकवर्तिगर्भाया हस्ताद् गृह्यते नवमवेलाभासगर्भायाश्च नेति । स्वभावस्थितया तयाऽपि दीयमानां गृह्णन्ति । स्थविरानाश्रित्येयमनुज्ञा । जिनकल्पि-कादीनाश्रित्य च निरपवादत्वात् सर्वनिषेधो यतस्ते स्त्रेण ज्ञात्वा गर्भाधानदिनादरभ्य नवापि मासान् परिहरन्ति ।२५। तथा बालवत्सा सनजीविशिशुका तस्या हि भिक्षां दत्त्या बालं भूमी मुक्त्वा शशकादिपिशितपिण्डोऽयमिति तं भूमिस्थं श्वविरालादि-विनाशयेत् । तथाऽऽहारेण खरणिदतौ शुक्रौ हस्तौ कर्कशौ स्याताम्, ततश्च भिक्षां दत्त्वा पुनर्दाज्या गृह्यमाणस्य बालस्य पीडा

स्यात्त्रयाऽत्रापि स्थविरकल्पिका बालवत्सायाः स्तन्याशनादिजीविशिशुकाया हस्ताद् गृह्णन्ति यदि बालः स्तनं धयन्नधयन्वा तथा मुक्तो न रोदिति, रुदति च तस्मिन्नेति । केवलस्तन्यजीविशिशुकाया च स्तनपानाद्भाले मुक्ते रुदत्यरुदति च तद्धस्तान्नेति । अपि-  
वति च तथा निक्षिप्ते ऽरुदति च स्तन्यजीविन्यपि तद्धस्ताद् गृह्णन्ति, रुदति च नेति । जिनकल्पिकाद्यश्च यावद्भालः केवलस्त-  
न्यपायी तावत्तं मुक्त्वा ददत्या निरपवादात्तद्धस्ताद् भिक्षां न गृह्णन्ति । अयमत्र विभागः । केवलस्तन्यजीविनि पिवत्यपिबति च  
निक्षिप्ते रुदत्यरुदति च न गृह्णन्ति । स्तन्याशनादिजीविनि च पिबति निक्षिप्ते रुदत्यरुदति च न गृह्णन्ति । अपिबति मुक्तेऽरुदति  
गृह्णन्ति, रुदति च नेति । २६। चः समुच्चये इति गार्थार्थः ॥८६॥

तद् हृक्काष्णिणहृद्, घट्टद् आरंभद् खिवद् दद्दु जद् । साहारणचोरियगं देद्, परक्कं परटुं वा ॥८७॥

न्याख्या—तथेति वाक्पोऽक्षेपे 'या' इति पदं सर्वत्रेहापि सम्बध्यते । ततश्च या काचिन्महिला पट्कायान् लवणोदकापिवात-  
परितद्वतिपर्ववीजपूरादिपुत्रकर्मस्पर्धारूपान् पट्जीवनिकायान् गृह्णाति हस्ते धारयति, तस्यां ददत्यां न गृह्णन्ति, पट्कायस्य पीडा-  
दिदोषसङ्गावादेवमुत्तरद्वारत्रयेऽप्ययं हेतुर्दृश्यः । २७। तथा 'घट्टयति' प्रकान्तान् पट्कायान् शेषशरीरावयवधिरुःकर्णादिस्थान् संब-  
द्वयति चालयतीति यावत् । तथा पादाभ्यां या तानेव चालयतीत्यपि दृश्यं । तत्र सिद्धार्थकत्त्वात्पुष्पाण्याद्दूर्वरिाजिकाशतपत्रिकादि-  
पुष्पाणि वा धिरःस्थानि, अभ्लानमालतीमालादीन्युरःस्थानि, बदरकरीरजपाकुसुमादीनि आभरणतया कर्णस्थानि, परिधानाद्यन्तर  
स्थापितसरसवृन्तवात्पूलपत्रादीनि शरीरस्थानि या धारयति, तस्यां शरीरन्यस्तपुष्पादिकायां ददत्यां दात्र्यां न गृह्णन्ति । २८। तथा  
'आरभते' पट्कायान् विनाशयति । तत्र पृथ्वीकायं कुश्यादिना खनन्त्यारभते । मञ्जनवस्त्रादिधावनगवादिसेचनादीनि च कुर्वत्य-

प्रायं । उल्मुकवहनादिना अग्निं उवलयन्ती तेजस्कायं, चुल्ल्यां तमेव फुल्कुर्वणा वायुं, चिभित्तादिच्छेदनेन सूर्यादिना मुद्रादि-  
शोधनेन च वनस्पतिक्रायं, पीडयोद्वेष्टतो मत्स्यादिमत्तुणादीन् व्यथयन्ती त्रसकायमारभते । २९। तथा दृष्ट्वा व्यवलोक्य यतिं साधुं,  
तस्मै भिक्षादि दानाय षट्कायान् शरीरस्थान् या क्षिपति भूम्यादौ मुञ्चति । ३०। तथा 'साधारणं' बहुजनसाहिकं या ददाति । तस्यां  
गृह्णति । साधोर्ग्रहणाकर्षणधर्माधिकरणनयनादिदोषभावात् । दातुर्वा स्वामी निग्रहादिकं कुर्यात् । ३१। तथा 'चोरितकं' चोरिकया  
ददत्यां न गृहीतं द्रव्यं लङ्ङ्कादि या ददाति प्रयच्छति, तस्मिन् हि स्वामिवञ्चनेन कर्मकरेण अपशुवधृटीभ्रातृजायादिना वा श्वश्रू-  
ननान्द्रादिवञ्चनेन दीयमाने साधुना च गृह्यमाणे साधोर्दातुर्वा बन्धनादिः स्यात् ॥३२॥ तथा 'पराकथं' परकीयमिदमिति सत्यमेव  
जल्पित्वा गोखामिकविषयासङ्घकेन (१) ददाति तत्र ग्राह्यमदत्तादानान्तरायादिदोषात् । ३३। तथा परस्येदं परार्थं, तत्र परोऽन्यः  
साधुः कार्पटिकादिकस्त्वस्मिन् च यद्दानाय कल्पितं साधवे ददाति तत्परमार्थतो यदर्थं स्थापितं तत्सत्कत्वात् गृह्णति ॥३४॥ वा समुच्चये  
इति गाथार्थः ॥८७॥

तथा—  
तवह बलिं उज्वत्तइ, पिठराइ तिहा सपञ्चवाया जा। देतेसु एवमाइसु, ओषेण मुणी न निणहन्ति ॥

तवह बलिं उज्वत्तइ, पिठराइ तिहा सपञ्चवाया जा। देतेसु एवमाइसु, ओषेण मुणी न निणहन्ति ॥

न्यालया—दृहापि 'या' इति पदं सम्बन्धनीयं । ततश्च या काचित्स्त्री 'तवह बलिं'ति बलिरग्रकूरसंज्ञित उपहारस्तं स्थापयति साधु-

दानाय प्रवृत्ता सतीति, मूलस्थालया आक्रुष्य स्थगनिकादौ मुञ्चति, तत्स्थालीमकत्वं ददती वर्जनीयेत्यर्थः, तत्र पर्वतनादिदोषभा-

वात् । ३५। तथा 'उज्वत्तइ पिठराइ'ति तत्र पिठरादि काञ्जिकिन्यादिकं(?) भाजनं । तत्तन्मध्यस्थितवस्तुदानायोद्धर्तयति भूमौ स्थितं

नमयति । उपलक्षणत्वान्महत्पिठरादिकमुत्क्षिपति चेति दृश्यं । तत्र चोद्दर्यमाने कीटिकामत्कोटकादेर्विधः स्याद्दर्शोत्पाटनाच्च स-  
 न्नवधः, दाश्याः पीडा, भाजनभङ्गादि च स्यात् ॥३६॥ तथा त्रिधा त्रिभिः प्रकारैरुर्ध्वार्धस्तिर्यग्लक्षणैः सप्रत्यपाया सम्भाव्यमाना-  
 भिषाताद्यनर्था या काचिन्नारी स्याद्यमर्थः-भिक्षां ददत्या यस्या दाश्याः क्रमशः उत्तराङ्गकाष्ठदेः कण्टकादेर्नवादेः सकाशाद्दर्शोर्ध्व-  
 स्तिर्यग्गुणाः प्रत्यपायाः सम्भाव्यन्ते, तस्यां ददत्यां न गृह्णति ।३७। ननु साधारणस्य निम्बुदोषत्वात् परार्थं स्थापितस्य च स्थाप-  
 नादोषवत्त्वात् पिठराद्युद्धर्त्तनस्य संहतदोषवत्त्वादेत्तदुपादानमयुक्तं, नैवं, पूर्वं दोषप्रस्तावेन, इह दातृप्रस्तावाद्गुक्तमिति, न चैकस्यापि व-  
 स्तुनोऽनेकदोषोपनिपातो नोपपद्यते, अस्य न्यायस्य तत्र तत्र प्रवेशत्वात् । एवमन्यत्रापि लक्षणसाङ्कोर्यं प्रत्युत्तरं बाल्यमिति । तथा  
 मत्तया यतिशरीरोपष्टम्भार्थं साधुनामिरथं न कल्पते इत्येतज्जानानः कश्चिदाथाकम्मादिमध्याद्यथासम्भवमन्यतमं दोषं कुर्यात्, कश्चिद्  
 प्रत्यनीकतया अनेपर्णियाऽग्रहणनियमभङ्गनाथं, यतेश्वरथं न कल्पते इत्येतज्जानानः ऋजुतयैव कुर्यादित्युपलक्षणत्वाज्ज्ञायकाऽज्ञाय-  
 कदादृश्यमपि दृश्य ।३८। एवं दायकानभिधाय साध्यार्थकथनायाह । 'दंतेसु एव माहसु' चि स्त्रीपुरुषाविवक्षया सामान्येन ददत्सु  
 प्रयच्छत्स्वेवमादिष्वनन्तरौकस्थविरादिषु सप्रत्ययान्तेषु दातृषु, विशेषविवक्षयां स्थविरादौ ददति दातरि ददत्यां वा दाश्यामिति  
 योज्यमोघेन सामान्येनोत्सर्गेणेत्यर्थः, मुनयो यतयो न गृह्णन्ति, नाददनेऽज्ञानादीति शेषः । सामर्थ्यात् स्थविरादिविपरीतेषु ग्राहं ।  
 तत्र स्थविरस्य विपरीतो युवा । म च षोडशत्रपेभ्य उपरि यावच्चत्वारिंशद्वर्षाणि तावत्स्यादित्यादि भावनीयम् । तथेहोवेनेति वद-  
 न्नुत्सर्गेण स्थविरादिषु ददत्सु न गृह्यतेऽपवादेन तु ग्लानादिकार्ये स्थविरादिदातृभ्योऽपि हस्तात् कथञ्चिद् गृह्यते, कथञ्चित्तु नेत्या-  
 च्ये । तच्च यथास्थानं दर्शितमेवेति गाथार्थः ॥८८॥

उक्तं दायकद्वारमथोनिमश्रद्वारं व्याचिरव्यासुस्तद्वक्ष्येणं तद्रतं कल्प्याकल्पयविधिं चाह ।

जोगामजोगं च दुवे वि मिसिउं देइ जं तमुन्मसिं । इह पुण सच्चित्तमीसं, न कण्णमियरंमि उ विभासा ॥

पिण्ड-  
विशुद्धे  
श्रद्धसरीया  
वृत्तिः

॥९२॥

व्याख्या—योग्यं सायुदानायोगितं पूरणौदनकरंबकादि, तथा अयोग्यमकल्पयतया साध्वनुचितं मचितं, मिश्रं दाडिमकलि-  
काप्रादि खण्डलवणादिदानाद्, अचित्तं तुषादि वा, चः समुच्चये । द्वे अपि द्विसहस्रे अपि वस्तुनी नत्वेकं किञ्चिन्मिश्रणस्योभया-  
श्रितत्वादित्यपरर्थः । मिश्रयित्वा एकीकृत्य ददाति साधवे प्रयच्छति । यद्यस्मात्तस्मात्कृत्वादि, उत्प्रावलेन मिश्रीकृत्य दीयमान-  
त्वादुन्मिश्रमुच्यते । उन्मिश्रणं चेद्वाचित्त्रद्वययोरपि मीलनमात्रमेव ज्ञेयं न तु करवीकरणं तस्य कृतौद्देशिकतया प्रागभिधानात् ।  
इह च योग्ये वस्तुनी अनेन निमित्तेन किल केवलं दीयमानं स्तीकं स्यादिति लज्जया, पृथग्दाने वेला लगतीत्यौत्सुक्येन, मीलितं  
मिष्टं स्यादिति भक्त्या, अनाभोगेन वा, सचित्ताभक्षणनियमभङ्गे भवत्वेतेषामिति प्रत्यनीकतया चोन्मिश्रं ददाति । इहापि च  
चत्वारो भङ्गा भवन्ति यथा सचित्तमिश्रे सचित्तमिश्रमुन्मिश्रितं । तत्र सचित्तमिश्रे नारङ्गखण्डादौ सचित्तमिश्रं दाडिमकलिकादि-  
लवणादि वा । पूर्वोक्तकरणोन्मिश्रितमित्यर्थः । तथा अचित्तमिश्रे (सचित्तमिश्रं) २ सचित्तमिश्रेऽचित्तं ३ अचित्तेऽचित्तमुन्मिश्र-  
तमिति ४ । अत्र कल्प्याकल्पयविधिमाह । इह पुनरित्यादि, इहोन्मिश्रिते पुनः शब्दः संहतोऽन्मिश्रयोर्विशिष्टव्यापनार्थः । एतच्चो-  
परिष्टाद्दर्शयिव्यामः । सच्चित्तमिश्रं बीजकन्दहरितादि तन्मिश्रं देयद्रव्यं च, किमित्याह । न नैव कल्प्यं ग्रहीतुमुचितं यतीनामतेनादि-  
भङ्गत्रिके ग्रहणनिषेध उक्तो, ग्राह्यमेव सचित्तं स्यादित्यादिदोषात् । इतरस्मिस्तु चरमभङ्गकाश्रितेऽचित्तमिश्रिते देये पुनर्विधिवा भाषा  
भाषणं विभाषा । संहतद्वारोक्तचतुर्थभङ्गविषयस्तोक्तबहुपदोत्थचतुर्भङ्गरूपा भजनारूपा च विकल्पना कार्या तेनेहापि शुष्कार्द्र-

व्ययोरनिमिश्रणं द्रष्टव्यं । ततः स्तोकं स्तोकं, बहुके स्तोकमचित्तमुनिमिश्रतमिति प्रथमतृतीयभङ्गयोर्यद्गुरिक्षप्य स्तोकाधारेण भोजनेन  
 ददाति तदा कल्पयता । स्तोकं बहुकं, बहुके बहुकमुनिमिश्रतमित्यनयोरकल्पयता, दातृपीडादिपूर्वोक्तदोषात् । ननु संहतौनिमिश्रयोः  
 मच्चित्तादिवस्तुनि मच्चित्तादिवस्तुनो निक्षेपादन्योन्यं कः प्रतिविशेषः ?, उच्यते, संहते भिक्षादानार्थं [द्रव्यादि] मात्रकस्थितं [च]  
 द्रव्यमयोग्यं दाडिमकलिकादि तुषादि वाऽन्यत्र स्थानिकादौ सञ्चार्यं तेनैव रिक्तीकृतभाजनेन कूरादिकं साधवे ददाति, उन्मिश्रिते  
 तु योग्यायोग्ये द्रव्ये यत्र भाजने ते द्वे अपि मिश्रिते तदवनामनेन तेनैवान्येन वा भाजनेन ददातीत्युभयोर्विशेषः पुनःशब्दश्चिती  
 नेय इति गार्थार्थः ॥८९॥

उक्तमुनिमिश्रणमथापरिणतद्वारमाह ।

**अपरिणयं द्रव्यं चिद्य, भावो वा दीोह द्वाण ण्गस्स । जइणो वेणस्समणे, सुद्धं नदस्स परिणामियं ॥९०॥**

व्याख्या—इहापरिणतं साध्यं वस्तु तच्च द्रव्यभावभेदाद् द्विधा, पुनर्भावापरिणतं दातृग्रहीतृयोगात् द्विधैव । तत्र द्विधाऽपरिणतं  
 तावदाह । ‘अपरिणयं द्रव्यं चिद्य’ति, अपरिणतमनपगतजीवं सचेतनमित्यर्थः । द्रव्यमेव देयस्वरूपं पृथिव्यादिकं यो दाता ददाति ।  
 यश्च गृह्णाति तदपरिणतत्वधर्मयोगाद् द्रव्यापरिणतमुच्यते । दीयाश्च सच्चिग्रहणाज्ञाभङ्गादयो वाच्याः । दातृविषयं भावापरिणतमाह ।  
 भावोऽव्यवसायो दानपरिणाम इत्यर्थः । वा विकल्पे । द्रयोर्द्विसङ्ख्ययोर्दानादिस्वामिनोर्भव्यादुपलक्षणत्वाद् बहुनां च साधारण-  
 साधनादेदंति वितरणे एकेन क्रियमाणे एकस्य दानपक्षया द्वितीयस्य आत्रादेरित्यर्थः यत्रापरिणतोऽभवनशीलो भवतीति शेषः  
 तदातृभावापरिणतं, अयमर्थः—दातुः पितृभ्रातृस्वाम्यादिभिः साधारणोऽश्ननादौ यदाता, यच्छान्येतत्साधवे इतिदानपरिणामयुक्ती

ददातीतरेषां च तदातुर्दानादधिकरणमनुजआत्रादीनां तरिमन् तेन दीयमानेऽपि चित्तसंक्लेशः स्यात् तदाशुविषयभावापरिणतं । अस्य साधारणानिष्टस्य च दायकसमक्षसमक्षत्वकृतो विशेषः, दोषाश्चान्न साधारणानिष्टश्लोका ज्ञेयाः । ग्रहीतुविषयं भावापरिणत-  
माह । 'जहणो' इत्यादि भिक्षार्थं सङ्घाटकरोपेण गृहे गतयोः साध्वोर्यत्तन्मध्यादेकस्य कस्यचिद्यतेः साधोः शङ्कायुक्ततया शुद्धत्वेन मनसि शुद्धं दोषरहितमिति मनसि चित्ते परिणमितं निर्णीतं, तदेवाशानादि, न नैवान्यस्य कस्यचिद्यतेः साधोः शङ्कायुक्ततया शुद्धत्वेन मनसि परिणतं तद् गृहीतुभावापरिणतमेतदपि न ग्राह्यमन्योन्यं कलहादिसम्भवादिनि गाथार्थः ॥९०॥

उक्तमपरिणतद्वारमथ लिप्तद्वारं विवरीषुस्तस्वरूपं तद्गतं विधिविशेषं चाह ।

**दहिमाइलेवजुतं लिप्तं तमगोद्धमोहओ इहयं । संसटुमत्तकरसाव—सेसद्वोहिं अडभंगा ॥९१॥**

व्याख्या—इह लिप्तमिति माध्यं । ततो 'दहिमाइ' ति सकारस्यालाक्षणिक्त्वाहव्यादिगोरसदुग्धतीमनप्रभृति तत्खरणिटतं, कूरादि वा । कीदृशमित्याह लेपयुक्तं लेपवदित्यर्थः । तत्किमित्याह 'लिप्तं' ति करमात्रकादिखरणटनकारित्वालिप्तमुच्यते । तल्लिप्तं दध्याद्यग्राह्यं साधुना नाऽऽदातव्यं । ओघतः सामान्येनोत्प्रेरणेत्यर्थः । इहास्मिन् प्रवचने, किन्तु सामर्थ्याद् ग्राह्यमलेपकृद्ब्रह्मौदनादिक-  
मेव । लेपकृति हि दुग्धादौ गृह्यमाणे दाढ्या तल्लिप्तहस्तादेर्धावने पश्चात्कर्मपीदिर्यते रसगाढ्यं च स्यादलेपकृतोऽग्रहणे तदभावो यते रसगुच्छभावाश्च । तथैवत इति वदता अपवादने लेपकृदपि ग्राह्यमित्यावेदितं । अत्राह परः—नन्वाहारग्रहणे पश्चात्कर्मपर्यटनाक्लेशादि-  
दोषभावाद्यावज्जीवं भोजनं विनैव तपः कुर्वन्निष्ठतु किमर्थमाहार एव गृह्यते ? एवं हि मूलदोषोत्थानं निषिद्धं स्यात्, नैवं, निरन्तरं यावज्जीवमुपवासान् कुर्वन्तस्तस्य बुभुक्षितत्वेनाशक्ततया वैयाहृत्संयमपालनाऽभावात्, न वैतत्तीर्थे उत्कृष्टतोऽपि षणमासाभ्यधिकतप इति

क्षीयमाणसामर्थ्यात् । यद्येवं तर्हि निरन्तरं पाण्मासिकं तपो विधाय, तत्परिपूर्णकरणाशक्तौ एकश्चादिदिनो न तदेव कृत्वा, यावच्चतु-  
 र्धमपि विधाय सर्वत्र पारणकदिने आचाम्लेन पारयित्वाऽऽचाम्लतपसो हि शुष्कप्रार्थोदनाहुष्णोदकाभ्यामुत्कृष्टस्यागमेऽभिभ्रानाद्विपुल-  
 निर्जरासद्भावात् । इत्थमप्यशक्तो प्रतिदिनमाचाम्लमेव करोतु किं लेपकृतक्रादिद्रव्यग्रहणेन ? उच्यते । कः किमित्याह । करोतिवर्थं  
 यदि साधोस्त्रिमन्त्रेव दिने, भविष्यति वा द्वितीयादिदिने प्रत्युपेक्षणादिसंयमयोगहानिर्न भवति । किन्तु सम्प्रति सेवार्त्तसंहननित्वान्न  
 श्वनोत्थेवं तपः कर्तुमिति । ननु किमुच्यते न श्वनोत्थेवं कर्तुं ? किमाचाम्लमपि दुष्करं ? तथाह्यथोऽन्ननिस्थमहारात्र्नादिदेशजाः  
 कोशलदेशजाश्च साम्प्रतमपि सेवार्त्तसंहननो मनुजा गृहस्था अप्रत्याह्वयानिनः सदैव काञ्चिक्रौदनाभ्यवहारादाचाम्लतपःकारिण-  
 स्तिष्ठन्ति । ततश्च यदि तथाभवमेवंविधाहारेणापि निराकुलाः प्राणा(न) रक्षयन्ति, तर्हि मोक्षार्थित्वेन बहुकष्टसहा यतयस्तुत्याहारि(रे)-  
 णाऽऽचाम्लतपसा सदैव किं न धारयन्ति ? तस्माष्टपकृतक्रादेः पश्चात्कर्मादिदोषकारिणो ग्रहणमयुक्तं, नैवं, यतो गृहिणां शीतकालेऽ-  
 प्याहारोपधिग्रन्थाः, आहारस्य रन्धनानन्तरमेव भोजनकरणादुपधेस्त्वष्टमाष्टमाहप्रक्षालनात् शय्यायास्तु चुञ्छीस्थितञ्चलनयुक्तवाच्च,  
 उष्णाः स्युस्तेनैताभिः शरीरस्यान्नवर्हिश्च तापभावात्तेषां तक्राद्यभावेऽप्याहारपाकभावादजीर्णादिदोषा न स्युर्यतीनां चाहारोपधि-  
 ग्रन्थाः, उष्णकालेऽप्याहारस्य भिक्षाचर्यायां बहुगृहेषु स्तोक्रस्तोकलाभेन दृढद्वेलालरानादुपधेस्तु वर्णन्ते एकामेव वेलां प्रक्षालनेन  
 मलिनत्वाच्छ्रयायास्त्वग्निरहितत्वेन, शीतलाः स्युभ्तेनैतेषां प्रतिदिनमाचाम्लकरणेन तक्राद्यभावाज्जठराग्निनाहारपाकाभावादजीर्णादि-  
 दोषाः स्युस्ततश्च न केवलं जठराग्निनाऽऽहारः पच्यते किन्तु लेपकृता तक्रादिनाऽपीत्याहारपरिणत्यवुभुक्षापनोदार्थं यतीनां तीर्थकरा-  
 दिभिस्तद्ग्रहणमनुज्ञातं । तच्च निरन्तराचाम्लतपःपरिहारैणैव स्यात्तदत्र कापि दिने आचाम्लं कापि निर्विकृतिकं कार्यमित्यायातम-



त्रापि स्त्रियससशालनकानां भोज्यं गलानावर्धं गृह्यतेऽन्यथा नेति, प्रायो बहुलेपवत्वाद् शुद्ध्यादिजनकत्वाच्चेति स्थितं । प्रस्तावा-  
द्बहुलेपादिस्वरूपं किञ्चिद्बुध्यते । इह बहुलेपाल्पलेपालेपभेदात्रिधा द्रव्याणि स्युरतस्तत्र दुग्धदधिघृतेलघृताद्युन्मिश्रप्रलेहककण्डु-  
पानलवर्ज्रक्षीरपेयाजगार्यार्थादीनि द्रव्याणि बहुलेपानि स्पर्शो हस्तादीन् प्रचुरं खरण्टयन्तीति कृत्वा, तथा वत्शुलादि(वस्तुलादि)भिर्जि-  
कायवागुकोद्रवक्लृषपतक्रीमनकाञ्जिकादीन्यल्पलेपानि स्पर्शो हस्तादीन् स्तीकं खरण्टयन्तीति कृत्वा, कूरमण्डककुलमाषवल्लुचवलक-  
चणकाहकीमक्षरमुद्गादीनि द्रव्याण्यल्पेपानि शुष्कप्रायत्वात् स्पर्शो हस्तादीन् न खरण्टयन्तीति कृत्वा । तदिहात्तिपमल्पलेपं वा साधुना  
ग्राहं पश्चात्कर्मादिदोषाभावात् । अधुना अलेपादिद्रव्यग्रहणविधिगतं भङ्गाष्टकं निरूपयन्नाह । 'संमर्दे'त्यादि । तत्र संसृष्टावल्पलेपेन  
स्वयोभेन स्वरण्टितौ । मात्रं च करोटिकादिकं भाजनं करश्च दातृहस्तौ मात्रकरो तौ, संसृष्टौ च तौ मात्रकरो च संसृष्टमात्रकरो ।  
तथा यस्य साधवे दत्तस्य मध्यात् किञ्चित्स्थाल्यादाद्युद्धरति तत्सावशेषं द्रव्यं कृत्वादि । अत्र कर्मधारयस्ततः संसृष्टमात्रकरो च सावशे-  
षद्रव्यं चेति विग्रहे तानि तथोक्तानि, तैः संसृष्टमात्रं संसृष्टकरः सावशेषद्रव्यं चेति त्रीणि पदानीत्यर्थः । एतैश्च त्रिभिः पदैः स्वप्रति-  
पक्षयुक्तैरलेपादिद्रव्यग्रहणविधा(त्र)ष्टसङ्ख्या भङ्गा स्युरिह च भङ्गकप्रमाणपरिज्ञानं रचनाक्रमश्च दृश्यते । तत्रेह यावतां पदानां भङ्गाः  
कार्यस्तावन्तो द्विका अन्योऽन्यं ताडिताः सर्वभङ्गप्रमाणं । रचना तु स्वीयस्वीयसर्वभङ्गानां पर्यन्तवर्तिनि पदे ऊर्ध्वाध एकान्त-  
रितौ लघुगुरू स्याप्यौ । ततो द्विगुणा द्विगुणा लघुगुरवः क्रमशो वामेषु वामेषु पदेषु स्याप्याः । उक्तं च । "पयसमदुग्धअध्मासे माणं  
भंगान तैसिमिहरयणा । एरांतरियं लहृगुरु दुगुणा दुगुणा य वामेषु"ति ॥१॥ तदिह त्रयाणां पदानां सर्वेऽष्टौ भङ्गाः । रचनात्स्वियं  
यथा- । । । , । । ५, । ५ ।, । ५ ५, ५ । ।, ५ । ५, ५ ५ ।, ५ ५ ५, अत्र ऋजूणामंशानां स्थानीयानि शुद्धानि

वक्राणां त्वशुद्धानि पदानि, तत्राद्ये भङ्गे त्रीण्यपि पदानि शुद्धान्यतः सर्वशुद्धोऽसौ अष्टमे त्वशुद्धान्यतः सर्वाऽशुद्धोऽसौ, मध्यव-  
 चिनां तु मध्यात्केचिदकेन केचित्तु द्वाभ्यां पदाभ्यामशुद्धास्ते चाष्टावल्पमी यथा-संसृष्टमात्रं, संसृष्टो हस्तः, सावशेषं द्रव्यं । १॥ संसृष्ट-  
 मात्रं, संसृष्टो हस्तो, निरवशेषं द्रव्यं । २॥ संसृष्टमात्रमसंसृष्टो हस्तः, सावशेषं द्रव्यं । ३॥ संसृष्टमात्रमसंसृष्टो हस्तः, निरवशेषं द्रव्यं । ४।  
 असंसृष्टं मात्रं, संसृष्टो हस्तः, सावशेषं द्रव्यं । ५॥ असंसृष्टं मात्रं, संसृष्टो हस्तो, निरवशेषं द्रव्यं । ६॥ असंसृष्टं मात्रमसंसृष्टो हस्तः,  
 सावशेषं द्रव्यं । ७॥ असंसृष्टं मात्रमसंसृष्टो हस्तो, निरवशेषं द्रव्यं । ८। इति गाथार्थः ॥१९॥

अधुना भङ्गाष्टकविधिं ग्राह्याग्राह्यविधिं छद्दितद्वारं (च) विवरीषुस्तल्लक्षणादिं चाह ।

एष्य विससेसु घेत्पइ छड्डियमसणाइ होन्तपरिसाडिं । तत्थ पडन्ते काया पडिए महुविंदुदाहरणं ॥१२॥

व्याख्या—अत्रैतेष्वष्टसु भङ्गकेषु मध्ये विषमेष्वसमेषु प्रथमवृत्तीयपञ्चमसप्तमभङ्गेषु गृह्यते भक्ताद्यादीयते । एतेषु सावशेषद्रव्य-  
 त्वेन पश्चात्कर्मादिदोषाभावात्, सामर्थ्यात्समेषु द्वितीयचतुर्थादिषु न गृह्यते । अयमर्थः, इह हस्तो मात्रं वा द्वे वा स्वयोगेन संसृ-  
 ष्टानि सन्ति, साध्वर्थं वा संसृष्टानि भवन्तु (परं) न तद्वशेन पश्चात्कर्म । किं तर्हि ? द्रव्यवशेन । यत्र हि द्रव्यं सावशेषं तत्रैतानि  
 साध्वर्थं स्वरण्टितान्यपि दात्री न धावति, किं तर्हि ? तत्र द्रव्ये व्यापारयतीति साध्वः(ध्वर्थं) पश्चात्कर्म न स्याद् । यत्र तु द्रव्यं निरवशेषं  
 तत्रैतानि तद्द्रव्याधारस्थालीं च साधुदानानन्तरं सा धावतीति साधोस्तस्यादेवेति समेष्वकल्पता । गतं लिसद्वारं । छद्दितद्वारमधु-  
 नोच्यते । तत्र छद्दितं साध्वं । ततो यदशनादि अशनपानप्रभृति दीयते दात्र्या, कीदृशं सदित्याह 'होतपरिसाडि'ति । भवती  
 ज्ञायमाना परिशाटिच्छर्दनं यस्याशनादेस्तद्भवत्परिशाटि, भिक्षामध्याद् भूम्याद्युपरि तद्वयवत्त्वेन छर्दनधर्मकं यदित्यर्थः, तच्छ

द्वितमुच्यते । अत्रापि गुरुपदेशाच्चतुर्भङ्गः स्यात्, यथा-सच्चित्ते सच्चित्तं छद्दितं, तत्र भिक्षादानाय प्रवृत्तया दाज्या भिक्षामध्याच्छद्दितं  
भूम्यादित्यसाचित्तमृत्तिकारूपपरि सच्चित्तलवणादिकं पातितमित्यर्थः । अच्चित्ते सच्चित्तं । २। सच्चित्ते अच्चित्तं । ३। अच्चित्ते अच्चित्तं । ४।  
छद्दितमित्यत्र भङ्गचतुष्टयेऽप्यकल्प्यं, तत्राद्यत्रये(द्वये) ग्राहमेव सच्चित्तं (तृतीये ग्राह्यसच्चित्तं परं सच्चित्ते पतितं) स्यादित्यादि-  
दोषाश्चतुर्थे चाज्ञाभङ्गाऽनवस्थामिथ्यात्वविराधनादोषादि । अत्र विराधनां विशेषतः सूत्रकारः स्वयमेव दर्शयितुमाह । तत्र तस्मिन्नश-  
नादौ साधवे दाज्या दीयमाने पतति भूमौ छर्द्यमाने सति कायाः पृथ्वीकायादयो विराध्यन्त इति शेषः । एतेन संयमविराधनोक्ता ।  
अनया च शेषे द्वे अप्युपलक्षिते, तथाहि-तद्भक्ताद्युष्णं शीतलं वा स्यात्तत्र तस्य भूम्यादौ छर्द्यने दाता ग्राहको बोभयं वा दहेत् ।  
भूमिस्यसाचित्तपृथिव्यादीनामुपरि पतनेन तदाहः । शीतलभक्तादिपरिशार्दी च तेषामेव विनाशः, इति साधोः स्वदाहेनात्मविराधना,  
पृथिव्यादिदाहादिना संयमविराधना, दातृदाहेन प्रवचन(विराधना) भावनीयेति । अथ पतितं द्रव्यमाश्रित्य दोषपरंपरावचकं ज्ञात-  
माह । पतिते छद्दिते मधुविन्दूदाहरणं । दोषानाश्रित्य माक्षिकलवनेनोपलक्षितो दृष्टान्तो बाल्यस्तत्त्वेदं यथा-

वारत्तपुरं नाम नयरं, तत्स्थ य अभयसेणो नाम राया । तस्स वारत्तओ नाम अमच्चो सयलरायकञ्जचित्तणपरो आसि । अन्नया  
य धम्ममघोसो नाम साह् भिकखं अडंतो वारत्तणस्स धरं गओ । तस्स भिकखादाणहुं धयणुलज्जयपायसपडिपुबं थालं गहाय आणओ  
एयो दाणनिउत्तो अमच्चपुरिसो । एत्थंतरे तउ मज्झाउ एणो विंदू धरणीए पडिओ । छद्दिद्यदोसोत्ति तं मोतुं निगणओ साह् । वार-  
त्तणेण मत्तवारणाड्डिएण तं दिदुं, किणणेण एरिसा भिकखा न गहियत्ति जाव चित्तंतो चिदुह्, ताव विंदुंमि मच्छियाउ लणगाउ ।  
ताणं धरकोहलिया धाविया तीसे सरडो आणओ तस्स य मज्जारोपहुत्तो तस्स य पाहुणगसुणओ पहावियो । तस्स वत्थन्वगसुणओ

समुद्दिश्यो । दीपहं पि सुणगाणं भंडणं जायं नियगणियगाणं रक्खणद्धा दीपहं पि ताण सामिणो समुद्दिशा । तेसिंषि सपरि-  
 वाराणं महाजुज्झं जायं । जाव अपोगाणं सुहड्डाणं माराभासी जाया । तं सव्वं वारत्तणेण उल्लोयणद्विण दिहुं निच्छइयं च जहा  
 नृणमेएण माराभा(रा)दिदीसेण साहुणा भिक्खा ण गहिया इच्चाइ भावंत्तस्स सुहभावे वट्टमाणस्स जायं जाईसरणं । सयंहुद्धो जाओ ।  
 देवयाए उवगरणं सव्वं समप्पियं । जाओ सो समणो अईव महादुकराणुट्टाणकारओ । तउ सम्मं निरइयारं अणुट्टाणं काऊण काले  
 सिद्धो ति गाथार्थः ॥९२॥

उक्ता दशाप्येषणादीषास्तदुक्ती चाभिहित्वा द्विचत्वारिंशदपि पिण्डदीपाः, साम्प्रतमेते उद्गमोत्पादनैषणादीपाः क्रमशः स्वस्वस-  
 ह्यान्विता यत्समुत्था इत्यावेदयन्नाह ।

इय सोलस सोलस दस, उगमसउत्पायेणसणा दीसा । गिहिसाहुभयपभवा, पंच गासेसणाए इमे ॥९३॥

न्याख्या—इत्येवं प्रदर्शितप्रकारेण षोडश षोडश दश सङ्ख्या यथाक्रमं ये उद्गमोत्पादनैषणाविषया न्यावर्णितस्वरूपा दीपा  
 आहारदूषणानि ते यथासङ्ख्यं गृहिसाधुभयप्रभवा भवन्तीति शेषः । अत्र षोडशाऽप्युद्गमदीपा गृहस्थादुत्पद्यन्ते । गृही प्रायेण तत्क-  
 र्तव्यार्थः । उत्पादनादीपाः षोडशापि यतेरेव सकाशात् प्रादुर्भवन्ति, यतिरेव तान् कुरुते इत्यर्थः । उभयं गृहिसाधुलक्षणं । तस्मात्प्र-  
 भवन्ति जायन्ते एषणादीपा गृही साधुश्च तद्विधायीत्यर्थः । तत्र शंकिवदीपाः साधुभावापरिणतदोषश्चेति द्वौ साधुप्रभवौ शेषा प्राक्षिता-  
 दयः पुनरष्टवक्त्रयं गृहस्थादेव स्थुरिति । तदेवं विधिना गृहीतस्याप्याहारस्य विधिना शासः कार्य इति शासैषणाया अवसरोऽवस्तद्दो  
 पप्रस्तावनार्थमाह । ‘पंच’ति, पञ्चसङ्ख्याः पुनर्दीपाः । ‘गासेसणाए’ति शासो भोजनं तद्विषया एषणा शुद्धाशुद्धपर्यालोचनं शासैषणा

पिण्ड-  
विशुद्ध-  
शुद्धसरीया  
वृत्तिः

॥१६॥

तस्यास्तस्यां वेसेऽनन्तरमेव वक्ष्यमाणाः संयोजनादयः स्युरिति गाथार्थः ॥१३॥

अधुना तानेव प्रस्तावितान् नामतः, आद्यस्य स्वरूपं चाह ।

संज्ञोत्थणा पमाणे इंगाले धूम कारणे पढमा । वसाहि वहिन्तरे वा रसहेतुं दृव्वसंज्ञोगा ॥१४॥

व्याख्या—संयोजनं संयोजना । गृह्या रसोत्कर्षोत्पादनार्थं द्रव्याणां सुकुमारिकादीनां गुडादिद्रव्यैः सह मीलनमित्यादिरूपा सा क्रियमाणा शास्यषणादोषः स्यात् । ‘पमाणे’ चि, प्रमितिः प्रमाणं कवलसङ्ख्यादिना आहारमात्रलक्षणं, एकारः प्रथमैकवचनार्थः । तच्चातिक्रम्यमाणं भोजनदोषो भवेत् । ‘इंगाले’ चि चारित्रिन्धनस्याङ्गाराणामिव करणमिति कारिते अन्यस्वरादिलोपे, पुंसि ‘संज्ञार्था वः’ इति वे चाङ्गारश्चारित्रेन्धनदहनसमर्थो रागपरिणामः । एकारः पूर्ववत् । ‘धूमे’ ति चारित्रिन्धनस्य धूमकणमिति कारिते, ‘मंतु- वंतुविना लुक् चे’ति वंतुलोपे अन्यस्वरादिलोपे पूर्ववद् वे च धूमश्चारित्रेन्धनस्य धूमायमानताकरणसमर्थो द्वेषपरिणामः । प्रथमैक- वचनलोपः छन्दोऽर्थ । ‘कारणे’ चि कार्यते प्राणी कार्यं भोजनाख्यमनेन निमित्तेनेति कारणं निमित्तमेकारः पूर्ववत् । रूपबलाद्यर्थ- मशनाद्युपभोगः कारणाख्यो दोषः चः समुच्चयार्थो लुप्तो दृश्यते । पञ्च भोजनदोषा भवन्तीति शेषः । तत्रैतेष्व्याद्यं व्याख्यातुमाह । ‘पढमिति, दोषपञ्चकापेक्षया प्रथमाऽऽद्या प्रक्रमात् संयोजना भवति । कथमित्याह वसतेरुपाश्रयाद्बहिर्विष्टाद् भिक्षाटनं इत्यर्थो यद्वाऽन्तरे वसतेर्मध्ये, वा विकल्पे । रसहेतो रसोत्कर्षार्थं शोभनास्त्रादनिमित्तमिति यावत् । द्रव्याणां कूसादीनां लाभे संयोगो रसगृह्या दध्यादीनां संयोजनं मीलनं द्रव्यसंयोगास्त्रस्मिन् साधुना क्रियमाणे सति प्रथमा भवतीति पूर्व्वेण योगः । अयमत्र भावार्थः—द्विधा संयोजना, भावसंयोजना द्रव्यसंयोजना च । द्रव्यसंयोजना (नया) चेह प्रकृतं । तत्र क्षीरादीनि द्रव्याणि गार्ह्यपरिणामेन संयोजयन्ना-

शास्यषणा-  
दोषा आद्य-  
स्वरूपं च

॥१६॥

त्मनि यथा ज्ञानावरणादिकं कर्म संयोजयति वदन्ति, सा भावेन द्रव्यगुद्धिरूपाध्यवसायेनात्मना सह कर्मणां संयोजना मीलनं  
 तत्र संसारस्य, तेनैव दुःखस्येति भावसंयोजनेति । द्रव्यसंयोजना तु द्विधा बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्र बाह्याभ्यन्तरत्वे भोजनक्रियायाः  
 क्रमशोऽप्रत्यासन्नताऽऽसन्नते आश्रित्य द्रष्टव्ये । तत्र च रसहेतुकद्रव्यार्थं पर्यटनं १ तेषां पृथक् पात्रे ग्रहण २ मिति द्विधा बाह्या  
 द्रव्यसंयोजना । तां च द्विधामपि वसतेर्वाहिभिक्षामटन् करोति । यथा कश्चित्साधुभिक्षामटन् शाल्यादिहूरं क्षीरं वा प्राप्तवांस्त-  
 त्प्राप्तौ च रसगुद्धिनिमित्तं दधिगुह्योर्गवेषणाय पर्यटति मण्डकमुद्गशाल्यादिप्राप्तौ च सर्पिर्दधिक्षिण्णपत्रशाकादिशालनकाद्यर्थं  
 पर्यटतीत्येका १, द्वे वा लभ्यमाने भिन्नभिन्नपात्रकेषु स्थापयेत् साधुर्यतोऽधुनैव मीलितानि भोजनवेलायां यावच्चूतानि विरूपरसानि  
 भविष्यन्तीति भोजनं कुर्वन् मीलयिष्यामीति विचिन्त्य क्षीरादीनि लभ्यमानानि बहिरेव पृथक् पृथक् भाजनेषु गृह्णातीति द्वितीया  
 २ । अभ्यन्तरा पुनर्द्रव्यसंयोजना त्रिधा पात्रकविषया, कवलविषया, मुखविषया चेति त्रिविधामभ्यन्तरां वसतावायातः करोति । तत्र  
 भोजनसमये यत्सुकुमारिकादि येन खण्डादिना सह रोचते तद्रसगुह्या तेनैव सहैकस्मिन्नेव पात्रे संयोज्य स्थापयतीत्याद्या १ । यदा  
 तु तत्र तथाभूतं तेनैव सह कवलतया करोति तदा द्वितीया २ । यदा तत्तथाभूतमेकं मुखे प्रक्षिप्यान्यत्तथाभूतं तदुपरि प्रक्षिपति  
 तदा तृतीया ३ । तदिह वसतेर्वाहि द्रव्यसंयोजने बाह्या । वसतावागतेन रसनिमित्तं तस्मिन् क्रियमाणे अभ्यन्तरेति स्थितं ।  
 पिण्डप्रस्तावादिद्यं पिण्डविषया दर्शिता । इतरथोपकरणं भवेपयतः साधोश्चोलपट्टकावाप्तौ विभूषाप्रत्ययमन्तरकल्पं याचित्वा परि-  
 भुञ्जानस्य बहिरुपकरणसंयोजना । वसतेर्वा चागत्य परिभुञ्जानस्यान्तरुपकरणसंयोजनेत्याद्यापि द्रष्टव्यमिति । इह च रसहेतोरिति  
 विशेषणं कारणतः संयोजनाऽप्यनुज्ञातेत्यावेदयति, तथाहि-रोगिणः साधोर्यस्य वाऽऽहारेऽरुचिः स्यात्तस्य, तथा प्रधानाहारोचितराज-

पुत्रादेस्तथा साधुचितेन संयोगरहितादारेण नाद्यापि सम्यग्भावितस्य शैशकादेर्वा इयमनुज्ञाता । एतेषां हि शालनकादि विना नैवाहारो रोचत इति गार्थः ॥१४॥

उक्ता संयोजना, अथ प्रमाणातिक्रमदोषमभिधित्सुराह ।

धिद्वलसंजमजोगा, जेण ण हायंति संपइ पए वा । तं आहारप्रमाणं जइस्स सैसं किलेस्सफलं ॥१५॥

व्याख्या—धृतिश्च चेतसः स्वास्थ्यपुपलक्षणत्वाज्ज्ञानादिद्विधश्च । बलं च वैयावृत्यादिकरणक्षमं शरीरसामर्थ्यं । संयम-

योगाश्च चाग्निसाधकाः प्रत्युपेक्षणाप्रमार्जनादयः साधुव्यापाराः, धृतिबलसंयमयोगास्ते येन यावन्मात्रेणाद्यानादिना उपशुक्तेन

न हीयन्ते न हानिं यान्ति किन्त्वनवरतमुत्सर्पन्त एवेति तत्त्वं । कदा न हीयन्ते इत्याह सम्प्रति भोजनादूर्ध्वं तस्मिन्नेव दिने

इत्यर्थः । यद्वा प्रणे प्राप्ताद्वितीये आगामिदिने इत्यर्थः । वा विकल्पे । कोऽर्थो येनोपशुक्तेन न्यूनतया अधिकतया वा तदैव श्वो वा

शुधाऽजीर्णादिव्यथाऽसस्त्रावान्न संयमज्ञानादिहानिर्भवतीति । तत्किमित्याह—तावन्मात्रं संयमश्रुत्याहुत्सर्पणकारि आहारे, आहा-

रस्य भक्तपानरूपस्य भोजनस्य, प्रमाणं मानं यतेः साधोरुपलक्षणत्वात्साध्व्याश्च ज्ञेयमिति शेषः । तच्च किल द्वात्रिंशत्कवलरूपमेकवृ-

त्तिकारकतया एकस्मिन् दिने पुरुषं प्रति द्रष्टव्यं । मध्यमप्रमाणमेतत् । तस्माच्च द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणादेकेन कवलेन द्रव्यादिभिर्वा हीयमानं

तावत् मध्यमं यावदृष्टौ, अष्टौ कवलास्तु जघन्यमिति । उत्कृष्टतस्तु बहवोऽपि कवला भवन्तीति । अष्टाविंशतिः कवला महिलाया आहा-

रमानं । नपुंसकस्य तु ते चतुर्विंशतिः स्युः । परं तस्य प्रायोऽप्रवाजनीयत्वाद् ‘वृत्तिसं किं कवला आहारो कुच्छिद्रपुराओ भणिओ ।

पुरिसस्स महिलियाए अट्टावीसं भवे कवला’ ॥१॥ इत्यस्यां गार्थायामाहारमानं तं प्रति नोक्तं । अथ कवलानां किं प्रमाणम् ? उच्यते

विपरिहारताख्यापनार्थे. तत्रात्माविराधना मरणादः, सयमावराधना तु वापनाय तजस्मात्ताप्याधरात्ताप्यात् ॥ १९ ॥  
 एते इत्यादि जनापवादात् । उपलक्षणत्वादेतदनुसारतः प्रकामादिभोजनत्रयेऽप्येतेऽन्ये च ब्रह्मचर्यविराधनादयो दीषा वाच्याः । तस्मा-  
 द्दुणकारित्वात् प्रमाणोपेतमेव भोक्तव्यं । किं च ये नरा अपथ्यपरिहारिणः, द्वात्रिंशत्कवलभोजिनो वा, द्वात्रिंशतः स्वीकृतरभोजिनो  
 वा स्युस्तेऽपरव्यञ्चिकित्स्या न स्युः किन्तु ते स्वत एवोक्ताहारनिषेवणादात्मनो वैद्यकल्या इति प्रमाणयुक्तभोजने विशेषणस्त्वतो  
 ज्ञानादिद्विरिति गार्थार्थः ॥१६॥

उक्तः प्रमाणदीपः, साम्प्रतमद्भारधूमाख्यं दीपद्वयं युगपद्भ्याख्यातुमाह ।

**अंगारसधूमोवस, चरणिंषणकरण भावधो जमिह । रतो दुट्टो भुंजइ, तं अंगारं च धूमं च ॥१७॥**

व्याख्या—इह काष्ठादिकमिन्धनम्, अग्निदग्धं निर्धूमं ज्वलदग्निरूपमद्भार इत्यभिधीयते । तथा सह धूमेन सधूमं, तदेवेन्धनम-  
 द्वारभावमप्राप्तं दाहक्रियामनुभवद्यावद्दग्धं तावद्धूमसद्भारत्वात्सधूमयुच्यते । ततोऽद्भारश्च सधूमं च अद्भारसधूमं द्रव्येन्धनं तेन उपमा  
 श्रौपम्यं सादृश्यं यस्य तच्चरणेन्धनं च । तत्र चरणं चारित्रं तदेवेन्धनं बालनं दाहत्वाच्चरणेन्धनं, तस्य करणं विधानं, तस्य भावः  
 सद्भावस्त्वस्माच्चारित्रेन्धनस्याद्भारसधूमसदृशकरणतयेत्यर्थः । अयमर्थो यथाहि द्रव्येन्धने, दाहं दाहकस्त्वसाध्यं कार्यं चेति त्रितयं भ-  
 वति । तथा भावेन्धनेऽपि दाहं दाहकस्त्वजन्यं कार्यं च वाच्यं, तत्र द्रव्येन्धने काष्ठादिबालनं दाहं दाहकोऽग्निरस्त्वसाध्यं च धू(मा)य-  
 मानताऽद्भारबालक्षणं, भावेन्धने चारित्राख्यं दाहं, रागाद्वेषपरिणामश्च साधोरशनादिगोचरोऽग्निदाहिकः, तत्साध्यं च कार्यं धूमायमा-



मानं वेति । तत्र त्रयस्त्रिंशदादिभिः कवलैः भोजनमेकस्मिन्नेव दिने कृतं प्रकाममित्युच्यते । तच्च केवलप्रकामत्वेनैतैरगलत्सनेहविन्दुभि-  
ज्ञेयम् । यदि तु गलत्सनेहविन्दुभिः स्यात्तदा प्रकामः प्रणीतश्च दोषो स्यातामेवं शेषदोष(षेषु)दोषसङ्करत्वमपि भावनीयं १ । तथा  
प्रकामभोजनमेव ज्ञादिदिनेषु क्रियमाणं निकाममुच्यते २ । उत्पाद्यामानकवलेभ्यो गलद्दृष्टादिकं भोजनं प्रणीतमुच्यते ३ । एकस्मिन्  
दिने न्यूनोदरतासहितत्वेन परिपूर्णभोजनं बहुकमुच्यते तद्गुरुकमातिक्रान्तमतिशयेन स्वप्रमाणाधिकं यदशनादिकं वारद्वयं शुद्धं तद-  
तिवहुकमिति ४ । तिस्रो वारा यदशनादिकं शुद्धं तदतिवहुश उच्यते ५ । तिस्रुभ्यो वाराभ्यः परतश्चतसादिवारा अतिलौल्यात्तस्मिन्-  
मन्यमानः साधुर्दशनादिकं शुद्धं तदतिप्रमाणमत्वप्यमानं वोच्यते ६ । तदिदं प्रमाणदोषदृष्टं षड्विधमप्याहारं साधुर्न मुञ्चीत । तथा  
विरुद्धद्रव्याहारोऽपि देहसंयमक्षतिकारित्वेन क्लेशफल एव ज्ञेयोऽतः सोऽपि न भोक्तव्यो यथा दधितैलयोः क्षीरतैलयोर्वा संयोगः  
कृष्टविकारकारी, समभागयोश्च तैलघृतयोर्मिलितयोः संयोगः क्रियताऽपि कालेन विषयत्वभाजी भवेच्चेति गाथार्थः ॥१५॥

शेषं क्लेशफलमिति प्राणुक्तं ततश्च कृतः पुनः शेषं क्लेशफलमित्याह ।

**जेणइवहु अइवहुसो, अइप्यमाणेण भोयेपं भुत्तं । हादेजव वामेजव, मारेजव तं अजरितं ॥१६॥**

व्याख्या—येन कारणेन 'अतिवहु' अतिवहुकाख्यं वारद्वयमित्यर्थस्तथा 'अतिवहुसो' अतिवहुशोऽभिधं वारत्रयमित्यर्थः ।

अतिप्रमाणेन वारत्रयोल्लङ्घनेन करणभूतेन अत्वप्यमानेन वा तृप्तिममन्यमानेन साधुना कर्त्ता भोजनमशनादिकं भुक्तमभ्यवहृतं । किं  
कुर्यात् इत्याह । हृद्येद्वा पुरीषाधिक्यं कारयेत्, वमयेद्वा छर्द्दि कारयेत्, मारयेद्वा प्राणत्यागं कारयेत् । वाशब्दाः स्वस्थाने विक-  
ल्पार्थाः । तदतिवहुकादिभोजनं कीदृशं सदित्याह—अजीर्यदपरिणमत् । इह च सन्नकृता दोषदर्शनद्वारेणातिवहुकादित्रयस्य दर्शनेन

प्रकामादिदोषप्रयमप्युपलक्षितं द्रष्टव्यं । केवलं प्रकामादित्रयाभणनेन यदतिबहुकादित्रयस्योपादानं तदस्यात्मविराधनादिजनकत्वेना-  
तिपरिहारताख्यापनार्थं, तत्रात्मविराधना भरणान्दिः, संयमविराधना तु तापनार्थं तेजस्कायादिविराधनातः, प्रवचनविराधना तु औदरिका-  
एते इत्यादि जनापवादात् । उपलक्षणत्वदेतदनुसारतः प्रकामादिभोजनत्रयेऽप्येतेऽन्ये च ब्रह्मचर्यविराधनादयो दोषा वाच्याः । तस्मा-  
दुणकारित्वात् प्रमाणोपेतमेव भोक्तव्यं । किं च ये नरा अपथ्यपरिहारिणः, द्वात्रिंशत्कवलभोजिनो वा, द्वात्रिंशतः स्तोकरत्तभोजिनो  
वा स्युस्तेऽपरव्यञ्चिकत्स्या न स्युः किन्तु ते स्वत एवोक्ताहारनिषेवणादात्मनो वैद्यकल्पा इति प्रमाणयुक्तभोजने विशेषगुणस्वतो  
ज्ञानादिदृष्टिरिति भाषार्थः ॥१६॥

उक्तः प्रमाणदोषः, सारप्रतमङ्गारधूमाख्यं दोषद्वयं युगपद्भाख्यातुमाह ।

**अंगारसधूमोवम, चरणिंधणकरण भावओ जमिह । रत्तो दुट्टो मुंजइ, तं अंगारं च धूमं च ॥१७॥**

व्याख्या—इह काष्ठादिकमिन्धनम्, अग्निदग्धं निर्धूमं ज्वलदग्निरूपमङ्गार इत्यभिधीयते । तथा सह धूमेन सधूमं, तदेवेन्धनम-  
ङ्गारभावमप्राप्तं दाहक्रियामनुभवद्यावद्द्वैतदग्धं तावद्धूमसद्भावात्सधूममुच्यते । ततोऽङ्गारश्च सधूमं च अङ्गारसधूमं द्रव्येन्धनं तेन उपमा-  
औपम्यं मादृश्यं यस्य तत्त्वरणोन्धनं च । तत्र चरणं चारित्रं तदेवेन्धनं बालनं दाहत्वाच्चरणोन्धनं, तस्य करणं विधानं, तस्य भावः  
सद्भाषस्तस्माच्चारित्रेन्धनस्याङ्गारसधूमसदृशकरणत्वेत्यर्थः । अयमर्थो यथाहि द्रव्येन्धने, दाहं दाहकस्तत्साध्यं कार्यं चेति त्रितयं भ-  
वति । तथा भावेन्धनेऽपि दाहं दाहकस्तज्जन्यं कार्यं च वाच्यं, तत्र द्रव्येन्धने काष्ठादिबालनं दाहं दाहकोऽग्निरस्त्वत्साध्यं च धू(मा)ध-  
मानताऽङ्गारतालक्षणं, भावेन्धने चारित्राख्यं दाहं, रागद्वेषपरिणामश्च साधोरशानादिगोचरोऽग्निदीहकः, तत्साध्यं च कार्यं धूमायमा-

नतारूपं रूक्षोऽयमाहार इत्यादिवचनोच्चारणेन तस्यैव मलिनत्वकरणं अङ्गारताकरणरूपं च । मिष्टोऽयमाहार इत्यादिवचनोच्चारणेन सर्वथा निर्दोषत्वेन तस्यैवासारताकरणं मोक्षकार्यं प्रति । यथाहङ्गारैः काष्ठादिकार्यं न सिध्यति । तथा तेन चारित्र्येण कृतदुःख-मोक्षो मोक्षो न शीघ्रं लभ्यत इत्येवं च चरणेन्धनस्य द्रव्येन्धनोपभयम् । ततश्च यत्प्राप्तुकर्मोपणीयमप्यज्ञानादि, 'इह' तु स्थाप्यं, रक्तो मिष्टमेतदिति तत्रशंसया रागवान् सन्, द्विष्टो रूक्षमेतदित्यादिदोषग्रहणतो द्वेषवान् शुद्धे अभ्यवहरति तदज्ञानादि, यथाक्रमं भवति । 'इह' एषु प्राप्तैषणदीपेषु मध्ये, अस्मिन् पत्रचने वा, किमित्याह—'अङ्गारं च धूमं' चेति, तत्राङ्गारः पूर्वोक्तशब्दार्थश्चारित्र्ये-न्धनदहनसमर्थो रागपरिणामी, धूमश्च पूर्वोक्तशब्दार्थश्चारित्र्येन्धनस्य धूमायमानताकरणसमर्थो द्वेषपरिणामस्तद्योगादज्ञानाद्यप्यङ्गारदो-षवद्भूमदोषवच्च भवति । रागवानेपणीयमपि शुद्धानोऽङ्गारदोषवत्करोति द्वेषवांश्च तदेव शुद्धानो धूमितं करोति । चशब्दो परस्पर-पेक्षया समुच्चयार्थो । इह यद्यपि पूर्वं काष्ठादिदह्यमानमर्द्धदोषोत्प्लुकस्वभावं सधूमं स्यात्ततः सर्वथा उ्वलनरूपामङ्गारतां भजते इति सधूमाङ्गारयोरुत्पत्तिक्रमस्तथाप्यनयोर्भावरूपयोर्गुल्लघुदोषतामाश्रित्येत्यं निर्देशस्तथाहि—रागेण सर्वथा दर्शनेन्धनसमं चारित्र्यं करो-तीति स गुरुदोषो, द्वेषेण त्वर्द्धदर्शनेन्धनसममिति स लघुरिति । तथा शेषेषुद्रमादिदोषेषु जगन्नयकदर्शकाराणद्वेषस्वरूपत्वाद्गुरुत्वमावि-भाविति ख्यापनाक्रमभणनं त्यक्तवैतौ दोषौ विसदृशावुक्ताविति गाथार्थः ॥१७॥

उक्तमङ्गारधूमाख्यं दोषद्वयं साम्प्रतं कारणख्यमभिधत्सुर्यन्निमित्तमाहारयति, यन्निमित्तं च नेत्येतदाह ।

इहवेयणवेयावच्च—संजमसुज्ज्ञाणपाणरक्वट्टा । इरियं च विसोहेडं, भुंजइ न उ रूवररसहेऊ ॥१८॥

व्याख्या—इह शुद्धवेदनादिपदानां कृतदहनानां रक्षार्थमिति पदेन प्रत्येकं सम्बन्धो भवति । ततश्च शुद्धवेदनारक्षार्थं बुभुक्षा-

लक्षणपीडाप्रभाषाय । बुभुक्षासदृशी हि नास्त्यन्या पीडा, अतस्त्विद्विनाशाय भुञ्जीतेति सर्वत्र योगः साधुराहारमिति शेषः । तथा वंयाहुत्यमाचार्यादीनां भक्तपानादिना प्रतिचरणरूपं । तद्धि बुभुक्षितेन कर्तुं न पार्यते, अतः तद्रक्षार्थं तस्य हानिनिवारणार्थं । तथा संयमः प्रत्युपेक्षणाप्रमाज्जनादिकः साधुव्यापारस्तं बुभुक्षितः कर्तुं न शक्नोत्यतस्त्वत्पालनार्थं । तथा शोभनं ध्यानं सुध्यानं स्रग्ध्याञ्चिन्तनादिलक्षणं धर्मध्यानं, तदपि बुभुक्षितस्य परिक्षीयते । यतो बुभुक्षितः पूर्वार्थीतश्चुतपरवर्त्तनेऽर्थचिन्तनिकायां चासमर्थः स्यादतस्त्वद्रक्षार्थं सुध्यानहानिनिवारणार्थमित्यर्थः । तथा प्राणरक्षार्थं, तत्र प्राणा इन्द्रियादयो दश तेषां रक्षार्थं तत्संधारणाय, बुभुक्षितस्य ह्यायुर्वलादि हीयते । तथेयां च विशेषयितुमीर्यासमितिपालनाय, बुभुक्षितो हीर्यासमिति ध्यामललोचनानि(नत्वेन) विशेषो धयितुं न शक्नोति । चः समुच्चये । एतैः पद्भिः कारणैस्साधुराहारं भुञ्जीताश्रीयत् । न तु न पुनर्भुञ्जीत रूपरसहेतुः । तत्र रूपशरीरस्य विशिष्टवर्णाद्याकृतिः 'रस शब्दे' इति वचनाद्रसः शब्दस्योर्हेतुर्निमित्तं शरीरोपचितत्वकण्ठमाधुर्यापादनायेत्यर्थः । अनेन रूपविययो वा रसो मधुरादिकस्तन्निमित्तं स्वादुरसोपेतमिदं वर्त्तते, अतोऽवश्यं भोक्तव्यमिति गार्ह्येन न भुञ्जीतेत्यर्थः । अनेन पाद्यार्थमाहारमाहारयन् धर्मप्रयोजनाभावात् कारणाल्यदोषदुष्टं तस्यादित्यवेदितं । यतः कारणाभावः कारणदोषोऽत्राभिप्रेत इति नाथार्थः ॥१८॥

यैः कारणैराहारयति यतिस्तान्मुक्तान्यधुना यैर्नाहारयति तान्यह-

अहव न जिमेज्ज रोगे, सोहुदये सयणमाहउवसग्गे । पाणिदयातवहेडं, अन्ते तणुमोयणरथं च ॥१९॥

न्याहया-अथवेति बलवर्णाधिपेक्षया भोजनाऽकरणे विकल्पान्तरार्थः । 'न' नैव जिमेदधात् साधुर्भोजनं कुर्यादित्यर्थः । केत्याह-

‘सोमे’ आकस्मिकज्वराश्लिरोगादाव्रजनीर्णादौ च । उपवासान् कुर्वतो हि प्रायो ज्वराद्यस्त्रुटयन्ते । यदुक्तं ‘बलाविरोधि निर्दिष्टं ज्वरादौ लङ्घनं हितं । ऋतेऽनिलश्रमक्रोधशोककामक्षतज्वरात् ॥१॥ तथा मोहोदयेऽत्युत्कटककामपीडोद्भवे मैथुनविरतिरक्षणार्थं न जिमेत् । उपवासान् हि कुर्वतः कामः काममपक्रामति । यदुक्तं-‘विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः । रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥१॥ इति । ‘सयणमाहृत्ति मोऽलाक्षणिक्स्ततः खजनाद्युपसर्गे । तत्रोपसर्गः स्वलीकरणम्, स चातुक्लप्रतिकूलभेदात् द्विधा । तत्र मातापितृकलत्रादिखजनोपसर्गोऽनुक्लः । ते हि प्रव्रज्यामोचनाद्यर्थं कदाचिदुपतिष्ठन्ते । तत उपसर्गोऽयमिति मत्वा तत्र न जिमेत् । ते हि उपवासान् कुर्वन्तमवलोक्य तन्निश्चयावगमान्मरणादिभीतेर्वा प्रायस्ते मुञ्चन्ति । आदिशब्दात् प्रातिकूलोपसर्गे कृपितराजर्णा न जिमेदिति । तथा प्राणिदया च तपश्च ते तथा । तद्धेतोस्तन्निमित्तं । तत्र प्राणिदयाहेतोः सत्त्वरक्षणाय जलदृष्टौ, महिकापाते, सच्चित्तस्रजःपातादौ, प्रभूतश्लेष्णमण्डकिकामसिकादिसत्त्वसमाकुलायामिलायां न जिमेत् किन्तु मेघदृष्ट्यादाद्युपवासं करोति येन भिक्षादनादिजाताकायादिविराधना न स्यात् तथा तपोहेतोस्तपोऽर्थमेकज्याहुपवासकरणेन षण्मासान्तं यावत्तपःकुर्वतो न भोजनसम्भवः । इह तीर्थे उत्कृष्टतः षण्मासमेव तपो भवति न परत इति वेदितव्यं । तथा ‘अन्ते’ पर्यन्तसमये वृद्धभावे इत्यर्थः । अन्यदा हि प्रायो बहुश्लथिव्यादाहारत्यागे आर्त्तध्यानपत्तेरिति । ततुः शरीरं तस्या मोचनं मरणार्थं परित्यागस्तदर्थं, चः समुच्चये । संलेखनार्थं निर्भोजनो भूयादित्यर्थः । अयमर्थः । पूर्व्वं हि दीर्घपर्यायपरिपालनं, शिल्पेभ्यो वाचनादानं, शिल्प्यनिष्पादना च श्रेयो, अन्ते च वार्द्धिके सर्वस्याप्यनुष्ठानस्य मरणात्प्राधना सारति तस्यां महाप्रयत्नो विधेयः । सा च संलेखना क्रमेणोपशमयुक्तेनाऽऽहारत्यागादिरूपा कार्या । अतः शरीरत्यागार्थं तत्करणे भोजनाभावः सम्भवतीति गार्थार्थः ॥११॥

उक्तं कारणाख्यो दोषोऽधुना ग्रन्थोपसंहारं चिकीर्षुरेपणात्रयसङ्गृहीतपूर्वोक्तसप्तसदीपनिगमनमनुक्तस्य परिज्ञानाधातिदेशं चाह ।  
**इदं त्रिविहेस्पदादोसा, लेसेण जह्नागमं मएऽभिहिया । एसु गुरुलहु विसेसं, सेसं च मुणेज्ज सुत्ताड ॥१००॥**  
 व्याख्या - इत्यनेन प्रदर्शितप्रकारेण त्रिविधा त्रिभेदा गवेषणग्रहणप्राप्तभेदात् या एषणाऽऽहारशुद्ध्यशुद्धिपर्यालोचना । तस्या दोषा  
 उद्गमोत्पादपणासंयोजनादिरूपाः सप्तचत्वारिंशत् सङ्ख्या अशुद्ध्यः । अध्ववपूरकस्य किञ्चिन्मिश्रसाभ्यान्मिश्रेऽन्वर्भावोऽन्वितपदचत्वारिंशत्  
 सङ्ख्या वा त्रिविधैषणादोषास्ते लेशेन सङ्क्षेपेण आगमस्यानातिक्रमेण । यथागमं तत्रागमः श्रुतं स पिण्डप्रस्तावान्नवमपूर्वगतश्रुतादिरू-  
 पोऽत्र सामान्येन सर्वोऽप्युपयोगी किन्तु प्रतिनियतो भिक्षादोषशोधकः पिण्डनिर्मुक्त्यादिरूप एव प्रायो भिक्षान्तर्योपयोगी अतः  
 पिण्डनिर्मुक्थादिशालानुसारत इत्यर्थः । अनेन स्वमनीषिकापरिहारेण शालस्याऽऽदेयतामाह । तथाहृत्या निजमत्पनुसारेण यथाव-  
 द्दोषं चेत्यपि व्याख्येयं । मयेत्यात्मनिर्देशः । अभिहिताः प्रतिपादिताः । 'एसु' चि, चकाराध्याहारदेषु च पदर्शितोद्गमादिदोषेषु  
 विषये । किमिन्त्याह । अयमेतस्माद्दोषो गुरुश्च महान्, अयमेतस्माच्छुश्चाल्पः कनीयानित्यर्थो गुरुलभू तद्दोषो विशेषो भेदो गुरुल-  
 धुविशेषस्तं, गुरुलधुप्रायश्चित्तापत्तिद्वारेण गुरुदोषात्पदोपविभागमित्यर्थः । मुणेत् सन्नोदिति योगः । तथा शेषं उक्त्वादन्यदनुक्तं प्रद-  
 शितदोषविषयं दृष्टान्तप्रत्ययायादिकमुत्सर्गापवादादिकं च । प्रत्ययायादयो हि श्रुते विनियानात्मकार्यपरिहारार्थं स्वे स्वे स्थाने दर्शिता-  
 स्त्वंदुक्तं 'पायं अवायभीओ, पावाययणाणि परिहरह लोडं । तेण अवाओ बहु हायए, एए देसिओ सुत्ते' ॥१॥ यद्वा शेषमाहारदोषेभ्यो-  
 ऽन्यच्छ्रय्यातरराजपिण्डोपाश्रयवस्त्रपात्राद्युपधिगोचरं दोषवृन्दमित्यर्थः । चः समुच्चये । 'मुण प्रतिज्ञाने' । मुणेद्विजानीयाच्छिष्यः सन्नो-  
 दागमानिशीथादिरूपादिति । तत्र यदुक्तमेतेषां लघुगुरुविशेषं सन्नोद्विजानीयादिति । तत्र विनियानुग्रहायासौ किञ्चिदुच्यते । तदिह

सर्वगुरु मूलकर्म, तस्माच्चाध्याकार्मिकं, कर्ममौद्देशिकचरमत्रिकं, मिश्रान्त्यद्विकं, वादरप्रभृतिका, सप्रत्यपायपरशामाभ्याहृतं, लोभापिण्डो-  
ऽनन्तकायान्यवहितनिश्चिन्नापिहितसंहतोनिमश्रापरिणतछर्दितानि, संयोजना, सागारं वर्तमानभाविष्यन्निमित्तं चेति लघवो दोषाः, मूल-  
प्रायश्चित्ताच्चतुर्थतपोवत् । एतेभ्यः कर्ममौद्देशिकाद्यभेदो मिश्रप्रथमभेदो धात्रीत्वं दूनीत्वमतीतनिमित्तमाजीवनापिण्डो वनीपकत्वं वाद-  
राचिक्रिसाकरणं क्रोधमानपिण्डः सम्बन्धिभ्यसंस्त्वकरणं विद्यामन्त्रयोगचूर्णपिण्डाः प्रकाशकरणं द्विविधं द्रव्यकीतमन्त्रमावक्रीतं लौकि-  
कप्रामित्यपरावर्तिते निष्प्रत्यपायपरशामाभ्याहृतं पिहितोद्भिन्नकपाटोद्भिन्ने उत्कृष्टमालापहृतं सर्व्वमानन्देयं, सर्व्वमनिसुष्टं पुरः-  
कर्म पश्चात्कर्म (निर्मिश्रकर्दमेन प्राक्षितं) गार्हितप्राक्षितं संसक्तप्राक्षितं प्रत्येकाव्यवहितसंहतोनिमश्रापरिणतछर्दितानि प्रमाणोल्लङ्घनं  
सधूममकारणभोजनं चेति लघवश्चतुर्थार्थाचाम्लमिव एतेभ्योऽव्यवृत्तकान्त्यभेदद्वयं कृतौद्देशिकभेदचतुष्टयं भक्तपानपृतिका माया-  
पिण्डोऽनन्तकायान्यवहितनिश्चिन्नापिहितादीनि मिश्रानन्तकायाऽव्यवहितनिश्चिन्नादीनि चेति लघवः, आचाम्लादेकभक्तमिव । एते-  
भ्योऽव्यवृत्तौद्देशिकमुद्दिष्टभेदचतुष्टयमुपकरणपृतिकं चिरस्थापितं प्रकटकरणं लोकोत्तरं परावर्तितमपमित्यं च परभावक्रीतं निष्प्रत्य-  
पायसप्रत्यपायस्वग्रामाभ्याहृतं दर्दरोद्भिन्नं जघन्यमालापहृतं प्रथमाध्यवपूरकः सूक्ष्माचिक्रिसा, गुणसंस्त्वकरणं मिश्रकर्दमेन लघणसे-  
टिकादिना च प्राक्षितं पिष्टादिप्राक्षितं किञ्चिदायकदुष्टं मत्येकपरमपरिक्षिप्तादीनि मिश्रानन्तरनिश्चिन्नादीनि चेति लघवः, एकभक्तात्  
पुरिमाद्भिन्निवेत्याद्यं गुरुलघुविशेषः ।

अथ शय्यातरपिण्डविचारणा । तत्र शय्यया साधुसमर्पितगुहलक्षणया भवार्णवं तरतीति शय्यातरः १ कदा च शय्यातरो  
भवति २ कतिविधस्वरपिण्डः ३ कदा चाशय्यातरो भवति ४ कस्य च सम्बन्धसौ वर्जनीयः ५। के चैतत्पिण्डग्रहणदोषाः ६

कदा च तत्रिण्डो गृह्यते ७ क च शय्यातरो भवतीत्यष्टौ द्वाराणि ८ । तत्राद्यद्वारे यतिप्रदत्तोपश्रयप्रभृस्तेन यः कृतप्रमाणतया  
 निर्दिष्टो वा स्यात्तदा शय्यातरः । द्वितीयद्वारे यदा शय्यातरगृहे रात्रौ सुप्त्वा जागरित्वा वा प्राभातिकप्रतिक्रमणं कुर्वन्ति  
 तदासौ शय्यातरः १ । अथैतच्छय्यायां सकलां रात्रिं जागरित्वा प्राभातिकप्रतिक्रमणमन्यत्र कुर्वन्ति तदा मौलः शय्यातरो न  
 भवति किन्तु यद्गृहे प्रतिक्रमणं कृतं, स एव । अथ मूलशय्यायां रात्रौ सुप्त्वाऽन्यत्र प्रातः प्रतिक्रामन्ति, तदासौ मौलोऽन्यश्च  
 द्वावपि शय्यातरो । यदा तु वसतिरङ्गीर्णतादिकारणाद्नेकोपश्रयेषु साधवस्तिष्ठन्ति तदा यत्राचार्यः स्थितः स एव शय्यातरो नान्यः  
 २ । तृतीयद्वारे द्वादशधा तत्रिण्डस्त्वदुकृतं—असणार्ह्या चउरो पाउंल्लेणवत्थपत्तकंवल्यं । ‘सुहृत्सुहृत्कर्णसोहण नहृत्सोहणिया सागरिय-  
 पिण्डो’ ॥ १ ॥ अयं त्वपिण्डः, ‘तण्डगललारमल्लग—सेज्जासंथारपीदलेवार्ह । सेज्जायरपिण्डो सो, न होइ सेहो य सोवहिओ’ ॥ २ ॥ ३ ।  
 चतुर्थद्वारेऽहोरात्रपरतोऽशय्यातरो भवति । यदुकृतं—‘तुत्थे वज्जिज्ज होरत्तं’ । इदमत्र हृदयं यत्रोपितास्ततः स्थानाद्यस्यां वेलायां  
 निर्गता द्वितीयदिने तावत्या वेलायाः परतः शय्यातरो न भवति ४ । पञ्चमद्वारे साधुगुणविरहितस्य लिङ्गमात्रावशेषस्यापि सम्बन्धी  
 शय्यातरः वर्जनीयः ५ । षष्ठद्वारे ‘तित्थंकरपडिकुट्टो आणाणाउत्तमो वि य न सुद्धे । अविमुत्ति अलाववया दुल्लह सेज्जाइ,  
 वोच्छेओ’ ॥ ३ ॥ न्याख्या—आद्यन्तवज्जर्मथ्यमैर्महाविदेहजैश्च तीर्थकैर्वैरमाधाकर्म कथञ्चिदुक्तं न पुनः शय्यातरपिण्डोऽवस्तत्प्रति-  
 कृत्वाद्धर्जनीयोऽयं । ‘आणत्ति तं च गृह्णता तीर्थकराज्ञा न कृता स्यात् । ‘अणाउत्ति यत्र स्थितस्तत्रैव भिक्षां गृह्णतामज्ञातोच्छं  
 च न कृतं स्यात् । ‘उत्तमो वि य न सुद्धे’ति आसत्तादिभावतः पुनः पुनस्तत्रैव भक्षणनकादिनिमित्तं प्रविशत उद्गमदोषाश्च स्युः ।  
 स्वाध्यायश्रवणादिभ्यश्च प्रीतः शय्यातरः क्षीरादिस्निग्धं द्रव्यं ददाति । तच्च गृह्णताऽविमुक्तिर्गच्छ्याभावो न कृतः स्यात् । ‘अलाव-



वयं चि, शय्यातरतत्पुत्रभ्रातृव्यादिभ्यो बहूपकरणं स्त्रिषधाहारं च गृह्णत उपकरणशरीरयोर्लघ्वं न स्यात् । तत्रैव चाहारादि गृह्णतः शय्यातरवैमनस्यादिकारणाच्छय्या दुर्लभा स्यादिति सर्वथा तद्व्यवच्छेदः स्यादतस्तिपण्डो वर्जनीयः ६॥ सप्तमद्वारे “दुविहे गेलन्नमी निमंतणे दन्वदुह्लमे असिवे । ओमोयसि पओसे, यए अ गहणं अणुबायं” ॥१॥ व्याख्या—आगाढानागाढे द्विविधे भोजनत्वे श्लोकाविधिना शय्यातरपिण्डोऽपि ग्राह्यः । निमन्त्रणे च शय्यातरनिर्बन्धे स कृतं गृहीत्वा पुनः पसङ्गो निवारणीयः, दुर्लभे च क्षीरादिद्रव्येऽन्यत्रालभ्यमाने तत्तत्रैव गृह्णन्ति । ‘पओसे’ चि राज्ञा प्रद्विष्टेन सर्वत्र भैक्षे निवारिते प्रच्छन्नं तद्गृहेऽपि गृह्णन्ति, तस्करादिभ्ये चान्यत्र(त्रालभ्यमाने) तत्रापि स्वीकुर्वन्ति ७। अष्टमद्वारे स्वस्थाने वसन् शय्यातरो भवति, देशान्तरे तु गतो न भवत्यपि, केवलं भद्रकप्रान्तदोषात्तपिण्डस्तत्रापि वर्जनीयो, भद्रको हि मम तावत् स्वगृहावस्थितस्याऽमी न किञ्चिद् गृह्णन्ति ततोऽत्र यदि गृह्णन्ति तथापि शोभनमिति विचिन्त्यानेषणीयमपि कृत्वा दद्यात् । प्रांतस्तु मम स्वगृहस्थितस्यामी न किञ्चिद् गृह्णन्ति, अत्र तु सर्वं गृह्णन्ति, तत्किमिदानीमहमन्यः सञ्जातः ? तस्मान्मायाविन एते इति विचिन्त्य वसत्युच्छेदादि कुर्यादिवं शय्यातरसम्बन्धिनानां भ्रातृमातुलकादीनामुपाश्रयस्याप्रभूणामपि सम्बन्धी पिण्डो वर्जनीयो भद्रकप्रान्तादिदोषादिति ८।

अथ राजपिण्डविचारः । ‘सुह्याहगुणो राया, अट्टविहो तस्स होह पिंडो चि । पुरिसेयराण एसो, विज्जायाईहिं पडिक्कट्टो ॥१॥ सुहओ सुद्धभिसित्तो, पंचहिं सहिओ य भुंजए रज्जं । तस्स उ पिंडो वज्जे, तच्चिवरीयंमि भयणाउ’ ॥२॥ ‘पंचहिं’ ति अमाल्यमंत्रि-सुवराजपट्टबद्धश्रेष्ठिसेनापतिभिः । राजपिण्डश्चायं । ‘असणाइया चउरो वत्थं पत्तं च कंबलं चेव । पाउळणगं च तहा, अट्टविहो राय-पिंडो चि’ ॥१॥ आद्यान्तिवमजिनसाधुनामेष प्रतिकृष्टः, दीषाश्चात्राज्ञादयो व्याघातादयश्च, तथाहि राजकुले ईश्वरादिभिः पविशान्ति-

निर्गच्छद्भिश्च साधोः प्रवेशायभावाद्भिःशाखाध्यायकार्याणामपि स (विघातः) स्यात् , अमङ्गलधिषा प्रेरणा हननं वा कुर्याद् । तथा लोभः  
 एषणाव्याघातः चोरादिशङ्का, गर्हा च स्यात् । यतोऽहो ! राजप्रतिग्रहमेते गर्हणीयमपि गृह्णन्ति । तथा च स्मृत्यां “राजप्रतिग्रहद्वयधा-  
 नां ब्राह्मणानां युधिष्ठिर ! । स्विक्रानामिव बीजानां पुनर्जन्म न विद्यते” ॥१॥ इति गर्हतोका । सध्यमजिनसाधुभिश्चायं गृह्यतेऽपि  
 उक्तदोषणाप्युप्राज्ञत्वेनाप्रमादपरतया परिहर्तुं शक्यत्वादितरैस्तु ऋजुजडवक्रजडत्वेन न तथेति ।

तथा शत्र्याऽपि मूलोत्तरगुणाधशुद्धा परिहर्त्तव्या । तत्रेयं मूलगुणैरशुद्धा यथा “पिष्टिवंसो दो धारणाड चचारि मूलवेलीड ।  
 मूलगुणेद्भुववेया एसा आहागडा वसही” ॥१॥ पृष्ठिवंशो मध्यबलको द्वे धारण्यौ बृहद्वेल्यौ यत्प्रतिष्ठोऽसावेव । चतस्रो मूलबेल्यो  
 याः चतुषु गृहपार्श्वेषु क्रियन्ते । एते सप्त मूलगुणाः । एतैः साधुमाधाय कर्तव्युक्ता वसति । ‘आहागड’ति आधाकार्मिकी स्यात् ।  
 साधुमाधाय कर्तत्वात् , उत्तरगुणाश्च द्विधा भवन्ति । मूलोत्तरगुणा उत्तरोत्तरगुणाश्च । तत्रैते मूलकल्पा उत्तरगुणाः । यथा ‘वंसग  
 १ कटपु २ कंबण ३ च्छायण ४ लेवण ५ दुवार ६ भूमीय ७ । सपरिक्रमा वसही एसा मूलुत्तरगुणेहिं” ॥२॥ वंशकाः दण्डकाः ।  
 ‘कटपुं’ ति कटकादिभिः कुड्यकरणं, ‘उकंबणं’ दंडगोवरि कंबाह्वयबंधणं । ‘छायणं’ति दर्भादिनाऽऽच्छादनं । ‘लेवणं’ ति, चिक्वव-  
 ह्येण कुड्मण लिम्पणं । ‘दुवार’ति गृहद्वारस्य बृहत्करणं अन्यस्य वा विधानं । ‘भूमि’ ति विसमाए समीकरणरूपं भूमिकर्मभणइ ।  
 एते सप्त मूलभूतोत्तरगुणाः । एते च पृष्ठिवंशादयश्चतुर्दशाप्यविशोधिकोटिसंज्ञाः । उत्तरोत्तरगुणाश्चैते यथा—‘दूमिय धूविय वासिय,  
 उओविय बलिकडा अवता य । सिचा संमट्टावि य, विसोहिकोडिं गया वसही” ॥३॥ ‘दूमिय’ति सेटिकादिभिर्धवल्लिता । ‘धूविय’  
 चि दुग्बंध चि काडं अगुरुमाईहिं सुगंधीकया । ‘वासिय’ ति पट्वासपुण्यादिभिरपनीतदौर्गन्ध्या । उद्योतिता रत्नप्रदीपादिभिः प्रका-

शिव । बलिभृता कृतकशादिवलिविधाना । 'अवत्'ति छगणमृत्तिकाभ्यां जलेन चोपलिसमूहमितला, सिक्ता केवलोदकेनाऽऽर्द्रीकृता, सन्मृष्टा प्रमाञ्जिता साध्वथयिति सर्वत्र दृश्यं । अविशोधिकोटी एते न भवन्तीत्यर्थः । एवं चतुःशालादिष्वप्येतदनुसारतो मूलोत्तरगुणविभागे हेयः । नवरं-बहिरंताणं पायं समत्तकजाण जेण गामेसु । वासो तेसु ज वसही, पट्टाहजुया तथो बुत्ता' ॥४॥ तथेयं स्त्रीपशुपण्डकविभञ्जिता सेवनीया । इतरथा-'शीपशुपण्डगजुत्ताए मोहानलदीविषाण जंतुण । पायमसुहा पविती, पूव्वभ-वन्भासओ होजा' ॥५॥ तथा वल्लमपि दोषदुष्टं वड्यं । तत्र तावत् वल्लमेकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियावयवनिष्पत्तिभेदात् त्रिधा स्यात् । तत्राद्यं कार्पासिकं, द्वितीयं कौशेयकादि पञ्चेन्द्रियावयवनिष्पन्नमूर्णादिमयं च तृतीयं । नवरं कारणग्राह्यं कौशेयकादि । तथा जवन्यादिभेदाद्वस्त्रं त्रिविधं हेयं । तत्र मुखवस्त्रिकादि जवन्यं । चोलपट्टपटलादि मध्यमं । प्रच्छादनपट्याहुत्कष्टं । एतत्पुनः तथेयं यथाकृताल्पबहुपरिकर्मभेदात् त्रिधा स्यात् । अत्र च ग्रहणविधिं प्रतीत्य पूर्व्वं यथाकृतं ग्राह्यं, तस्य सर्वोपाधिशुद्धत्वात् । तदलाभेऽल्पपरिकर्म ग्राह्यं । तस्य स्तोकोदोषत्वात् । तस्याभावे बहुपरिकर्मणि ग्राह्यं । एतच्च सर्व्वमपि वस्त्रं गच्छवासिभिश्चतसृभिरेषणादिभिर्गोवेषणीयं । यथा-'उडिड्डा १ पेह २ अंतर ३ उडिड्डातधम्मत्ति' ४ तत्रोडिड्डा, यदुरुत्तमस्यं स्वयं प्रतिज्ञातं जवन्यादिभेदमेकेन्द्रियावयवनिष्पन्नादिकं वा वस्त्रं तदेव गृहिभ्यो याचमानस्य स्यात् । प्रेक्षा नाम वस्त्रमवलोक्य ब्रवीति यतिर्यथा भो श्रावक ! यादृशमिदं दृश्यते तादृशमिदं वा मह्यं वस्त्रं देहि । तृतीया तु परिधानवस्त्रं प्रावरणवस्त्रं वा शय्याया अथस्तनवस्त्रमुपरितनवस्त्रं, अन्यद्भोक्तुकाममप्रेतनं च मोक्तुमनसं दातारमब्रान्तरे याचमानस्येति । चतुर्थी पुनः स्वदेशं बहुवस्त्रदेशं वा गन्तुकामाः कार्पाटिका यदुज्झन्ति, बहुवस्त्रदेशे वा पर्य्यक्तं लभ्यते, तथाचित्तमयाचितं वा गुरुतां स्यादिति । जिनकल्पिकास्तु चतसृषु मध्यादुपरितनद्वयादन्यतरयैवाद्दते,

नत्वाद्यद्येनेति । तत्पुनर्गच्छ्यासिनः कदोत्पादयन्तीति चेदुच्यते स्वार्थपूर्णव्यौ विधाय भिक्षार्थमेव पर्यटन्त उत्पादयन्ति । यदि च  
 तदा न लभन्ते, ततो द्वितीयपौरुष्यामपि गवेयन्ति । तथा(दा)प्यलाभे प्रथमायामपि मृगयन्ति । तदर्थं गच्छन्तश्च दण्डकं भूमौ  
 न लगयन्ति यावत्प्रथमो लाभ इति । इत्थं च गृहप्रविष्टैरभावितश्रावकः प्रथमं न याचनीयो विपरिणामाभ्रियतादिदोषमभवात् ।  
 किञ्च श्राद्धानामाचार एवायं यदेषणीयमुद्धरितं स्वत एव यच्छन्ति, तदिह यान्यन्याभिभावितकुलानि तेषु याञ्चा कार्या । तां च  
 कुर्वन्निस्तत्प्रभुर्वक्तव्यो यथा-धर्मलाभो भो श्रावक ! तव समीपे वयमागता । ईदृशैर्वक्षैरवा प्रयोजनमस्तीति । ततश्चात्रुग्रहं मन्यमानेन  
 तेन वस्त्रे दर्शिते साधुना प्रष्टव्यं कस्य सम्यन्त्येतदिति । एवं च पृष्टे प्राञ्जलतया कथयत्यसौ यथा भवदर्थं कृतमिदं क्रीतं धीतं चे-  
 त्यादि । अमुकेन वा भवदर्थमेवेहातीय मुक्तं येन तद्गृहे न गृह्णन्ति भवन्त इत्यादि । ततः साधुना अविशोधिकोटिविशोधिकोटिदोषो-  
 विचिन्तनीयः । तत्र यत्यर्थं वस्त्रस्य तण्णं विण्णं च मूलगुणाः । 'अविसोहिकोडि'त्ति । तथा पूर्वोपमुक्ते वस्त्रे दर्शिते प्रष्टव्यं किमे-  
 चदासीदिति । ततो दाता वक्ति नित्यनिवसनं यद्वा मञ्जनवस्त्रं यद्वा राजदौवारिकं यद्वात्सववस्त्रमिदममुकस्येति । एवं च सति  
 दर्शितवस्त्रसदृशं वहमानमन्यदपि दातुंयद्यस्ति ततस्तद्गृह्यते, इतरथा गृही अन्यदुत्पादयेत्, क्रीणीयाद्वेति । अपरिशुज्यमानेऽपि  
 च दर्शिते किमत्र भविष्यति, क च स्थाने इदमासीदिति प्रष्टव्यं । ततो दाता यत्कथयति तन्निराम्य तत्सदृशाऽपरवस्त्रमद्भवे तस्य  
 ग्रहणं कर्तव्यं, नाऽपरस्याभावे, उत्पादनकथणादिदोषाभावात् । एवं च कल्पनीयतया निश्चिते सति तद्द्वयोरप्यन्तयोर्गृहीत्वा सर्वतो  
 दृष्ट्या निरीक्षणाय । मणोः सुवर्णस्य रूपकादिद्रव्यस्य वा तत्र निवद्धस्य भावात् । गृहस्थोऽपि च वक्तव्यो निरीक्षस्वैतत्सर्वतः । एवं  
 च यदि तेन तन्मण्यादि दृष्टं तदा भव्यं । अथ न दृष्टं ततो यतिरेव दर्शयत्येनमपनयेति । न चेत्थमधिकरणं यतेरिति वाच्यं यथा-

न्यो हि स्तोक एव दीषः (किंतु) अकथिते उज्जुहादितो महानिति । तत ऊर्ध्वं नवभागकल्पनया अज्जनवञ्जनमूषकादिभक्षितदीषाणामे-  
कतरथाणस्यस्य शुभाशुभफलं निभाल्य तद्वस्त्रं गृह्णन्ति वर्जयन्ति वा । ते चाामी नव भागाः यथा 'चत्तारि देवयाभागा दीभागा य माणुसा ।  
आसुरा य दुवे भागा मज्जे वत्थस्स रक्खसो ॥१॥ तत्र च अंजणखंजणकदमलिचे सुसगमकिलवयअणिगविद्धे । तुन्नियकुट्टियमज्जव-  
लिद्धे । होह विवाणो सुहोऽसुहो वा ॥२॥ देवसुत्तमो लाभो माणुसेसु य मज्झिमो । आसुरेसु य नेलत्तं मरणं पुण रक्खसे जाण ॥३॥ अ-  
नेन विधिना वस्त्रे लब्धे तद्रसतावागतैर्गुरोः समर्पणीयं । ततोऽसौ यस्य तच्चास्ति तस्मै प्रयच्छति । तथा परिभो-  
गकालेऽतिप्रमाणं वस्त्रं छिन्दानैर्मूलभागात्र छेत्तव्यममङ्गलत्वादिति याचनावस्त्रविधिः । निमन्त्रणावस्त्रविधिश्रायं-

|    |    |    |
|----|----|----|
| दे | आ  | दे |
| मा | रा | मा |
| दे | आ  | दे |

यथा भिक्षार्थं साधुसङ्घाटकः कश्चिद्गृहे पविष्टः सन् न केनाचित्प्रसादादिना, (किंतु) दातृविशेषेण महाभक्त्या  
भक्तादिना प्रतिलभ्य, वस्त्रे निमन्त्रितः ततस्तेन प्रष्टव्यं कस्मेदं, किं चाऽऽसीत्, किमत्र वा भविष्यति, कुत्र वाऽऽसीत्, केन वा  
कारणेन मह्यं दीयत इति । यद्येवं न पृच्छति तदा प्राणुका दीषा आह्लादयश्च स्मुरिति । एवं सति यदि कोऽपि मम पिताऽयं मम  
पितृसदृशो वाऽयमित्यादिपूर्वसम्बन्धेन, मम भ्राता भर्ता भर्तृसदृशो वायमित्यादिपश्चात्सम्बन्धेन वा ददाति तदाऽऽग्राह्यं । यदा तु  
भवन्तः सद्दर्मानिरता वयं चारमभपवृत्ता इत्यतो निस्तारार्थं दीयतेऽस्माभिरिति बुद्ध्या ददाति तदा ग्राह्यमेवेति वस्त्रविधिः । तथा  
पात्रकमल्येकेन्द्रियदेहनिष्पन्नतुंगकदारुमृन्मयभेदात् त्रिधा स्यात् । पुनर्जपन्यादिभेदात् त्रिधा । तत्रोल्लङ्घकादि जघन्यं, मात्रकं मध्यमं,  
उत्कृष्टं पतद्गृहं, पुनरेकैकं त्रिधा यथाकृतमल्पकर्मबहुकर्म चेति पूर्वपूर्वाभावे चेहोचरोत्तरं ग्राह्यं । एतदपि चतसृभिरेषणाभिर्नवे-  
षणीयं । यथा- 'उहिद्धा ।१। पेह ।२। संगया ।३। उज्झियधम्मसि ।४। अत्र त्रितयं प्राणवन्नवरं पात्राभिलपो वक्तव्यः । तृतीया पुनरेवं

‘संग्रह्यं वा वेजह्यं वा’ । कस्यापि गृहिणः पात्रद्वयं भवति । स च तयोर्मध्यादेकैकस्मिन् दिने एकैकं वारकेण वाहयति तत्र यद्वा-  
हयति तत्सद्गतिकं । यत्तिष्ठति तद्वेजयिकं । ईदृशं च कोऽपि साधुरभिग्रहविशेषाद्याचते शेषं चात्रापि वस्त्रवद्द्रष्टव्यं । नवरं ‘तस-  
नीया ह्य ददुं, न गिणह ह गिणह ह य अदिद्वे । महणंमि अ परिसुद्धे कप्य ह दिद्वेहिं वि बहूहिं’ ॥१॥ उत्तरार्द्धभावाथोऽयं—ग्रहणे परिसुद्धे  
पश्चाद्यदि बीजादीनि बहून्यपि पश्यति, तथापि गृह्णात्येव । न पुनः परिष्ठापयति, प्रत्यर्पयति वा पात्रं किन्तु यतनया तानि यत्र  
न विराध्यन्ते तत्र क्षिपतीति । मूलोत्तरगुणविभागश्चायमत्र—‘सुहकरणं मूलगुणा, पाण् निकोरणं च इयरे उ’ति इत्यलं प्रसङ्गेनेति  
सप्रसङ्गेनेति प्रसङ्गाथार्थः ॥१००॥

अत्र च द्रव्याद्यपेक्षोत्सर्गापवादाश्रयिणा साधुना भाव्यमतः कदाचित्सर्वथा शुद्धाहाराऽप्राप्तौ समयोक्तविधिनाऽशुद्धग्रहणमप्य-  
शुभतामितरथा पिण्डाऽभावाद्देहानवस्थितेश्वरणादिगुणहानिरतोऽधुनाऽपवादेनाऽशुद्धग्रहणविधिं दर्शयन्नाह ।

सोहंतो य इमे तह, जइज्ज सव्वत्थ पणगहाणीए । उस्सग्गववायविऊ, जह चरणगुणा न हायन्ति ॥१०१॥

न्याख्या—विधेयश्च (शोधयंश्च) विशुद्धपिण्ड (मन्वेपयन्) पुनः कानित्याह । इमाननन्तरोकानाहारदीपान्, तथा तेन केनचि-  
दवस्थोचितप्रकारेण यतेत यत्नं कुर्यात्साधुरिति शेषः । कथम्भूतः सन्नित्याह उत्सर्गापवादाविद्वान् सन् । तत्रोत्सर्गो निर्विशेषेणाऽनु-  
ष्ठानप्रवृत्तिरपवादो द्रव्यादिविशेषेण तत्प्रवृत्तिर्वैतन्यवगच्छति यः स तथा, सम्यग्धीतज्ञातछेदादिशुतश्चानेनाऽगीतार्थव्यवच्छेदेन गीतार्थं  
उक्तस्तथा चेदसुभयोरप्यागमे लक्षणमुक्तं यथा ‘जेण आवससयाईयाणं अत्थो न सुओ सोऽगीयत्थो । जेण पिंडेसणावत्थपाएसणा-  
सेज्जाछेयसुयाहंणि अहीयाणि सो गीयत्थो भवइ’ । तेन गीतार्थस्य यतनया प्रवर्त्तमानस्य विराधनापि न दोषवती भवतीति वक्ष्य-

ति । यतनालक्षणं चेदमुक्तं निशीथे, यथा—“रागदीप्तविउत्तो जीगो असहस्स हीह जयणा उ । रागदीप्ताणुगओ जो जीगो स अजय-  
णा उ” । क यतेतेत्याह । सर्वत्र सर्वस्मिन् भ्लानादिप्रयोजने, कयेत्याह पंचकहान्या, इहाकृतवीप्सोऽपि पञ्चकशब्दस्तदर्थसम्भवाद्दीप्सां  
गमयति । ततश्च पञ्चकेन पञ्चकेनागमप्रसिद्धप्रायश्चित्तलक्षणेन कृत्वा यका हानिरशुभादेः परिहारः पञ्चकहानिरयमर्थः—पञ्चकदशकादि-  
प्रायश्चित्ताऽऽरोपणाक्रमेण उत्तरोत्तरगुरुप्रायश्चित्तापर्यपेक्षया तत्परिहारेण पाश्चात्यपञ्चकपरिहाणितया यल्लघुप्रायश्चित्तपदं तत्प्राप्तियो-  
ष्योपसेवनं पञ्चकहानिरिदोच्यते । तथा यतेत इदमुक्तं भवति, पूर्व्वं भ्लानादिप्रयोजनेषु शुद्धं भवेधेत, तदभावे लघुगुरुपञ्चकप्रायश्चि-  
त्तापत्तियोग्यं, तदभावे लघुगुरुदशकपञ्चकदशकादियोग्यं, न तु निदंशसतया कारणेऽप्युत्पन्ने [लघुगुरुप्रायश्चित्तापत्ति... ..इस  
वाहिं तु सो हितुः?] लघुगुरुप्रायश्चित्तयोर्गोष्ये द्विरूपे ग्राप्यमाणे प्रथमत एव गुरुप्रायश्चित्तयोग्यं गृहीयादिति(अशठः)सन् भ्लानादि-  
प्रयोजने आधाकर्ममादिदोषदुष्टमप्यासेवमानः अदोषवानित्यावेदितं । किञ्च बहुनैदंपर्यमाह, यथा—केनचिद्यथाचित्यमाधाकर्ममाद्यासे-  
वारूपेणापि प्रकारेण चरणगुणा न हीयन्ते न हानिं यान्ति । तत्र चरणं चारित्रं व्रतादिपालनरूपं, तस्य गुणास्तत्साधकाः प्रतिदिनम-  
वश्यं कर्तव्यरूपा आषडयकादयः साधुव्यापाराश्रमगुणाश्रमकरणे यथोत्सर्प्यत इत्यर्थः । यद्वा चरणं चोक्तरूपं गुणाश्च ज्ञानादय  
इति व्याख्येयं ततो यथा न हीयन्ते तथा यतेतेति पूर्व्वेण योगः । अनया गार्थ्येदं प्रवचनसर्वस्वमभिहितं यथेह न सर्वथा किञ्चिद्  
निषिद्धं, नापि सर्वथाऽनुज्ञातं, यतो द्रव्यक्षेत्रकालभाववैचित्र्येण कचिद्विधेयस्यापि निषेधः स्यात्, निषिद्धस्यापि कचिद्विधिरिति ।  
तदुक्तं ‘उत्पद्येत हि साऽवस्था देशकालामयान् प्रति । यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्कर्मकार्यं च वर्ज्येद्’ ॥१॥ इति । अतो ज्ञानादीनां  
लाभं हानिं चाकलय्य बहुलाभे प्रवर्तते । तदुक्तमागमे । ‘नवि किञ्चि अणुजायं, पण्डिसिद्धं वा वि जिणवरिदेहिं । एसा जिणाण

आणा, कञ्जे सञ्जेण होयव्वं' ॥१॥ तथा 'का(रणजाय)पसङ्गं बहुविहमववायतो वियाणेत्ता । लंवेऊणुत्ताविहिं बहुगुणजुत्तं करेज्जासु'  
 ॥२॥ तथा 'उत्सणेण निसिद्धाह ज.....जवि उत्सग्गे अववायं आयरमाणे विराहओ होइ । अववाए पुण पचे उत्सग्गा  
 निसेवओ भइओ' ॥४॥ इति योगेनेति गाथार्थः ॥१०१॥

किञ्चेत्थमशटस्यापवादमासेवमानस्य साधोः पृथिव्यादिविराधनापि निर्जराफलैव स्यादित्यावेदयन्नाह ।

**जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमगगस्स । सा होइ निजजरफला, अउद्धत्थविसोहिजुत्तस्स ॥**

व्याख्या—या काचिद्यतमानस्य विराधना रक्षणतत्परस्य जलानाद्यवस्थायां गुरुदोषपरिहारेण लघुदोषसेवां कुर्वतः साधोरि-  
 त्यर्थः । भवेत्स्याद्विराधना पथ्यादौ क्रियमाणे पृथिव्यादिसङ्घट्टोपमर्दादिका स्वातुष्ठानखण्डना पुनः कीदृक्षस्य साधोरित्याह । स्वयं  
 चात्परादिकं विधिश्च प्रस्तावात्तस्यैवार्थावबोधाभ्यां समग्रे युक्तस्य गीतार्थस्येत्यर्थः । सा विराधना भवति जायते निर्जराफला  
 कर्मविशोधिका । नत्वशुभकर्मबन्धफलेति । यदपि यथोक्तविराधना प्रत्ययं कर्म प्रथमसमये बध्यते, द्वितीये च जीर्यते, तृतीये-  
 त्वकर्मतामनुभवतीति सिद्धान्तरहस्यं । कथम्भूतस्य सत इत्याह अद्यात्म चित्तं तस्य विशेषियर्थीचित्त्वेन प्रवर्तनाद्वागद्वेषाभावरूपा  
 निर्मलता तथा युक्तः समन्वितोऽध्यात्मविशोधियुक्तस्य अशठतया विशुद्धतया भव्यस्येत्यर्थ इति गाथार्थः ॥१०२॥

अथ शास्त्रसमाप्तौ शास्त्रकृत् स्वनाम्नः शास्त्रप्रयोजनस्य च प्रकटनाय स्वमनीषिकारचितत्वपरिहारार्थं गीतार्थमुनीन्द्रप्रार्थनाकरणाय  
 च शार्दूलधृतमाह ।

**इच्चयं जिणवह्हेण गणिणा, जं पिंडनिज्जुत्तिओ, किंची पिंडविहाणजाणणकए, भव्वाण सव्वाण वि ।**



वृत्तं सुत्तनिउत्तसुद्धमइणा, भत्तीइ सत्तीइ तं, सव्वं भव्वममच्छरा सुयहरा, बोहिंतु सोहिंतुं य ॥१०३॥

पिण्ड-  
विशुद्धे-  
श्वद्रसरीया  
श्रुतिः

॥१०६॥

व्याख्या-कर्तृपक्षे(ग्रन्थकार)स्योक्तमित्युत्तरेण योगाद्यदुक्तं यद्दृढबंधं परसुत्रग्रंथतया किञ्चित् स्तोत्रमंत्रं, केनोक्तमित्याह जिन-  
वह्णभसाधुना कीदृशेनेत्याह । गणिना भगवतीयोगोद्धहनादवाप्तगणिशब्देन । यद्वा उण(पुनः)गणयोगा(त्साधु)गणयोगाद्वा गणिना  
स्रणिणा । तत्कुत इत्याह पिण्डनिर्युक्तितः पिण्डनिर्युक्तिशाल्वाद्दृढेत्यर्थः । अनेन ग्रन्थस्यादेयतोक्तेति । किनिमित्तमित्याह पिण्डवि-  
धानज्ञानकृते शुद्धाशुद्धतया आहात्प्रहणविधिपरिज्ञाननिसितं । केषां परिज्ञानकृते इत्याह । भव्यानां मुक्तिगमनयोग्यानां, जन्तूनां  
सर्वेषामपि साधुश्रावकव्यक्त्या समस्तानामपि नत्वेकेषां केषाञ्चिदेवेत्येपरर्थः । अनेनाभव्यजन्तूपकाराभावं दर्शयति । तथा भव्यानप्या-  
श्रित्य रिक्तपूर्णविभागोऽऽभाव्यं कथनं प्रति सर्वेषामपीत्यनेनाचष्टे इति । तथाऽनेन श्रावकाणामपि पिण्डैषणाध्ययनार्थे अधिकारि-  
त्वमाह । यदुक्तमावश्यकचूर्ण्य-‘सावड जहन्नेण सुत्तअत्थड अडपवयणमायाड सिक्खइ, उकोसेणं सुत्तत्थेहिं जा हज्जीवणियं, अत्थड  
पिण्डेसणज्झयणं, न उण सुत्तड वि’, चि । कथम्भूतेन जिनवल्लभेनेत्याह । स्रत्रे आगमे नियुक्ता नियोजिता न्यस्तेत्यर्थः ‘सुद्धा’ प-  
दुत्वेन निपुणा मतिः प्रज्ञा येन स तथा तेन स्रत्रन्यस्तदक्षधियेत्यर्थः । स्रत्रं च पिण्डनिर्युक्त्याख्यं प्रागेवादर्शितं । अत एव भक्तिर्बहु-  
मानः सा च स्रत्रविषया ज्ञेया तथा भक्त्या स्रत्रबहुमानतयेत्युक्तं भवति । तथा शक्त्या स्वमतिसामर्थ्यादुक्तस्वरूपत इत्यर्थः । अनेनौ-  
द्धस्यपरिहारमाह तञ्जिनवल्लभोक्तं सर्वं समसत्तं बोधयन्तु(भव्यमिति)भव्यजनानिति गम्यते । भव्यानां तत्कथयन्तित्यर्थः । के इत्याह  
श्रुतधराः आगमवेदिनः । कीदृशाः सन्त इत्याह अमत्सराः परशुणपत्त्ययेऽद्वेषिणः सन्तः सञ्ज्वलनकषायोदये विशिष्टज्ञानिनामपि  
मत्सरसम्भवादिदुष्कृतं । इत्थम्भूता एव सन्तो भव्यं यथा भवन्त्येवं शोधयन्तु । उत्स्रवार्थदोषमलापनयनेन निर्म्मलीकुर्वन्तु । चः

समुचये । तदा द्ध्रमस्या निजशक्त्या यदुक्तं किञ्चित् पिण्डनिर्मुक्तिवो भव्यानां पिण्डोपज्ञानकृते द्ध्रन्यस्तबुद्धिना जिनबलभस्वरिणा

वत्सयं बहुश्रुतमत्सरं परित्यज्य तानेव भव्यान् बोधयन्तु उत्सन्नार्थमपनयन्तु चेति वृत्त्यर्थः ॥१०३॥  
समाप्तये श्रीचन्द्रशरिविरचिता द्ध्रमपदार्थनिक्रानिक्रपणपट्टकसन्निभप्रतिभजिनबलभाभिधानाचार्यदन्धिपिण्डविशुद्धिशस्त्रस्य वृत्तिः ।

दोषानुपहरदितं संवृत्तं जाड्यवर्जितं सकलं । समभूदिह चान्द्रकूलं स्थिरं सदाऽऽपूर्वचन्द्रसमं ॥१॥

तस्मिन् गुणमणिरोहणगिरिकल्पाः शीलभद्रसूर्याख्याः ।

प्रभवन्ति हि तु सुनीन्द्रा विशालमतयः सदाकृतयः ॥२॥

औदार्यस्थैर्यगारभीर्य-धैर्यरूपादिसंयुताः । समभवन् सुशिष्यास्ते श्रीधनेश्वरस्वरयः ॥३॥

सरससहकारतरुमञ्जरीव मथुरा सदैव यद्वाणी । सत्कविकृतिरिव येषां सलक्षणा ॥४॥

..... निजितकोविदानां । श्रीमद्धनेश्वरसुनी..... ॥५॥

..... गुरुभक्तः । तत्रादेशात्तेषां सम्प्राप्तोऽसौ सुराब्द्रायां ॥६॥

..... ?

ततश्च, जक्रक्रेजि..... ?

..... मानवोपकृतये प्राज्यार्थमल्पाक्षरं ।

शास्त्रं पिण्डविशुद्धिसंज्ञितमिदं श्री चन्द्रशरिः स्फुटं,

तद्दृष्टिं सुगमां चकार तन्नुधीः श्री देवताऽनुग्रहात् ॥७॥

पिण्डनिर्युक्तिरसच्छास्त्र-वृद्धन्याख्यानुसारतः । नालिकेर्यादिसद्बृक्षे, श्रीदेवकुलपादके ॥८॥  
वसुसुनिरुद्रैर्जाते विक्रमवर्षे रवौ समाप्येषा । कूर्णैकादश्यां कार्तिकस्य योगे प्रयास्ते च ॥९॥  
यदिहोत्सूत्रं किञ्चिद्विहितं इदमथबुद्धिना मयका । तन्मयि कृपानुकलितैः शोभ्यं गीतार्थविद्वद्भिः ॥१०॥  
श्रुताभ्या(सेनाक्षि)प्र(प्रं) क्लिष्टकर्मप्रणालिनः । परोपकृतये चायं विहितोऽस्माभिख्यमः ॥११॥  
पिण्डविशोधैर्वृत्तिं, कृत्वा यद्वापतं मया गुण्यं । तेन सूत्रपठनरतो, भूयात्सर्वोऽपि भव्यजनः ॥१२॥  
तावन्नन्दवियं वृत्तिर्वाच्यमाना मनीषिभिः । नभःस्थौ यावदिन्द्रकौ मेरुर्वा भूवि राजते ॥१३॥  
अस्यां चतुःसहस्राणि शतानां च चतुष्टयं । प्रत्यक्षरप्रमाणेन श्लोकमानं विनिश्चितं ॥ अङ्कतः श्लोकाः ४४००

समासेयं श्रीपिण्डविशुद्धेश्चन्द्रसूरीया वृत्तिः ।

## पिण्डविशुद्धिप्रकरणमूलम्

दंविन्दविन्दवन्दिय-पयारविन्देऽभिवन्दियजिणिन्दे । वोच्छामि सुविहियहिं, पिण्डविसोहिं समसेण ॥  
 जीवा सुहेसिणो, तं सिवमिम तं संजसेण सो देहे । सो पिण्डेण सदोसो, सो पडिक्कटो इमे ते य ॥२॥  
 आहाकम्मसुहेसिय, पूईकम्मो य मीसजाए य । ठवणा पाहुडियंए, पाउयरकीयपामिंवे ॥३॥  
 परिअट्टिए अभिहत्तु-दिभन्ने मालोहडे अ अच्छिज्जे । अणिसिट्ठक्कोयरए, सोलस पिण्डुगमे दोसा ॥४॥  
 आहाए वियप्पेणं, जईण कम्ममसणाहकरणं जं । छक्कायारम्भेणं, तं आहाकम्ममाहंसु ॥५॥  
 अहवा जं तग्गाहिं, कुणह अहे संजमाउ नरए वा । हणह व चरणायं, से अहकम्म तमायहम्मं वा ॥६॥  
 अट्टवि कम्ममाहं अहे, बंधह पकरेह चिणह उवचिणह । कम्मियभोई अ साह, जं भणियं भगवईए कुडं ॥७॥  
 तं पुण जं जस्स जहा, जारिसमसणे य तस्स जे दोसा । दाणे य जहापुच्छा, छल्लणा सुद्धी य तह वोच्छं ॥८॥  
 असणाह चउब्भेयं, आहाकम्ममिह विन्ति आहारं । पढमं चिय जहजोगं, कीरंतं निडियं च तहिं ॥९॥  
 तस्स कड तस्स निडिय, चउभङ्गो तत्थ दुचरिमा कप्पा । फासुकडं रद्धं वा, निडियमियरं कडं सव्वं ॥१०॥  
 साहुनिमित्तं ववियाह, ता कडा जाव तंदुला दुडडा । तिडडा उ निडिया, पाणगाह जहसम्भवं नेज्जा ॥११॥  
 साहम्मियरस पवयण-लिङ्गेहि कए कयं हवह कम्मं । पत्तेयवुद्धनिणहय-तित्थयरट्टाए पुण कप्पे ॥१२॥

पडिसेवणपडिसुणणा संवासणुमोयणेहिं तं होइ । इह तेणरायसुय-पहिरायदुइहेहिं विइंता ॥१३॥  
सयमन्नेण च दिदं, कभिमयमसणाइ खाइ पडिसेवा । दक्खिबन्नादुवओणे, भणिओ लाभोति पडिसुणणा ॥  
संवासो सहवासो, करिभयभोइहिं तप्पसंसाड । अणुमोयणत्ति तो ते, तं च चए तिविहतिविहेण ॥१५॥  
वंतुच्चारसुराणो-संससममिमंति तेण तज्जुत्तं । पत्तं पि कयतिकप्पं, कप्पइ पुव्वं करिसघट्टं ॥१६॥  
कम्मगहणे अइकम्म-वइकम्ममा तहइयारणायारा । आणाभङ्गणवत्था-मिच्छत्तविराहणा य भवे ॥१७॥  
आहाकम्ममंतण-पडिसुणमाणे अइकम्मो होइ । पयभेयाइ वहकम-गहिए तहएयरो गिलिए ॥१८॥  
सुंजइ आहाकम्मं-सम्मं जो न य पडिक्कमति लुद्धो । सव्वजिणाणाविसुहस्स-त्तस्स आराहणा नत्थि ॥१९॥  
जइणो चरणविधाइत्ति-दाणमेयस्स नत्थि ओहेण । वीयए जइ कत्थवि-पत्तविसेसे व होज्ज जओ ॥२०॥  
संथरणंमि असुद्धं-दोणहवि गेणहत्तदंतयाणऽहियं । आडरदिइंतणं-तं चैव हियं असंथरणे ॥२१॥  
भणियं च पञ्चमङ्गे-सुपत्तसुद्धन्नदाणचउभङ्गे । पढमो सुद्धो वीए-भयणा सेसा अणिट्टफला ॥२२॥  
देसाणुच्चियं बहुदव्व-मत्पकुलमायरो य तो पुच्छे । कस्स कए केण कयं, लक्खिबन्नइ बड्ढल्लिङ्गेहिं ॥२३॥  
थोवंति न पुट्टं, न कहियं व गूढेहिं नायरो व कओ । इय छलिओ न लगइ, सुउवउत्तो असदभावो ॥२४॥  
आहाकम्मपरिणओ, बड्ढइ लिङ्गिच्च सुद्धभोई वि । सुद्धं गवेसमाणो, सुञ्झइ खवणच्च कम्मे वि ॥२५॥  
नणु सुणिणा जं न कयं, न कारियं नाणुमोइयंतंसे । गिहिणा कडमाययओ, तिगरणसुद्धस्स को दोसो ॥२६॥

सद्यं तद्वि सुणंती, निणहंती वद्धए पसंगं से । निद्धयसो य निद्धो, न सुयइ सजियं पि सो पच्छा ॥२७॥  
 उद्दसियमोदविभागओ य, ओहे सए जमारंभे । भिक्खवाउ कहवि कप्पइ, जो एही तस्स दाण्ठा ॥२८॥  
 वारन्नविहं विभागे चउट्टुद्धिदं कडं च कम्मं च । उद्दससमुद्दसा-द्दससमाएसभेएण ॥२९॥  
 जादंतियससुद्दसं, पासंठीणं भवे ससुद्दसं । समणाणं आएसं, निर्जंथाणं समाएसं ॥३०॥  
 संयदि भुत्तुच्चरियं, चउणहसुद्धिसइ जं तसुद्धिदं । वंजणमीसाइ कडं, तमग्गित्तवियाइ पुण कम्मं ॥३१॥  
 उगगमकोटिकणेण वि, असुइलवेणं व ज्जत्तमसणाई । सुद्धं पि होइ पुरं, तं सुहुमं वायरं ति दुहा ॥३२॥  
 सुहुमं कम्मियगंधग्गि-धूमयत्फेहिं तं पुण न दुद्धं । दुविहं वायरसुवगरण-भत्तपाणे तहिं पढमं ॥३३॥  
 कम्मियचुद्धियभायण-डोवटियं पूइ कप्पइ पुढो तं । वीयं कम्मियवजयार-हिंशुत्थोणाइ जत्थ छुहे ॥३४॥  
 कम्मियवेसणधूमिय-मद्वकयं कम्मस्वरट्टिए भाणे । आहारपूइय तं, कम्मलित्तहत्थाइडिक्कं च ॥३५॥  
 पढमे दिणम्मि कम्मं, तिच्चिउ पूइ कयकम्मपायधरं । पूइ तिलेवं पिढरं, कप्पइ पायं कयत्तिकप्पं ॥३६॥  
 जं पढमं जादंतिय, पासंज्जर्ण अप्पणो य कए । आरभइ तं तिमीसं ति, मीसजायं भवे तिविहं ॥३७॥  
 सट्टाणपरट्टाणे, परंपराणंतरं चिरित्तियं । दुविहत्तियिहा वि ठवणा-उसणाइ जं ठवइ साहुकए ॥३८॥  
 चुल्लवत्थाइ सट्टाणं, खीराइ परंपरं धयाइयरं । दव्वट्टिइं जाव चिरं, अचिरं तियरंतरं कप्पं ॥३९॥  
 धायरसुहुससक्कण-मोसक्कणमिइ दुहेह पाहुडिया । परओकरणुरसक्कण-मोसक्कणमारओ करणं ॥४०॥

पाउयरणं दुविहं, पायडकरणं पयासकरणं च । सतिशिरघरे पयडणं, समणट्टा जमसणार्हणं ॥४१॥  
 पायडकरणं बहिषा-करणं देयस्स अहव चुल्लीए । वीयं मणिदीवगवक्ख-कुड्डुच्छिड्डुइकरणेण ॥४२॥  
 किणणं कीयं सुल्लेणं, चउह तं सपरदव्वभावेहिं । चुत्ताहकहाइथणाइ-भत्तमड्डुइरुवेहि ॥४३॥  
 समणट्टा उच्छिन्दिय, जं देयं देइ तप्पिह पप्पिच्चं । तं दुट्ठं जइभइणी, उद्धारियतेल्लनाएण ॥४४॥  
 पल्लटियं जं दव्वं, तदन्नद्वेवेहिं देइ साहणं । तं परियट्टियमेत्थं, वणिट्टुगभइणीहि दिट्ठंतो ॥४५॥  
 गिहिणा सपरग्गामाह-आणियं अप्पिहडं जईणट्टा । तं बहुदोसं नेयं, पायडल्लत्ताइवहुभेयं ॥४६॥  
 आइन्नं तुक्कोसं, हत्थसयंतो घरेउ त्तिन्नि तहिं । एणत्थ प्पिक्खगाही, वीओ दुसु कुणइ उवओणं ॥४७॥  
 जउल्लगणाइविलित्तं, उत्तिम्मन्दिय देइ जं तसुत्तिम्मत्तं । समणट्टमपरिभोगं, कवाडसुग्गड्डियं वा वि ॥४८॥  
 उड्डुमहोभयतिरिएसु, मालप्पमिहरकुम्भीधरणिठियं । करदुग्गेज्झं दलयइ, जं तं मालोहडं चउहा ॥४९॥  
 अच्छिन्दअ अन्नोप्पिं, बलावि जं देत्ति सामिपहुत्तेणा । तं अच्छिज्जं तिविहं, न कप्पए नणुमयं तेहिं ॥५०॥  
 अणिसिद्धमदिक्ख-मणणुमयं च बहुतुल्लमेयु जं दिज्जा । तं च तिहा साहारण-चोह्लगज्झानिसट्ठत्ति ॥५१॥  
 जावन्तियजइपासं-डियत्थमोयरइ तन्दुले पच्छा । सद्धा[ट्टा] मूलारंसे, जमेस अज्झोयरो तिविहो ॥५२॥  
 इय कम्मं उदेसिय-तियमीसज्झोयरंतिमदुगं च । आहारपूइवायर-पाहुडि अविशोहिकोडित्ति ॥५३॥  
 तीए जुयं पत्तं पि हु, करीसनिच्छोडियं कयत्तिकप्पं । कप्पइ जं तदवयवो, सहस्सघाई विसलवोच्च ॥५४॥

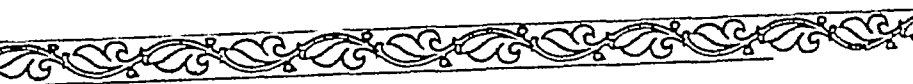
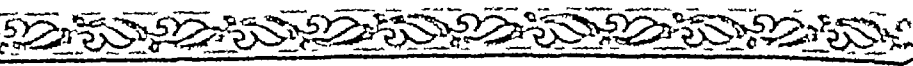
संसा विसोहिकोडी, तदवयवं जं जहिं जया पडियं । असढो पासइ तं चिय, तओ तथा उद्धरे सम्मं ॥५५॥  
 तं वेव असंथरणे, संथरणे सन्वमवि विगिंचंति । दुल्लहदन्वे असढा, ततियमेतं चिय चयंति ॥५६॥  
 भणिया उगमदोसा, सम्पइ उप्पायणाए ते वोचंठं । जे णज्जकज्जसज्जो, करेज्ज पिण्डडुमवि ते य ॥५७॥  
 धइ दूहनिमित्ते, आजीववणीमो तिगिचञ्जा य । कोहे माणे माया, लोभे अहवंति दस एए ॥५८॥  
 पुडिं व पच्छा संथव, विज्जामते य चुन्नजोमे य । उप्पायणाए दोसा, सोलसमे मूलकम्ममे य ॥५९॥  
 बालस्स वीरमज्जण-मंडणकीलावणंकथाइत्तं । करिय कराविय वा जं, लहइ जइ धाइपिण्डो सो ॥६०॥  
 कहियमिहो संदेसं, पयडं छदं च सपरगामेसु । जं लहइ लिङ्गजीवी, स दूहपिण्डो अणहा(डु)फलो ॥६१॥  
 जो पिण्डाइनिमित्तं, कहइ निमित्तं तिकालविसयं पि । लाभालाभसुहासुह-जीविअमरणाइ सो पावो ॥६२॥  
 जथाइथणाण पुरो, तग्गुणमप्यं पि कहिय जं लहइ । सो जाइकुलगाणकम्म-सिप्पअजीवणापिण्डो ॥६३॥  
 माइभवा विप्पाइ व, जाइ उगगाइ पिउभवं च कुलं । मल्लाइ गणो किसिमाइ, कम्म चित्ताइ सिप्पं तु ॥६४॥  
 पिण्डटा समणानिहि-माहणकविणसुणगाइभत्ताणं । अप्पाणं तठभत्तं, दंसइ जो सो वणिमोत्ति ॥६५॥  
 भेसज्जवेज्जस्यण-सुवसामणवपणमाइकिरियं वा । आहारकारणेण वि, दुविह तितिचंठं कुणइ सूढो ॥६६॥  
 विज्जातवप्पभावं, निवाइपूरुयं बलं व से नाडं । दडुण व कोहफलं, दिंदति भया कोहपिण्डो सो ॥६७॥  
 लद्धिपसंस(सउ)त्तिइउ, परेण उचञ्जाहिओ अवमओ वा । गिहिणोभिमाणकारी, जं मग्गइ माणपिण्डो सो ॥६८॥



मायाए विविहरूवं, रूवं आहारकारणे कुणह । निणिरुसमिमं निद्धाह, तो बहु अडह लोभेण ॥६९॥  
 कोहे वेवरखवओ, माणे सेवइयखुहुओ नायं । मायाएऽऽसाढभूर्ह, लोभे केसरयसाहु ति ॥७०॥  
 थुणणे संबंधि संथवो, दुहा सो य पुञ्च पच्छा वा । दायारं दाणाउ, पुञ्चं पच्छा व जं थुणह ॥७१॥  
 जणणिजणगाह पुञ्चं, पच्छा मासुससुरयाह जं च जई । आयपरवयं नाउं, सम्वन्धं कुणह तदणुणुणं ॥७२॥  
 साहणजुत्ता थीदेवया व, विजा विवजए संतो । अन्तद्धाणाहफला, चुत्ता नयणज्जणाहया ॥७३॥  
 सोहगगदोहगकरा, पायपलेवाइणो य इह जोगा । पिण्डट्टिमिमे दुट्टा, जईण सुयवासिणमईण ॥७४॥  
 मङ्गलमूलीणहवणाह गढभवीवाहकरणघायाह । भववणसूलकम्मंति, सूलकम्मं महापावं ॥७५॥  
 इय वुत्ता सुत्ताउ, वत्तीस गवेसणेसणादोसा । गहणेसणदोसे दस, लेसेण भणामि ते य इमे ॥७६॥  
 सङ्खियमक्खियनिकिखत्त-पिहियसाहरियदायगुम्मीसे । अपरिणयलित्तज्जडिय, एसणदोसा दस हवन्ति ॥  
 सङ्खियगहणे भोए, चउभङ्गो तन्थ दुचरिमा सुद्धा । जं सङ्कइ तं पावइ, दोसं सेसेसु कम्मआई ॥७८॥  
 सच्चित्ताचित्तमक्खियं, दुहा तन्थ भूदणवणेहिं । निविहं पढमं वीयं, गरहियइयरेहिं दुविहं तु ॥७९॥  
 संसत्तअचित्तेहि, लोणागमगरहिएहि य जईण । सुक्कल्लसच्चित्ते हि य, करमत्तं मक्खियमकणं ॥८०॥  
 पुढविदगअगणिपवणे, परित्तणंते वणे तसेसुं च । निकिखत्तमचित्तं पिहु, अणन्तरपरम्परमोज्झं ॥८१॥  
 सच्चित्तचित्तपिहीए, चउभङ्गो तन्थ दुट्टुमाइतिणं । गुरुलहुचउभङ्गिल्ले, चरिमे वि दुचरिमगा सुद्धा ॥८२॥

खिवियन्नतथमजोर्णं, मत्ताड तेण देह साहरियं । तत्थ सचित्ताचित्ते, चउभङ्गो कप्पइ उ चरमे ॥८३॥  
 तत्थवि य थोववहुयं, चउभङ्गो पढमतर्ह्यगाहणणा । जइ तं थोवाहारं, मत्तगमुक्खिविय विपरैजा ॥८४॥  
 थेरपट्टपण्डवेविर-जरियन्धवत्तमत्तउम्मत्ते । करचरणल्लिन्नपणलिय-नियलण्डु य पाउयास्सुढो ॥८५॥  
 खण्डइ पीसइ सुज्जइ, कत्तइ लोढेइ विक्किणइ । पिञ्जे दलइ विरोलइ, जेमइ जा गुठ्ठिणि बालवञ्छा य ॥८६॥  
 तइ लक्काए गिणहइ, षट्ठइ आरम्भइ खिवइ दट्टु जइं । साहारणचोरियं, देह परकं परडं वा ॥८७॥  
 टवइ वल्लि उच्चत्तइ, पिठराइ तिहा सपच्चवाया जा । देन्तेसु एवमाइसु, ओषेण सुणी न गिणहन्ति ॥८८॥  
 जोग्गामजोर्णं च दुवे, वि मिसिडं देह जं तसुम्मीसं । इहपुण सचित्तमीसं, न कप्पमियरम्मि उ विभासा ॥  
 अपरिणयं दव्वं चिय, भावो वा दोणह दाण एगस्स । जइणो वेगस्समणे, सुद्धं नत्तस्स परिणम्मियं ॥९०॥  
 दहिमाइल्लेवजुत्तं, लित्तं तमगोज्झमोहओ इहयं । संसट्टमत्तकरसाव-सेसदव्वेहिं अडभङ्गा ॥९१॥  
 पत्थ विससेसु वेप्पइ, उट्टियमसणाइ होन्नपरिसाडिं । तत्थ पडन्ते काया, पडिए महुविन्दुदाहरणं ॥९२॥  
 इय सोलस सोलस दस, उग्गामउप्पायणेसणा दोसा । गिहिसाइभयपभवा, पञ्च गासेसणाए इमे ॥९३॥  
 सञ्जोयणा पमाणे, इत्ताले धूम कारणे पढमा । वसहि वहिरन्तरे वा, रसहेडं दव्वसञ्जोगा ॥९४॥  
 धिहवलसञ्जमजोगा, जेण ण हायन्ति सम्पइ पए वा । तं आहारपमाणं, जइस्स सेसं किल्लेसकलं ॥९५॥  
 जेणहवट्ट अइयहुसो, अइप्पमाणेण भोयणं भुत्तं । हादेज्जव वामेज्जव, मारेज्जव तं अजीरन्तं ॥९६॥





श्रीपिण्डविद्युद्धेश्वरसूरीया वृत्तिः समाप्ता ॥

\* शैठ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकालय फण्ड. \*

